# दिग्दर्शन

साहित्य में जीवनचरित का भी अपना एक स्वतन्त्र एवं विशिष्ट स्थान है। इस से चरितनायक के व्यक्तित्व का, विचारों का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। एक विचारक का कहना है कि मनुष्य को पहचानने के लिये साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जीवनचरित ही अधिक स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण सहायता दे सकता है। मनुष्य के भीतर रहने वाली गुणसम्पदा का बोध यथार्थरूप से जीवनचरित से ही हो पाता है। जीवन में जो संघर्ष की घड़िएं आती है तथा उन्हें शान्त करने में जो उपाय काम मे लिए जाते हैं हम उन से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। विकट समय में मनुष्य को क्या करना चाहिए? किस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन की उलझी समस्याओं को सुलझाए? किस समय कैसी वाणी बोले? किस पद्धति से मनुष्य अपने कर्तव्य-कार्यों को करे? किन साधनों द्वारा मानव महा-मानव के उच्च पद को प्राप्त कर सकता है? आदि प्रश्नों का समाधान किसी भी महापुरुष के जीवन को पढ़ने से सहज ही मिल जाता है।

चन्द्रज्योति भी महासती जी के जीवन-वृत्तों का एक संकलन है। यह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में समुज्वल ज्योति के पुञ्ज बालब्रह्मचारिणी महासती श्री चन्दा जी महाराज के पावन जीवन-वृत्तान्तों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। महासती जी ने जन्म लेकर किस भूभाग को पावन किया? माता पिता होने का सौभाग्य किस नरपुङ्गव दम्पती को उपलब्ध हुआ? शैशव की पगडण्डियों को पार करते हुये किन परिस्थितियों मे चन्द्र ने अपनी जीवनकलाओं में वृद्धि की? किस ज्ञानालोक के नेतृत्व में इन्हे अपने को ज्ञानरश्मियों द्वारा आलोकित करने का सुअवसर मिला? साधुता के पथ के पथिक बन कर चन्द्र को किन २ संकटों के राहु ने ग्रसा? किस तरह यह चन्द्र जन-मानस के अन्धकार को विनष्ट करने में सफल हुआ? इस की आदर्श

ज्योति तले किन २ ने अपने दिव्य जीवन का निर्माण किया ? तथा कौन २ द्विपद पशु मानवता की अमर विभूति से मालामाल हुआ ? आदि अनेकों प्रश्न इस खण्ड में समाहित हुए हैं।

प्रथम खण्ड का निर्माण आर्या श्री महेन्द्रकुमारी जी द्वारा सम्पन्न हुआ है। आर्या जी ने बड़ी सरलता तथा विद्वत्ता पूर्ण भाषा में इस की रचना की है। आर्या जी महासती जी के चरितांशों को अभिव्यक्त करने में निस्सन्देह पूर्णतया सफल रही हैं।

आर्या महेन्द्र कुमारी महासती श्री चन्दा जी महाराज की ही शिष्यानुशिष्याओं में से एक हैं। अभी आप की आयु छोटी है। दीक्षा लिये ६ या ७ वर्ष ही होने को जा रहे हैं। हिन्दी संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा का अच्छा सुन्दर ज्ञान प्राप्त करती जा रही हैं। आप भावुक साध्वी हैं। आगे बढ़ने की धुन में हैं। यदि वर्तमान की भांति भविष्य भी प्रगतिशील रहा तो आशा करता हूं आर्या जी समाज में एक गौरव का स्थान ले सकेंगी। जैन समाज का सौभाग्य है कि समाज को ऐसे २ साध्वीरत्न प्राप्त होते जा रहे हैं मैं तो आर्या श्री महेन्द्रकुमारी जी के उज्ज्वल भविष्य की हृदय से प्रतीक्षा करता हूं।

चन्द्रज्योति के द्वितीय खण्ड में महासती श्री चन्दा जी के प्रवचन संकलित किए गए हैं। ये प्रवचन अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखते हैं। इन के पढ़ने से पाठकों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, गृहस्थधर्म, साधुधर्म आदि विषयों के निखरे हुए विराट स्वरूप का दर्शन होगा। जीवन की परिपूर्णता, सफलता तथा कृतकृत्यता का पाठ सुविधापूर्वक इस से पढ़ा जा सकता है। यह संकलन साधु तथा श्रावक दोनों के लिए हितावह रहेगा। इस के अतिरिक्त मुख्य २ जैन सिद्धान्तों पर भी इतना स्पष्ट, विशद और सर्वाङ्गीण चिन्तन तथा प्रतिपादन किया गया है कि यह—जैन-संसार में कोई ऐसा पुस्तक नहीं है जो जैन सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व कर सके, इस चिर त्रुटि को दूर करने में समर्थ प्रमाणित होगा। इस खण्ड में जो उत्तम एवं आदर्श सामग्री एकत्रित की गई है उसका यदि स्वच्छ हृदय से अध्ययन, चिन्तन, मनन तथा आचरण किया जाए तो मैं विश्वास के साथ

कह सकता हूं—कि यह हम सब के लिए वरदान सिद्ध होगी, अन्तरात्मा को कैवल्य के आलोक से जगमगा सकेगी। जीवन मे त्याग वैराग्य, संयम, क्षमा, दया, करुणा, प्रेम तथा मैत्री का संचार एवं प्रसार कर सकेगी।

द्वितीयखण्ड का सम्पादन लाला कांशीराम जी चावला तथा पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, इन दो महानुभावों ने किया है। चावला जी से मेरा अपना भी काफी परिचय है। चावला जी एक सिद्धहस्त लेखक हैं। इन्हों ने भगवान महावीर का एक विस्तृत जीवन उर्दू भाषा में लिखा है। अनेकों मुनियों के जीवनचरित भी इन की लेखनी ने समाज को दिए हैं। महासती जी के व्याख्यानों का पूर्वरूप लाला जी द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। इन से लिखे हुए प्रवचनों का ही सम्पादन पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल ने किया है। पं०जी से मेरा साक्षात्कार तो कभी हुआ नहीं है, तथापि इन से सम्पादित आचार्य श्री जवाहर लाल जी म० का विविधसाहित्य तथा परमस्नेही कविरत्न श्री अमरचन्द जी म०के ब्यावरचतुर्मासीय व्याख्यानों के सम्पादन को देख कर मैं कह सकता हूं कि पं०जी जैन समाज मे एक उच्चकोटि के सम्पादक है। सम्पादन कला तो मानों इन्हे नैसर्गिक ही मिली हुई है। पं० जी युग की भाषा मे लिखते हुए भी व्याख्याता के हृदय की ही बात कहते है। चन्द्रज्योति के द्वितीयखण्ड मे आपको स्थान-स्थान पर पं० जी की लेखनी का चमत्कार मिलेगा।

चन्द्रज्योति के तृतीय खण्ड मे श्रद्धांजलियां दी गई हैं। पूज्य मुनियों तथा साध्वियों, गुणग्राही श्रावक तथा श्राविकाओं द्वारा महासती जी के संयमी और वैरागी जीवन के प्रति आदर एवं श्रद्धान संसूचित किया गया है। दुनिया मे अनेको मनुष्य जन्म लेते है और मर जाते हैं। पर सभी के लिए श्रद्धांजलियां अर्पित नहीं की जातीं। श्रद्धा के पुष्प उन्हीं को अर्पित होते हैं जिन की जीवन-ज्योति जनमानस मे हिंसा, असत्य के अन्धकार को दूर कर अहिंसा तथा सत्य का प्रकाश उत्पन्न करती है। श्रद्धांजलि अर्पित करने का अर्थ है—उन महापुरुषों ने जनकल्याण के पुनीत यज्ञ मे जो अपने जीवन की आहूतियां डाली हैं,

युगानुकूल जो अनुपम आदर्श रखे हैं, अमर वात्सल्य का सरस और मधुर जो विचारपाथेय संसार को दिया है। उस के प्रति आदरपूर्ण पूज्यभाव प्रदर्शित करना तथा उस से नवजीवन की प्रेरणा प्राप्त करना, स्फूर्ति लेना और अखण्ड अहिंसा सत्य व्रत की दीक्षा अंगीकार करना।

चन्द्र की विराट् ज्योति को चन्द्रज्योति के रूप में हम सब के सामने उपस्थित करने का तथा इस के द्वारा अधिकाधिक जनहित-सम्पादन करने का सर्वोपरि श्रेय, विदुषी महासती श्री लज्जावती जी तथा तपस्विनी महासती सौभाग्यवती जी को है। इन के द्वारा ही हमें महासती जी के इतिवृत्त तथा व्याख्यान प्राप्त करवाने का सौभाग्य मिला है। चन्द्रज्योति को साकार रूप देने वाली सर्वेसर्वा ये दोनों ही साध्वी-बहिनें हैं। इन की मूल प्रेरणा तथा इनका सत्प्रयास ही आज चन्द्रज्योति के माध्यम से जनगण के मानस में नवजीवन के संचार करने का कारण बन रहा है।

अन्त में विद्वान् मुनियों तथा अन्य प्रेमी पाठकों से सानुरोध निवेदन करूंगा कि चन्द्रज्योति के अध्ययन से, चिन्तन से तथा उस में प्रतिपादित जीवनतत्त्वों पर आचरण कर अपने जीवनांगण को ज्योतित करने का सत्प्रयास करेंगे जिस से यह बहुमूल्य नूतन प्रकाशन अधिकाधिक हितावह, उपयोगी एवं लाभप्रद हो कर प्रकाशकों के अनथक श्रम को सफल बना सके।

जैनस्थानक, लुधियाना (पंजाब)<br>
कार्तिक अमावस्या, दीपमाला,<br>
२६ अक्टूबर, १९५४

—ज्ञानमुनि

# धन्यवाद

आज मंगलमयी कार्तिक पूर्णिमा के पुण्यमय शुभ अवसर पर श्रद्धेया स्वनामधन्या महामहिम बालब्रह्मचारिणी महासती श्री चन्दा जी म० का जीवन-चरित्र चन्द्रज्योति के रूप में प्रेमी पाठकों के करकमलो में सादर समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्षानुभव कर रहे हैं। जिस घड़ी की हम वर्षों से प्रतीक्षा कर रहे थे, आज उसे पाकर हमारा मानस मयूर की भांति नाच उठा है।

महासती श्री चन्दा जी महाराज का यह जीवन चरित्र बड़े ही प्रामाणिक तथा सुन्दर पद्धति से लिखा गया है। पूज्य गुरुणी महासती जी की पौत्र शिष्या तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी म०की ही पौत्रशिष्या आर्या श्री महेन्द्रकुमारी जी म० इस जीवनचरित्रांश की लेखिका हैं। आर्या जी ने पद पद पर गुरुणी श्री के प्रति श्रद्धा, प्रेम, तथा भक्ति का प्रवाह प्रवाहित किया है। जीवनचरित्र सम्बन्धी सत्यांशों का बड़ी चतुरता से विश्लेषण किया है। पढ़ने में रस आता है। पाठक लेखिका की भावना के साथ बहता ही चला जाता है। इतना सुन्दर जीवन-चरित्र लिखने के लिये हम आर्या महेन्द्रकुमारी जी म० के हृदय से आभारी हैं।

चन्द्रज्योति का दूसरा प्रवचन खण्ड लाला कांशीराम जी चावला तथा पण्डितप्रवर श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा सम्पादित हुआ है। चावला जी ने आज तक हिन्दी उर्दू पंजाबी तथा अंग्रेजी भाषा की लगभग ६० पुस्तकें लिखकर साहित्य की अमर सेवा की है। प्रस्तुत प्रवचनखण्ड भी इन्हीं के सत्प्रयासों का मधुर परिणाम है। इस का पूर्वरूप आप ने ही तैयार किया था। किन्तु पण्डितप्रवर श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की लेखनी का स्पर्श पाकर तो यह सोने मे सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ करने लग गया है तथा एक अपूर्व ही रूप मे परिवर्तित हो गया है। पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल जैन संसार में एक

उच्च तथा प्रतिष्ठित विद्वानों मे से एक हैं । आप की लेखनी का चमत्कार साहित्यसंसार में सुप्रसिद्ध है। आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० की जवाहरकिरणावली (३० भाग) का प्रत्येक पृष्ठ आपकी सम्पादनचमत्कृति का अमर गुणगान कर रहा है। हम समाज की ओर से आदरणीय ला० कांशीराम जी चावला तथा श्रद्धेय पण्डित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

जैनधर्मदिवाकर जैनागमरत्नाकर साहित्यरत्न प्रधानाचार्य श्री १००८ श्री आत्माराम जी म० के सुशिष्य विद्वद्रत्न संस्कृत प्राकृत विशारद अनेक गुणालंकृत पण्डित श्री हेमचन्द्र जी म० तथा श्री ज्ञानमुनि जी म०के विशेष आभारी है जिन्हों ने अपने अमूल्य क्षणों को देकर इस ज्योति को संशोधित, परिवर्द्धित एवं परिमार्जित कर अधिकाधिक समुज्ज्वल रूप दिया है। महाराज श्री का आभार हम किन शब्दो द्वारा अभिव्यक्त करें, यदि मुनि जी इस महान् कार्य को अपने संरक्षण में न रखते और प्रूफ संशोधन के भार को वहन ना करते तो संभवतः इस ज्योति की दिव्य झलक पाठकों की अन्तरात्मा को उद्भासित न कर पाती। यह आपके ही सत्प्रयासो का मधुर फल है कि महासती जी की जीवनज्योति पाठकों के जीवन को ज्योतिमय बना रही है हम आप के इस सर्वोत्तम संशोधन कार्य का हार्दिक अभिनन्दन करते है।

सतीधुरीणा विदुषी महासती श्री लज्जावती जी म० तथा घोरतपस्विनी महासती श्री सौभाग्यवती जी म० के हम कृतज्ञ हैं, जिन के प्रयत्नो द्वारा ही यह चन्द्रज्योति पाठकों को प्राप्त करने का सोभाग्य मिला है। ये दोनों ही महासतिएं गुरुणी श्री चन्दा जी म० के बडी सुयोग्य, सुशील तथा विचारक शिष्यानुशिष्याएं हैं। गुरुणी श्री के चरणकमलो में इन्होंने जीवन का अधिक भाग व्यतीत किया है, सेवा का परम मधुर फल किया है। प्रस्तुत चन्द्रज्योति के निर्माण कराने मे आप ने अपनी गुरुभक्ति का आदर्श उदाहरण उपस्थित किया है।

चन्द्रज्योति के प्रकाशन मे अर्थव्यवस्था में अधिक सहयोग ला० कुञ्जलाल जी ओसवाल सदर बाजार देहली, श्री करोड़ी मल जी देहली,

श्री लहेशाह जी लाहौर वाले, श्री कल्लूमल जी कोठी वाले देहली, श्री सीताराम जी लुधियाना, श्री अमरनाथ जी तथा श्री हुक्मचन्द जी जैन, जैन साईकल कम्पनी लुधियाना ने दिया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों भाईयों तथा वहिनों ने भी इस पुनीत यज्ञ मे अपनी श्रद्धा के अनुसार द्रव्य की आहूतियां डाली है। धन के स्वामी तो लाखों ही मिल जाते हैं परन्तु धन का उपयोग धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन तथा अन्य धार्मिक सत्कार्यों में करने वाले वहुत ही कम होते हैं। इन सभी आदरणीय भाइयों तथा वहिनों ने वालब्रह्मचारिणी महासती श्री चन्दा जी म० के प्रति आदर्श गुरुभक्ति का परिचय दिया है। मैं समाज की ओर से इन सव के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। हां एक उल्लेखनीय वात यह है कि जीवनचरित्र के छपवाने मे हमे मूल प्रेरणा कुञ्जलाल जी धर्म पत्नी श्रीमती पन्नादेवी जी की ओर से प्राप्त हुई है जो कि महासती जी की श्रद्धालु शिष्याओं में से एक हैं, सती जी का विचार, जीवनचरित्र छपवाने का नहीं था केवल पन्ना देवी जी की प्रेरणा का ही यह फल है कि श्री चन्दा जी म० का जीवन पुस्तक के रूप में पाठकों के सामने आया।

एक वात का ध्यान रहे—महासती श्री चन्दा जी म० ने तो जो कुछ अपने प्रवचनों मे कहा है, वह साधु-भाषा में ही कथन किया है। यदि पाठकों को साधुभाषा के विरुद्ध कोई शव्द प्रतीत हो तो वह सम्पादकों की ही असावधानी समझनी चाहिए। सूचना मिलने पर अग्रिम संस्करण मे वह भी दूर करदी जायेगी।

मन्त्री—

जैनशास्त्रमाला कार्यालय

जैनस्थानक, लुधियाना।

# एक झलक

सठ सुधरहिं सत संगति पाई ।
पारस परसि कुधातु सुहाई ॥
विधि हरि हर कवि कोविद बानी ।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
(सन्त तुलसीदास)

रामचरित मानस के अमर रचयिता कवि सन्त तुलसीदास जी अपनी सुधा-सिक्त वाणी में सन्त महिमा को वर्णन करते हुए कहते हैं—

कि विश्व में अपने निन्दनीय कार्यों एवं दुराचरणों द्वारा ख्याति प्राप्त दुष्ट मानव संत पुरुषों के समागम को पाकर वैसे ही अपनी आत्मा के सुधार को कर लेते हैं, जिस प्रकार पारस के संस्पर्श से लोहा विशुद्ध स्वर्ण बन जाता है। ऐसे महापुरुषों की गौरव गाथा कहते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि, पंडित व स्वयं बृहस्पति आदि भी अपनी असमर्थता प्रकट करते है ।

जब साधु पुरुषों की महा-महिमा का स्वरूप वर्णन करने मे विश्व की ऐसी २ आदर्श शक्तियों की भी गति एवं मति कुंठित हो जाती है, तब मुझ जैसी अल्पज्ञा और लेखनकला से सर्वथा अनभिज्ञा श्री महासती श्री चन्दा जी महाराज की साधुतामयी तथा यशोगाथामडित जीवनी लिखने का साहस किस प्रकार कर सकती है। फिर भी यह सोचती हुई कि उनके गुणकीर्तन द्वारा अपनी आत्मा के उत्थान का तथा अपनी लेखनी को पावन बनाने का सब को समानाधिकार है। बस,इसी लक्ष्य को सन्मुख रख कर मैंने भी महासती जी के विशाल जीवन पृष्ठों का संक्षेप रूप मे पाठकों को दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया है।

महामान्या महासती जी का विशाल जीवन शब्दों की परिधि से बाहर की वस्तु है क्योंकि उनका साधक जीवन वह जीवन है जिस पर आदि से लेकर अन्त तक कहीं भी विकार की छाया मात्र भी नहीं दीख पड़ी है। उनका जीवन क्या था, कैसा था अथवा उन्होंने समाज की वलिवेदी पर अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को किस प्रकार बलिदान किया था ? यह आप उनके जीवन के गंभीर अध्ययन से ही जान सकेंगे। यह ठीक है कि उनके जीवन काल के ७८ वर्ष और साधना मय जीवन के ६६ वर्षों का विवरण मेरे द्वारा इस लघु-काय लेख में लिपि बद्ध करना इसी प्रकार है जिस प्रकार मृत्तिका के अनन्त कणों को गणित की परिधि मे बांधना। फिर भी मैंने अपनी हृदयस्थ भक्ति भावनाओं को पुस्तक के कुछ पृष्ठों पर अंकित कर पाठकों के सन्मुख रख ही दिया है। पाठक, यह न समझें कि मै कोई सफल लेखिका हूँ या लेखनी पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार है। नहीं यह बात बिल्कुल नहीं है। मैं तो एक छोटी सी आर्या हूं और भाषा एवं भावों के समन्वय से भी सर्वथा अपरिचित हूँ लेखन शैली से भी अनभिज्ञ हूँ। और दूसरी बात यह भी है कि मैं महासती जी के जीवन से पूर्णतया अवगत भी नहीं, कारण कि मुझे दीक्षित अवस्था के बाद उनकी चरणसेवा का सौभाग्य केवल साढ़े चार वर्ष ही प्राप्त हुआ है, इतने अल्प समय में उस महान् आत्मा की जीवन झांकी का अवलोकन करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। इस लिए उनके विशाल जीवन की वही घटनाएं आपके सामने आसकी है जो जन-साधारण में प्रचलित हैं, और उन्हीं घटनाओं का संकलित रूप आपके हाथों में है। मैं यह नहीं कहती कि जो भी उनके चरित्र से संबंधित घटनाएं दी गई हैं वह सभी पूर्ण रूप में लिखी गई हैं क्योंकि किसी भी महान् आत्मा के विषय में लिखने का प्रयास बड़ा ही कठिन होता है। कारण कि कई उल्लेखनीय बातों से लेखक सर्वथा अपरिचित रहता है कई बातें बीच में ही अपूर्ण रह जाती है कई सूक्ष्म घटनाएं विशालता को प्राप्त हो जाती हैं, कई स्थल लेखनी के स्पर्श से सर्वथा अछूते ही रह जाते हैं। और जिन घटनाओं से लेखक या लखिकाएं परिचित भी होते हैं किन्तु किन्हीं कारणों से जनता के हाथों

पहुँचाने मे उन्हे संकुचितता को अपनाना पड़ता है। ऐसा ही कुछ मुझ से भी हुआ है। एक तो मुझे महामाननीया गुरुनी जी के जीवन के सम्बन्ध में विशेष पता ही नहीं और थोड़ा बहुत जो पता भी है वह मेरी अल्पबुद्धि व तुच्छ लेखनी के बाहर की वस्तु है। मै आशा करती हूँ, सहृदय श्रद्धालु पाठक मेरी भूलों को लक्ष्य न करते हुए इसे अपनाने की महत्ता दिखलाएंगे।

यह मेरे असीम पुण्योदय का संग्रह है कि श्रद्धेया बालब्रह्मचारिणी जैन धर्मोद्धारिका श्री सती जी म० व परमसौभाग्यशालिनी-तपोविभूति श्री सती सौभाग्यवती जी म० की पावन प्रेरणा से मुझे गुरुनी जी के जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने का यह शुभ अवसर मिला। महासती जी की कृपा दृष्टि मुझ अकिंचन पर सदैव रही है और भविष्य मे भी सदैव रहेगी ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। और यह उनकी ही कृपा-दृष्टि का फल है कि मै यह थोड़े से पृष्ठ श्रद्धाञ्जली के रूप मे गुरुनी जी के पावन पदाम्बुजो मे समर्पित करने में समर्थ हुई। अन्त मे अपने प्रेमी पाठकों से सानुरोध प्रार्थना करती हूँ कि आप हंसवत् गुणग्राही बनकर महासती जी की पुनीत जीवनी द्वारा अपने जीवन को सफल बनाएं।

आर्या महेन्द्रा जैन।
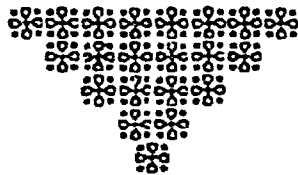
# चन्द्र-ज्योति

[जीवन-खण्ड]

लेखिका

बालब्रह्मचारिणी महासती श्री चन्दा जी म० की शिष्यानुशिष्या

तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी महाराज की शिष्यानुशिष्या

विदुषी आर्या श्री महेन्द्रकुमारी जी महाराज।

प्रकाशक

श्री जैन शास्त्रमाला कार्यालय

जैनस्थानक, लुधियाना, (पंजाब)

वाग इलैक्ट्रिक प्रेस कूचा लालूमल लुधियाना में मि० दिलवागराय
प्रो० वाग इलैक्ट्रिक प्रेस, लुधियाना के प्रवन्ध में छपी।
तथा श्री जैनशास्त्रमाला कार्यालय जैनस्थानक
लुधियाना से प्रकाशत।

## कहां क्या है ?

स्वर्गीया बालब्रह्मचारिणी १००८ श्री श्री चन्दा जी महाराज

जन्म संवत् १९३३ दीक्षा सं० १९४४ निधन सं २००६
वैशाख शुक्ला तृतीया फाल्गुन शुक्ला ५ श्रावण शुक्ला १३

## ॥ आदर्श महासती श्री चन्दा जी महाराज ॥

आज हम अपने प्रेमी पाठकों को श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-परम्परा की सुविख्यात एक आदर्श साध्वी के पुण्यश्लोक जीवन का परिचय देने के लिए प्रस्तुत हुए हैं। जहां हम वर्तमान युग के परम मेधावी त्यागशील महापुरुषों के विशुद्ध जीवन के स्वाध्याय से अपने अन्दर एक विशिष्ट आत्मोल्लास प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, वहां हमें एक वर्तमान युग की आदर्श महासती साध्वी की जीवनी को हृदयंगम कर के उस के विमल आलोक से अपने आध्यात्मिक विकास में प्रगति करने का भी स्तुत्य प्रयास करना चाहिए।

जैनपरम्परा की वर्तमान युग की महासती श्री चन्दा जी म० को श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज मे वही स्थान प्राप्त है, जो श्री नेमिनाथ भगवान के समय श्री राजीमती जी व श्री प्रभु महावीर के शासनकाल में उन की प्रधान शिष्या महासती चन्दनवाला जैसी आदर्श साध्वियों को प्राप्त था।

यूं तो विश्व के विशाल रंगमंच पर अनेकों आत्माएँ नाना प्रकार के विविध विचित्र रूपों मे हमारे समक्ष आती हैं, और कुछ देर तक अपनी अच्छी बुरी प्रवृत्तियों की क्रीड़ा दिखा कर चली जाती है। कोई सुखमय जीवन बिताकर, कोई दुःखमय घड़ियां व्यतीत कर, कोई नेक कारनामे करती हुई, कोई बदकर्म करती हुई इस संसार से प्रस्थान कर जाती हैं। संसार जिन का न जीना जानता है, न मरना। उस की विशाल दृष्टि मे इन जीवों का जन्म और मरण दोनों ही नगण्य है। जन्म पर हर्ष नहीं, मृत्यु पर शोक नहीं, किन्तु उन्हीं आत्माओं में से कुछ महान् आत्माएँ ऐसी होती हैं, जो विश्व को नव-जागृति का मधुर सन्देश देती हैं, जो संसार मे नव-चेतना जागृत करती हैं. जो संसार को नव-जीवन प्रदान करती हैं, और अपने ज्ञानसौरभ से दुःखित, क्लेशित, शोकग्रस्त मानवों के अशान्त मस्तिष्क को शांति प्रदान करती है, और वही आत्माएँ संसार मे महान् आत्माएँ कहलाने की अधिकारिणी होती

हैं। विश्व के प्राणी ऐसी भव्य आत्माओं को प्राप्त कर अपने अन्दर एक विशेष प्रकार की विस्फूर्ति का अनुभव करते हैं। ऐसी प्रख्यात महान् आत्माओं में हमारी चरित्रनायिका आदर्श साध्वी महासती श्री चन्दा जी महाराज भी एक थीं जिन्होंने अपने ज्ञान-सौरभ से मानव समाज के उद्यान को सुरभित करके देश के कोने २ में मानवता का पवित्र सन्देश पहुंचाया है। वर्तमान स्थानकवासी जैनसमाज इसके लिए जितना भी गर्व करे, उतना ही कम है।

## जन्म तथा बाल्यकाल

आपका शुभ जन्म प्रसिद्ध राजपूत वंश में विक्रम सम्वत् १६३३ की वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन मुगलकालीन प्रसिद्ध राजधानी आगरा में हुआ।

सम्वत् ३३ की वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन भी ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उस दिन सूर्य चन्द्रमा और बृहस्पति ये तीनों ग्रह अपनी उच्च राशि में स्थित हो रहे हैं। सूर्य की मेष राशि, चन्द्रमा की वृष राशि, बृहस्पति की कर्क राशि, ये तीनों इन की उच्च राशिएँ हैं। तब ज्योतिष शास्त्र के अनुसार—

**त्रिभिरुच्चैर्भवेद् राज्यं, त्रिभिर्नीचैः दरिद्रता।**

अर्थात्—जिस व्यक्ति के जन्मकाल में यह तीन ग्रह उच्च के हों, वह व्यक्ति राजा या राजमान्य या राजपूज्य होता है, और जिस के ये तीन ग्रह नीच राशि में हों, वह महा दरिद्री और भिखारी होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैशाख शुक्ला तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से पुकारा गया है, क्योंकि इसी दिन धर्म के प्रवर्तक, युगादि अवतार भगवान् ऋषभदेव के वर्षी तप का पारणा हुआ था, इसी कारण यह तृतीया अक्षय तृतीया कहलाई, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है— अ+क्षयः, न क्षयः इति अक्षयः, अर्थात् जिस का कभी ह्रास न हो, जिस का अस्तित्व इतिहास के पृष्ठों पर अमिट रहे। उसी पावनी तिथि को आप ने अक्षय यशःकीर्ति के साथ इस धरातल पर जन्म धारण किया।

संसार में जितने भी प्रभावशाली व्यक्ति हुए हैं, उन के जन्म-समय का विचार करते हुए यह बात अवश्य देखने में आती है, कि उन के जन्मसमय में अन्य साधारण व्यक्तियों के जन्मसमय की अपेक्षा कोई न कोई असाधारण विशेषता होती है। जन्मसमय की तरह उन का शैशवकाल भी अन्य बालक बालिकाओं की अपेक्षा विलक्षण होता है, परन्तु अन्य साधारण व्यक्ति या जन्म देने वाले माता पिता को उस समय अपने होनहार पुत्र या पुत्री के विकासपूर्ण उज्ज्वल भविष्य का ज्ञान नहीं होता। वह तो अपनी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार ही अपने शिशु के भावी जीवन की कल्पना करते हैं, यही बात हमारी चरित्र-नायिका के विषय में समझनी चाहिए। पिता खुमानसिंह जी व माता हर्षकुंवर को तो इस बात का गुमान तक भी नहीं होगा कि उनके घर में जिस कन्यारत्न ने जन्म लिया है, वह कितना निर्दोष, महार्घ और मूल्यवान् है, और उन के मन में तो सम्भवतः इस बात की कल्पना तक भी नहीं होगी कि हर्षकुंवर की पवित्र गोद को जिस चन्द्र कुंवर ने उल्लसित किया है, वह एक दिन शारदी पूर्णिमा के चन्द्र की भांति अपनी ज्ञानमयी शुभ्र रश्मियों की ज्योति के द्वारा अमृत का सञ्चार करती हुई विश्व के प्राणिसमुदाय के दुःखसंतप्त हृदयों में चिरस्थायी शांति का संचार करने में पूर्णतया निपुण होगी और अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष से अपने वंश को विश्व में विख्यात करने का श्रेय प्राप्त करेगी।

आपके पुज्य पिता का नाम श्री खुमान सिंह जी था, और माता का नाम हर्ष कुंवर था। माता हर्ष आप को पाकर हर्ष से फूली न समाती थीं। आप जैनकुलोत्पन्न न थीं। आप थीं एक महान् योद्धा क्षत्रिय राजपूत की कन्या। क्षत्रियत्व था आपकी नस २ में, ओजस्विता थी आपकी रग २ में, अंकित थी तेजस्विता आपके सौम्य मुखमण्डल पर। आप की सौम्यता, आप की भव्यता को देख कर माता पिता ने आपका नाम चान्द कुंवर रख दिया। 'यथा नाम तथा गुण' वाली कहावत चरितार्थ हुई।

चांद कुंवर शुक्लपक्षीय चन्द्र की भांति दिन प्रतिदिन वृद्धि

मं प्राप्त होने लगी। आप का बाल्यकाल बड़ा अलौकिक था, आप के मुखमण्डल पर निराला तेज झलक रहा था, आप की अलौकिक आकृति पर दृष्टि पड़ते ही सज्जनों के हृदयों में प्रेमभावना की तरंगें उछलने लगती थीं। रोम २ प्रफुल्लित हो उठता था। आपकी शांत मुद्रा का दर्शन करते २ उन की तृप्ति नहीं होती थी। विवश हो उन के मुख से यही शब्द निकलते थे, कि जिस देवीस्वरूपा की यह मनोहर छवि है, निश्चय ही भविष्य में यह धर्मप्रतिमा, सत्यवक्त्री, परम साहसी, निर्भीक, विशेषज्ञा, विद्वद्शिरोमणि, बालब्रह्मचारणी, विद्यावारिधि और अवतारी आत्मा होगी। यह साधारण बालिका नहीं, अपितु मानवीरूप में कोई देवीविशेष है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि विकासमार्ग की ओर प्रस्थान करने वाली पुण्यशाली आत्माओं का बालपन भी अन्य साधारण जीवों की अपेक्षा कई प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण होता है। तदनुसार चांद कु वर का बाल्य जीवन भी अपने अन्दर अनेक विशेषताएं रखता था। बालसुलभ चंचलता और हठीलेपन का अभाव, एकान्तप्रियता, नम्रता, मितभाषण, गम्भीरता और वाक्पटुता आदि मानवोचित सद्‌गुणों का सद्भाव चांद कुंवर के बाल्य-जीवन की अमूल्य निधि थी।

चांद कुंवर को बालक्रीड़ा में समवयस्क बालक और बालिकाओं के विशेष आग्रह पर ही सम्मिलित होना पड़ता था। मन मे तो उस की बालक्रीडा मे अरुचि ही रहती। उसे एकान्तवास अधिक प्रिय था। मात पिता की आज्ञा का सावधानी से पालन करना और उन के साथ मे साधु मुनिराजों के दर्शन तथा प्रवचन सुनने की ओर चांद कुंवर का मन अधिक लालायित रहता था। गुरुजनों के प्रवचन को वह बड़े ध्यान से सुनती और कभी कभी बालयोगी की भांति ध्यानमग्न हो कर वह अपने में खो जाती और कभी कभी तोतली वाणी मे उस के मुख से वैराग्य-गर्भित ऐसे शब्द निकलते कि माता पिता तथा पड़ोस के अन्य स्त्री पुरुष उन्हें सुन कर अवाक् से रह जाते। पांच छः वर्ष की बालिका के मुख से एक अनुभवी विद्वान् की भांति परमार्थ की कोई सुलझी हुई बात सुन कर कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसे आश्चर्य न हो?

## आदर्श गुरुसंयोग

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति वृद्धि को प्राप्त होने वाली आदर्श बालिका चांद कुंवर अब सात वर्ष की हो गई। उसकी वाणी में वह पहले सा तोतलापन न रहा, बल्कि वाक्पटुता और विचारप्रवीणता का अधिक सौष्ठव तथा प्रगल्भता और गम्भीरता का साम्राज्य स्थापित होगया। विवेकपूर्ण रहन सहन, संयत भाषण, विद्याभिरुचि, और साधुजन-सत्संग की लालसा आदि सद्गुणों ने चांद कुंवर के जीवन में सहयोग प्रदान करते हुए उन के भावी जीवन के निर्माण का आरम्भ किया। चांद कुंवर के माता पिता तो शायद सांसारिक जनाभिलषित यही स्वप्न देखते होंगे कि उन की यह पुत्री समय आने पर एक आदर्श महिला बन कर किसी सुयोग्य पुत्र या पुत्री की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त करेगी, परन्तु उन्हें क्या खबर थी कि उन की पुत्री आदर्श महिला नहीं, अपितु आदर्श साध्वी के रूप में संसार भर के सभी स्त्री पुरुषों को सन्मार्ग में लाने का भगीरथ प्रयत्न करके एक आदर्श धर्ममाता के उज्ज्वल आदर्श को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करेगी।

यूं तो आकृति और अवयवसङ्गठन में चांद कुंवर सात आठ वर्ष की अबोध बालिकाओं के सदृश दृष्टिगोचर होती थी, परन्तु आन्तरिक परिस्थिति में तो आकाश और पाताल का सा अन्तर था। जहां अन्य साधारण बालिकाओं का हृदय अबोधपूर्ण होता है, वहां चांद कुंवर का हृदय आध्यात्मिक जागरण से उद्वेलित होकर किसी अज्ञात प्रकाश की ओर आकर्षित हो रहा था। हमारे विचारानुसार तो इसे उदय में आने वाले पूर्वसञ्चित शुभ कर्मों की देन ही समझना चाहिए, अन्यथा इतनी छोटी आयु में इस प्रकार की दैवीसम्पदा या गुणसम्पदा का प्रादुर्भाव होना सम्भवतः असम्भव ही जान पड़ेगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि बालसती चांद कुंवर का संस्कारी मन सांसारिक विषयों से विमुख हो कर किसी अविनाशी सुख की खोज में संलग्न था। इस लिए उसने सर्वप्रथम विद्याभ्यास की ओर लक्ष्य किया। वह निरन्तर पाठ्यपुस्तकों के पर्यालोचन में संलग्न रहती और समय समय पर अपनी माता के साथ नगर में पधारे हुए साधु मुनिराजों और

साध्वियों के भावग्राही सदुपदेशों के श्रवण में दत्तचित्त रहती। इस तरह कुछ समय बीतने के बाद चांद कुंवर के सद्भाग्य से उसे एक माननीया साध्वी का सहयोग प्राप्त हुआ, जो कि जैनपरम्परा के श्वेताम्बर स्थानकवासी साध्वीसमुदाय की मुकुटमणि थीं, और जो महासती श्री १००८ श्री अनेकगुणगणालंकृता, धर्मनीतिज्ञा, श्रावकगण-उद्धारिका, सरस्वतीकण्ठाभरणा विद्याविशारदा श्री श्री श्री श्री पन्नादेवी जी म० के नाम से सुविख्यात थीं, तथा जो उन दिनों आगरा की जनता को अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से नवजीवन प्रदान कर रही थीं। एक समय आप अपनी माता के साथ उन के दर्शनार्थ स्थानक में गई। तब महासती श्री पन्ना देवी जी की दृष्टि सुकुमार बालिका चांद पर पड़ी। सती जी ज्योतिषशास्त्र की प्रकांड पण्डिता थीं। चाँद कुंवर की आकृति, मस्तक आदि अन्य सुसंगठित अवयवों को देख कर उन्होंने अपनी स्वाभाविक मधुर वाणी में हर्षकुंवर से पूछा--बहिन ! यह बालिका तुम्हारी है ?, उत्तर में हाथ जोड़ कर माता हर्ष ने कहा—महाराज ! यह आपकी ही है, और आपकी ही कृपादृष्टि का फल है। महासती जी—बहिन ! यह बालिका कोई साधारण बालिका नहीं, किन्तु विश्व की महान विभूतियों में से एक है। इस के पठन पाठन और लालन पालन का सुचारु प्रबन्ध होना चाहिए, यह कन्यारत्न आप के वंश का ही नहीं, अपितु मानव जाति का सिर ऊँचा करने वाली होगी। हर्षकुँवर बोली—महाराज ! यह तो अभी बच्चा है, किन्तु आप का शुभाशीर्वाद इसके साथ रह कर इसके जीवनविकास में सहायक (helper) सिद्ध होगा, और इसके पठन पाठन का सारा प्रबन्ध आप की आज्ञानुसार ही होगा। ऐसा कह कर माता हर्ष कुंवर अपनी पुत्री के विषय में कही गई, महासती जी की भविष्य वाणी से गद्गद होती हुई वन्दना नमस्कार करके अपने घर आई और उस ने सारा वृत्तान्त अपने स्वामी श्री खुमानसिंह जी से कह सुनाया। खुमान सिंह भी अपनी पत्नी के मुख से यह समाचार सुन कर बड़े प्रसन्न हुए, और मन ही मन अपने भाग्य की सराहना करने लगे।

इस प्रकार हर्ष कुँवर अपनी पुत्री चांद कुंवर के साथ प्रतिदिन

स्थानक मे जाती और महासती जी के उपदेशामृत का पान कर के अपने को कृतार्थ बनाने का प्रयत्न करती, और धर्मसम्बन्धी वार्तालाप मे भाग लेती। इधर चांद कुंवर के हृदय मे महासती श्री पन्ना देवी जी म० के व्यक्तित्व के लिए अधिक आकर्षण उत्पन्न होने लगा। वह माता के बिना भी वहां घन्टों बैठी रहती, और इस अवसर मे महासती जी उसे ज्ञानाभ्यास मे प्रगति करने का आदेश देतीं।

एक दिन हर्ष कुंवर स्थानक में गई तो महासती जी ने फरमाया—बहिन! यह कन्या तुम मुझे देदो, मै इसे स्वयं ही लिखा पढ़ा लूंगी, तुम को इसके भावी जीवन का पता नहीं।

महासती जी के इस कथन को सुन कर माता हर्ष ने अपना मस्तक नीचा कर लिया और कण्ठ भर आया, मुख से बोलना चाहा किन्तु बोला न गया। उस के हृदय मे धर्म और सन्ततिमोह दोनों मे भीषण अन्तर्द्वन्द्व मच रहा था, कभी कोई विजय पाता था, कभी कोई, इस प्रकार विचारमग्ना बैठी हुई माता के कन्धे को हिला कर वैराग्य के रङ्ग से रंजित सुकुमार बालिका चांद कुंवर ने कहा—माता जी! चुप क्यों हो ?, बोलो न। महासती जी के स्वर्ण वाक्यों का सम्मानपुष्प चढ़ाओ ना। इससे अच्छा अवसर और क्या होगा ?, कि मैं साध्वी बनूंगी। आत्मकल्याण की ओर प्रस्थान करूंगी। माता जी! विचारों का क्षेत्र विशाल होना चाहिए न कि संकीर्ण। चांद कुंवर के इस कथन ने माता के हृदय में एक अपूर्व आनन्द का स्रोत बहा दिया और उस के हृदय मे उपस्थित होने वाले धर्म और मोह के तुमुल संग्राम मे धर्म ने विजय प्राप्त की, और मोह का तिरस्कार हुआ। माता हर्ष कुंवर ने अपने पति की अनुमति लेकर चांद कुंवर को महासती जी के अर्पण कर दिया, और गद्गद् कण्ठ से कहा— महाराज! मैने आपके वचनों को प्रमाण करके अपनी प्रिय पुत्री, जो कि हमारी आकांक्षाओं की आधार और अभिलाषाओं का केन्द्र है, आप के अर्पण की। अब आप ही इस के संरक्षक है, क्योंकि अब यह आज से आप की हुई। महासती जी इस लघु शिष्या को पाकर आनन्दमग्न हो गई।

## विद्याभ्यास

सहायास्तादृशाः ज्ञेयाः, यादृशी भवितव्यता" अर्थात् जो बनना होता है, उसके अनुकूल सामग्री भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है इस उक्ति के अनुसार चांद कुंवर को विकास की ओर बढ़ने के लिए महासती श्री पन्ना देवी जी महाराज का पुण्य सहयोग उपलब्ध हुआ और बालिका चाँद उनके संरक्षण में अपने ज्ञानाभ्यास आदि कार्यों में प्रगति करने लगी ।

यह तो सुनिश्चित बात है कि संस्कारी आत्माएँ प्रायः प्रतिभा-सम्पन्न ही होती हैं। चाहे वे पुरुषपर्याय में हों अथवा स्त्री के चोले में। अतः हमारी चरित्रनायिका में भी प्रतिभा की कमी नहीं थी। आप की बुद्धि की विलक्षणता सर्वोच्च थी। आप दिन भर मे ५०--६० शास्त्र की गाथा अथवा श्लोक आदि को कण्ठस्थ कर लिया करती थीं। एक दफा की पढ़ी हुई या लिखी हुई वस्तु आप के मस्तिष्क में सदा के लिए अङ्कित हो जाती थी। चाहे जिस अवस्था मे जिस समय मे आप से कोई प्रश्न किया जाता आप उसी समय उस का उत्तर देतीं. यह था आप की बुद्धि का चमत्कार। जैसे २ आप बालभाव का परित्याग कर किशोरावस्था में पदार्पण करती गई, वैसे २ आप के ज्ञानाभ्यास में भी पूर्ण प्रगति होती गई। फलतः सात वर्ष की आयु से लगा कर १२ वर्ष की आयु तक सतत अभ्यास करते हुए विद्या मे आपने पर्याप्त उन्नति की. शब्दशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त आपने आगमों का भी सुचारुरूप से अध्ययन किया, और जैनजगत मे एक प्रकाण्ड विदुषी के रूप में उपस्थित हकर उस की शोभा को चार चान्द लगाए।

## दीक्षा

छः सात वर्ष की चाँद कुंवर अब १२ वे वर्ष में प्रविष्ट हुई, इस सात आठ वर्षो के अन्दर में उसके हृदयस्थल मे कितना ज्ञान का प्रकाश पैदा होगया ? इसका साक्षात् अनुभव तो केवल हमारी चरित्रनायिका या केवली भगवान् को ही हो सकता है, उस समय की चांद कुंवर के भीतर की ज्ञानज्योति शुक्लपक्षीय द्वितीया के सदृश थी और इस समय वही

पूर्णिमा के रूप में अभिव्यक्त हो रही थी। उस समय की हृदयगत वैराग्यधारा बहुत स्वल्परूप मे प्रवाहित थी, और अब वह वर्षाकालीन नदी के उग्र प्रवाह की होड़ कर रही है। वैराग्य लहरें बड़े ज़ोर से ठाठे मार रही हैं। अधिक क्या कहें ?, १२ वर्ष की चाँद कुंवर सचमुच ही एक भावसाध्वी का सजीव आदर्श बन रही थीं। उस का मन सांसारिक प्रलोभनों से ऊब चुका था, और विषयवासना से अछूता, स्फटिक रत्न की भांति स्वच्छ और आकाश की भाँति निर्विकार मानस उस की भावसाधुता का आन्तरिक चित्र अंकित कर रहा था। बाह्यरूप मे भी उस का सुचारु अवयवसंगठन, तेजस्वी मुखमंडल, और वचनसौष्ठव आदि विशेषता ही उस की संयमनिष्ठा का परिचय दे रही थीं। फिर भी जिस का हृदयप्रदेश वैराग्य की निर्मल सुरसरी की धारा से आप्लावित हो रहा हो, और जिस के हृदयाकाश मे ज्ञानज्योति का अद्भुत प्रकाश अपने पूर्ण यौवन पर हो, ऐसी चाँद कुंवर अब सांसारिक बन्धनों से अपने आप को छुटकारा दिलाने एवं मानवता के विशुद्ध आदर्श को स्थापित करने के लिए अधीर हो रही थी। इस लिए उस ने अपनी श्रद्धेय गुरुनी श्री पन्ना देवी जी महाराज से परम आर्हती दीक्षा से दीक्षित होने का सविनय सानुरोध प्रस्ताव किया, और संसार की ओर घृणित दृष्टि से देखते हुए आप ने कहा—

> पिता माता भ्राता निज-तनुज-कान्ता प्रियतरा ।
> भवन्ति प्राणिनां शुभपथि च ते बन्धनकराः ॥
> गृहीत्वाऽहं दीक्षां भवजलधिमध्ये च तरणिं ।
> लभिष्येऽहं शीघ्रं निरुपमं पदं शाश्वतसुखम् ॥ १ ॥

अर्थात्— माता, पिता, बहिन, भाई, प्यारे नाते रिश्तेदार, स्वजन, संबन्धी सब मनुष्यों के आत्मोन्नति के, आत्मकल्याण के शुभ मार्ग में बन्धन डालते हैं, मार्ग मे रोड़ा अटकाने वाले है। इसलिये मैं परम पावनी आर्हती दीक्षा को, जो कि संसाररूपी समुद्र से तारने वाली नौका के सदृश है, ग्रहण करना चाहती हूं और मैं शीघ्र ही कर्मों के दृढ़तर बन्धनों को तप, त्याग द्वारा छेदन भेदन कर के मोक्ष के

अनुपम, शाश्वत सुखों का वरण करना चाहती हूँ।

चांद कुंवर के इन वैराग्यगर्भित शब्दों को सुनकर महासती जी गद्गद हो गईं और अपने भाग्य की उत्कृष्टता की मन ही मन सराहना करके लगीं कि जो बाला नवयुवावस्था में ही इतने वैराग्य-सागर में डुबकियां लगा रही है, भविष्य में अवश्य ही अपने वैराग्य, तप, त्याग, शालीनता का ज्वलन्त उदाहरण संसार के सन्मुख रखेगी। चांद कुंवर को पूर्णतया दीक्षा के योग्य जान कर आप ने उस के प्रस्ताव को स्वीकार किया। फलस्वरूप वि० संवत् १९८४ की फालगुन शुक्ला पंचमी के दिन शुभ मुहूर्त मे परम विदुषी चांद कुंवर संसारतारिणी भागवती दीक्षा से अलंकृत हुई। द्रव्यसाधुता ने भावसाधुता का पुण्य सहयोग प्राप्त कर के अपने को कृतकृत्य किया और सोने में सुगन्धि का काम करके बालतपस्विनी, परम विदुषी, आदर्श साध्वी के सजीव चित्र को संसार के समक्ष उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त किया।

उस समय से हमारी चरितनायिका सती श्री चन्दा जी म० के नाम से विख्यात हुईं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अभिन्नता से निर्मित हुई इस मानवी प्रतिमा को साधुवेप में देखने और वन्दन करने का प्राथमिक पुण्य अवसर पंजाब प्रान्त के प्रख्यात नगर करनाल की जनता को प्राप्त हुआ। करनाल शहर में सम्पन्न होने वाली आप की दीक्षा का समारोह भी विशेप दर्शनीय था। करनाल की जैन समाज ने दीक्षामहोत्सव पर अधिक से अधिक उत्साह दिखलाया और आप की दीक्षा का कार्य सुचारुरूप से सम्पन्न किया।

उस समय साधुवेपभूपा मे सुसज्जित बालतपस्विनी आर्या श्री चन्दा जी म० कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अहिंसा, तप, संयम आदि शस्त्रअस्त्रादि से सन्नद्ध होकर संग्राम भूमि मे उतरने के लिए प्रस्तुत शुभ्रवेपधारिणी एक वीरबाला के आदर्श को उपस्थित कर रही थीं।

इस प्रकार अनायासप्राप्त सांसारिक वैभव और मनोहारी सांसारिक प्रलोभनों पर तथा रमणीय विलाससामग्री पर लात मार कर

अविनाशी सुख की प्राप्ति के साधनभूत मुनिधर्म को अपनाते हुए आप ने भारतीय नारीसमाज के जीवनस्तर को बहुत ऊंचा उठा दिया। ऐसी सुयोग्य शिष्या को पाकर सतीधुरीणा श्री पन्नादेवी जी म० ने जहां आत्मगौरव का अनुभव किया, वहाँ स्थानकवासी जैन समाज को भी अपने सद्‌भाग्यसूर्य को उदय होते देख कर अपार हर्ष हुआ।

## गुरुणी जी का आशीर्वाद

दीक्षा के समय पांच महाव्रतों का उच्चारण करने के बाद आप की पूज्य गुरुणी जी ने आप को आशीर्वादात्मकरूप में जो स्वर्णोपदेश दिया, वह इतिहास के पृष्ठों पर अमिट रहेगा। उन्हों ने कहा था–

अय चांद! तू जैनजगत में चांद के समान ही ज्योतित होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। परन्तु फिर भी संयम का पालन करना बड़ा कठिन है, जैसे भुजाओं से समुद्र तैरना बड़ा कठिन है वैसे ही संयमपूर्ण मार्ग का अनुसरण करना बहुत मुश्किल है। जिस प्रकार तलवार की धार पर चलना दुष्कर है, उसी प्रकार तप संयम का आचरण करना भी अत्यन्त दुष्कर है। जैसे वालू के कवल में कोई रस नहीं होता उसी प्रकार संयम भी नीरस और स्वादरहित है। श्री उत्तराध्ययन शास्त्र के १६ वें अध्ययन में ४२ वीं गाथा में कहा है—

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मंदरो गिरो।
तहा निहुयं निस्संकं, दुक्करं समणत्तणं ॥४२॥

अर्थात्—जैसे तुला से मेरु पर्वत का तोलना दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार निश्चलचित्त और शंकारहित हो कर साधुवृत्ति का पालन करना भी नितान्त विकट है। इसलिए पग २ पर बड़ी सावधानता की आवश्यकता है। चाहे कितनी ही आपत्तियों का सामना क्यों न करना पड़े किन्तु संयम पथ पर अविचल भाव से बढ़े जाना क्योंकि कठिनाइयां और मुसीबतों का झेल कर ही मनुष्य बड़प्पन को प्राप्त करता है। गांधी जी ने एक स्थान पर लिखा है—

**'Deep Tragedy is the school of great men'**

'घोर संकटपूर्ण परिस्थिति ही महापुरुषों का विद्यालय है।' आंधी और वर्षा के भयंकर तूफानों को सह कर ही नन्हे नन्हे पौदे

विशालकाय वृक्षों के रूप में परिणत हो जाते हैं. इसी प्रकार मानव को बड़ा बनने के लिए संयम के कंटकाकीर्ण पथ पर चलते हुए अपने हौसले को द्विगुणित बनाना चाहिए, इस प्रकार उपदेश दे कर महासती जी ने अन्त में कहा— कि 'मैं भी आज से यह अटल प्रतिज्ञा करती हूँ कि मैं अब और दूसरी शिष्या नहीं बनाऊंगी, मेरे लिए तुम एक ही सब कुछ हो।' कहा भी है—

एकोऽपि गुणवान्पुत्रो, निर्गुणैश्च शतैरपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारा: सहस्रशः ॥१॥

अर्थात् — गुणवान् पुत्र एक ही श्रेष्ठ है, गुणहीन सौ पुत्रों से क्या?, आकाशमंडल में विचरण करने वाला एक ही चन्द्र रात्रि के सम्पूर्ण अन्धकार को दूर करने में समर्थ है. बल्कि टिमटिमाते हुए कोटि तारागण नहीं, और भी कहा है—

एकेनापि सुपुत्रेण, विद्यायुक्तेन साधुना ।
आह्लादितं कुलं सर्वं, यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥१॥

अर्थात् — धीरता, वीरता, गंभीरता आदि गुण, साधु प्रकृति और विद्या से युक्त एक ही पुत्र सारे कुल को ऐसे प्रसन्न कर देता है जैसे चन्द्रमा रात्रि को और जिस प्रकार जंगल में अकेला ही वनराज केसरी निर्भय हो कर विचरण करता है, उसी प्रकार तुम भी संयम का दृढ़तर कवच पहन कर जैनजगत में निर्भय हो कर विचरण करो, और शासन की महिमा को बढ़ाओ, और तुम विश्व में अपने नाम को सार्थक करती हुई जनमनआल्हादिनी सिद्ध होवो, यह मेरा तुम को अमोघ आशीर्वाद है । यह थे आप की गुरुणी के अमर वाक्य ।

चारित्रशील व्यक्तियों के शुभाशीर्वाद कभी भी विफल नहीं होते और वे समय पर फलप्रद वृक्ष की भांति अवश्य सफल होते हैं। यही बात हमारी चरितनायिका महासती श्री चन्दा जी म० के विषय में पूर्णरूपेण घटित होती है, कि उन को जो आशीर्वाद दीक्षा के समय श्रद्धेया गुरुणी जी की ओर से प्राप्त हुआ था वह सचमुच ही वृक्ष की भांति फलदायक सिद्ध हुआ. और महासती श्री चन्दा जी जैन समाज की

नेत्रज्योति बन गई, और सुप्त जनता को जागृत कर अपने ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा सत्पथ दिखला कर अपने नाम को सार्थक कर दिखाया, यह उसी सच्चे अन्तःकरण से दिए गए आशीर्वाद का शुभ परिणाम था।

अब हम अपने प्राक्कथन पर आते हैं कि मुनिधर्म में दीक्षित होने के बाद और गुरुणी श्री के मुख कमल से निकले हुए सुनहरी वाक्यों को श्रवण करने के पश्चात् आप गुरुणी जी के चरणारविन्दों पर झुक गए और कहा—'महाराज ! आज का दिन कितना सुखकर तथा आनन्दप्रद है। आज मैं आर्हती दीक्षा को ग्रहण कर अपने को परम सौभाग्यशालिनी मान रही हूँ, आज मेरा सौभाग्यसूर्य ग्रीष्म के मध्य-कालीन सूर्य की भांति देदीप्यमान हो उठा है। आज मुझे आपकी पुनीत सेवा का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार अपनी प्रसन्नता के उमड़ते हुए सिन्धु के प्रवाह को रोकती हुई गुरुणी जी से अर्ज करने लगीं, कि आप मुझे कोई आज्ञा दें, मैं आपकी आज्ञा को पूर्णतया बजाऊंगी। महासती जी तो पहले ही इन को पाकर प्रसन्न थीं, किन्तु इन वचनों ने उनके हृदय पर जादू का असर किया, और वे मन्त्र-मुग्धा बनी हुई केसरिया बाने मे सुसज्जित अपनी विनय की सजीव प्रतिमा चांद को देख २ कर अपने भाग्य की सराहना करने लगीं। इस प्रकार आप को पाकर जहाँ गुरुणी जी ने अपार हर्ष का अनुभव किया, वहाँ जैन समाज भी आप के दर्शन कर अपने को गौरवान्वित मानने लगी।

## प्रथम चातुर्मास

संयम ग्रहण करने के पश्चात् आप ज्ञान पढ़ने के साथ २ संयम-क्रिया का भी पूर्णतया पालन करने लगीं। क्यों कि आप का ऐसा दृढ़ विश्वास था कि अकर्मण्य ज्ञान सफल नहीं होता। क्रिया और ज्ञान दोनों सहचर हैं, और दोनों के ही सहयोग की मनुष्य को परमावश्यकता है। विना क्रिया के ज्ञान निष्प्राण है, और विना ज्ञान के क्रिया का अस्तित्व भी कुछ नहीं। इस प्रकार आप अपने विचारानुसार और पूज्या गुरुणी जी की आज्ञानुसार संयम मार्ग मे विचरण करने लगीं,

और करनाल से विहार करके आप अपनी जन्म भूमि आगरा में पधारीं। आपके वहां पहुँचने पर आगरा की विशाल जनता ने आप का भव्य स्वागत किया, और माता हर्ष और पिता खुमान सिंह के हर्ष का वर्णन तो लेखवद्ध करने की क्षमता हम मे नहीं है। वह अपनी नयन-तारिका को साध्वी के पुनीत वेप मे देख कर हर्ष के अश्रु वहाए विना नहीं रहे। सत्य है कि उन के हर्ष और सद्भाग्य की गणना कौन कर सकता है ? जिनकी सुपुत्री जैन जगत में वन्दनीय हुई।

आगरानिवासी श्रावकवर्ग ने महासती जी के पादपद्मों में प्रेमभरी अर्ज़ी की कि आप यह चातुर्मास आगरा में ही करके आगरा की जनता को कृतार्थ कीजिए। महासती जी ने विनति मान कर १९४५ का चातुर्मास आगरे में किया, जो कि चरितनायिका जी का पहला चातुर्मास था। इस चातुर्मास में आप भी कभी कभी अपनी मधुर वाणी से अमृतवर्षा किया करती थीं। जिसे सुन कर जनता अपने अन्दर एक नवस्फूर्ति का संचार करती और आप के भाषणों की भूरी भूरी प्रशंसा करती हुई अपने अपने घरों को चली जाती। इस प्रकार सानन्द चातुर्मास पूर्ण होने पर आपने अनेक नगरों अथवा ग्रामों को पावन बनाते हुए दूसरा चातुर्मास १९४६ महासती जी के साथ ही अंबाला में किया और इस चातुर्मास में तो आप की व्याख्याशैली ने अद्भुत चमत्कार ग्रहण कर लिया कि सुनने वालों के हृदय अनायास ही कह उठते कि यह दुःखित, क्लेशित मानवो के हृदय मे शीतलता का संचार करने आई हैं। इस प्रकार डंका बजाती हुई आपने तृतीय चातुर्मास १९४७ लिसाढ़ में किया और १९४८ का चतुर्थ चातुर्मास लश्कर में किया। लश्कर के चातुर्मास में अपने स्वर्ण उपदेशों से आप ने जो कार्य किए, वह बड़े २ मुनिराज भी नहीं कर सके। श्रावकगण महासती जी से आप के प्रवचनों के सुनने के लिए उत्कंठा प्रदर्शित किया करते और महासती जी स्वयं व्याख्यान न दे कर आप से ही व्याख्यान दिलवातीं और लश्कर की जनता अपने को कृतकृत्य मानती।

## शिष्या-प्राप्ति

लश्कर के चातुर्मास के पश्चात् आप विहार करती हुई श्री गुरु-

णी जी के साथ ही आगरा पधारीं और १६४६ का चातुर्मास लोहा-मण्डी आगरा में किया। लोहमण्डी में आपने अपने प्रवचनों की झड़ी लगाई। जिसने भी आपका प्रवचन एक बार श्रवण किया, वही आप का चरणसेवक बन गया। आपके सदुपदेशों का प्रभाव यह हुआ कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुई और ब्राह्मण कुल मे ही ब्याही हुई एक देवी को, जिसकी शादी अभी केवल दो ही वर्ष पहले हुई थी, वैराग्य का पक्का रंग चढ़ गया और उस का मन सांसारिक विषयों से एक दम विरक्त हो गया और उन्होंने अपने पतिदेव से तथा और पारिवारिक संबंधियों से दीक्षित होने की अनुमति चाही। उन्होंने उन्हें संयम की अनेक कठिनाइएं दिखलाईं, अनेकों प्रलोभनों के द्वारा उनके भावों को परिवर्तित करना चाहा, डर, भय भी बहुत बतलाए, यहां तक कि व्याख्यान में आना जाना भी बन्द कर दिया, किन्तु जो सत्य पथ के पथिक हैं, वह कब तूफानों और आंधियो के सम्मुख नीचे हुए हैं, जिन्हें सच्चा वैराग्य चढ़ गया, वह फिर कभी नहीं उतरा। इसी प्रकार उस देवी ने अपने को संकटपूर्ण परिस्थितियों मे दृढ़ रखा, क्योंकि उन के हृदय में वैराग्यतरंगिणी बड़े जोर से लहरें मार रही थी तो वहाँ विश्व का विषयरूप कूड़ा कर्कट कब ठहर सकता था, और उन्होंने आज्ञा प्राप्त करके उसी चातुर्मास में दीक्षा ग्रहण की। महासती श्री पन्नादेवी जी म० ने इस को आपकी नेश्राय कर दिया।

## बम्बई के लिए प्रस्थान

एक सुयोग्य शिष्या का सहयोग मिल जाने के बाद आपने बम्बई की विशाल नगरी को पावन करने का विचार किया, और आपने महासती जी म० सहित ४-५ साध्वियों के साथ उस ओर विहार कर दिया। मार्ग में १६५० का चातुर्मास हाथरस किया, और १६५१ का चातुर्मास भुसावल मे किया, और वहां की जनता को दिव्य ज्ञान से जागृत किया और मार्ग की अनेक कठिनाइयों को सहन करते हुए बम्बई में पदार्पण किया। मार्ग की मुश्किलों का वर्णन क्या किया जाये, कहीं आहार की कमी तो कहीं प्रासुक पानी का अभाव ? कहीं मकान की असुविधा तो कहीं ग्रामीणों की ओर से तिरस्कार !, कहीं बहनों का मधुर आह्वान. और कहीं कर्कश वचनों का उपहार ! कहीं भोजन की प्राप्ति होकर उन्हीं

दाताओं के द्वारा उस का पात्र मे से निकाल लिया जाना, कहीं भिक्षा के लिए जाने पर जलती हुई लकड़ी के द्वारा आपका स्वागत किया जाना, और भी अनेक कठिनाइयों को, जिनको कि लेखनी लिखती हुई कांप जाती है, सहन करते हुए बम्बई में पधारे, जिस समय बम्बई निवासियों ने आप का शुभागमन सुना, उस समय एक सेठानी ने आपके आगमन का शुभ संवाद सुनाने वाले भाई को ५०० रुपयों की थैली पुरस्कारस्वरूप दी। बम्बई की जैन जनता ने आपका हृदय खोल कर स्वागत किया और चातुर्मास की विनति की, आप ने उनकी विनति को मान देकर बम्बई में चातुर्मास किया। चातुर्मास मे आप के व्याख्यानों की धूम मच गई, आप २॥घण्टे प्रातः और २॥ घण्टे मध्यान्ह इस प्रकार ५ घण्टे प्रतिदिन व्याख्यान दिया करतीं।

आप जब व्याख्यान देती थीं, तो आपके मुखारविंद से युक्ति और प्रमाणों की झड़ी लग जाती थी, और जैन अजैन सभी आप की दिव्य मूर्ति के समक्ष श्रद्धा से नत हो जाते थे। आपके हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी भाषणों मे दार्शनिक विषयों की विकट गुत्थियों को सुलझाने और तुलनात्मक दृष्टि से उन पर विचार करने की जो सामग्री रहती थी, वह बड़े बड़े विचारकों को, दार्शनिक वेत्ताओं को भी मुग्ध किए बिना नहीं छोड़ती थी। आप की भाषणशैली इतनी ग्राहक एवं आकर्षक होती कि सुनने वालों के मन में अणुमात्र भी उपरामता नहीं होती थी। विपरीत इसके सुनने के लिए उत्तरोत्तर उनकी उत्कंठा बढ़ती जाती। आपकी भाषा में ओजस्वीपन के साथ २ शांति का भी साम्राज्य रहता एवं कठोरता का सहज आभास होते ही उसमें माधुर्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता हुआ भी अनुभव मे आता। आपके भाषणों मे दार्शनिक विचारों की गम्भीरता के साथ २ बोधप्रद तथा रोचक कथा कहानी आदि की भी पुष्कल मात्रा रहती। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि सभी भाषाओं का गद्य एवं पद्य रूप में उपयोग करतीं और उसके साथ २ संगीतकला की माधुर्यपूर्ण पुट से तो एक अपूर्व चमत्कृत आकर्षण उत्पन्न हो जाता था। आपकी भाषा की सौष्ठवता भी श्रोताओं के नीरस हृदयों को सरस बनाने में सिद्धहस्त

थीं। जैन जैनेतर सभी प्रकार के लोगों पर आप के व्यक्तित्व ने अपना प्रभाव डाला। इसलिए आप के प्रवचनों की पीयूषधारा का पान सभी वर्णों एवं सम्प्रदायों के मनुष्य सम्मिलित हो कर करते।

बम्बई की इस विशाल नगरी में लगातार चार मास तक अमृत-वर्षा कर के आप ने जो श्रेय प्राप्त किया, वह आप के ही व्यक्तित्व की अमिट छाप थी। आप की ज्ञानगरिमा और चरित्रनिष्ठा की कहां तक प्रशंसा करें ? धन्य थीं आप, और आप की गुरुणीश्री।

बम्बई के चातुर्मास के बाद आप ने फिर आगरा की ओर रुख किया। गुजरात, काठियावाड़, आदि प्रदेशों को पावन करते हुए आप ने १९५३ का चातुर्मास मुंड़ोवर किया, और वहां की जनता को अपने सदुपदेशों से जागृत करती हुई आपने चातुर्मास के बाद विहार किया, और सतत भ्रमण करती हुई १९५४ का चातुर्मास आप ने अपनी जन्मभूमि शहर आगरा में सम्पन्न किया, और अब महासती जी स्वयं व्याख्यान न देती थीं, किन्तु आप से ही दिलवाया करती थीं। यहां भी आप के व्याख्यानों ने लोगों के ऊपर जादू का असर किया, जिस ने भी एक बार आप का उपदेश सुना वही आप का अनन्य सेवक बन गया। आप के प्रवचनों का असर लाला दुल्हा राम जी खत्री के ऊपर इस प्रकार पड़ा कि उन्हों ने आप को अपनी होनहार पुत्री श्री श्रीमती भेंट में दी, जो कि उस समय छः वर्ष की थी, और सौन्दर्य की तो मानों वह सजीव प्रतिमा थी, और उस में सौन्दर्य के सहचारी गुण विनयशीलता, आज्ञापालन में तत्परता आदि भी विद्यमान थे। बालचापल्य से वह कोसों दूर थीं। किन्तु इस होनहार शिष्या को पा कर आप को जो प्रसन्नता हुई थी, वह पहली शिष्या के वियोग में लय होगई।

आगरे में आप ने जिस ब्राह्मण बालिका को दीक्षा दी थी, और जो श्री देवकी जी के नाम से विख्यात थीं, उस देवी का आगरे के इस चातुर्मास में ही स्वर्गवास हो गया। काल की कुटिल गति से कौन अपरिचित है ? बड़े २ ऋषि, मुनि, महात्मा भी इस के सामने नतमस्तक हो गए।

किसी का उत्कर्ष तो मानों उसे एक आँख भी नहीं भाता। बाल, युवा, वृद्ध, अमीर ग़रीब, सभी उस के सामने नगण्य हैं। श्री

देवकी जी के विषय में आप स्वयं अब भी फर्माया करती थीं—'कि देवकी जी के समान सहिष्णु सेवाभावी शिष्या का सहयोग यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। ऐसी शिष्याएं सद्भाग्य से ही मिला करती हैं ।

आगरे से विहार कर के आप ने १९५५ का चातुर्मास भरतपुर में किया। यहां आप के व्याख्यानों से जनता के हृदयों में स्नेहसरिता प्रवाहित हो उठी, और वाणी में आप के वह जादू था कि व्याख्यान सुनने वाले नियमित समय से पूर्व ही आकर सभा में बैठ जाया करते थे। यदि कोई किसी दिन देर से आता तो उस को खड़े ही खड़े व्याख्यान का रस लेना पड़ता। इस प्रकार वहां की जनता को शान्तिपूर्वक व्याख्यान सुनते हुए दो मास व्यतीत होगए कि अचानक ही महासती श्री पन्नादेवी जी म० की आंखों में असह्य वेदना उत्पन्न हो गई। बहुत उपचार कराया गया, किन्तु सब ओर से असफलता ही पल्ले पड़ी, और नेत्रों की ज्योति बिल्कुल ही मन्द पड़ गई, और कुछ समय के बाद इससे भी कष्टकर बात यह हुई कि उनकी दोनों पुतलिएं दर्द होने के साथ २ बाहर निकल गईं, और उन की ज्योति बिल्कुल ही समाप्त हो गई। ऐसे समय में आप गुरुणी जी की बड़ी सावधानी से सेवा करतीं, कि उन्हें किसी प्रकार की अशान्ति का अनुभव न हो, और उन की शुश्रूषा के साथ २ व्याख्यान द्वारा जनता का भी मनोरंजन करते रहते। महासती जी को अपना नेत्रविहीन होना बहुत खटकता, किन्तु आप की सेवा उन्हें इस चिन्ता से विमुक्त रखने का सदैव प्रयास करती और भरतपुर के चातुर्मास के पश्चात् आपने आगरे की ओर प्रस्थान कर दिया। महासती जी के आत्मबल की जितनी भी प्रशंसा की जावे, उतनी ही कम है। नेत्रविहीन होने पर भी उन्होंने पादविहार का परित्याग नहीं किया, और इधर उधर विचरती हुई आगरे पधारीं। आगरा पधारने पर महासती जी की शारीरिक शक्ति अधिकाधिक क्षीण होगई, इस लिए उन्होंने आगरा में ही आजीवन रहने का विचार किया, और १९५६ व १९५७ के चातुर्मास आगरे में ही कुशलतापूर्वक व्यतीत होगए ।

## नई शिष्या की दीक्षा

पाठक! आप अभी न भूले होंगे कि आगरे के चातुर्मास में

आपको एक राजपूत बालिका की उपलब्धि हुई थी, जो कि इस समय नवें वर्ष का अतिक्रमण कर रही थी। आप ने उसे शास्त्रानुसार विक्रम संवत् १६५८ की चैत्र शुक्ला नवमी को बड़े समारोह के साथ जैनधर्म की परम भागवती दीक्षा से अलंकृत किया, और १६५८ का चातुर्मास भी शान्तिपूर्वक व्यतीत होगया।

## गुरुवियोग

समय की गति बड़ी विचित्र है, जिन के पुण्य सहवास में आप ने आशातीत प्रगति की, उन्हीं का यह सहयोग चिरस्थायी न रह सका। प्रायः यह देखा जाता है, कि जब मनुष्य को पूर्णानन्द प्राप्त होता है, जब वह सौभाग्य की चरमसीमा पर पहुँच जाता है, जब हिमाचल के सुवर्णोज्ज्वल शिखर पर आरूढ हो जाता है। तभी उस पर सहसा वज्रपात होता है। यह बात आप पर भी पूर्णरूपेण घटित हुई, और १६५८ का चतुर्मास समाप्त होते ही, पूज्य गुरुणी जी का स्वास्थ्य प्रतिदिन क्षीण होने लगा, जब शक्ति अधिकांश क्षीण हो गई और सती जी को अपना मृत्यु-समय समीप ही दिखलाई देने लगा, तब उन्हों ने आप को सम्बोधित करते हुए कहा—

'प्रिय चान्द! अब मैं तुम से सदा के लिए पृथक् हो रही हूँ। तुम्हें मेरा यही आशीर्वाद अथवा शिक्षा है कि तुम संयम मार्ग पर दृढ़ रहना, और मरणतुल्य कष्ट आने पर भी संयमपथ से विचलित न होना, और अब मुझे संथारा करवा दो, क्योंकि मृत्यु प्रतिक्षण निकट होती आ रही है।

गुरुणीश्री के इन वाक्यों को सुन कर आप के हृदय को बड़ी गहरी ठेस लगी, और आन्तरिक पीड़ा आंसुओं के रूप मे नेत्रों द्वारा बह चली। गुरुजनों के उपकारों की स्मृति, उन का वात्सल्य भाव बड़े २ त्यागी और अध्यात्मवादी के मन में भी खलबली मचा देता है। जिन की सुखद, शीतल छत्रछाया में जिन के जीवन को उचित विकास मिला हो, उन के वियोग के स्मरण मात्र से मानसिक कष्ट का होना कोई अस्वाभाविक नहीं।

गुरुणी जी की शारीरिक दशा को देख कर आप के नेत्र डबडबाने लगे, और आप रुदनपूर्ण स्वर मे कहने लगे—'महाराज! आप मुझे किस के आश्रय मे छोड़ चले हो?, मुझे आप के सिवाय किस का

अवलम्बन है ? कौन मुझे जीवन की संकटकालीन भीषण परिस्थिति में मार्ग का प्रदर्शन करेगा, ! हा दैव ! यह क्या हो रहा है ?,

आप की विषादभरी वाणी को सुन कर गुरुणी जी सान्त्वना देते हुए बोले— 'चान्द ! क्यों ? घबरा रही हो ? साधुता का मार्ग सरल नहीं है। धीर एवं वीर पुरुष ही इस मार्ग पर अग्रसर हो सकते है, जो बुजदिल कायर एवं डरपोक होते हैं, जो संकटकालीन परिस्थितियों में अपने घुटने टेक देते हैं, वह कभी सफल नहीं हो सकते। वह मुक्तिसोपान पर चढ़ने का विफल प्रयास करते है ? वह साधुता ही क्या ? कि जिस की आंखों में घबराहट से, विषाद से, दुःख से, अथवा क्षोभ से आंसू आ जाएँ,। मानव जीवन की सच्ची परख विपत्ति की कसौटी पर ही होती हो, तुम रोती हो, नहीं जानतीं ?, खिलने वाला पुष्प मुरझाता ही है, उदय होने वाला सूर्य अस्त होता ही है, जन्म लेने वाला व्यक्ति भी मृत्यु के शान्त प्रांगण में अपने आप को छुपाता ही है। यदि ऐसा न हो, तो जीवन की कोई कद्र नहीं रह जाती, कहा भी है—

पतझड़ न अगर उपवन की कर देता थाली खाली,
यदि सदा भरी ही रहती, रस मधु, सौरभ से प्याली ।१।
तो मान न पाती कुछ भी, मधुपों से मेरी डाली,
तो सुमन न चुनता कोई, तो हार न रचता माली ।२।

इसी प्रकार जीवन के विषय में एक कवि और कहता है—

हो जाता किन्तु जगत को, भारी इतना सुखवैभव,
यदि मृत्यु न होती तो यह, जीवन बन जाता रौरव ।१।

परिवर्तन में ही श्रेय है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है कि तुम स्वयं चमकोगी और जैन शासन को अपनी शुभ्र ज्ञानरश्मियों द्वारा जगमगाओगी। मेरा यह विनश्वर शरीर ही तुमसे पृथक् है किन्तु आत्मा तो तुम से पृथक् नहीं। इसलिए तुम और बातों को छोड़कर, मुझे आमरणान्त अनशन व्रत करवा दो और एक बात का विशेष ध्यान रखना कि तुम मेरे पश्चात् चाहे जहां संयमनिर्वाह के लिए रहना, किन्तु मेरी नेश्राय मत छोड़ना, अर्थात् मेरे नाम का परित्याग कर के किसी

दूसरी साध्वी को गुरुणीरूप मे स्वीकार न करना, क्योंकि मैंने तुम्हें अपना कर के और दूसरी शिष्या बनाने की प्रतिज्ञा कर दी है, अतः मेरी समस्त अभिलाषाएं तुम्हीं पर अवलम्बित है।'

पूज्य गुरूणी जी के सुधासिंचित अमर वाक्यों को श्रवण कर और उन की आज्ञा को शिरोधार्य करती हुई मन दृढ़ करके आप ने उन्हे आमरणान्त तिविहार अनशन व्रत करवा दिया, महासती जी को छः दिवस का संथारा आया। उस संथारे में एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई, वह इस प्रकार है—

रात्रि का अन्तिम प्रहर था, आप पाठ कर रहे थे, तो आप के देखने में आया कि महासती जी अपने पट्टे पर से दो-दो तीन-तीन हाथ ऊंचा उछल रही हैं, और कुछ २ अस्पष्ट शब्द भी उच्चारण कर रही हैं, कुछ समय तक ऐसा ही क्रम चलता रहा, और लगभग १॥ घण्टा पश्चात् महासती जी को शांति मिली, आप सब कुछ अटल भाव से देखते रहे, और उपसर्ग शांत होने पर महासती जी के चरणों पर शीश झुकाते हुए विनम्र स्वर में पूछने लगे— 'गुरुणी जी! क्या कारण है. कि आप की वेदना क्षण प्रतिक्षण इतनी उग्रता धारण करती रही और फिर कुछ कालोपरांत स्वयं ही शांत हो गई, कृपया स्पष्ट समझाइए, क्योंकि आप की वेदना का स्मरणमात्र ही मुझे रोमांचित किए जा रहा है।' आपके आग्रहपूर्ण वचनों को सुन कर महासती जी ने बतलाया—'कि मुझे किसी अज्ञात शक्ति ने परिषह दिया है, वह यह कि वह शक्ति पुरुषरूप में मेरे सन्मुख हाथ में शर्बत का कटोरा लिए खड़ी है और मुझे उस शर्बत को पिलाने का उद्योग कर रही है, मैंने बहुत समझाया, कि अभी रात्रि शेष है और मैंने सब वस्तुओं के प्रत्याख्यान किए हुए हैं, मैं नहीं पियूंगी। आवाज़ आई, कि यदि तुम नहीं पियोगी तो तुम्हें बलपूर्वक पिलाया जाएगा और आवाज़ आने के साथ ही मेरी काया को कष्ट दिया जाने लगा, जिस को कि तुम स्वयं अपनी आंखों से देख चुकी हो। मैंने उस के इस हठाग्रह को देख-कर अन्न पानी का भी प्रत्याख्यान कर दिया है और अब मेरा तुम से कहना है कि मेरी बेहोशी की अवस्था में भी मुझे पानी न देना, क्योंकि मैंने चारों आहारों के प्रत्याख्यान कर दिए है।'

गुरुणीश्री जी के उक्त आदेश का श्रवण करके आपके मन को आघात तो अवश्य पहुँचा, किन्तु आप ने उन की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। इस प्रकार महासती जी ने अपनी समाधि अवस्था के छः दिन पूर्ण करके इहलोक से प्रस्थान कर दिया। गुरुणी जी के स्वर्गगमन से आप के ऊपर एक नवीन विपत्ति का पहाड़ टूट कर गिर पड़ा, और आप दो साध्विएं रह गईं। एक आप और एक आप की नववर्षीय लघु-शिष्या जिस को आपने कुछ समय पूर्व ही दीक्षा दी थी। काल की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण है, वह किसी के हिताहित की परवाह नहीं करता। उस का भीषण उदर न मालूम कितना बड़ा है? जो कि अनन्त प्राणियों को अपना भोजन बनाकर भी भरता नहीं। अनेकों महापुरुषों को इसने अपना कवल बनाया, अनेकों राजा, महाराजाओं को इसने अतीत के गर्भ में छुपा दिया, अनेकों सुहागिनों के सौभाग्य-सिन्दूर पोंछ डाले, अनेकों माताओं की गोद सूनी करदी, अनेकों बच्चों को असमय में ही अनाथ बना के रख दिया, इस का हृदय कितना निर्मम है, इस के आगे किसी की पेश नहीं चलती, इसकी गति निर्बाध है, जिस के ऊपर इस की दृष्टि पड़ी, कि उसी को इस ने इस दुनिया से मिटा डाला, अनेकों के हृदयों पर वज्रपात कर दिया, और हमारी चरितनायिका जी की पूज्य गुरुणी जी पर भी दृष्टि गड़ायी और उन्हें सदा के लिए चरितनायिका जी से पृथक् कर दिया।

छोटी आयु मे ही पूज्य गुरुजनों का वियोग कितना असह्य और दुःखद होता है? इस की कल्पना प्रत्येक मानव व्यक्ति सहज ही कर सकता है, परन्तु ज्ञान और चारित्र की सजीव प्रतिमा श्री चरित-नायिका जी ने इस असह्य गुरुवियोग को बड़ी धैर्यता एवं क्षमता से सहन करके अपनी मानसिक दृढ़ता का अपूर्व परिचय दिया, और गुरुणी जी के वियोग से अपने ऊपर आने वाले उत्तरदायित्व को समझते हुए आप दृढ़तापूर्वक अपने साधुजनोचित कर्तव्यपालन की ओर ध्यान देने लगीं।

## प्रवर्तिनी जी का आगरा में आगमन

समय के प्राबल्य से आप अब दो साध्विएं रह गईं। समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर ही संसार का बहुत सा कार्यभार निर्भर रहता है। जब समय अनुकूल होता है, भाग्य मानव का साथ देता है,

तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मानव के अभिलाषित कार्यों की सिद्धि में कुछ भी देर नहीं लगती और जब दैव प्रतिकूल होता है तो सभी बना बनाया खेल बिगड़ जाता है और मानव की सारी योजनाएं छिन्न भिन्न होकर मिट्टी में मिल जाती हैं। समय के प्रबल प्रकोपों से सहस्र तारिकाओं से मण्डलीभूत चन्द्र भी राहु के द्वारा ग्रसित हो जाता है। समय के प्रभाव से अमृत भी हलाहल में परिणत हो जाता है। कवि के शब्दों में—

यह समय सिंधु अनजाने, भीषण तूफान उठा कर,
गम्भीर शांत बन जाता, कितने ही पोत डुबा कर।१।

अत: मानना पड़ता है समय का चक्र सबसे अधिक प्रबल है— जिनाज्ञानुसार संयमनिर्वाह के लिए कम से कम तीन साध्वियों का सहयोग होना चाहिए, इसलिए और साध्वियों का सहयोग आप के लिए आवश्यक था। जिस समय महासती जी का स्वर्गवास हुआ उस समय पंजाब देश में महासती प्रवर्तिनी श्री १००८ श्री पार्वती जी महाराज सुप्त जनता को अपने प्रवचनों द्वारा जागृत करती हुई विचरण कर रही थीं। आगरा के मुख्य मुख्य विचारशील श्रावकों ने उन के पास समाचार भेजा कि सती श्री चन्द्रा जी महाराज दो साध्वियें रह गईं, एक वह स्वयं, दूसरी उन की लघु शिष्या श्री श्रीमती जी। महासती जी बड़ी ही सुयोग्य हैं, संयमक्रिया में भी इन की समानता कोई ही करने वाला हो सकता है, यदि आप इन्हे अपने आश्रय में ले जावे तो बहुत ही अच्छा होगा, और इन्हें गुरुवियोग का असह्य दुःख भी आप की सेवा में रहकर अधिक प्रतीत न होगा।

महासती जी ने यह समाचार सुने और आप को पंजाब में लाने के लिए देहली की ओर स्वयं ही विहार कर दिया। एक तो महासती जी स्वयं आगरा की थीं और आप भी आगरा की थीं, दूसरे महासती जी ने आप की प्रशंसा और विद्वत्ता की धाक् सुनी हुई थी इसलिए श्रावकों की विनति को आदर देती हुईं आपने आगरा की ओर विहार कर दिया। समय थोड़ा होने के कारण महसती जी आगरा न पहुँच सकीं और १९५९ का चातुर्मास रास्ते में ही व्यतीत किया।

और आप ने भी १६५६ का चातुर्मास आगरे में ही किया और आपके इस चातुर्मास में एक आप के अलौकिक तेज की परिचायक घटना घटी जो इस प्रकार है—

आप आगरा के मुहल्ला मानपाड़ा में घटिया वाले मकान में ठहरे हुए थे, और वहां पर चातुर्मास में एक दिन बाइयों ने पाक्षिक पौषधोपवास किया हुआ था। संध्या का समय था, भगवान् भास्कर अपनी रश्मियों को समेटते हुए अस्ताचल की ओर प्रयाण कर चुके थे। अर्थात् प्रतिक्रमण का समय हो रहा था, और आप प्रतिक्रमण की तैयारी कर रहे थे कि अकस्मात् आप को बहिनों का कोलाहल सुनाई दिया। आप घटनास्थल पर पहुंचे तो क्या देखते हैं कि एक फणियर सांप जो अपने बृहन् फणों को फैलाए हुए कुंडली लगाए बैठा है। सारी बहिनें इस फणियर को देख कर ही भयभीत हो रही थीं और एक दूसरी को सावधानीपूर्वक इधर उधर आवागमन करने के लिए अनुरोध कर रही थीं। आप ने सब को धैर्य देते हुए कहा— 'भयभीत क्यों होती हो, यह क्षुद्र प्राणी तुम्हारा क्या ले रहा है। कुछ क्षण विश्राम पा कर यह चला जाएगा।' इतना कह कर आपने बड़े ही धैर्य से उस क्रूर प्राणी के शरीर से अपना रजोहरण स्पर्शित करवा दिया। बस फिर क्या था। सर्प एक दम फुंकार उठा और फण ऊँचे कर के आप की ओर बढ़ा, आप वहीं निश्चलता से खड़े रहे, एक क़दम भी आगे अथवा पीछे नहीं हटे। सर्प पैर के समीप पहुँचा और आप के दाहिने पांव के अंगूठे पर चढ़ना प्रारम्भ किया। यह देख कर सभी बाइएँ आपको बचाने के प्रयत्न करने लगीं, और कोलाहल अधिक तीव्र बढ़ने लगा, आप ने एक मूक संकेत किया और सब को शांतभाव से देखते रहने का आदेश किया। किन्तु यह क्या ? जो सर्प पांव पर चढ़ने लगा था वो ऊपर न चढ़ कर चरणस्पर्श कर कुछ दूर जा कर अदृश्य हो गया। मानो आप के तेज के सामने उस की शक्ति नष्ट हो गई। इसे आप की अहिंसकवृत्ति का प्रभाव समझें, अथवा किसी अलौकिक शक्ति का चमत्कार ?। कुछ भी हो, इस घटना से आप के व्यक्तित्व को बहुत उच्च स्थान प्राप्त हुआ, और आप के आत्मिक बल का प्रभाव लोगों पर विशेषरूप से पड़ा। और यही शब्द सुनाई देने लगे कि

जैसी गुरुणी थीं, शिष्या भी वैसी ही है।

इधर चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् धीरोदात्त, शांत, धीर, वीर, गम्भीर, बालब्रह्मचारिणी महासती १००८ श्री प्रवर्तिनी पार्वती जी महाराज आगरा पधार गईं। आप ने उन का हृदय खोल कर स्वागत किया और वे भी आप से मिल कर बड़ी प्रसन्न हुईं।

आगरा की जनता के सन्मुख आप का व महासती जी का मिलन केशी व गौतम के मिलन का चित्र उपस्थित कर रहा था। कुछ समय महासती जी आगरा मे ही अपने प्रवचनों द्वारा जनता को पीयूषपान कराती रहीं और थोड़े दिनों के बाद आप को अपने साथ पंजाब में ले आईं, पंजाब के श्रीसंघ ने आप का विशाल हृदय से स्वागत किया, जिस नगर में, जिस ग्राम मे आप पहुँच जाते, वहीं पर आप की विद्वत्ता की धाक् जम जाती, जनता आप के चरणों मे अनन्य श्रद्धा के पुष्प समर्पित करती और आप को वहाँ ठहरने की आग्रहपूर्ण विनति करती आप के प्रवचनों को श्रवण कर मंत्रमुग्ध बन जाती। महासती जी भी आप की लोकप्रियता को देख २ कर जैन समाज के भाग्य की भूरि २ प्रशंसा करतीं।

## क्रान्तिकारी श्रमण

आप श्री को श्रीसंघ मे सम्मिलित करने के लिए संघहित-चिन्तकों की ओर से अनेकों प्रयत्न किए गए परन्तु कई एक विकट समस्याओं के असमाहित रहने से उस समय आप संघ मे सम्मिलित नहीं हो सके। तब आप वहां से विहार कर के अम्बाला पधारे और १९६० का चातुर्मास आप ने अम्वाला मे ही किया। उस समय अम्वाला में मूर्तिपूजक जैन श्वेताम्बर संप्रदाय के आचार्य का चातुर्मास था, उन्हों ने आप को सुयोग्य एवं होनहार जान कर कहलवाया कि तुम हमारे धर्म मे दीक्षित हो जाओ तो मैं तुम्हारा दीक्षामहोत्सव हाथी के ओहदे पर करवाऊँगा और संघ मे सती चन्दनवाला बना दूंगा। आप ने इस के उत्तर में जो कुछ कहा, वह आप की संयमदृढ़ता का एवं मानसिक शान्ति का प्रोज्ज्वल प्रतीक है। आप ने कहा— 'जो व्यक्ति समाज से बाहिर कर दिए जाते हैं, वे अपने हिन्दूत्व धर्म को छोड़ कर इस्लाम को अंगीकार नहीं करते और दूसरी बात यह कि पहले आप स्वयं भगवान् महावीर बनिए, फिर

मुझे महासती चन्दनबाला बनाने के सुनहले स्वप्नों को देखिए।'
पाठक! देखिए, कितना युक्तिसंगत उत्तर था? यदि कोई साधारण श्रेणि की आत्मा होती तो इतने सम्मान का लोभ कभी संवरण न कर सकती। किन्तु आप आप ही थे, जिन्हों ने संयम के सामने सम्मान को तुच्छ समझा। आप के इस प्रकार के वैराग्य, त्याग, धैर्य आदि सद्गुणों को देख कर अम्बाले के मुख्य महर्द्धिक श्रावक श्री बाबू राम जी तथा ला० लच्छी राम जी आदि आप के पूर्ण भक्त बन गए, जो कि आज भी आप की स्मृति को सदा ताजा बनाए हुए हैं। चातुर्मासससमाप्ति के बाद आप ने थानेसर की ओर विहार किया, रास्ते मे आप की शिष्या श्री श्रीमती जी को ज्वर ने आ घेरा। एक तो बाल्यावस्था दूसरे व्याधि शरीर को सता रही थी, तीसरे रास्ते का सफर। आप को बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ा। जब उन्हें ज्वर का अधिकांश प्रकोप होता और वह चलने में असमर्थता प्रगट करतीं तो आप उन्हें एक चादर मे लपेट कर पीठ पर बैठा लेतीं और एक हाथ में पात्रों की जोड़ और एक हाथ में पोथी पन्ना आदि ले कर चलतीं, दो चार मील चलतीं और जब आप थक जातीं तो उन्हें फिर एक दो मील पैदल चलातीं। इस प्रकार आप थानेसर पहुंच गई।

गुरुचरणों के प्रताप से वहां पर आप के अमृतोपम उपदेशों से जनता मे आशातीत धर्मजागृति हुई और जब थानेसर से आप करनाल पहुंचे तो वहाँ आप की माता आई और बोली— 'पुत्री! अब तो तुम ने बहुत समय तक संयमवृत्ति का पालन कर लिया है, और जिन्हे मैंने दिया था वह भी इस संसार में नहीं रहे। इस लिए संयम के वेष को छोड़ दो और सुखपूर्वक ज़िन्दगी बिताओ, चलो अब यह वृत्ति तुम्हे शोभा नहीं देती।'

माता के इन शब्दों को सुन कर आप ने कानों पर हाथ रख लिए और बोले :— 'माता जी! तुम किन शब्दों का उच्चारण कर रही हो? क्या तुम नहीं जानतीं कि मैं राजपूत बालिका हूँ, जो प्रण पर प्राण गंवाना जानती हैं किन्तु प्रण गंवाना नहीं जानतीं। माता! सोचो, समझो, किन पूर्वजों का रक्त हमारी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है? हम किन की संतान हैं? एक वीर माता के मुख से मैं क्या सुन रही

हूँ ? माता ! तुम मुझे विलासिता की ओर ले जाना चाहती हो, सांसारिक बन्धनों में मुझे जकड़ना चाहती हो, विषय की दलदल में मुझे फंसाना चाहती हो, वमन किए हुए भोगों का पान कराना चाहती हो, पर याद रक्खो, मैं उस श्वान के सदृश नहीं हूँ जो वमन किए हुए को फिर पान करने की इच्छा रखता है। मैं आत्मिक सुख से मुख मोड़ कर भौतिक सुखों में रमण नहीं करना चाहती'' । इस प्रकार आप के ओजस्वी वचनों को सुन कर माता आप के चरणों में गिर पड़ी और बोली— पुत्री ! क्षमा करो । आज मैं धन्य हो गई हूँ, तुमसी पुत्री को पा कर । आज मै अपने आप को महान् सौभाग्यशालिनी मान रही हूँ कि तुम सी कन्या ने जन्म ले कर सारे कुल को चमका दिया । अच्छा ! मेरा यही आशीर्वाद है कि तुम जैन-समाज में अधिकाधिक प्रगति करो और संयमपथ पर इसी भांति अडिग रहो' ।

आप ने करनाल से विहार कर के यमुनापार के क्षेत्रों को पावन करने के लिए उस ओर रुख किया और १९९१ का चातुर्मास तीतरवाड़ा नामक ग्राम में किया वहां पर आप के व्याख्यानों का प्रभाव बहुत अधिक रहा और वहाँ से फिर करनाल की जैन जनता की आग्रह-भरी विनति को स्वीकार करके आप ने १९९२ का चातुर्मास करनाल में किया और चातुर्मास के बाद विहार करते हुए आप सतत भ्रमण के द्वारा १९९३ सम्वत् में हाँसी पधारे और यह चातुर्मास हाँसी में ही संपन्न किया । हाँसी के चातुर्मास में आप के भाषणों का प्रभाव जैन अजैन जनता पर जादू का सा मालूम होता था, व्यक्ति व्याख्यान सुनते २ इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें समय का भान नहीं हो पाता । जैसे नाद का श्रवण कर हिरण अपने आप को भूल जाते हैं, सर्प मदमस्त होकर अपने विषमय स्वभाव को भूल जाता है, इसी प्रकार श्रोता-गण आप के ओजस्वी ज्ञान, गंभीर वाणी का श्रवण कर अपने आप में खो जाते । बच्चे बच्चे की रसना पर आप का नाम ध्वनित हो रहा था, और गली कूचों में क्रीड़ा करते हुए नादान भोले शिशु यह पद्य पढ़ते हुए दृष्टिगोचर होते थे—

सती चन्दा का चौमासा, मुबारिक हो, मुबारिक हो।
बजाया धर्म का डंका, मुबारिक हो मुबारिक हो॥

हॉसी चातुर्मास के बाद जींद इत्यादि ग्रामों को पावन बनाते हुए आप रोहतक पधारे वहां आप के व्याख्यानों में जैन-जैनेतर जनता विशाल संख्या में आ कर लाभ उठाती और बहुत से आर्यसमाजी, सनातनी, सिक्ख, मुस्लिम भाई तो प्रतिदिन ही आ कर व्याख्यान श्रवण करते, और आर्य समाज के भाइयों ने आपका 'ॐकार पर दिया गया प्रवचन' रेकार्ड में भरा था। आप ने ॐकारमहिमा पर ५ रोज तक वह जोरदार भाषण दिया था कि जैन-अजैन सभी अपने को एक समझने लगे थे, और १५ दिवस के पश्चात् विहार करते हुए बामनौली पधारे और १९९४ का चातुर्मास वहीं पर किया।

## दैवीकोप का शमन

महान् आत्माओं के तप, त्याग, संयम व ब्रह्मचर्यमय जीवन के प्रभावशाली कथानक शास्त्रों में यत्र तत्र मिलते हैं, चारित्र और आत्म-ज्ञानसंपन्न आत्माओं की पवित्र चरण-रज द्वारा जंगल में मंगल हो जाता है। आस पास की समस्त आधि-व्याधियें महापुरुषों के आगमन से ऐसे ही दूर चली जाती है जिस प्रकार वायु के झोंकों से मिट्टी, रेत आदि उड़ जाता है, और स्थान साफ हो जाता है। इसी प्रकार आप जहां भी पधारे वहां यदि कोई दैवी-प्रकोप हुआ तो वह तुरंत शांत हो गया।

बामनौली चातुर्मास के पश्चात आप विहार करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते हुए किठ्ठल नामक ग्राम में जाने को उद्यत हुए। आप को श्रवकों ने विनयभरी प्रार्थना की कि महाराज! आप वहां पधारने का कष्ट न करें, क्योंकि इस समय वहां प्लेग जैसी संक्रामक व्याधि ने अपना अड्डा जमाया हुआ है। ५-७ प्राणी प्रतिदिन काल के विकराल गाल में चले जाते हैं।' किन्तु आप ऐसी बातों से कब डरने वाले थे आप की आत्म-शक्ति के आगे तो क्रूर से क्रूर प्राणी भी हार मान चुके थे तो यह तो बात ही क्या थी। आप किठ्ठल पहुंच गए। प्रत्येक घर में २-३ बीमार दृष्टिगोचर होते। जो सुबह इस लोक में

दिखलाई देता, वह संध्यासमय क्षितिज के पार होता। मतलब यह है कि महामारी प्लेग का आतंक इतना बढ़ा हुआ था कि आबालवृद्ध सब पर इस का साम्राज्य था किन्तु आप के पधारते ही प्लेग जैसी भीषण व्याधि का अन्त हो गया, और ग्राम में पूर्ण शान्ति का अटल साम्राज्य स्थापित हो गया, और क्लेशित व्याधिपीड़ित प्राणियों ने सुख का सांस लिया।

वहां से विहार करके आप बनौली पधारे, उस समय बनौली में मूर्तिपूजक श्वेताम्बरसम्प्रदाय के आचार्य भी आए हुए थे। व्याख्यान में आने वाली जनता उनके यहां न जा कर आप के प्रवचन श्रवण करने लगी। यहां आप की ख्याति बहुत फैल गई। उन्हों के कर्णविवरों को भी आप की प्रशंसा सुनने का पुण्य अवसर मिला तो उन्हों ने आप की परीक्षा के निमित्त 'जिस समय आप श्रोता-गणो पर अमृत वर्षा कर रहे थे, उस समय किसी व्यक्ति को प्रश्न दे कर भेजा और उस मनुष्य ने आने के साथ ही भरी सभा में प्रश्न कर दिया— 'कि मूर्तिपूजा जायज या नाजायज ?, आप इस आकस्मिक प्रश्न को सुन कर क्षुब्ध नहीं हुए आप ने बड़ी सरलता से पूछा—'मूर्त्ति किस की?, उत्तर मिला— 'जिनेश्वर देव की'। आप ने उत्तर दिया—'कि यदि उस मूर्ति में ३४ अतिशय ३५ वाणी हों तो पूजा करनी जायज । प्रश्नकर्ता ने पूछा—'वह ३४ अतिशय और ३५ वाणी कौन सी ?' आप ने बड़ी सरलता से उत्तर दिया कि यह प्रश्न उन्हों से पूछिए जिन्हों ने आप को प्रश्न दे कर यहां भेजा है।' प्रश्नकर्ता निरुत्तर हो कर अपने स्थान को लौट गया।

आप ने उत्तर इतनी वाक्पटुता से दिया कि अपनी जिह्वा से मूर्तिपूजा का समर्थन भी नहीं किया और निषेध भी नहीं किया। यह आप की बुद्धि की विशालता का ही परिणाम था कि जो आप के सामने विवाद ले कर आता, वही चुप चाप निरुत्तर हो कर चला जाता। मस्तक ऊँचा करके आता किन्तु नीचा ले कर जाता, और अब आप ने सुना कि खेवई नामक ग्राम में मन्दिर बन गया है लेकिन अभी प्रतिष्ठा होनी है। आचार्य श्री की प्रतीक्षा है। आप ने यह सुना और खेवई पहुंच गए। खेवई इधर से आप पहुंचे, उधर से आचार्यश्री

पहुंचे, जब उन्हें मालूम हुआ कि सती चन्दा जी यहां पधार गई है उसी समय वह वहां से चुपचाप विदा हो गए, उन की विदाई के साथ ही उन का प्रभाव भी विदा हो गया।

आप श्री ने वहां पहुंचते ही वो प्रभावशाली व्याख्यान दिए, कि बना बनाया मन्दिर स्थानक के रूप में बदल गया, अर्थात आप के उपदेशों ने वह काम किया कि जो भोली जनता अज्ञान के गहरे गर्त्त में गिरी जा रही थी, उसे सत्य पथ दिखला कर उस मार्ग का पथिक बनाया, आप की वाणी में वह जादू था जो किसी मंत्रवेत्ता के मंत्र में होता है, फिर आप ने बहुत समय तक मूर्तिपूजक संप्रदाय के आचार्य के पथ का अनुसरण किया, जहां वो पहुंचते, पीछे से आप भी पहुंच जाते जिस से उन की पैठ कहीं जमने न पाती थी और फिसलती हुई जनता आप के वचनों का आश्रय पा कर संभल जाती। जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यमुनापार के क्षेत्रों में बच्चा २ आप के नाम से परिचित है और आप की कीर्तिपताका आज भी उसी प्रकार फहरा रही है। आज आप अपने भौतिक शरीर में विद्यमान नहीं हैं किन्तु आप की यशःदुन्दुभि भारत के कोने कोने में बज रही है।

इस प्रकार आप ने यमुनापार के क्षेत्रों में विचरण करते हुए अनेकों रूढ़ियां, कुप्रथाओं तथा कुरीतियों का अन्त किया, वारांगनाओं के नग्नताप्रदर्शक व विलासवर्द्धक नृत्यों पर, बालविवाहों व वृद्ध-विवाहों पर आप ने वे पुरजोश भाषण दिये कि इन कुप्रथाओं का समूल अन्त हो गया, और जनता पावन सत्य पथ पर चलने का शुभ प्रयास करने लगी।

इस प्रकार यमुनापार का क्रांतिकारी भ्रमण करने के बाद आप मालेरकोटला पहुंचे, और १९६६ का चातुर्मास मालेरकोटला में ही व्यतीत किया और विचरते २ सुनाम पधारे और गाढ़निद्रा में प्रसुप्त जैन जनता को सदुपदेशों की दुन्दुभि द्वारा जगाने लगे। आप सुबह भी व्याख्यान फरमाती थीं और रात्रि में भी स्त्री-सभा में व्याख्यान देती थीं, कई बहिनें धर्मप्रेम की अधिकता के कारण आप के पास ही रात्रि में संवर करती थीं। सर्दी का मौसम था। रात्रि के दस बजे का समय था, बहिनें चौबीसी भजन तथा उपदेशश्रवण के पश्चात

अपने २ सोने के विस्तर नीचे के कमरे में लेने के लिए गईं, किन्तु नीचे कमरे में न जा कर एक दो वहिनें तो ऊपर वापिस आ गईं, और एक दो वहिनें वहीं कमरे के द्वार पर चीख लगा कर मूर्च्छित हो गईं। ऊपर आने वाली वहिनों से पूछा गया— कि क्या कारण है जो आप अपने विस्तर न ला कर खाली ही दौड़ कर आ गईं हैं, किन्तु भय के कारण वहिनें मौन थीं, कुछ उत्तर न पा कर आप नीचे उतरे। नीचे आ कर देखा कि कमरा प्रकाश से जगमगा रहा है, मानों १००० नम्बर का विजली का वल्ब लगा हुआ हो। आप के मानस में प्रकाश को देख कर जरा भी कम्पन नहीं हुआ, और आप निधड़क अन्दर दाखिल हो गए। अन्दर जा कर क्या देखते हैं कि एक यति जी एक पाट पर पद्मासन से बैठे हैं, उन का विशाल मस्तिष्क, विराट् वक्षःस्थल, दीर्घ नेत्र साधारण मनुष्य को भयान्वित करने को काफी थे; किन्तु आप तो साधारण से असाधारण वन चुके थे, आप के पास आत्म-वल की अनंत शक्ति थी, आप निर्भय हो कर यति जी की ओर अनिमेष दृष्टि से दस मिनिट तक देखते रहे, कुछ समय पश्चात् प्रकाश लुप्त हो गया और पूर्ववत् गहन कालिमा ने अपना राज्य स्थापित कर लिया, अर्थात् यति जी अदृश्य हो गए। फिर आप ने वाइयों को बुला कर कहा—'कि अब तुम अपना २ विस्तर उठा लो। भयभीत होने की कोई वात नहीं है, और मैं यहाँ खड़ी हूँ। जब मैं भयभीत नहीं होती, तो आप क्यों होती है? यहां पर है क्या जो आप इस प्रकार भयभीत हैं?' आप के साहसपूर्ण निर्भीक वाक्यों को सुन कर वहिनों ने हृदय को कुछ मजवूत किया और अपने २ विस्तर उठाए, आप ने उन सब को आगे किया और स्वयं उन के पीछे २ चले। इस के अनन्तर रात्रि में जब आप स्वप्नावस्था में विचरण कर रहे थे, यति जी ने स्वप्न में दर्शन दे कर कहा— 'जब तक आप यहाँ पर विराजमान हैं तव तक हम यहां नहीं आएंगे।" और जब तक आप वहां रहे, तव तक यति जी नहीं आए।

इस घटना से आप के आन्तरिक मनोवल और विशुद्ध संयम-निष्ठा के चमत्कारपूर्ण प्रभाव का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। आप का

निर्भयता पर तो जन्मसिद्ध अधिकार था। आप किसी देवी देवता व किसी भी दैविक शक्ति के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाते थे, अर्थात् भयभीत नहीं होते थे। आप का साहस वीरोचित था। आप की जीवनकथाएँ ही आज हमारी पथप्रदर्शिका हैं।

## नाभे का चातुर्मास

सुनाम से विहार कर १९६७ का चातुर्मास आप ने नाभा किया आप ने चातुर्मास में रामायण की कथा प्रारंभ कर दी, आप की कथा में बड़े बड़े अहलकार और राजपंडित ब्रह्मानन्द जी व दीवान समाचन्द जी आदि अनेक विद्वान् सद्गृहस्थ उपस्थित होते, जहाँ बड़े बड़े राजकर्मचारी आते, वहां छोटी जाति के मनुष्य भी आप के व्याख्यान से लाभ उठाते थे। आप की सभा में गरीब-अमीर का भेदभाव न था, जो स्थान एक पदवीधारक को प्राप्त था, वही स्थान एक श्रमजीवी को, यही कारण था कि बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा व्यक्ति अपने को आप के चरणों का दास पाता था। व्याख्यानशैली की अपूर्वता को देख कर बड़े २ व्याख्याता भी दांतों तले अंगुली दबाते थे, और आप की विद्वत्ता की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे, और नाभानरेश हीरासिंह जी के पास जा कर आप की विद्वत्ता, प्रतिभा तथा व्याख्यान कला की बड़े ही रोचक ढंग से प्रशंसा करते। जब नाभा-नरेश ने सुना कि आप व्याख्यान में रामायण सुनाती हैं, और श्रोता-वर्ग में से यदि कोई प्रश्न करे तो उस का उत्तर बड़ी शान्ति से देती हैं और उस के हृदय की आशंका सबल प्रमाणों द्वारा निर्मूल कर देती हैं। तब नाभानरेश ने अपने दीवान समाचन्द जी को अपने एक प्रश्न का निराकरण करने के लिए आप के पास भेजा और कहा—कि यदि महासती जी मेरे प्रश्न का उत्तर यथार्थ देंगी तभी मैं उन्हें विदुषी समझूंगा, अन्यथा नहीं। प्रश्न यह था —

'महाराजा जनक ने सीता को कन्यादान में ५ क्रोड़ दासिएँ दी थीं; क्या आप मानती हैं? यदि मानती हैं तो किस प्रकार? मैंने कई विद्वानों से इस प्रश्न को किया, किन्तु किसी ने भी संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। और उन के उत्तर एक दूसरे के उत्तरों से मेल भी

नहीं खाते। यदि जनक ने ५ क्रोड़ दासिएँ दहेज़ में दीं तो उन की नगरी की जनसंख्या कितनी होगी ? इत्यादि बातें यदि आप स्पष्टतया समझाने की कृपा करेंगीं, तो मैं आप का बहुत आभारी हूँगा ?

दीवान समाचन्द जी मध्यान्ह काल में आप की सेवा में प्रश्न ले कर पहुँचे, और सविनय प्रश्न का उत्तर पाने की इच्छा प्रकट की। आप ने उपर्युक्त प्रश्न का जो स्पष्टीकरण किया, वह भी उल्लेखनीय है।

आप ने कहा— 'जैन शास्त्रों में तीन प्रकार की संख्या का विधान माना गया है। जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। जघन्य संख्या १२, मध्यम २०, और उत्कृष्ट संख्या कोड़ि मानी है। कोड़ि शब्द संस्कृत के कोटि शब्द का अपभ्रंश है, इसलिए कोटि तीन प्रकार की है, जैसे-१२ की संख्या को भी कोटि कहते हैं, २० की संख्या को भी कोटि के अंतर्गत माना है और क्रोड़ की संख्या तो है ही क्रोड़ी का सूचक। तो महाराज जनक ने सीता को दहेज में मध्यम संख्या की कोटि ५ बीसी (१०० दासिएँ) दी हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। और आजकल भी मारवाड़ प्रदेश में प्रायः देखने में आता है, कि धनाढ्य व्यक्ति अपनी कन्या के दहेज में ५-५ सेविकाएँ दे देते हैं, तो फिर वह तो इतने बड़े राज्य के अधिपति थे ?'

नाभानरेश को आप का उत्तर ठीक जँचा और उन्हों ने कहा— 'कि जो आशंका बहुत समय से मेरे मस्तिष्क को व्यथित कर रही थी और जिस का संतापजनक उत्तर अभी तक किसी से प्राप्त नहीं हुआ था, उस आशंका का आप ने बखूबी निराकरण कर दिया, मैं आप की विलक्षण प्रतिभा की भूरि २ प्रशंसा करता हूँ।

तदनन्तर राजपंडित ब्रह्मानन्द जी से विविध विषयों पर वार्तालाप करना आप का दैनिक कार्य बन गया। और आप २-३ घंटे धार्मिक चर्चा करते रहते। कभी आप उन से प्रश्न करते और कभी पंडित जी आप से किसी शंका का समाधान मांगते। आप तो पंडित जी द्वारा किए गए प्रश्नों का उत्तर बड़ी विलक्षणता से देते थे किन्तु पंडित जी आप के कतिपय प्रश्नों का ही उत्तर दे पाते। एक दिन आप

ने पंडित जी से प्रश्न किया—

'कि गौतमस्मृति में संन्यासी के आहारविहार का जहां वर्णन किया है, वहां संन्यासी के लिए ४ प्रकार का भोजन ग्राह्य बतलाया है। जैसे कि :—

श्लोक— अग्निपक्वं समश्नीयात्, कालपक्वमथापि वा।
उलूखलसंकुट्टो वा, दंतोलूखल एव वा॥ १ ॥

अर्थात्— अग्नि के द्वारा पका हुआ, समय पर फल आदि का पुष्ट हो कर खाने योग्य होना, उलूखल—ओखली में कुटा हुआ धान्य, और दन्त-चर्वित भोजन, संन्यासी ग्रहण करे।

अब यहां जो दांतों से चबाया हुआ भोजन लिखा है, वह भोजन कौनसा है ?

पंडित जी ने उत्तर दिया— महाराज ! यहां सोमवल्ली रस का ग्रहण किया है। आप ने कहा—यह उत्तर तो युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सोम-रस सौन्दर्य-वर्द्धक एवं मादक द्रव्य है। ऐसे द्रव्य से संन्यासी साधु को क्या प्रयोजन ? इस लिए यह उत्तर मुझे ठीक नहीं प्रतीत होता।

पंडित जी बोले— मैं तो आज तक इसी अर्थ को मान्यता देता आया हूं। यदि कोई विशिष्टार्थ आप के दृष्टि-गत हो, तो आप समझाने की कृपा करें। आप ने फरमाया—कि वन में तपस्या करने वाले मुनि बहुत से तो आस पास के ग्रामों से भिक्षा ला कर अपनी उदरपूर्ति करते हैं, और बहुत से फल फूल, वृक्षों के पत्र, कन्द मूल आदि से क्षुधानिवृत्ति कर लेते हैं, किन्तु कई एक मुनि ऐसे होते हैं जो न तो नगर से भिक्षा लाते हैं, और न पत्र पुष्प आदि पर जीवननिर्वाह करते हैं, बल्कि समाधि से उठ कर वन में ही यत्र-तत्र आहार की गवेषणा करते हैं। अरण्य में बहुत सी गायें और भैंसे चराने के लिए बहुत से चरवाहे आते हैं, तो वे गवेषक मुनि उन्हीं चरवाहों से भिक्षा की याचना करते हैं, तब वे चरवाहे उन तपस्वी मुनियों को गऊ तथा भैंस का दूध दोह कर देते हैं। वह दूध दोहने से पूर्व बछड़ों को स्तन-पान कराते है, फिर मुनि को दोह कर दूध देते हैं, उसी उच्छिष्ठ दूध

को दन्त-चर्वित भोजन कहा गया है। जिस का गौतमस्मृति में उल्लेख है।

ब्रह्मानन्द जी बोले—वह दूध दन्त-चर्वित कैसे हुआ ?

आप ने कहा— यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जिस समय दुग्ध-दोहन की क्रिया की जाती है तो पहले बछड़े को छोड़ा जाता है, वह दुग्ध-पान कर लेता है तब दूध दोहा जाता है। गाय के उच्छिष्ट स्तनों से दुहने के कारण दूध को दन्त-चर्वित कहा है।

जंगल में दोहन-क्रिया करने के समय गोपालकों के पास पानी तो होता नहीं कि जिस के द्वारा वह स्तनों का प्रक्षालन कर लें। यदि पानी हो तब भी डाक्टरों के मतानुसार वत्स के मुख से छुड़ा कर गर्म गर्म स्तन शीतल जल से धोने निषिद्ध है। अब वो बछड़ों का जूठा दूध दन्त-चर्वित भोजन हो गया या नहीं ? यह सुन कर पंडित ब्रह्मानन्द जी बड़े प्रसन्न हुए और आप के गुण-कीर्तन करने लगे, कि आप ने अपनी प्रचण्ड ज्ञान-रश्मियों के द्वारा मेरे हृदय को आलोकित कर दिया है। आप की बुद्धि, आप की ज्ञानगरिमा, आप का पांडित्य, आप की विलक्षणता श्लाघनीय है। इस प्रकार चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् आप ने ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए १९६८ का चातुर्मास जीरा किया।

## जीरा में पथ-प्रदर्शिका के रूप में

जिस समय आप ने जीरा में चातुर्मास किया, उस समय जीरा में जैन स्थानकवासी सम्प्रदाय के केवल ४-५ ही घर रह गए थे और सारे मूर्तिपूजक जैन हो गए थे, अर्थात् धर्म के असली तत्त्व को, धर्म के निर्मल स्वरूप को भूल कर, जिनप्रणीत आज्ञा का उलंघन कर मन्दिर में आने जाने लग गये थे, और जीरा में धर्मान्धता बढ़ रही थी। धर्म के नाम पर मूर्तिपूजा को महत्त्व दिया जा रहा था। ऐसे समय में कोई भी स्थानकवासी साधु या साध्वी वहां जाने का साहस न कर पाता था, उस विकट समय में आप ने अपना क़दम आगे बढ़ाया, और जीरा में चातुर्मास किया। चातुर्मास में आप व्याख्यान देने के बाद ही मूर्तिपूजक भाई बहिनों के साथ चर्चा करने के लिए बैठ जाते। २-२॥

घंटे लगातार चर्चा करते रहते, किसी समय तो आप को आहार करने का समय भी नहीं मिलता था, और एक चर्चा से उठता तो दूसरा चर्चा करने वाला उपस्थित हो जाता, और आप उसी आसन से वहीं स्थित रहते। आप वादी के रूप में समाज के सामने आ कर अपने युक्ति-युक्त अकाट्य प्रमाणों के द्वारा ऐसे २ प्रश्न उपस्थित करते, कि मूर्ति-पूजकों को आप के समक्ष नत होना पड़ता। इस प्रकार पथ-विस्मृत भाई-बहिनों को सत्य-पथ दिखला कर धर्म में पूर्ण दृढ़ किया और मूर्ति-पूजकों से स्थानकवासी जैन बनाया और भगवान महावीर के अमर सन्देश की अमर घोषणा द्वारा सुप्त जनता को प्रबुद्ध किया। यह आप की ओजस्विनी वाणी का ही प्रभाव था, कि जीरा जैसा बिगड़ता हुआ क्षेत्र फिर बन गया, और जैन धर्म का अस्त होता हुआ सूर्य, फिर अपने प्राचीन वैभव में चमकने लगा, और उस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यह क्षेत्र आज भी स्थानकवासी जैन है और भगवान् महावीर के मार्ग का अनुयायी है। यदि जीरा में आप का आगमन न होता तो इस में कोई सन्देह नहीं था कि जीरा में सत्य धर्म का अस्तित्व ही नहीं रह पाता, और वह क्षेत्र मूर्तिपूजक हो जाता, यह आप की ही वाणी-वैचित्र्य का प्रभाव था कि जीरा अपने प्राचीन अस्तित्व को भूल न पाया और अपने पथ पर दृढ़तापूर्वक खड़ा रहा।

## प्रवर्तिनीश्री की चरणसेवा

आप श्री का क्रान्तिकारी भ्रमण आप श्री के व्यक्तित्व को चमकाने में विशेष कारण बना। परिणामस्वरूप साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ आप के महान् पाण्डित्य, अद्भुत व्याख्यान-कला, एवं संयमसाधना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। चातुर्मासकाल व्यतीत करने के लिए आप श्री को अनेक क्षेत्रों के श्रावकों ने विज्ञप्तियें कीं। अन्त में १९६९ का चातुर्मास स्यालकोट में निश्चित हो गया। स्यालकोट का धर्मप्रचार भी आपश्री के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा। लोगों ने आशातीत लाभ प्राप्त किया तथापि विद्या तथा चारित्र की सम्पत्ति से परिपूर्ण आपश्री का संघ से अलग रहना सब को

अखर रहा था, फलतः चतुर्मास के अनन्तर मुख्य २ मुनिराजों के प्रेमभरे आग्रहों तथा श्रावकों की स्नेहपूर्ण विज्ञप्तियों से आप अमृतसर महामहिम स्वनामधन्य आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज की सेवा में पधारे। वहां पर आप को संघ मे सम्मिलित करने के लिए पुनः कहा गया। संघ की सभी स्थितिएँ आप के सामने उपस्थित कीं।

यह पहले बताया जा चुका है कि हमारी चरितनायिका को संघ में सम्मिलित करने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए गए थे जो कि विशेष परिस्थितियों के कारण असफल रहे, परन्तु एकताप्रिय महानुभाव इस दिशा की ओर बढ़ते ही जा रहे थे। अन्त में उन्हें सफलता प्राप्त हो ही गई, परिणामस्वरूप हमारी चरितनायिका संघ में प्रविष्ट हो गई और इन्हें स्वर्गीय प्रवर्तिनी महासती श्री पार्वती जी महाराज की सुशिष्या प्रवर्तिनी तपस्विनी श्री राजमति जी म०का नेतृत्व प्राप्त हो गया और ये उन की नेश्राय में रह कर तथा पवित्र चरणसेवा प्राप्त कर पूर्व की भांति शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करने लगीं।

एक समय आप का पटियाला पधारना हुआ। उस समय वहां मारवाड़ी सम्प्रदाय के आचार्य, जैनकमलमार्तण्ड, पतितोद्धारक, आचार्य श्री १००८ श्री श्री श्री खूब चन्द्र जी महाराज व उनके प्रिय शिष्य, शास्त्रविशारद, न्यायवेत्ता, सेवाभावी, प्रवर्तक मुनि श्री १००८ श्री हजारी लाल जी महाराज कई ठाणों से विराजमान थे। आप ने उन के दर्शन किए। मुनिश्री ने आप की प्रतिभा, वक्तृता की प्रशंसा पहले ही से सुनी हुई थी, अब आप का साक्षात्कार कर उन्हें आप की विलक्षणता, साहसिकता, नम्रता का पूर्ण विश्वास होगया, और उन्हों के शिष्य श्री हजारी लाल जी महाराज ने अपनी लघु भगिनी श्री लज्जावती जी को मारवाड़ीसम्प्रदाय में दीक्षा न दिला कर आप के पास दीक्षा दिलाने के विचार प्रकट किए, और कहा–'कि जैसी आप ज्ञान की सजीव प्रतिमा हैं, वैसी ही हम अपनी बहिन को बनाना चाहते हैं।' और अपने संसारी पिता जी से श्री लज्जावती जी को आप की सेवा में अर्पण करने के लिए अनुरोध किया।

पटियाले से विहार कर आप ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए

और भगवान महावीर के धर्म की घोषणा करते हुए जम्मू में पधारे। वहां पर आप ने अपने प्रवचनों के द्वारा जनता को मंत्रमुग्ध बना दिया। आप के भाषणों में राज्य के कर्मचारी, अफसर और बड़े २ प्रोफेसर आते रहे और नियमित रूप से लाभ उठाते रहे। रविवार के दिन आपके सार्वजनिक भाषण होते, जिन में मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि सभी जाति के लोग उपस्थित होते। ऐसे समय में इस्लाम-धर्म की स्त्रियों ने आप के भाषणों से लाभ उठाने की जिज्ञासा प्रगट करी, और आपने कई रविवार मुसलमानी औरतों की सभा में ही अपने मनोहर प्रवचनों की पीयूषधारा बहाई। आप की गणना उन सुधारकों में नहीं की जा सकती, जो किसी सम्प्रदायविशेष के प्रवर्तक होते हैं, जिन का लक्ष्य केवल धर्म को एक सम्प्रदाय की सीमित परिधि में जकड़ देना होता है। आप की गणना उन सुधारकों में होती है, जिनके विशाल हृदय साम्प्रदायिक संकीर्ण विचारों को तिलाञ्जली देकर जन-मन के विकास का मार्ग खोजते हैं। आप का उद्देश्य जीव मात्र का कल्याण करना था, सार्वभौम जैनधर्म की शिक्षाओं को समस्त देश में प्रचारित करना ही आप अपना ध्येय समझती थीं। यह आप के धर्मप्रधान व वैराग्यगर्भित भाषणों का ही प्रभाव था, कि पसरूरनिवासी लाला दुन्नी शाह जी की पुत्री और जम्मू के रईस लाला गोविन्द शाह जी की पुत्रवधू जो कि बाल्य अवस्था में ही सौभाग्यसुख से वंचित थीं, उन्हें वैराग्य का दृढ़ रंग चढ़ गया। भले ही वह पति-सुख से वञ्चित थीं, किन्तु उन का जीवन बड़े ही सुख समृद्धशाली वातावरण में पनप रहा था, वह अपने श्वसुर की एकाकिनी ही पुत्र-वधू थीं और जो बड़े शानोशौकत से अपने जीवन को यापन कर रहीं थी, इन की सेवा में दास-दासी सदैव तत्पर रहते थे, कभी कोई उन के हुक्म के विरुद्ध एक क़दम आगे या पीछे तो हो जाए, शय्या में एक सिकुड़न भी पड़ी मिली कि नौकरों की आफत आ गई। भोजन का प्रबन्ध कुछ ठीक न हुआ या समय पर न हुआ तो सारा क्रोध मूक जड़ बर्तनों पर उतरता, भोजन को ठुकरा दिया जाता। सारांश यह कि उन का जीवन वैभवसम्पन्न था, किन्तु आप के उपदेशों ने उन के मानस में वैराग्य की एक ऐसी लहर पैदा की कि

जीवन का रंग ही बदल डाला। उन्हों ने संयम के कठिन मार्ग पर चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। कहां आप का ऐश्वर्यपूर्ण जीवन और कहां संयम का साधनामय कष्ट-परिपूर्ण मार्ग। जिन्हें सच्चा वैराग्य हो जाता है, भला वह कब संसार के प्रलोभनों में फंसे रह सकते है ? बहुत समझाया गया, संयम मार्ग में आने वाली भीषण आपदाओं को उन के सन्मुख रखा गया, २२ परिषहों का विवरण विशदरूप से बतलाया गया किन्तु वह अपनी अटल प्रतिज्ञा से विचलित न हुई। और अपने श्वसुर की आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगीं, भला श्वसुर साहिब आज्ञा कब देने लगे। एक ही एक पुत्रवधू थी जो उन के प्राण प्यारे पुत्र की निशानी थी, जिसे देख कर ही वह पुत्रवियोग की असह्य अग्नि को शांत करते रहते थे। भावुका का नाम श्रीमती धनदेवी था। धनदेवी आज्ञा लेना चाहती थी, और गोविन्द शाह जी आज्ञा न देते थे। जब आप जालन्धर पधारे तो वह भी आप के कुछ दिनों पश्चात् संयम की आज्ञा प्राप्त कर जालन्धर पहुँच गए। जिस समय वह जालन्धर आईं तो उस समय भी उन की सेवा में एक दास और एक दासी थी। वहां आप ने अपने दीक्षामहोत्सव की तैयारी शुरु की, और लगभग १०-१२ हज़ार रुपया दीक्षामहोत्सव पर लगा कर सं० १९७० की चैत्रशुक्ला पंचमी को अपने को परम आर्हती जिनदीक्षा से अलंकृत किया, और महासती जी श्री चन्दा जी म०की नेश्राय हुईं। आप ने दीक्षा ले कर अपने पूर्व स्वभाव को त्याग, शांति क्षमा का अद्भुत पाठ पढ़ लिया। एक दो अवसर पर श्री शांतमूर्ति धनदेवी जी की परीक्षा भी की गई, किन्तु उन के मुख पर रोष का चिह्न न देखा गया। प्रवृत्ति मार्ग पर चलने वाली देवी ने अपने को निवृत्ति पथ का पथिक बना लिया और गुरुसेवा में मन, वाणी, देह तीनों ही अर्पण कर दिए।

श्री धनदेवी जी को दीक्षा दे कर श्री चरितनायिका जी ने जालन्धर से विहार कर कपूरथला, सुलतानपुर आदि को पावन बनाते हुए १९७० का चातुर्मास जंडियाला में किया। चातुर्मास के पश्चात् आप ग्रामानुग्राम भव्य जीवों को अहिंसा का मार्ग दर्शाती हुई लाहौर पहुँची। जिस समय आप ने लाहौर में पदार्पण किया। उस समय, लाहौर के श्री-

संघ में सामाजिक विद्वेष चल रहा था। आपसी मतभेद के कारण जैन समाज दो भागों में विभक्त थी। दल-बन्दियां हो चुकी थीं। जिस मुनिराज अथवा साध्वी के व्याख्यान में एक पार्टी आती तो दूसरी स्थानक मे आने का नाम न लेती। बड़े २ मुनि भी इस विद्वेष की प्रज्वलित अग्नि को शांत न कर सके, और लाहौर के भविष्य की ओर देखने लगे कि देखें लाहौर का क्या होता है? वह भगवान् के द्वारा बतलाए हुए मार्ग पर चलना आरम्भ करता है या नहीं। ऐसी विकट वेला में आप ने लाहौर मे पदार्पण किया और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से, अपनी जन-मन-आह्लादिनी वाणी की पीयूष-वर्षा कर के लाहौर की जैन समाज मे एकता का अजस्र स्रोत वहा दिया, आप ने सामाजिक-कलह का समूलोन्मूलन कर के विरादरी को एक कर दिया। और १९७१ का चातुर्मास लाहौर में किया और वहां की धर्म भावना को, प्रेम भावना को विल्कुल दृढ़ बना दिया, और जनता को धर्म के असली तत्त्वों का अभिज्ञान करा दिया। उस समय आप के पास जावरा निवासी लाला राम लाल जी कटारिया की सुपुत्री और मुनि श्री हजारी लाल जी महाराज की संसारी वहिन श्री लज्जावती जी वैराग्यावस्था में थीं। और जिन की आयु उस समय ११ वर्ष की थी। आप ने लज्जावती जी को संयम देने के विचार विरादरी के सन्मुख रखे, भाइयों ने सुना और खुशी से फूले न समाए। कोई भाई कहता था कि दीक्षा का समस्त भार मैं सम्हालूंगा। कोई कहता था—'कि दीक्षा का पुनीत कार्य मेरे हाथों सम्पन्न होगा'। इस प्रकार वहुत से भाइयों ने विनीत प्रार्थना आप के चरणों में रखीं। आखीर मे श्रीमान धर्म-प्रेमी सज्जन श्री रामलाल जी की प्रार्थना स्वीकृत हुई, और दीक्षार्थी देवी का दीक्षासमारोह उन के द्वारा सम्पन्न करवाया गया। सं० १९७१ में कार्तिक कृष्णा सप्तमी को वड़े उत्साह से, वहुत समारोह से श्री लज्जावती जी की दीक्षा हुई और दीक्षा पर होने वाले व्यय का समस्त भार श्री रामलाल जी के सुदृढ़ कन्धों ने सम्भाला। श्री लज्जावती जी दीक्षित होने के पश्चात् आप की आज्ञानुसार संयम क्रिया मे सावधानतापूर्वक विचरण करने लगीं और आज भी हमारे सामने

उज्ज्वल चारित्र के साथ आदर्श साधुवृत्ति का परिचय दे रही हैं। और इस समय हमारी चरितनायिका जी के शिष्या-समुदाय का नेतृत्व भी आप ही कर रही हैं। आप संस्कृत और प्राकृत भाषा की प्रकाण्ड पण्डिता होने के अतिरिक्त बड़ी शांत स्वभाव की व उदार मनोवृत्ति की विदुषी साध्वी हैं, और चरितनायिका जी के आदर्श चरण-चिह्नों का अनुसरण करने वाली हैं। आप की भाषणशैली बड़ी ही आकर्षक, मधुर एवं सर्व जन-मन-आह्लादिनी है। और स्वर्गीया गुरुणी जी के रिक्त स्थान की आजकल यदि किसी अंश मे कोई पूर्ति करने वाली है, तो सर्वप्रथम आप के ही पवित्र नाम का निर्देश किया जा सकता है। शासनेश आप को दीर्घायु प्रदान करें, यही हमारी हृदयाभिलषित आकांक्षा है।

हाँ! मैं अपने मूलविषय पर आती हूं। आप ने लाहौर के चातुर्मास के पश्चात् विहार किया, और अमृतसर मे पूज्य श्री १००८ श्री सोहन लाल जी महाराज के शुभ दर्शनों द्वारा अपने को कृतार्थ करती हुई महासती जी की सेवा में पहुँची। उस समय आचार्य श्री जी ने महासती प्रवर्तनी जी को समाचार देकर अमृतसर बुलवाया। और आप व श्री हीरादेवी जी महाराज व श्री ईशरा देवी जी महाराज आदि आठ ठाणों सहित अमृतसर जेठमास में पहुँची, और आचार्य जी से पत्री सीखी, और एक महीना ठहर कर आपने वहाँ से विहार कर १९७२ का चातुर्मास वंगा किया। वंगा चातुर्मास मे आप के उपदेशों में बड़े २ मौलवी, सनातनधर्मावलम्वी, आर्यसमाजी आते थे और आप के प्रवचनों को श्रवण कर दान्तों के नीचे अंगुली दबाते थे। आप जब कभी उर्दू या फारसी का कोई पद्य प्रयोग मे लाती थीं, तो व्याख्यान–सभा में उपस्थित होने वाले मुस्लिम–भ्राता वाह वाह कर उठते थे, और कहते थे कि फारसी का इतना शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण तो हमारे बड़े २ मौलवी भी नहीं कर सकते, जैसा कि ये करती है। मानों सम्पूर्ण भाषाओं पर इन का स्वतंत्र अधिकार हो। पुरुष के चोले में सैकड़ों प्रभावशाली व्याख्याता देखे, सैंकड़ों उपदेशकों के उपदेश श्रवण किए, किन्तु नारी के रूप मे इस तेजोमयी तपस्विनी व मनस्विनी के मुख से

इतना भावपूर्ण, मनोहर एवं हृदयस्पर्शी भाषण सुनने का तो हम लोगों को जीवन में यह प्रथम शुभावसर ही प्राप्त हुआ है। यह तो मानवीरूप में साक्षात् देवी दृष्टिगोचर हो रही हैं।

## एक आर्यसमाजी सज्जन से प्रश्नोत्तर

व्याख्यान में आप किसी के मत का खण्डन नहीं किया करती थीं, बल्कि स्वमत तथा परमत का तुलनात्मक विवेचन कर के ऐसे अकाट्य प्रमाण उपस्थित करतीं कि श्रोता मुग्ध रह जाते। व्याख्यानसमाप्ति के पश्चात् यदि कोई आप के सन्मुख वादी के रूप में आता, वह भी आप के युक्तियुक्त उत्तरों को श्रवण कर नतमस्तक हो जाता। आप धार्मिक चर्चा के लिए सदा कटिबद्ध रहतीं। एक दिन दोपहर के पश्चात् आप के पास एक आर्य सज्जन (जिन का नाम मेरी जानकारी में नहीं) कुछ प्रश्नों को ले कर आए, और कहने लगे 'कि मैं आप से कुछ प्रश्नोत्तर करने का अभिलाषी हूं। क्या आप मेरी शंकाओं को निर्मूल कर सकेंगी?' आप ने उत्तर दिया—'आप बड़ी प्रसन्नता से प्रश्नोत्तर करें, मैं यथासंभव आप की आशंकाओं को निवृत्त करने का प्रयत्न करूंगी। मेरा तो यही कार्य है।' आप का उत्तर श्रवण कर भाई बैठ गया और आप भी उस की शंकाओं की निवृत्ति करने के लिए तत्पर हो गए।

समाजी भाई ने प्रश्न किया—क्या आप मुक्ति मानते हैं?

आप ने उत्तर दिया—हाँ! हम मुक्ति मानते हैं।

समाजी—आप मुक्ति में जाने वाले जीवों का पुनरागमन मानते हैं या नहीं?

आप—नहीं! हम मुक्त जीवों का पुनरागमन नहीं मानते।'

समाजी— यदि आप पुनरागमन नहीं मानते तो क्या मोक्ष में जाते जाते जीवों से यह संसार खाली न हो जाएगा?'

आप—संसार के प्राणियों की संख्या आप कितनी मानते हैं?

समाजी—संसार के प्राणी क्या संख्या मे आने वाले हैं, वह तो अनन्त हैं।

आप— जब जीव अनन्त हैं, तो उन का अन्त किस प्रकार होगा ?

समाजी— अनन्त जीव मोक्ष में गए और अनन्त ही जाएंगे, तो क्या उन का अन्त न होगा? अवश्य होगा, और संसार एक दिन रिक्त हो जाएगा।

आप— अच्छा ! बतलाइए, आप ईश्वर को अनन्त शक्ति का धारक मानते हैं ना ?

समाजी— हां।

आप—तो परमेश्वर इस सृष्टि को कितनी बार रचेगा और कितनी बार रच चुका ?

समाजी— अनन्त बार रचन किया और अनन्त बार करेगा।

आप— इस प्रकार सृष्टि रचते २ तो ईश्वर की अनन्त शक्ति का एक दिन अन्त हो जाएगा ?

समाजी— नहीं जी नहीं, परमेश्वर की शक्ति अनन्त है, उस का अन्त नहीं हो सकता।

आप— बस ! जैसे परमेश्वर की शक्ति का अन्त नहीं आता। इसी प्रकार अनन्त संसारी जीवों का अन्त नहीं आ सकता, और साथ ही आप के प्रश्न का उत्तर यह अनन्त शब्द ही दे रहा है। नास्ति अन्तं यस्य तदनन्तम् अर्थात् अनन्त का अर्थ ही यह है कि जिस का अन्त न हो। फिर जो वस्तु अनन्त है, उस का न कभी अन्त हुआ है, और न कभी होगा। जिस का अन्त हो जाए, वह अनन्त कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार जीव अनादि अनन्त हैं, इन का मोक्ष में जाने पर कभी अन्त नहीं हो सकता और न कभी संसार ही खाली हो सकता है।' समाजी भाई इस उत्तर को पा कर कुछ बोल न सके, उन्हों ने अपना प्वाइंट बदला, और आप के अनादि शब्द को लेकर प्रश्न कर दिया कि— 'आप आदि और अनादि किसे मानते है ? अर्थात् आदि क्या चीज है, और अनादि क्या चीज है।'

आप—जो वस्तु स्वयंसिद्ध हो, जिस का निर्माता कोई न हो। उस वस्तु को अनादि कहते हैं और जिस वस्तु का निर्माण हुआ हो जिसका कोई न कोई कर्ता विद्यमान हो, उस वस्तु की आदि होती है।

समाजी—बिना बनाए तो कोई वस्तु बनती ही नहीं। प्रत्येक वस्तु के बनाने वाला कोई न कोई अवश्य होता है जैसे घट को बनाने वाला कुंभकार, पट को बनाने वाला तन्तुकार (जुलाहा) है अर्थात् स्वयंसिद्ध कोई वस्तु नहीं।

आप—अच्छा ! यदि ऐसी बात है, तो परमेश्वर, जीव, व कर्म प्रकृति को आदि मानते हैं या अनादि ?

समाजी—'जी ! ये तो अनादि हैं।'

आप—ये अनादि कैसे ? ये बिना बनाए कैसे बन गए ? आप को इन के निर्माता को मानना होगा।

समाजी—तो यह दुनिया जो दृष्टिगोचार हो रही है। दुनिया के दीखने वाले जो पदार्थ हैं, ये बिना बनाए कैसे बन गए ?

आप—दुनिया के पदार्थ, आदि, अनादि दो प्रकार के हैं। परमेश्वर, जीव, कर्म का करना, अनेक योनियों में आना जाना, स्वर्ग, मर्त्य और पाताल ये सब अनादि हैं और देश, ग्राम, नगर, हाट, हवेली, बाग़, बगीचा आदि ये सब सादि माने जाते हैं। जब आपने परमेश्वर जीव, कर्म, प्रकृति को अनादि मान लिया तो दुनिया को अनादि अनन्त मानने में क्या डर है ?' समाजी भाई सकपका गए। और धीरे से बोले-'नहीं डर तो कुछ नहीं। किन्तु पूर्वजों द्वारा मानी गई बात कैसे छोड़ी जाय ?'

आपने कहा—यह बताइए, किसी की सात पीढ़िऐ पुश्त दर पुश्त लकडी बेच कर जीवननिर्वाह करती आरही हो तो उनके आगामी पौत्र अथवा प्रपौत्र को भाग्योदय से राज्य की प्राप्ति हो तो उसे राज्य ग्रहण करना चाहिए या नहीं ?'

समाजी—जी ! अवश्य ग्रहण करना चाहिए !

आप—यदि वह ग्रहण न करे कि मेरे पूर्वज तो लकड़ी बेचते थे मैं राज्य कैसे ग्रहण करूं ? तो आप उसे मूर्ख कहेंगे या विद्वान् ?'

समाजी—उस के जैसा महामूर्ख कौन होगा, वह तो मूर्खों का शिरोमणि है।

आप—इसी प्रकार जो असत्य को त्याग कर सत्य धर्म को ग्रहण नहीं करता, वह भी विद्वानों मे नहीं गिना जाता। अतः आप

असत्य पक्ष को त्याग सत्य पक्ष का ग्रहण करें।

इस प्रकार दो अढ़ाई घंटे तक प्रश्नोत्तर करके आर्यसमाजी सज्जन आपके प्रखर पांडित्य की प्रशंसा करता हुआ चला गया। इस प्रकार आप से प्रतिदिन कोई न कोई अन्यमतावलम्बी भाई आकर अपनी शंकाओं का समाधान करते और आप के सदा के लिए सेवक हो जाते।

जिस समय आपने वंगा का चातुर्मास किया, उस समय बंगा श्रीसंघ दो पक्षों में विभक्त हो चुका था, और परस्पर वैमनस्य की अग्नि बड़े ज़ोरों से प्रज्वलित थी। उस वैमनस्य का मूल कारण यह था, कि एक भाई कारणवश किसी अपर जाति की स्त्री को ले आए थे, बिरादरी ने उन्हें बिरादरी से बाहिर कर दिया और रोटी बेटी का व्यवहार भी बन्द कर दिया, और यह वैमनस्य की अग्नि काफ़ी समय तक सुलगती रही। २—३ मुनिराजों ने भी इस क्लेश को मिटाने का प्रयास किया, किन्तु क्लेश मिटने के बदले बढ़ता ही गया और कुछ भाई उस भाई के पक्ष में होगए। अब आप का चातुर्मास हुआ तो वह भाई आपकी सेवा में आए और रो रो अपनी व्यथा सुनाने लगे—कि महाराज साहब मेरे ऊपर कृपा करें और ऐसा प्रयत्न करें, जिस से मुझे बिरादरी में सम्मिलित किया जाए। आपने उन्हें आश्वासन दिया और कहा—अच्छा! देखा जाएगा, जो होगा सो अच्छा ही होगा और आपने ऐक्य पर भाषण देने प्रारंभ कर दिये। इधर आप अपने प्रवचनों में ऐक्य का महत्व समझातीं और दूसरी ओर समाज के मुखिया की मनोवृत्ति फिराने का उद्योग करतीं। संघ के मुखिया को समझा दिया गया और उन्हों ने आपके उपदेशानुसार उस भाई को बिरादरी में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार आपने वगा की बिखरी समाज को एकता के दृढ़ सूत्र में परो दिया। जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण आज भी हमारे सामने है कि आपके एकता के धागे में पिरोई हुई बंगा की जैनसमाज आज भी एक है और उस का संगठन आज भी उसी प्रकार प्रशंसनीय है, जिस प्रकार आप के चातुर्मास में था। आप ने वहां का चातुर्मास बड़ी शान्ति से व्यतीत किया और समाज में भी शान्ति का अखण्ड स्रोत बहाया।

## मालेरकोटला में चातुर्मास

संवत् १९७३ में आप का चातुर्मास रोपड़ में होना निश्चित हुआ था और श्री गणी उदय चन्द्र जी महाराज खरड़ चातुर्मास की तैयारी कर रहे थे। उस समय मालेरकोटला में मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के मुनि श्री अमीविजय जी चातुर्मास कर रहे थे। कोटला का श्रीसंघ चाहता था कि अपने स्थानकवासी किसी सन्त मुनि-राज अथवा साध्वी जी का चातुर्मास यदि इस वर्ष हो जाता तो अच्छा था, और बिरादरी के मुख्य २ श्रावक आप की सेवा में पहुंचे और सारी परिस्थिति आप के समक्ष रख कर कोटला चातुर्मास की प्रार्थना की। आप ने महासती श्री प्रवर्तिनी जी की आज्ञा मंगाने के लिए कहा, महासती जी ने आज्ञा दे दी कि तुम धर्म-रक्षा के लिए मालेरकोटला चातुर्मास कर सकती हो। किन्तु रोपड़ वाले श्रावकों ने इस बात को अस्वीकार किया कि हम महासती जी का चातुर्मास नहीं होने देंगे। आखिर में उन्हें समझाया गया, और श्री गणी जी म० का चातुर्मास खरड़ वालों से ले कर रोपड़ कराया गया, और आप का चातुर्मास श्रीरत्न देवी जी महाराज के साथ मालेरकोटला में हुआ।

मालेरकोटला में आप के व्याख्यानों में मुस्लिम जनता अधिक-तया भाग लेने लगी और आप के उपदेशामृत का पान कर के अपने आप को आप की चरण-सेविका मानने लगी। लोग श्री अमीविजय जी की ओर न जा कर आप के प्रवचनों से लाभ उठाते। सम्वत्सरी के दिन पीताम्बरियों की ध्वजा स्थानक के नीचे से निकलती थी, जिस समय ध्वजा स्थानक के नीचे आती तो मूर्तिपूजक भाई जो उन के दिल में आता वही कहते जिस से स्थानकवासी भाइयों में रोष की मात्रा बढ़ जाती, और आपस में क्लेश पैदा हो जाता था। कहां तो वह पवित्र दिन एकता का पाठ पढ़ाने आता, और कहाँ उस दिन विद्वेष की ज्वाला भड़क उठती। इस प्रकार आप के चातुर्मास में भी सम्वत्सरी का पावन पर्व आया। आप व्याख्यान फरमा रहे थे और जनता अपने आप में मुग्ध बनी हुई सी आप के वचनामृत का पान

कर रही थी, कि इतने में बाजे की ध्वनि कानों में पड़ी और मालूम हुआ कि ध्वजा आ रही है। भाइयों में रोष की मात्रा बढ़नी शुरु हुई, और पौषधोपवास मे बैठे हुए श्रावक भी उत्तेजित होने लगे। आप ने सब को शान्त किया और स्वयं अपने पाट पर से उठ कर बाहर गैलरी में खड़े हो गए और आती हुई ध्वजा को निर्निमेष निहारने लगे। परिणामतः आती हुई ध्वजा वापिस चली गई, और आपस में किसी प्रकार का क्लेश कदाग्रह नहीं हुआ, और पूर्ण शांति रही।

चातुर्मास मे आप की शिष्या श्री धनदेवी जी ने एक मास का निराहार तप किया, और श्री रत्नदेवी जी म० की शिष्या श्री विनयवती जी ने २० रोज़ की तपस्या की, उन्हों ने भी मासिक तप ही करना था, किन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने से २० व्रतों का ही पारणा कर लिया। और श्री धनदेवी जी मासिक तप कर गई और एक मास तक केवल उष्ण जल के आधार पर रहीं। जिस दिन उन की मासिक तपस्या पूर्ण होनी थी, उस दिन कोटला नवाब के प्रधान मन्त्री आप की सेवा में उपस्थित हुए, और आप ने भी उन्हे २ घंटे तक अपने उपदेशों द्वारा सुधा-पान कराया, जब वह जाने लगे तो महासती श्री धनदेवी जी से प्रार्थना की—कि आप मेरे योग्य-सेवा फरमावें। धनदेवी जी ने कहा—'कि यदि आप मेरी सेवा करना चाहते हैं तो मेरी सब से बड़ी सेवा यही होगी, कि कल पारणे के दिन शहर की समस्त वधशालाएँ बन्द रहें। किसी भी मूक प्राणी की हिंसा न होने पावे। मंत्री साहिब ने सती जी की आज्ञा को नम्रतापूर्वक स्वीकार किया, और उन के पारणे के दिन सारे शहर के मूक प्राणियों को अभयदान दिया गया, अर्थात् शहर के समस्त कसाईखाने बन्द रहे।

इस प्रकार धर्मोपदेश से जनता को कृतार्थ करते हुए आप ने मालेरकोटला का चातुर्मास सानन्द व्यतीत किया। विहार करते हुए दुआवा को पावन बनाते हुए संवत् १६७४ मे टांडा पधारे और वह चातुर्मास टांडा ही हुआ। जिस दिन चातुर्मास शुरु हुआ, उसी दिन आप की शिष्या श्री श्रीमती जी महाराज को भीषण ज्वर ने आ घेरा, और एक-दो रक्त की कै हुई। टांडा मे उस समय डाक्टर वैद्य का सर्वथा अभाव था, बस यही कारण था कि उन का ज्वर चिकित्सा के अभाव

में वृद्धि पाता गया और वह चलने फिरने में बिल्कुल अशक्त हो गई, चौमासा समाप्त हो गया. किन्तु उन की व्याधि का अन्त न आया। उस समय आप चार साध्विएँ थीं, चातुर्मास के बाद श्री श्रीमती जी म० की इच्छा महासती श्री प्रवर्तिनी जी के पावन दर्शनों की हुई किन्तु वह चलने में सर्वथा अशक्य थीं। इस लिए उन की दर्शनाभिलाषा की पूर्ति के लिए श्री पन्ना देवी जी म० आदि कई साध्विएँ टॉडा पहुंचीं और उन्हें डोली में लिटा कर होश्यारपुर महासती जी की पुनीत सेवा में ले गईं।

## श्री श्रीमती जी म० का देहावसान

सती श्रीमती जी ने महासती श्री प्रवर्तिनी जी के पावन दर्शनों से अपने आप को कृतार्थ किया। अपनी आन्तरिक अभिलाषा आप के चरण-कमलों में शीस नमा कर पूर्ण की। होश्यारपुर पहुंचने के बाद श्रीमती जी का अस्वस्थ शरीर अधिकाधिक क्षीणता को प्राप्त होता गया और मार्गशीर्ष शुक्ला १२ को २५ वर्ष की आयु में उन का स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गवास से एक दिन पूर्व उन्हों ने श्री प्रवर्तिनी जी महाराज से साग्रह प्रार्थना की, कि आप मुझे यावज्जीव अनशन व्रत करवा दें। महासती जी ने बहुत समझाया किन्तु उन्हों ने कहा कि मेरा मृत्यु-समय क्षण प्रतिक्षण निकट आता जा रहा है। आप इस में प्रतिबन्ध न करें, और मुझे संथारा करवाने की कृपा करें। महासती जी ने श्रीमती जी का अत्याग्रह देख कर हमारी चरित्तनायिका महासती श्री चन्दा जी को बुला कर कहा— कि श्रीमती संथारे के लिए आग्रह कर रही है। तुम बताओ, इसे संथारा करवाया जाये अथवा नहीं ? मुझे तो कुछ मालूम नहीं। महासती जी ने आप से इस लिए यह सब कहा कि आप ज्योतिषशास्त्र की भी प्रकांड पंडिता थीं, आप मनुष्य का आकार-प्रकार, चेष्टा आदि से परीक्षण कर लिया करती थीं। आप ने कहा— 'कि यदि इस का दृढ़ निश्चय है, तो फिर देरी किस लिए ? मृत्यु की घड़ियां टालने में कोई समर्थ नहीं है, आप इसे संथारा करवादें। जिस समय उन को आमरण-व्रत करवाया, उस समय लगभग २० साध्विएँ

वहाँ उपस्थित थीं, और सब की आंखें अश्रुकणों से परिपूरित थीं, परन्तु हमारी चरितनायिका जी उसी गंभीर मुद्रा में थीं, जो महान् आत्माओं मे स्वभावतः ही दृष्टिगोचर होती है। उन के चेहरे पर म्लानता नहीं थी, व्यथा की छाप नहीं थी, हृदय मे कोई कोलाहल प्रकट नहीं होता था, आप बिल्कुल शांत थीं। सती श्रीमती जी आप की प्रिय शिष्या थी। जो कि नव वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हो कर आप के साथ थीं, और विपत्ति के क्षणों में, संकटकालीन परिस्थितियों में, विषाद की वेला में आप की सहयोगिनी रही थीं। फिर भी आप के मानस में कम्पन नहीं था। दिन व्यतीत हो गया, और रात्रि छा गई, सर्व साध्विएँ उन की परिचर्या में लगी हुई थीं, रात्रि का अन्तिम प्रहर शुरु था, चार बजे का समय था, स्थानक का घण्टा १ घण्टा आगे बोलता था, समय चार का था, घण्टे ने ५ बजाए। श्रीमती जी चौंकी और पूछा— ये ५ कैसे बजे, मेरा समय तो चार का है। महासती जी ने कहा— समय चार का ही है, किन्तु घण्टा आगे है। उन्हों ने कहा— 'आप मुझे प्रतिक्रमण करवाये।'

अभी तो प्रतिक्रमण करने में देर है; ठहर कर करा देंगे। महासती जी ने कहा। श्रीमती जी बोलीं—आप पीछे कर लेना, किन्तु मुझे अभी करवादें, क्योंकि मेरा समय सन्निकट है।

प्रतिक्रमण कराया जाने लगा, चतुर्थ आवश्यक करते हुए, दर्शन-विशुद्धि पाठ पर 'मिच्छामि दुक्कडं, देते २ श्रीमती जी के प्राण पखेरू शरीर पिंजर का परित्याग कर मुक्त हो गए, अर्थात् वह पार्थिव शरीर का परित्याग कर स्वर्गारूढ हुईं।'

स्वर्गवास के समय भी आप बिल्कुल शांत थीं जबकि सब आर्याओं के नेत्र जल-पूरित थे। आप के हृदय मे यदि कोई कम्पन हुआ हो तो उसे सर्वज्ञ प्रभु ही जान सकते हैं, किन्तु आप के मुख पर विषाद की कोई रेखा न देखी गई।

कुछ दिन और होश्यारपुर महासती जी की सेवा में रह कर आप ने विहार कर दिया। इतस्ततः परिभ्रमण करती हुई आप जंडियाले पधारीं और १६७५ का चातुर्मास आपने जंडियाला किया।

जंडियाला के श्रावकों ने आप से विनति की— कि महाराज ! और २ ढालें तो और साधु मुनिराज भी सुना देते हैं, किन्तु आप अब के कोई नवीन कृति बना कर सुनाने की कृपा करें। आप ने उन की प्रार्थना स्वीकार कर ली, और रात्रि में नवीन कृति का रचना करते, और प्रातः व्याख्यान मे उस का वर्णन करते। यह आप की प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार था, कि रात्रि में पद्यमय रचना करना, और रात्रि में ही उस को लिख लेना, और प्रातःकाल उस का वर्णन कर देना। आप की नवीन कृतियां का सुन कर वहां के भाई बहुत प्रभावित हुए।

जिन दिनों आप का चातुर्मास जंडियाला था, उन दिनों, वहां गलघोट्टू की भीषण व्याधि-ने आक्रमण किया हुआ था। उस के आंतक से आप भी न बच पाए। आप को एक दिन पहले ज्वर ने घेरा, और रात्रि में आप को श्वासोश्वास लेने में कष्ट का अनुभव होने लगा। और गले में भी पीड़ा होने लगी। आप ने समझा, कि मुझे भी शायद गलघोट्टू ज्वर ने आक्रान्त किया है। आप का अनुभव बहुत विशाल था, अनुमान ठीक निकाला। आप ने एक छोटा सा कपड़ा लेकर गले में अंगुली द्वारा फिराना शुरु किया। कपड़ा फिराने से गले का छाला फूट गया और रक्त बहने लगा। जो दूषित रक्त था वह बाहर निकल गया, किन्तु कुछ रक्त शायद आप के अन्दर चला गया, जिस से आप अचेत हो गए, और अचेतावस्था में ही सारी रात्रि व्यतीत हो गई। प्रातःकाल साध्वियों ने आप को अचेतावस्था में पाया, तो कुछ उचित उपचार किया जाने लगा, जिस से आप की तन्द्रा दूर हुई। पूछने पर आप ने रात्रि का सर्व वृतान्त कह सुनाया। एक दो दिवस विश्राम लेने के पश्चात् आप फिर पूर्ववत् ही व्याख्यान देने लगे और चातुर्मास में विशेष चहल पहल रही।

चातुर्मास की समाप्ति के बाद आप महासती श्री प्रवर्तिनी जी के दर्शनार्थ होश्यारपुर पधारीं, वहां पर डस्कानिवासी लाला निहालसिंह जी की सुपुत्री और लाहौरनिवासी लाला लाभे शाह जी की पुत्रवधू आप के दर्शनार्थ आई। जिन का सौभाग्य-सिन्दूर दस वर्ष की अल्पावस्था में ही निष्ठुर काल के क्रूर हाथों द्वारा पोंछा जा चुका था।

किन्तु उन का जीवन काफी समृद्ध था। आप के प्रवचनों का ऐसा प्रभाव उन के हृदय पर हुआ कि उन का हृदय वैराग्यरंग में रंग गया और वह संयम लेने के लिए तैयार हो गई। आप ने उन्हें होश्यारपुर में ही सं० १९७९ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन परम आर्हती दीक्षा से अलंकृत किया।

होश्यारपुर से विहार कर के आप ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए फरीदकोट पहुँचे, और १९७९ का चातुर्मास फरीदकोट में किया। वहां आप का धर्मोपदेश सुनने के लिए बड़े २ राज्यकर्मचारी आते रहे, और आप के सार्वजनिक भाषणों से लाभ उठाते रहे। फरीदकोट में आप ने स्त्रीशिक्षा पर वह पुरजोश भाषण दिए, कि फरीदकोट की जनता स्त्रीशिक्षा का महत्त्व समझने लगी। आप ने बतलाया— कि विद्या जीवन है, अविद्या मृत्यु। *शिक्षा की आज अत्यधिक आवश्यकता है। यदि आज हमारा उत्थान नहीं होता, तो इस का मूल कारण अशिक्षा ही है। यदि समाज को अभ्युदय के सर्वोच्च शिखर पर ले जाना चाहते हैं, तो पहले नारी-समाज को शिक्षित कीजिए, जो नारी शिक्षित होगी, वही देश के लिए अनमोल रत्न प्रदान करेगी।

फरीदकोट में इस समय जो जैन कन्या पाठशाला दृष्टि-गोचर हो रही है, वह आप के उन्हीं सुमधुर प्रवचनों का मधुर फल है। फरीदकोट में अपनी यशोदुन्दुभि वजाते हुए आप ने जंगल देश को पावन बनाने की योजना बनाई तब जंगल देश की ओर प्रस्थान किया और कुछ मास उधर ही धर्म का डंका बजाते रहे।

फिर वीरजयन्ती के शुभ अवसर पर फरीदकोट के श्रावक आप की सेवा में पहुंचे और फरीदकोट पधारने की विनति की— 'आप फरीदकोट पधारें ; और वीरजयन्ती के शुभावसर पर अपने ओजस्वी प्रवचनों द्वारा जयन्ती की शोभा द्विगुणित करने की कृपा करें, आप श्रावकों की विनति को मान देती हुई फरीदकोट पहुंचीं और वीर-जयन्ती के उत्सव को मनाया, तथा वहीं पर वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को सरसानिवासी लाला यमुनादास जी की पुत्रवधू श्री दयावती जी को

*स्त्रीशिक्षा पर विस्तृत विवेचन आगे महासती जी के व्याख्यानों में विस्तारपूर्वक किया गया है।

जिनदीक्षा मे सुशोभित किया, और पुनः जंगल देश की ओर विहार कर दिया।

संवत् १९७७ का चातुर्मास आप का रामा मंडी में हुआ। चातुर्मास के पश्चात् आप सरसा पधारीं। सरसा मे आप के उपदेशों की इतनी प्रसिद्ध हुई कि सरसा के मुख्य १६ वकील, व आत्माराम जी जज, तथा सरसा की कमेटी के अधिपति खां साहब, प्रतिदिन नियमित रूप से आप के उपदेशामृत का पान करते। और रामेश्वर वकील तो आप के पूर्ण भक्त बन गए। वह कहा करते थे—महाराज! मैं प्रतिदिन १ घण्टा आप का ध्यान किया करता हूँ, और फिर किसी भी कार्य को करता हूँ। सरसा मे आप के व्याख्यानों में समाजी, वेदान्ती, मुस्लिम सभी आने लगे और संख्या अधिकाधिक बढ़ने लगी। जो एक बार व्याख्यानसभा मे आया, उस ने फिर जब तक आप वहाँ रहे, व्याख्यान श्रवण करना नहीं छोड़ा।

सरसा मे हजारी लाल जी शर्मा नामक एक वेदान्ती थे। वह जैनधर्म के अथवा जैन साधुओ के प्रति अश्रद्धा के भाव रखते थे। 'खूनी हाथी के सन्मुख जा कर प्राणों की बलि दे देनी स्वीकार, किन्तु जैन साधु के दर्शन करना स्वीकार नहीं' ऐसे उन के अटल विचार थे। लोगो ने बहुत कहा, कि आप एक बार चल कर महासती जी के दर्शन कर ले, किन्तु उन के कान पर जूं तक न रेंग सकी। भाइयों ने उन को कहना नहीं छोड़ा और बार बार सती जी के दर्शनो के लिए आग्रह करते रहे। आखिर उन्हें कहना पड़ा, यदि कोई पुरुष होता तो शायद चला ही जाता, किन्तु स्त्री के पास जाना तो नितान्त असंभव है।' बात वहीं रह गई।

एक दिन सती जी को मौसमी ज्वर ने आघेरा। यह ज्वर ज्वर नहीं था बल्कि वेदान्ती जी को सत्य-पथ का पथिक बनाने के लिए एक इशारा था। श्रावकों ने सोचा— यह एक अच्छा अवसर है, इस समय वेदान्ती जी को महासती जी की सेवा मे लाना चाहिए। वेदान्ती जी अन्य शास्त्रों के ज्ञाता होने के अतिरिक्त आयुर्वेदिक भी जानते थे, और एक अच्छे माने हुए वैद्य थे। इसीलिए भाई वेदान्ती जी के पास पहुँचे

और सती जी की सेवा में चलने के लिए कहा किन्तु वेदान्ती जी ने साफ इन्कार कर दिया कि मैं नहीं चलूंगा। इस पर भाई बोले— 'हम आप को उन के दर्शनार्थ जाने को नहीं कहते बल्कि उन की रोग-परीक्षा के लिए कहते हैं। आप वैद्य हैं, और वैद्य का कर्तव्य होता है कि रोगी की रोग परीक्षा करे। और यथामति चिकित्सा द्वारा शान्ति पहुंचाने का प्रयत्न करे, इस लिए आपको अवश्य चलना होगा।'

वेदान्ती जी को वैद्य होने के नाते लाचार होना पड़ा। बोले— 'जाना तो नहीं था, किन्तु वैद्य जो हूं, इस लिए चलता हूं।' और एक भाई के साथ वैद्य जी आप के पास पहुंचे। आप को भाई पहले ही बतला गए थे, कि आज जैसे भी होगा, वेदान्ती जी को आप की चरण-सेवा में लाएंगे। इसलिए आप वेदान्ती जी को देखते ही उठ कर बैठ गए, आप को उस समय व्याधि बहुत सता रही थी, किन्तु आप उस की कुछ परवाह न करते हुए उन के साथ वार्तालाप करने लग गये। लगभग अढ़ाई घण्टे तक वेदान्ती जी के साथ आप का संलाप होता रहा। अन्त में आप ने वेदान्ती जी के हृदय में स्थित भ्रान्त धारणाएँ दूर कर दीं। और उन्हें जैन के नियमों, उपनियमों का भलीभांति ज्ञान करा दिया और पंडित हजारी लाल जी शर्मा आप के सन्मुख भक्ति के वशीभूत हो कर नतमस्तक हो गए, और विनम्र स्वर में कहने लगे— कि आप ने आज मेरे मिथ्या अहंकार को नष्ट कर दिया, आप की वाणी ने मेरे हृदय पर जादू का सा असर किया। मैं ने आज तक जीवन में आप के जैसी कोई विदुषी नहीं देखी। मुझे नहीं मालूम था कि आप अनुपम प्रतिभासम्पन्न हैं। मैं आप की मन, वाणी, कर्मणा द्वारा प्रशंसा करता हुआ अपने आप को सौभाग्यशाली बनाना चाहता हूं'। और उस दिन से ले कर वेदान्ती जी प्रतिदिन आप की व्याख्यानसभा में आते रहे। यह आप की अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार था, कि जो खूनी हाथी के सामने प्राण गँवाना अच्छा समझते थे, किन्तु जैनमुनि के दर्शन अशुभ, वह भी आप के सन्मुख मिथ्या अभिमान को, अपनी झूठी टेक को छोड़ कर नतमस्तक हो गए।

ज्यादा क्या कहें, आप के भाषणों का प्रभाव खाँ साहब पर

इतना पड़ा, कि वह सरसा में गोवध न हो, इस का सतत प्रयास करने लगे। यदि आप कुछ समय वहां और ठहर जाते तो वहां गोहिंसा सर्वथा बन्द हो जाती। किन्तु आप को महासती श्री प्रवर्तिनी जी ने जालन्धर बुला भेजा, तदर्थ आप ने जालन्धर की ओर विहार कर दिया और १६७८ का चातुर्मास जालन्धर किया।

जालन्धर चातुर्मास के पश्चात् आप लुधियाना, मालेर कोटला, पटियाला, अम्बाला होते हुए देहली पधारीं, देहली १५ दिन ठहर कर आप ने आगरे की ओर विहार कर दिया। रास्ते में सुविधा रहे इस लिए देहली के श्रावकों ने सूरत राम नामक भाई को आप के साथ कर दिया। मार्ग की अनेक कठिनाइयों को सहन करते हुए आप मथुरा वृंदावन की गहन अटवियों को पार कर रहे थे कि आप की एक सिंह से भेंट हुई। आप छः साध्वियों का नेतृत्व कर रही थीं। आप को सामने की ओर से एक सिंह अपनी स्वाभाविक गति से आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। आप ने साथ की साध्वियों को सम्बोधित करते हुए सागारी अनशन करवा दिए, और सब को पीछे कर के स्वयं आगे बढ़े। सूरत राम भी शेर का नाम सुन कर भयभीत हुआ, आप ने उसे भी अपने पीछे चलने का इशारा किया। उस समय आप एक सेनानायक की भांति दृष्टिगोचर हो रहे थे, जैसे एक सेनापति वैरी के सन्मुख जाने से डरती हुई सेना को अपने अनुगत चलने का आदेश देकर स्वयं आगे बढ़ता है, उसी प्रकार आप भी भयभीत शिष्या-समुदाय को ले कर आगे बढ़ीं। शेर का और आप का थोड़ा ही अन्तर था, जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित था, एक हिंस्र पशु का साक्षात्कार था, किन्तु आप का मन निर्भय था, आप की आत्मिक शक्ति विलक्षण थी। आप के मुख पर अपूर्व ओजस्वी तेज की प्रदीप्त आभा थी। आप की अहिंसापूर्ण संयमनिष्ठा की परीक्षा का यह एक अवसर था। क्या देखा गया, जो शेर सन्मुख आ रहा था, वह उस रास्ते को त्याग कर सड़क के दूसरी ओर से चला गया, और कुछ दूरी पर सड़क के किनारे एक वधशाला थी, वहां जा दहाड़ा। आप ने अपने को तथा साथ की साध्वियों को निरुपसर्ग जान कर अनशन व्रत खोले। यह आप की शान्ति का, आप की अहिंसावृत्ति का ही प्रभाव था, कि वह

क्रूर प्राणी भी आप के दर्शन कर शान्त हो गया।

आप आगरे पहुँचे, और १६७६ का चातुर्मास आगरे किया। वहां भी आप के प्रवचनों की धूम मची, और आप के प्रवचनों से ला० कस्तूरी चन्द जी जौहरी की सुपुत्री तथा सेठ अचल सिंह जी के परिवार की पुत्रवधू श्री गुणमाला देवी विशेष प्रभावित हुई। वह एक संपन्न परिवार की कन्या एवं संपन्न परिवार की पुत्रवधू थी। सर्व सुख-साधनों के उपस्थित होने पर भी वह सौभाग्य सुख से वंचित थीं। जिस समय उन के पति का स्वर्गवास हुआ, उस समय उनकी की आयु १४-१५ वर्ष की थीं। किन्तु उन को किसी सामाजिक नियमों से नहीं बांधा गया था और वह स्वतंत्ररूप से सम्पत्ति का उपभोग करती थीं। पान सुपारी तो उन के जीवन का एक प्रधान अंग बने हुए थे। वेश-भूषा भी उन की वैधव्यसूचक न थी। उन का जीवन पूर्ण सुखी था। महासती जी के उपदेशों का ऐसा प्रभाव हुआ, कि उन के मन में वैराग्य-धारा बड़े वेग से प्रवाहित होने लगी। परिवार के सन्मुख विचार रखे गए, और आज्ञा की मांग की गई। किन्तु आज्ञा न मिली, चातुर्मास समाप्ति पर था, चरितनायिका जी ने चातुर्मास समाप्ति के बाद हाथरस की ओर विहार कर दिया। इधर उन्हों ने घर वालों को अपना वैराग्य दिखाना शुरु किया। गृह-झंझटों से पृथक् हो कर श्वेत खद्दर की साड़ी बांध कर अपने कमरे में रहने लगीं। भोजन के समय रसोई घर में आना और निर्दोष भोजन की प्राप्ति हुई तो खा लेना, और अपनी कोठरी में ही जा कर बैठ जाना। परिवार ने कठिन परिक्षाएं लेनी प्रारंभ करीं। भोजन के समय उन के ताऊ दुर्गा दास जी ने उन की ताई से कहा— कि देखें, वैराग्य सच्चा है अथवा कच्चा? इन्द्रिएँ वश मे हुई या नहीं? तुम ऐसा करना, आज सब्जी नीरस बनाना, नमक-मिर्च मसाले से सर्वथा रहित, जब भोजन करने आए तो वह सब्जी थाली में रखना, देखना, कि वह कुछ कहती है या नहीं, या मुख पर कोई सिकुड़न नज़र आती है या नहीं। ऐसा ही किया गया किन्तु गुणमाला देवी पूर्व की भांति प्रसन्न मुख से भोजन कर और थाली को धो उस का पानी पी कर अपने कमरे में चली गई। ताऊ जी आए, सर्व वृत्तान्त पूछा, सुना और अत्यन्त

विस्मित हो गए। किन्तु आज्ञा न दी, वह अपने ससुराल आ गईं और श्वसुर की आज्ञा पा कर हाथरस महासती जी की सेवा में संदेश दिया, कि आप आगरा पधार कर मुझे अपनाने की कृपा करें। चरित-नायिका जी आगरा पधारीं और गुणमाला देवी को माघशुक्ला वसंत-पञ्चमी को जैन दीक्षा से सुशोभित किया। आगरा से विहार कर आप देहली पधारीं, और १६८० का चातुर्मास सदर बाजार देहली किया। होश्यारपुर से महासती जी की आज्ञा आई कि चातुर्मास समाप्त होते ही शीघ्र होश्यारपुर पहुँचो। चातुर्मास उठते ही आप डेढ़ मास का लम्बा विहार करते हुए नवदीक्षित गुणमाला देवी को ले कर होश्यारपुर पहुँची। और होश्यारपुर से १५—२० आर्याओं के साथ अमृतसर की ओर विहार कर दिया, जब आप जंडियाला पहुंचे तो गुणमाला देवी का ज्वर हो आया। आप उन्हें और एक दो साध्वियों को जंडियाला ही छोड़ कर अमृतसर पूज्य श्री जी के चरणों में पहुंचे। उधर से समस्त मुनिमंडल भी आचार्य श्री की सेवा में उपस्थित था, पूज्य श्री के चरणों में दोनों ओर से प्रार्थना की गई कि आप पत्री को छोड़ कर परम्परा पक्ष को ही अपनाएँ, किन्तु यह प्रार्थना मान्य न हुई, और आप को १५—२० दिन अमृतसर ही ठहरना पड़ा, जिस समय आप अमृतसर में ही थे कि जंडियाला की एक बाई ने समाचार दिया, कि सती गुणमाला देवी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो रहा है। ज्वर का प्रकोप बढ़ा हुआ है। आप ने सुना और विहार करने का विचार किया, और सर्व साध्वियों ने अमृतसर से विहार कर दिया। आप जंडियाला ही ठहर गए और साथ की साध्वियाँ आगे की ओर विहार कर गईं।

## काल की कुटिलता

सती गुणमाला देवी को राज-यक्ष्मा ने घेर लिया, इसलिए आप का १६८१ का चातुर्मास जंडियाला ही हुआ। अभी संयम लिए पूरे दो वर्ष भी न हुए थे कि गुणमाला जी का जंडियाला में ही मंगसिर शुक्ला-त्रयोदशी को स्वर्गवास हो गया। यह एक होनहार आर्या थीं क्षमा की तो साक्षात् प्रतिमूर्त्ति ही थीं। नाम भी गुणमाला था, और थीं भी गुणों की ही माला। जिन की स्मृति आज भी आप को ताज़ा

थी। होनहार को कोई टालने में समर्थ नहीं है। उन का संयोग आप से इतना ही था। पौने दो साल में ही उन्हों ने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि जंडियाला में उन की शांति की महिमा फैल गई, कि मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय की साध्विएँ उन की शान्ति का समाचार जानने के लिए जैनस्थानक में आई थीं।

सती गुणमाला जी के स्वर्गवास हुए पश्चात् आप ने जंडियाला से विहार कर दिया और जालन्धर, लुधियाना, जीरा आदि क्षेत्रों में विचरण करते हुए फरीदकोट पहुंचे। फरीदकोट में आप का १९८२ का चातुर्मास स्वीकृत हो गया था। आप दो मास पूर्व ही फरीदकोट पधार गए थे कारण कि आप के पास कमला नाम की एक बारह वर्षीया सुशील कन्या थी, और आप उस की दीक्षा फरीदकोट करना चाहते थे। दीक्षा की तिथि, वार, तारीख, महीना सब कुछ निश्चित हो चुका था। दीक्षासमारोह में २७ दिन शेष थे। सम्पूर्ण तैयारी हो चुकी थी। इधर यह सब कुछ हो रहा था, उधर दूसरी ओर कुटिल काल खड़ा हँस रहा था। कौन जानता था कि दीक्षार्थिनी देवी की समस्त आशाएँ धूल में मिल जाएंगी और दीक्षा के पूर्व ही वह इस लोक को छोड़ महा-पथ का अनुसरण करेगी। दीक्षार्थिनी देवी को ज्वर हो आया, समझा, मामूली बुखार है। ठीक हो जाएगा, किन्तु वह ज्वर साधारण ज्वर नहीं था, प्राण-घातक ज्वर था। जो कि दीक्षा के २७ दिन पूर्व ही दीक्षार्थिनी देवी को ले गया ' जहा सर्वत्र चारों ओर आनन्द की लहरें लहरा रही थीं, अब वहीं सर्वत्र शोक छा गया। वैरागन कमला एक भाग्यशालिनी कन्या थी, जो कि आप के इशारों से ही आप की आज्ञा का पालन करती थी। किन्तु निष्ठुर काल को अभी इतने से सन्तोष नहीं हुआ और वह आप की एक शिष्या-रत्न पर और अपनी दृष्टि गड़ाए हुए था। चातुर्मास का प्रारम्भिक मास था, अर्थात् श्रावण का महीना था, उस में श्री सती सुशीला जी का विशूचिका की व्याधि से प्राणान्त हो गया।

पाठक! देखिए, ८ मास में ३-३ सुयोग्य शिष्याओं का, (जो कि एक से एक बढ़ कर थीं) वियोग होना कोई कम विषाद-जनक नहीं है, फिर भी आप की मुद्रा शांत थी, चेहरे पर विषाद नहीं था, मानस में कम्पन नहीं था, आप का धैर्य अटल था। चातुर्माससमाप्ति के बाद

आप ने जंगल देश की ओर विहार कर दिया। आप अनेक क्षेत्रों में में प्रचार करते हुए सरसा पहुंचे, और वहां की जनता को अपनी सुधासिंचित वाणी द्वारा जीवनप्रदान करने लगे। वहां लाला फूसा मल जी की कन्या सौभाग्यवती जी जो छोटी आयु मे ही पति-गृह को छोड़ कर अपने पीहर रहती थीं। जिन का लालन-पालन बड़े प्यार से हुआ था। यदि कोई साध्वी उन के समक्ष दीक्षा का प्रस्ताव रखती थीं: तो वह उस का सीधा उत्तर दे देती थीं कि दीक्षा प्राणी दो कारणों से लेते हैं। एक तो वह जो दुखी हों, जिन के लिए सुख दुराशामात्र हो। या दीक्षा वह लेते हैं, जो वैरागी हों, जिन्हें संसार के प्रति उदासीनता हो, मुझे न तो वैराग्य ही है ना कोई दुख ही है। मेरे भाई-भावज मेरी ओर देख २ कर जीते हैं, यदि आधी रात्रि मे भी मैं कोई काम कहूं तो वह उसे करने को तत्पर हैं। अत: मैं दीक्षा नहीं ले सकती। किन्तु चरितनायिका जी के पावन-उपदेशों से आप को इस संसार से घृणा हो गई और आप वैराग्य के रंग में रंग गई। और आप ने अपने दीक्षा के विचार अपने भाई के सन्मुख रखे। और आज्ञा प्राप्ति का प्रयत्न करने लगीं। किन्तु आज्ञा न मिली।

इधर महासती जी का चातुर्मास भठिंडा माना हुआ था, वह वहाँ से विहार कर गए, और १६८३ का चातुर्मास भठिंडा किया। चातुर्मास के पश्चात् आप रामामंडी होते हुए राणिया पधारे, वहाँ आप के व्याख्यान में मुस्लिम जनता अधिक होती थी। वहाँ आप के व्याख्यानों की प्रसिद्धि बहुत अधिक हुई। वहाँ एक ब्रह्मचारी जी थे, जिन के हृदय मे जैन धर्म-विषयक अनेक आशंकाएँ थीं और वह जैन धर्म को नास्तिक कहते थे। राणिया के श्रावकों ने ब्रह्मचारी जी को कथा में आने का निमन्त्रण दिया। जिस दिन वह आपकी सभा में आए, संयोगवश उसदिन व्याख्यान में वही वर्णन आ रहा था, जो कि ब्रह्मचारी जी के हृदय में शंका बन कर समाया हुआ था। व्याख्यान सुन कर ब्रह्मचारी जी की समस्त आशंकाएँ दूर हो गई। और वह आप को एक देवी के रूप मे देखने लगे। आप कुछ समय रह कर वहाँ से विहार करने लगे, तो वहाँ के श्रावक--श्राविकाएँ भाँति २ के प्रत्या-

ख्यान लेकर अपनी भक्तिभावना प्रदर्शित करने लगे। ब्रह्मचारी जी भी आगे आए और मस्तक झुका कर बोले— महराज ! मुझे जीवन-पर्यन्त क्रोध करने का प्रत्याख्यान करवा दें, आपने बहुत समझाया, किन्तु ब्रह्मचारी जी अटल थे, नियम करा दिया गया। पीछे से मालूम किया गया कि ब्रह्मचारी जी की अनेक कठिन परिक्षाएँ ली गईं, किन्तु उन के मुख पर क्रोध की झलक भी न देखी गई। यह थी आप की वाणी की विचित्रता। महा उग्रस्वभावी ब्रह्मचारी जी का स्वभाव बिल्कुल शांत हो गया, जीवन मे एक परिवर्तन हो गया, जहाँ एक छोटी सी बात से आँखों से चिंगारियां फूट पड़ती थी, वहाँ अब सैकड़ों कुवचन सुन कर भी शांति का, क्षमा का अखण्ड स्रोत बहता था। ब्रह्मचारी जी की आप के चरणों में यह एक अनोखी, अपूर्व भेंट थी और आप राणिया से विहार कर गए। उधर सरसा में श्री सौभाग्यवती जी के वैराग्य को एक वर्ष हो चुका था किन्तु दीक्षा की आज्ञा न मिली और आखीर में उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर दी, 'कि जब तक मुझे संयम लेने की आज्ञा न मिलेगी, तब तक मैं अन्न जल ग्रहण न करूंगी।' उन की इस प्रतिज्ञा का प्रभाव यह हुआ कि उन्हें दीक्षा की स्वीकृति मिल गई। और आप को सरसा पधारने की विनति की गई। १६८३ की माघशुक्ला पूर्णिमा को उन्हें जिनदीक्षा से सुशोभित किया गया। दीक्षा-समारोह आप के पूज्य भ्राता श्री रघुनाथ दास जी की ओर से किया गया,। दीक्षा पर आने वाले भाई बहिनों की संख्या लगभग १० हजार थी।

जिस प्रकार उच्च भावों से संयम ग्रहण किया था; आप आज भी उसी प्रकार संयम का परिपालन कर रही हैं। आपका जीवन तपस्वी जीवन है। और तपस्या के साथ २ सेवा करने में भी बड़ी तत्पर हैं। आप समयज्ञा एवं विचारशीला हैं। आप के प्रवचनों से स्त्रीसमाज विशेष आकर्षित है, और आप ने श्री लज्जावती जी म० के साथ २ शास्त्राध्ययन भी किया है। आपका व श्री लज्जावती जी का धर्मस्नेह बड़ा ही उच्च एवं प्रशंसनीय है। दुनिया की निगाहों में आप की जोड़ी राम लक्ष्मण की जोड़ी है। शासनेश ! आप की जोड़ी अमर रहे।

यही हार्दिक भावना है।

श्री सौभाग्यवती जी की दीक्षा के अनन्तर आप ने सरसा से विहार किया, और १६८४ का चातुर्मास जीरा किया। १६८५ का चातुर्मास जम्मू हुआ, १६८६ का गुजरांवाला में, व १६८७ का चातुर्मास रावलपिंडी हुआ। इन चातुर्मासों में बड़ी रौनक रही, और आप के व्याख्यानों की धूम सर्वत्र व्याप्त हो गई। रावलपिंडी से आप फिर जम्मू पधारीं। वहाँ आप ने फरीदकोट में विराजिता महासती श्री राजमती जी के अस्वस्थ होने के समाचार सुने, कि महासती जी अतिसार की व्याधि से पीड़ित हैं, दिन रात में ६०-७० दस्त आते हैं और उन्हों ने व्याधि को असाध्य जान कर अनशन करने का विचार कर लिया है। आप ने यह सुना और जम्मू से फरीदकोट की ओर विहार कर दिया। और सतत विहार करते हुए १४ दिवस में आप जम्मू से फरीदकोट पधार गए। इस विहार में आप को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा, उन्हें लिखते लेखनी काँप उठती है। आपके चरण-सरोजों की जो अवस्था हुई, उसे देख कर हृदय एक बारगी चीत्कार कर उठता था, कि इन पैरों द्वारा किस प्रकार इतनी लम्बी यात्रा की गई ? किन्तु उस समय आपने संसार के सम्मुख आदर्श गुरुभक्ति का जो ज्वलन्त उदाहरण पेश किया, वह इतिहास के पृष्ठों पर चिरकाल तक अमिट रहेगा। आते ही आप महासती जी की सेवा-शुश्रूषा में लग गए। आप नाड़ीविज्ञान की ज्ञाता थीं, आप ने महासती जी के पैरों की किसी एक नस को इस प्रकार दबाया, कि उन की व्याधि का इस प्रकार अन्त हो गया, जैसे कभी कोई तकलीफ़ थी ही नहीं। जब वह कुछ स्वस्थ हुई तो श्री पन्नादेवी जी, श्री ईशरादेवी जी, और आप इत्यादि १४-१५ साध्वियाँ उन्हें डोली में लेकर जालंधर पधारीं। आप ने १६८८ का चातुर्मास जालंधर महासती श्री प्रवर्तिनी जी की सेवा में ही व्यतीत किया। संवत् १६८६ का चातुर्मास जीरा में, १६६० का जम्मू में किया, जम्मू से विहार करके आप स्यालकोट पहुँचे। आप के स्यालकोट जाने से पूर्व वहाँ के जैन उपाश्रय में श्री मुनि जी महाराज का व्याख्यान हुआ करता था, किन्तु उन के व्याख्यान से

जैन-जनता ही लाभ उठाती थी, अजैन जनता को जैन उपाश्रय में आकर धर्मश्रवण की रुचि न थी। लेकिन महासती जी के पधारने पर उन के जैनधर्म के तत्त्वों से परिपूर्ण व्याख्यानों के श्रवण करने पर धर्मप्रेमी ला० खजाञ्ची राम जी लोढ़ा के हृदय में विचार पैदा हुए, कि अजैन जनता, जो कि जैन धर्म को नास्तिक कहती है और एक अर्वाचीन धर्म समझती है। उस को महासती जी के उपदेश सुनाने का अवसर प्रदान करना चाहिए, जिस से उनके हृदय में रही हुई जैन धर्म के प्रति निर्मूल आशंकाएँ दूर हो जाएँ। उन्होंने काफी प्रयत्न करके अजैन प्रमुख व्यक्तियों को आप के व्याख्यानों में आने के लिए प्रेरणा की, फलस्वरूप एक दो व्यक्ति व्याख्यान श्रवणार्थ आए। व्याख्यान सुन कर आप की वाक्शैली की प्रशंसा अपनी मित्रमण्डली में करने लगे, फिर क्या था, व्याख्यान में जैन जनता से भी अधिक अजैन भाई आने लगे। स्यालकोट शहर व स्यालकोट छावनी के प्रमुख व्यक्ति, आर्यसमाजी, सनातनधर्मावलम्बी, सिक्ख व मुस्लिम आदि सभी सम्प्रदायों के लोग आप के व्याख्यान में सम्मिलित होने लगे। जैन उपाश्रय का विशाल हाल भी छोटा प्रतीत होने लगा। आप ने वहाँ बीस व्याख्यान दिए. किन्तु उन बीस व्याख्यानों से ही वह क्रांति पैदा की, कि जो लोग जैनधर्म को नास्तिक मानते थे आस्तिक मानने लग गए। आप के दरबार में धनी, निर्धन, विद्वान्, मूर्ख, ऊँच और नीच के लिए समान अधिकार था, किसी के प्रति किसी प्रकार का भेदभाव न था। यही कारण था कि बड़े से बड़ा व्यक्ति और छोटी से छोटी जाति का व्यक्ति भी अपने आप को आप का चरण-सेवक समझता था। आप के व्याख्यानों में प्रतिभा-प्रकर्ष का जो चमत्कार था, उस को उपमित करने के लिए बस इतना ही कहा जा सकता है, कि वह अपनी उपमा आप ही था। जैन धर्म को नास्तिक मानने वाले व्यक्तियो में ये दो-तीन व्यक्ति प्रमुख थे। श्री मास्टर जगन्नाथ जी हैडमास्टर, हिन्दू हाई स्कूल, श्री ज्योतिराम जी सैकेण्ड मास्टर, गवर्नमेंट हाई स्कूल, और सरदार भागसिंह जी वाइस प्रेजीडेण्ट सिंहसभा स्यालकोट, थे। ये तीनों महानुभाव बड़े विद्वान् थे, और जैन को ईश्वर न मानने वाला

कट्टर नास्तिक मानते थे। जिस दिन ये आपकी व्याख्यानसभा में आए, उस दिन सौभाग्य से आपका प्रवचन 'जैन ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार मानता है ? इस विषय पर ही था। इस भाषण का प्रभाव इन तीनों व्यक्तियों पर ऐसा पड़ा, कि ये स्वयं कहने लगे-'उफ ! ओह !! हम बड़ी भूल में थे। जो जैनधर्म को नास्तिक कहते थे, ये तो हमसे भी बढ़ कर ईश्वरभक्तिप्रधान धर्म है', और वह उस दिन से जैनधर्म को पक्का आस्तिक धर्म मानने लग गए और आप के अनन्य भक्त बन गए। उन का सम्पूर्ण परिवार तथा और सैकड़ों लोग उन के सहयोग से आप के व्याख्यानों से लाभ उठाने लगे, आने वाले व्यक्तियों में श्री सुन्दरलाल जी अरोड़ा और भक्त बुग्गा राम जी विशेष उल्लेखनीय हैं, जो कि बाद में पंजाब की सभी जैन बिरादरियों से पूर्ण परिचित हो गए।

ला० सुन्दर दास जी स्यालकोट में अपनी अरोड़ा बिरादरी के प्रमुख चौधरी थे। उन्होंने आप के व्याख्यानश्रवण के बाद जैनधर्म को अंगीकार कर लिया। और सैकड़ों व्यक्तियों से मांस, शराब आदि छुड़वा कर शुभ कर्मों का उपार्जन किया। तथा समय २ पर सहस्रों रुपये जैनसंस्था को दान के रूप में दिए। और जैनधर्म के पूर्ण अनुयायी बन गए। उन के मित्र बुग्गामल जी भी, जो कि अपनी बिरादरी के ५०० घरों के प्रमुख व्यक्ति थे। उन्होंने भी महासती जी के व्याख्यानों से प्रभावित हो कर मांसाहार का सर्वथा त्याग कर दिया। इन की बिरादरी में एक खास कुप्रथा प्रचलित थी, कि लड़के अथवा लड़की की शादी पर सर्व प्रथम देवी के नाम पर बकरे की बलि देकर उस के रक्त से वर-वधू के मस्तक पर टीका लगाया जाता था। किन्तु आप के सदुपदेशामृत का पान कर के इन के कुल में होने वाले बलिदान का सर्वथा परित्याग हो गया। और मांसाहारी के बदले शाकाहारी बन गए, बल्कि भक्त भुग्गा राम जी ने तो यहां तक कर लिया कि उन्हें यदि पता लगता, कि अमुक जगह मांस का उपयोग होता है तो वह वहां जाने के विचार ही स्थगित कर देते और इन के ५०० घर भी मांसाहार से विमुख हो गए। और स्वयं बुग्गा राम जी तो एक बड़े से बड़े जैन

कहलाने वाले व्यक्ति से भी ऊपर का स्थान रखते हैं। दोनों समय सामायिक, संवर, व्रत पौषध आदि इन के जीवन का अंग बन गया है। और आजकल ये और इन के परिवार के कुछ लोग जालंधर रहते हैं, वे नित्य प्रति जैन उपाश्रय में आकर प्रवर्तिनी श्री राजमती जी का दर्शन करते हैं एवं व्याख्यान सुनते हैं। और जैनधर्म पर अटूट श्रद्धा रखते हैं। आपका एक व्याख्यान आर्य-समाज के विशाल हाल में भी हुआ था, जिस में सभी वर्णों के तथा सभी सम्प्रदायों के लोग उपस्थित हुए थे। इस प्रकार आप ने अनेक भव्य आत्माओं को अपने सदुपदेशों से चारित्रशील बना कर मोक्षपथ का पथिक बनाया। एवं अनेक अनात्मवादी नास्तिकों को, आत्मवादी आस्तिक बनाया। अनेक प्राणियों को हिंसक वृत्ति से हटाकर अहिंसक बनाया। और मिथ्यात्व-अन्धकार में पड़े हुए प्राणियों को अपने दिव्य ज्ञान के आलोक से आलोकित किया।

इस प्रकार जैनधर्म की विजयपताका फहराते हुए आप लाहौर पधारे और १९९१ का चातुर्मास वहीं पर किया। १९९२ का चातुर्मास मालेर कोटला में माना हुआ था, और आप मालेरकोटला जाने की तैयारी कर रहे थे, कि मालेर कोटला के मुख्य २ भाई आप की सेवा में लुध्याना उपस्थित हुए और अर्ज करने लगे—कि महाराज! यह हमारे मन्दभाग्य हैं कि मालेरकोटला में आप का चातुर्मास जो होना था उसे रोकने आए हैं। क्योंकि वहाँ पर हिन्दु-मुस्लिम दंगा बहुत बढ़ा हुआ है। इस लिए आप मालेरकोटला पधारने का कष्ट न करें। आप और कहीं चौमासा करने की सोचने लगे कि श्री वर्तमान जैनाचार्य जी महाराज, जोकि उस समय उपाध्यायपदवी पर सुशोभित थे, ने फरमाया—सती जी यह चातुर्मास आप यहीं करें, क्योंकि वैसे तो आप किसी साधु मुनिराज के पास चातुर्मास करती नहीं हैं, अब स्वयं ही भाग्य से ऐसा अवसर उपस्थित है, और आप के साथ की छोटी साध्वियें भी कुछ ज्ञानाभ्यास करके लाभ उठा सकेंगी। तब आप ने प्रधानाचार्य जी की आज्ञा को शिरोधार्य करके तथा भाईयों की विनति को स्वीकार कर के १९९२ का चातुर्मास लुध्याना किया। वह चातुर्मास

अन्य चातुर्मासों से अधिक महत्त्वशाली था, क्योंकि इस में आचार्य श्री जी की कृपादृष्टि विशेष थी। इस चातुर्मास में ही जीरानिवासी ला० मुन्शी राम जी अर्ज़ीनिवीस की कन्या अभय कुमारी जी आप की सेवा में आईं।

संवत् १९६३ का चातुर्मास आप ने देहली में किया और ला० मुन्शी राम जी की कन्या अभय कुमारी को इसी चातुर्मास में आश्विन शुक्ला सप्तमी को जिनदीक्षा से दीक्षित किया। अभयकुमारी जी का वैराग्य भी प्रशंसनीय है। जिस समय इन्हों ने माता पिता की सेवा में दीक्षा लेने के विचार रखे तो माता पिता ने कहा— संयम लेने से पूर्व साधना करो, यह सुन कर अभय कुमारी जी ने दो वर्ष तक पूर्ण साधना की, यहाँ तक कि आप के भाई की मृत्यु होने पर भी आप ऊपर से नीचे नहीं उतरीं, आप को कहा गया, भाई का आखिरी वार मुख देख लो ? आप ने कहा—जब मैं सांसारिक नातों को तोड़ चुकी हूँ तो फिर मोह किस से ? आप के इस वैराग्य को देख कर माता पिता ने १६ वर्ष की आयु में आप को दीक्षा दिलवादी। और आप दीक्षा लेकर ज्ञान ध्यान में संलग्न हो गईं। इधर अभय कुमारी जी की दीक्षा हुई, उधर आप की छोटी शिष्या श्री धनदेवी जी म० को भीषण व्याधि ने आ घेरा, और उन का माघ मास में देहली में स्वर्गवास हो गया। ये आप की तीसरी शिष्या थीं, तीनों शिष्याओं का वियोग होना क्या कम दुःख की बात है ? और शिष्याएं भी वह, जो एक से एक बढ़कर थीं। तीनों ही विनयशील, क्षमाशील, आप की आज्ञा-कारिणी थीं, आप के पादपद्मों के नीचे अपना शीश रखने को हर समय कटिबद्ध रहती थीं। किन्तु कालकुठार ने क्रमशः तीनों को ही अपना भोजन बना लिया। फिर भी आपकी आंखों में एक विन्दु भी न देखी गई। और आपके मुख पर वही अटल गम्भीरता देखी गई। आप ने देहली से विहार कर दिया, और इधर उधर यमुनापार के क्षेत्रों में विचरण करते हुए १९६४ का चातुर्मास बड़ोत में श्री लज्जा-वती जी म० के सांसारिक भाई मुनि श्री हज़ारी लाल जी महाराज

की सेवा में किया ।

चातुर्मास के पश्चात् आप देहली पधारे, वहाँ पर संवत् १६६५ की वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को आप ने गुजरांवालानिवासी ला० कर्मचन्द जी की सुपुत्री सीतादेवी को ११ वर्ष की आयु में दीक्षित किया। ये आप के पास ७ वर्ष की आयु में ही आ गई थीं। इन की माता ने आपके सदुपदेशों से प्रभावित हो कर इस कन्यारत्न को आप की सेवा में भेंट किया था और १६६५ का चातुर्मास आप का देहली हुआ। देहली चातुर्मास के बाद १६६६ का चातुर्मास कपूरथला में हुआ। १६६७ का चातुर्मास आगरा में हुआ। आगरा चातुर्मास के बाद विहार करते हुए आप गुड़गांव पधारे, वहां जैनधर्म का रंग नवीन ही लगा था, आपने वहां जाकर उसे अपने मधुर प्रवचनों द्वारा दृढ़ किया। आप के त्यागमय तथा तपस्वी जीवन को देखकर एक दिगम्बर बहिन ने आप को अपनी कन्या देने का वचन दिया और आप के देहली आने पर आप के पास छोड़ गई। और १६६८ का चातुर्मास देहली हुआ। इस चातुर्मास में एक विशेष घटना घटित हुई, जिससे आपके धैर्य का परिचय मिलता है। जिस मकान में आप ठहरे हुए थे, उस मकान में पहली मंजिल पर दो गृहस्थ परिवार रहते थे, और नीचे की सतह पर दो दुकानें थीं। एक दुकान नाई की थी, एक घीविक्रेता की। संध्या का समय था, आप प्रतिक्रमण कर रहे थे, अकस्मात् नाई की दुकान में आग लग जाने से गली में शोर होने लगा। अग्नि की ज्वालाएं आकाश को स्पर्श करने का प्रयत्न कर रहीं थीं, और वह उग्ररूप धारण कर रहीं थीं। ऐसे समय में साथ की साध्विए तथा जिन बहिनों ने सामायिक की हुई थी, भयाक्रांत होने लगीं, किन्तु आप अविचल भाव से प्रतिक्रमण की क्रिया करते रहे। आप को शांत देख सब प्रार्थना करने लगे--महराज! अब कैसे होगा? नीचे भी नहीं जा सकते क्योंकि द्वार के साथ ही नाई की दुकान है और उसी में अग्नि लगी हुई है। आप सब को विचलित देख कर खड़े हुए और नीचे की ओर एक दृष्टि डाली आश्चर्य कि आप की दृष्टि डालने की देर थी, अग्नि जहां की तहां शांत हो गई। आज भी उस दृश्य को देखने वाले आप के प्रति श्रद्धा

में नतमस्तक हो जाते हैं।' नीचे अग्नि लग रही हो, सब कुछ अग्नि के अर्पण हो रहा हो, ऐसे समय में इतना धैर्य। वस्तुतः धैर्य की चरम-सीमा थी। सत्य है, हिमालय की चट्टान आँधी के अंधड़ झोंकों से कभी हिल नहीं सकती। उसी चातुर्मास में श्री सौभाग्यवती जी म० के पैर में ठंडा फोड़ा हो गया, जिस के कारण उन्हें भीषण व्याधि का सामना करना पड़ा, चार मास तक तो अन्न बिल्कुल बन्द रहा, और पैर में असह्य वेदना होने की वजह से चल फिर भी नहीं सकती थीं, इसलिए चातुर्मास के पश्चात भी आप को वहां ही ठहरना पड़ा। और इधर रोहतक से श्री हीरादेवी जी, श्री विद्यावती जी, श्री प्रेमकुमारी जी ठाणा ३ से देहली पधार रहीं थीं, रास्ते में तांगा की टक्कर से श्री विद्यावती जी गिर गए और उन के दोनों पैरों की हड्डियां टूट गईं, उन्हें देहली लाया गया। जब वो देहली आईं तो उनकी परिचर्या का समस्त भार आप के कन्धों पर आ पड़ा और आप को वहीं ठहरना पड़ा। आप ने विद्यावती जी की सेवा बड़ी तत्परता से की। हड्डियां जुड़ने पर आप उन के पैरों की दो तीन घण्टे लगातार प्रतिदिन मालिश करते। आप की इस हार्दिक सेवा का यह परिणाम निकला कि विद्यावती जी चलने फिरने में समर्थ हो गईं। आप का सेवाभाव बड़ा ही प्रशंसनीय था और उन्हीं के कारण १६६६ का चातुर्मास भी देहली ही किया। और सम्वत् १६६६ की आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को रोड़ी निवासी ला० तिलकचन्द जी की सुपुत्री शान्ति देवी की दीक्षा दी। और उन्हीं दिनों देहली में माणकचन्द जी जौहरी के सुपुत्र कपूरचन्द जी की कन्या कौशल्या देवी को वैराग्य का रंग चढ़ा। और उन्हें संसार के प्रति गहरी उदासीनता हो गई, उन्होंने दीक्षा का प्रस्ताव अपनी माता के सामने रखा। माता ने, भ्राता ने, बाबा जी ने और समस्त परिवार ने बहुत समझाया, संयम मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए सांसारिक ऐश्वर्य को उनके सम्मुख रखा और कहा- 'घर में तो पानी का गिलास स्वयं भर कर नहीं पी सकती, और संयम लेकर तो पानी की जोड़ें लानी पड़ेगी, वो तुम कैसे उठा सकोगी ?, संयम मार्ग पर चलना आसान नहीं है।' तो उन्हों ने उत्तर दिया कि—आत्मा में

वल हो तो वड़े २ पर्वत उखाड़े जा सकते है। शारीरिक वल से तो तुम्हीं सोचो, यदि मेरी शादी करते तो गृहस्थी का वोझ कैसे उठा सकती। फिर संयम मार्ग में इतनी कठिनाइएँ ही नहीं, जितनी कि गृहस्थाश्रम में हैं। आप मुझे आज्ञा दीजिए, और वह आज्ञा लेने के लिए आग्रह करती रहीं, अन्त मे उन की विजय हुई और आज्ञा मिल गई। १६६६ की आश्विन शुक्ला ७ को उन्हों ने अपना जीवन श्रीगुरुणी जी के चरण-सरोजो में अर्पित कर दिया। यह चातुर्मास पूर्ण कर आपने देहली से विहार कर दिया और हाँसी हिसार सरसा आदि जङ्गल देश का पावन वनाते हुए आपने संवत् २००० का चातुर्मास फरीदकोट किया। सं० २००१ का जालन्धर में महासती श्री राजमती जी की सेवा में किया। यहां आप के जीवन की विनीतता का अध्ययन स्वयं मेरी आंखों ने किया है। जिस समय आप जालन्धर मे पधारीं, इस समय तक काफी वृद्ध हो चुकीं थीं और आपका संयमी जीवन भी प्राचीन था फिर भी आप महासती जी के सामने ऊंचे आसन पर आसीन नहीं हुए, आप पट्टे पर अवश्य वैठते थे, किन्तु वह पट्टा नाम का ही पट्टा होता था, अर्थात् दो अंगुल पृथ्वी से ऊंचे पट्टे पर वैठते थे। और महासती जी के सम्मुख विना उन की आज्ञा के कभी किसी पुरुप से नहीं वोलते थे। यह थी आप की नम्रता, शालीनता। इसी के प्रभाव से आप जैन समाज की जान वनीं, शान वनीं, आन वनीं। तभी जैन समाज आप से इतना प्रभावित एवं आकर्पित था। यह सव आप की विनयशीलता का उज्ज्वल आदर्श था।

## आचार्यश्री के चरणों में

जालन्धर चातुर्मास के पश्चात् आपका विचार जम्मू जाने का था, क्योंकि जम्मू श्रीसंघ की आप के चरणों में विनति थी, कि आप जम्मू में ही स्थानपति हों, और आप ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की स्पर्शना वता कर जम्मू की विनति स्वीकार की। जम्मू जाने से पूर्व आप के हृदय मे प्रधानाचार्य जी के दर्शनों की प्रवल उत्कण्ठा पैदा हुई, और आपनें लुध्याने की ओर विहार कर दिया। फगवाड़ा, वंगिया,

नवां शहर होते हुए आप पधार रहे थे कि नवां शहर से फलौर आते हुए आप को कमर में कुछ पीड़ा अनुभव होने लगी, और आप बहुत मुश्किल से लुध्याना पहुंच सके। लुध्याना पहुंच कर आपने वर्तमान प्रधानाचार्य जी के दर्शन कर नेत्र सफल किए, और २००२ का चातुर्मास लुध्याना किया। वर्तमान प्रधानाचार्य जी उस समय उपाध्याय पद पर सुशोभित थे, आप ने आचार्य श्री के पादपद्मों में विनीत प्रार्थना की, 'मैं अपनी शिष्याएं श्री लज्जावती जी व श्री सौभाग्यवती जी को कुछ शास्त्रों का अध्ययन करवाना चाहती हूँ।' आचार्य श्री ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की, और साध्वी श्री लज्जावती जी व श्री सौभाग्यवती जी आचार्य श्री जी के पुनीत चरणों में शास्त्रों का अध्ययन करने लगीं। सानन्द चातुर्मास व्यतीत हुआ। आप ने विहार की योजना बनाई, किन्तु शरीर की अशक्तता के कारण विहार न कर सके और लुध्याना ही स्थित रहे। और यहीं पर श्री अभय कुमारी जी की छोटी बहिन श्री सावित्री देवी जी आप की सेवा में बड़े त्याग वैराग्य से उपस्थित हुईं। इन की माता ने इन की ३ स्थान पर सगाई की, किन्तु इन्हों ने उन रिश्तों को ठुकरा कर संयम धारण की इच्छा प्रगट की। और विक्रम संवत् २००३ में चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को आपने दीक्षा देने का निश्चय किया। वीरजयन्ती का शुभ दिवस इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है। उस दिन, जैनजाति के २४ वें धर्मावतार, अहिंसा की मूर्ति, श्रमण भगवान् महावीर ने विश्वकल्याणार्थ त्रिशला माता की कुक्षि से जन्म धारण किया था। उसी रोज़ श्री सावित्री देवी जी को जिनदीक्षा दी गई। पाठकों को याद रहे, उसी पावन दिवस को हमारे प्रधानाचार्य जी को उपाध्याय पदवी से आचार्य पदवी की चादर द्वारा अलंकृत किया गया था। यहां प्रसंगोपात्त यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आचार्य पदवी के शुभ उत्सव पर लुध्याना शहर में जो रौनक हुई, और देश देशान्तरों से आई हुई जनता ने इस समारोह पर जो अपूर्व उत्साह प्रदर्शित किया, वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

संवत् २००३ का व संवत् २००४ का चातुर्मास भी आपका

लुध्याना ही हुआ। चातुर्मास के पश्चात् पौष शुक्ला एकादशी के दिन मुझे (महेन्द्रा कुमारी) संसार-तारिणी, जिनदीक्षा दे कर कृतार्थ किया और संवत् २००५ की वैशाख शुक्ला ३ को जीरा निवासी ला० मुन्शी-राम जी के सुपुत्र खैरायती लाल जी की सुपुत्री श्री पद्मा देवी को आर्हती-दीक्षा से सुशोभित किया।

श्री पद्मादेवी के उत्कृष्ट वैराग्य की प्रशंसा किन शब्दों में करूं? उनका वैराग्य इतना उच्च एवं निर्मल था, कि आज के युग में कोई कोई उन के वैराग्य की समानता कर सकता है। उन की माता जी उन्हें संसार की बेड़ियों से जकड़ना चाहती थीं, और वह मुक्त पक्षी की भांति बन्धनों को देख कर दूर भागती थीं। माता ने सगाई कर दी। पद्मादेवी ने विनय की, प्रार्थना की, कि माता मैं शादी कदापि न कराऊंगी।' किन्तु माता ने शादी का प्रबन्ध कर ही दिया, शादी में ८ दिन शेष थे। माता खुशियें मना रहीं थीं कि मुक्त पक्षी अब मेरे बन्धन से आजाद नहीं हो सकता, किन्तु भाग्य कुछ और ही सोच रहा था। उन्हों ने परिवार की अभिलाषाओं पर एक दम पानी फेर दिया। और अपनी सुन्दर कुन्तलराशि (बालों) को कैंची द्वारा स्वयं ही कतर डाला। इस उत्कृष्टता को देख कर उन के पारिवारिक-जनों ने उन को महासती जी की सेवा मे भेज दिया। और वह दीक्षा धारण कर अपने को परम सौभाग्य-शालिनी मानने लगीं। संवत् २००५ का चातुर्मास भी लुध्याना में ही था। चातुर्मास मे नवदीक्षिता देवी पद्मा को टी०बी० की भीषण व्याधि ने आ घेरा, उन का २००६ चैत्र शुक्ला ५ को स्वर्ग-वास हो गया। एक वर्ष भी पूर्ण संयमवृत्ति मे न रह सकीं। जिन आशाओं से संयम ग्रहण किया था, वे आशाएं मन ही मन में ले गईं। काल की कठोरता के आगे किसी की पेश न चली।

संवत २००६ का एवं २००७ का चातुर्मास भी लुध्याना ही था चातुर्मास से पूर्व आप को एक बार रक्त की वमन हुई। रक्त भी हद से ज्यादा गया, जिस के कारण आपक स्वास्थ्य बहुत क्षीण हो गया। फिर भी आपने अपनी हिम्मत नहीं छोड़ी, और आप सारा दिन बैठे रहते। आप की आँखों में मोतियाबिन्द था, इधर आचार्य श्री के भी

मोतियाबिन्द हो रहा था। उन की आँखों का आप्रेशन होना था, साथ ही आप की दाहिनी आँख का ऑप्रेशन डा० के.एल. पाठक ने डा० प्रेमचन्द जी की उपस्थिति में किया। आप नहीं चाहते थे, कि मुझे पिछली अवस्था में कोई दोष लगे। किन्तु शिष्याओं की आग्रहभरी अनुनय-विनय से, तथा संयमसाधना को दृष्टि-गोचर रखते हुए, आपने आँखें बनवानी स्वीकृत कीं। ऑप्रेशन हो गया, किन्तु आप के स्वास्थ्य को देख कर शिष्या-समुदाय को यह चिन्ता थी, कि आँख ठीक रहे, उसे कोई चृति न पहुंचे, क्योंकि आप को पल पल पर छींक तथा खाँसी आती थी, किन्तु शासनेश की कृपा से आँख बिल्कुल ठीक बन गई।

सं० २००८ में आप को एक बार फिर खून की कै हुई, जिस में दिन भर में ३ बार उल्टी आई। रक्त बहुत ज्यादा गया, शरीर बिल्कुल अशक्त हो गया। फिर भी आपका साहस अटूट था, आपकी मुखमुद्रा शांत थी। आप का धैर्य अविचल था। आप में मानसिक-विषाद का नामो निशान नहीं था, ऐसी परिस्थिति में आप की चिकित्सा सुप्रसिद्ध वैद्य अनन्त राम जी के सुपुत्र हंसराज जी ने की। जिस निःस्वार्थ भाव से उन्हों ने आप की सेवा की, वह मेरी लेखनी के बाहिर की वस्तु है। उनकी भक्ति-भावना अगाध थी। यह उन्हीं की औषधि का प्रभाव था कि आप इस भीषण व्याधि के चंगुल से बाल २ बच गए। और २००८ का चातुर्मास भी सानन्द सम्पूर्ण हुआ।

## जीवन की संध्या

संवत २००८ का अवसान और सं० २००९ का नव वर्ष प्रारम्भ हो चुका था। हम सब आप के मृदुल साये में सानन्द अपना धार्मिक जीवन यापन कर रहे थे, किन्तु कौन जानता था कि हमारा यह सौभाग्य, दुर्भाग्य में परिणत होने वाला है? किसे विदित था कि कुटिल काल की आँखें हमारी अमूल्य निधि पर गड़ी हुई हैं? २५ अप्रैल १९५२ का अशुभ दिन आया और आप पट्टे पर विराजते हुए गिर पड़े। गिरने से आप के दाहिने चूले की हड्डी टूट गई। और असह्य वेदना होने लगी। X-rays करवाए गए, और उन्हीं के अनुसार हड्डी चढ़वाई गई, किन्तु हड्डी न चढ़ सकी, और टेढ़ी ही जुड़ गई। इधर

चिर-निद्रा मे
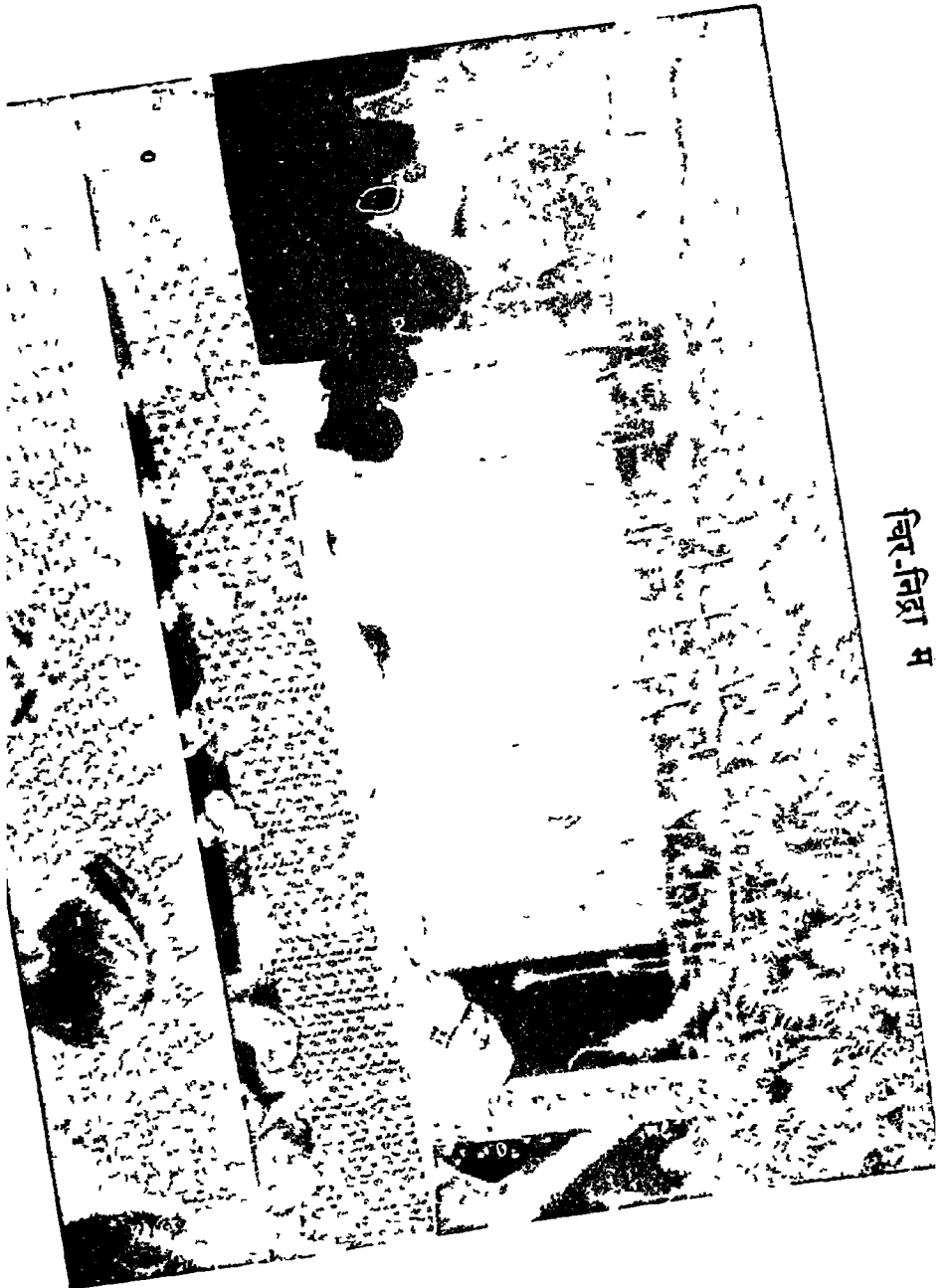
ग्रीष्म ऋतु अपने यौवन पर थी, और इधर वेदना भी बढ़ती जा रही थी। रात्रि को आप को ज्वर हो जाता था और साथ ही प्यास भी अपना अड्डा आकर जमा लेती थी, ऐसी भीषण व्याधि की संकटकालीन अवस्था में भी आप के मुख से हाय न सुनी गई। आप अपनी वेदना को बड़ी धीरता से सहन करते थे। और जहां तक होता था, सब को सान्त्वना देते रहते कि 'देखो! घबराना नहीं, मैं ठीक हूँ। दुख-सुख, आपत्ति-विपत्ति, रोग-शोक सब शरीर के भोग हैं, प्राणिमात्र को पूर्वकृत कर्मों को भोगना ही पड़ता है। इस में खेद की क्या बात है। और फिर मेरी वृद्धावस्था है ही, मृत्यु का कोई न कोई बहाना होता ही है। 'हीले रिजक, बहाने मौत' यह कहावत सब पर ही चरितार्थ होती है।' इस प्रकार उत्कट वेदना को सम भावों से सहन कर रहे थे, आप के मुख से कभी 'हाय' न निकली। यह आप की साहसिकता का ज्वलन्त उदाहरण आज भी हमारे सामने है।

इस भीषण संकटकाल में मुनिकुलकिरीट, विश्ववन्द्य, भारतभूषण, परम मनस्वी, परम यशस्वी, परम तपस्वी, वादिगजपञ्चानन, जैनधर्मोद्धारक, कलुकाले ब्रह्मावतार, जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, अखिलभारतीय श्री संघ के हृदय-सम्राट्, प्रधानाचार्य श्री १००८ श्री श्री श्री श्री श्री आत्मा राम जी महराज की आप पर व हम पर जो असीम कृपादृष्टि रही है, उस का वर्णन करने में लेखनी असमर्थता प्रगट करती है। और मुनि श्री अनेकगुणगणालंकृत, पण्डितरत्न श्री १००८ श्री हेम चन्द्र जी म०, व मधुरव्याख्याता मुनि श्री ज्ञानचन्द जी महाराज का अपूर्व सहयोग पाकर हम कृतकृत्य थे। वैसे तो सभी मुनिराजों की बड़ी कृपा थी, किन्तु उपर्युक्त दो मुनिराजों का सेवाभाव तो महान् उच्च एवं प्रशंसनीय रहा है।

## चिरनिद्रा में

'लेखनी तू अपना कर्तव्य निभाने में शिथिलता क्यों प्रगट कर रही है, जो तेरा कर्तव्य है, तुझे निभाना ही पड़ेगा।' अरे हृदय! तुझे भी पाषाण होना होगा, तभी तू कुछ लिखने में समर्थ हो सकेगा।

किन्तु यह क्या ? सब ठीक हो गया. किन्तु हाथ थर्राने लग गये, लेखनी कॉपने लग गई, आँखों में सावन की घटाएँ उमड़ आईं। हा ! जीवन के जिस विशाल-चित्र का प्रारम्भ बड़े उत्साह और उमंग में भर कर किया था, वह उत्साह छिन्न-भिन्न हो गया, उमंग भंग हो गई। अब उस जीवन-चित्र के अन्त का भयंकर चित्र भी अंकित करना पड़ेगा। हा दैव ! यह क्या हुआ ?

कर्तव्य का शिखर कितना दुर्गम है। जब उस पर चढ़ना शुरू कर दिया तो उसे पार भी करना ही पड़ेगा। चाहे दिल से, चाहे बेदिल से, चाहे स्वतन्त्रता से, चाहे पराधीनता की लोह-शृङ्खलाओं में जकड़ा जा कर, चाहे हँसते हुए, चाहे नैनों के अमूल्य मोतियों को लुटाते हुए। इसी प्रकार जो मेरा कर्तव्य है उसे पूरा करना ही होगा। हृदय लेखनी का साथ देने में असमर्थ है। लेखनी हृदय के दुःख-सागर को अंकित करने में भय खाती है, मन कुछ कहता है, लेखनी कुछ लिखती है। हृदय फट रहा है, लेखनी लिखने से इन्कार कर रही है। किन्तु एक मैं हूं जो लिखे ही जा रही हूँ।

चातुर्मास प्रारम्भ हो चुका था और आप हमें वारम्वार चुनौति दे रहीं थीं। कि आज कण्टकाकीर्ण युग पग २ पर संभल कर चलने का युग है। संयम-पथ के पथिक को मार्ग की भीषण यातनाओं का सामना करना होता है। किन्तु उन कठिनाइयों के आने पर अविचल रूप से अपने पथ पर बढ़े जाना सफलता की निश्रेणी है। और भी इसी प्रकार अपनी मधुर शिक्षाओं द्वारा हमें सर्व प्रिय बनने के उपाय बताते रहते थे।

आपने १५ दिन पूर्व ही बतला दिया था कि मेरे जीवन की घड़ियां कुछ ही दिनों में समाप्त होने वाली हैं, और मृत्यु के ५ दिन पूर्व आपने अपने जीवन की समस्त आलोचना करके प्रायश्चित्त लिया। और सर्व शिष्याओं को बुला कर सस्नेह आशीर्वाद देते हुए क्षमा-याचना करी। और कहा—'कि यदि मेरे इस दीर्घ-कालीन जीवन के सम्पर्क से तुम्हारी आत्मा को किसी भी प्रकार का क्लेश पहुंचा हो। कोई कटु वचन मेरे मुख से निकल कर तुम्हारे हृदय को दुःखद प्रतीत

हुआ हो । अथवा कभी किसी प्रकार की सामान्य या विशेष शिक्षा देते हुए, किसी को कुछ दुःखानुभूति हुई हो, तो उस के लिए मैं सर्व आर्याओं से अपने अन्तःकरण से क्षमा-प्रार्थना करती हूँ । आप सब मुझे क्षमा करें ।

'गुरुनी जी ! आप क्या फरमा रहे हैं ? समाज को आप की बड़ी आवश्यकता है और क्षमा-याचना हम ने आपसे करनी है, अथवा आपने हम से ?' और हम ने भी रोते २ गुरुनी जी से क्षमा याचना करी । गुरुनी आप हमें क्षमा करें । हम अविनीत हैं । हम ने न मालूम आप की आत्मा को कितने कष्ट दिये हैं ? आप की अनमोल शिक्षाओं का किस प्रकार अनादर किया है ? हमें अब उन का पश्चाताप है । आप क्षमाशील हैं, क्षमा करें ।

आप ने कहा—जिस ने जाना है, वह अवश्य जाएगा, उसे कोई रोक नहीं सकता, इस में खेद की क्या आवश्यकता है ?

'गुरुनी जी ! आप की बात ठीक है । किन्तु आप के अभाव में हमारी जीर्ण-शीर्ण नौका का कौन सञ्चालक होगा ?, यह भी तो बताइए ? बिना मांझी के नौका का भविष्य अंधकारमय होता है ।

आप ने कहा—मनुष्य का भाग्य उस के साथ है, कोई किसी का साथी नहीं । मनुष्य स्वयं अपना सञ्चालक है ।

इस प्रकार ये बातें बुधवार तक हुईं और बृहस्पतिवार को आपने २४ घण्टों की समाधि ले ली । जिस प्रकार लेटे हुए थे, उसी प्रकार २४ घंटे लेटे रहे । सारी शिष्याओं के हृदय मुट्ठियों में थे और हृदय से यही आवाज निकल रही थी । 'गुरुनी ! एक बार आँखें खोल कर देखो । आप को क्या हो गया है ? जो आपने बोलना तो क्या ? हमारे को देखना भी पसन्द नहीं करते । गुरुनी ! एक बार, केवल एक बार अपनी आँखें खोलो । शायद आप को कुछ दया आई और शुक्रवार १ अगस्त को आपने प्रातःकाल ७ बजे आँखें झपकाईं । सब के हृदयों में आशा की एक लहर दौड़ गई और आँखें जहां रुदन कर रहीं थीं वहाँ एक क्षण के लिए हँसती हुई प्रतीत हुईं । पूछा गया 'कि गुरुनी जी आपने ये २४ घण्टे कहां व्यतीत किए ? आप को

हमारा कोई ख्याल न रहा, हम ने इतना बुलाया किन्तु आप तो हम से ऐसे विमुख हुए कि आँख तक न खोली कृपया स्पष्ट बतलाएँ?

आप ने गले को साफ करते हुए कहा—कि बातें बहुत हैं और समय थोड़ा है। और फिर कहा कि 'देखना! मैं तुम से पहले भी कई बार कह चुकी हूँ और आज फिर कहती हूँ कि मेरे शरीर को अधिक न रखा जाए, ज्यादा आडंबर न किया जाए और नांहि बाहिर के भाइयों को बुलाने का प्रबंध हो। बाजा गाजा बिल्कुल न हो। इतना कहते २ आपकी जिह्वा एक दम बिल्कुल बन्द हो गई। आप बोलने का प्रयास भी करतीं थीं किन्तु बोल न सकतीं थीं। और इस के बाद वह ३-८-५३ का दुर्दिन भी आ पहुँचा कि जिस दिन आपका स्नेहांचल सदा के लिए हमारे सिर से उठ गया। हमारा सौभाग्य सूर्य अस्त होगया और चारों ओर दुर्भाग्य की काली तमिस्रा का गहन अन्धकार प्रसारित हो गया। हमारे सिरच्छत्र, हमारे सर्वस्व, हमारे आराध्य, हमारी आत्मा के प्रकाश, हमारे सौभाग्य के सुधांशु, धीरे २ महाप्रयाण के पथ पर आरूढ़ होकर स्वर्ग के दिव्य लोक मे जा विराजे और इस नश्वर दुनिया में, इस अपार संसार सागर के विशाल वक्षःस्थल पर-हमें निराधार छोड़ गये। और हमे अपनी पुनीत सेवा से सदा के लिए वंचित कर हमारी आंखों से ओझल हो गए।

## शोक के काले बादल

आप के स्वर्गवास का दुःखद समाचार आल इण्डिया रेडियो द्वारा बिजली की भाँति भारत के कोने २ में प्रसारित हो गया। जिस ने भी सुना, वही वज्राहत की भाँति सन्न रह गया। शोक के बादलों से आंसू बरसने लगे, धरती आकाश सभी रोने लगे। प्रकृति भी अपना हृदय न संभाल सकी, और उस ने भी आंसू गिरा कर आप के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण की। ऐसे समय में मानव की आंखें जितना रोतीं, उतना ही थोड़ा था। और देश प्रदेशों की जनता आप के अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। दर्शनार्थियों की सुविधा के लिए आपका शव जैन गर्ल्स हाई स्कूल लुधियाना के विशाल आंगन में रखा गया। दर्शनार्थी दर्शन करते जाते थे और अश्रुओं की अनमोल लड़ियें आप के चरणों में अर्पित करते

जाते थे। सब के हृदयों से यही आवाजे निकल रही थीं। 'कि ऐसी महान् आत्माएं भविष्य मे दुर्लभ हैं। इस चन्द्र के अस्त होने से जो स्थान रिक्त हुआ है। उस की पूर्ति भविष्य में सर्वथा असम्भव है।'

केवल ४-८-५३ के दो बजे तक आपका पार्थिव शरीर जैन कन्या पाठशाला के विशाल आंगन में रहा, उस के पश्चात् आप का शरीर भी अपनी अंतिम यात्रा के लिए चल पड़ा। आप की श्मशानयात्रा बड़ी दारुण थी। चारों ओर शोकाकुल मानवों की आँखों से श्रावण भादों की वर्षा हो रही थी। चारों ओर सिर ही सिर दिखलाई दे रहे थे। जिधर देखो, उधर ही मानव कीट-वृन्दों की भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे। सहस्रों नर नारी मकानों की छतों पर खड़े हो कर आप के अंतिम दर्शनों द्वारा अपने नेत्रों को कृतार्थ कर रहे थे। अनेक वाद्य तथा भजनमंडलियां आप की यात्रा को भव्य बना रहीं थीं। गगन-भेदी जयकारों से, लुध्याना का कोना २ गूञ्ज उठा था, इस प्रकार आपका शव सायं ६ बजे श्मशान में पहुंचा और वहाँ विधिपूर्वक चन्दन की चिता बना कर, तथा सुगंधित पदार्थों के साथ उस का अग्निसंस्कार किया गया। इधर प्रकृति अपना मुख अन्धकार मे छुपा रही थी, उधर शोकग्रस्त जनता अपनी अमूल्य निधि को अपने हाथों लुटा कर, कुछ खोई सी, कुछ ठगी सी अपने घरों को वापिस आ रही थी।

इस प्रकार आप बाल-रवि की भाँति संसार को नव संदेश देतीं हुई आईं, और मध्यकालीन सूर्य की भाँति अपनी प्रचण्ड ज्ञान-रश्मियों द्वारा मानव की अज्ञानता का हरण करती हुई तथा विश्व का कोना कोना अपने प्रकाश से उद्भासित करती हुई, संध्याकालीन प्रभाकर की भाँति, अपनी लालिमा में सब को एकाकार करतीं हुई स्वर्गारूढ हुईं। आप के जीवन का आदि से अन्त तक का काल सदैव प्रकाशमान रहा। आप का जीवन उदय से अस्त तक अलौकिक विशेपताओं से भरपूर था। शासनेश से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि आप की स्वर्गगामिनी आत्मा को चिरशांति उपलब्ध हो।

ज्यादा क्या लिखूं? लेखसमाप्ति के साथ मैं आप के पादाम्बुजों में सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ।

—:o:—

# चन्द्र-ज्योति

## [प्रवचन-खण्ड]

सम्पादक

(१)

श्री कांशीराम जी चावला

पैन्शनर, सुपरइन्टैन्डैण्ट डी. सी. आफिस लुधियाना

(२)

पण्डित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

(प्रधान अध्यापक, श्री जैन गुरुकुल ब्यावर)

प्रकाशक

श्री जैन शास्त्रमाला कार्यालय

जैनस्थानक, लुधियाना, (पंजाब)

# कहां क्या है ?

# मानव जीवन का उद्देश्य

कोई माने या न माने, संसार के ज्ञानी पुरुषों ने माना है और अपने साधनाजनित दिव्य ज्ञान से जाना है कि यह संसार बहुत विराट् है। यद्यपि इसके मूल मे दो ही तत्त्व हैं—जड़ और चेतन, किन्तु इन दो तत्त्वों का प्रसार असीम है। आज हमें जड़तत्त्व के विषय में बात नहीं करनी है, सिर्फ मनुष्य जीवन के विषय में ही कहना है, किन्तु जीव जगत् को भली भाँति समझे बिना हम मानवजीवन की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, महापुरुषों ने बतलाया है कि जीव की चौरासी लाख योनियाँ हैं। चौरासी लाख! यह कोई छोटी मोटी संख्या नहीं है। लेकिन इस संख्या पर तनिक भी आश्चर्य नहीं किया जा सकता। हम स्वयं अपनी आंखों से कितने प्रकार के जीव-जन्तुओं को इस पृथ्वीपट पर देखते है? कई आकाश में उड़ते हैं, कई पृथ्वी पर चलते हैं, और कई पानी में ही अपनी जिन्दगी व्यतीत करते हैं! वर्षा ऋतु आती है तो अगणित तरह के कीड़े-मकोड़े, डांस, मच्छर आदि से धरातल परिपूर्ण हो जाता है! हम उन सब की गिनती करना चाहें तो नहीं कर सकते।

फिर यह विश्व इसी धरातल तक तो सीमित नहीं है। इस के ऊपर भी जीवों का वास है और नीचे भी। ऊपर और नीचे स्वर्ग के देवता और नरक के नारकी रहते हैं। सो तो रहते ही हैं, अनन्तानन्त तिर्यंच (निगोद) भी निवास करते हैं। इस दृष्टि से विचार करते हैं तो जीव-जगत का विशाल प्रसार हमारी समझ मे आजाता है, भले पूरी तरह समझ में न आवे, मगर उस की विशालता की कल्पना अवश्य हो जाती है।

तो संसार में लाखों प्रकार के जो प्राणी है, उन में एक प्रकार का प्राणी मनुष्य भी है। किन्तु मनुष्य में असाधारण मस्तिष्क और हृदय है। वह समस्त भूमंडल के प्राणियों में उन्नत और श्रेष्ठ समझा जाता है। उस के पास विशिष्ट विवेक है, विशिष्ट बुद्धि है, विशाल हृदय है, और आगा-पीछा सोचने की शक्ति है। उसे व्यक्त वाणी प्राप्त हुई है, जिस के द्वारा वह दूसरों की सुनता और अपनी कहता है,

और अपने ज्ञान के विशाल भंडार को विशालतर बनाता जाता है।

शारीरिक दृष्टि से तो हाथी, सिंह और घोड़ा आदि प्राणी मनुष्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। मनुष्य उन की तुलना में नीचा ही रह जाता है, किन्तु शरीर का बल उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना बौद्धिक बल महत्त्वपूर्ण है, और बौद्धिक बल की मात्रा मनुष्य में सब से ज्यादा है। यही कारण है कि उस ने समस्त दूसरे प्राणियों को अपने आधीन बना लिया है, और वह अपनी इच्छा के अनुसार उन से काम लेता है। नीतिकार कहते हैं—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

जिस के पास बुद्धि है, वही बलवान है। जिसे बुद्धि प्राप्त नहीं है, उस के पास बल भी नहीं है।

आशय यह है कि बुद्धि और विचारशक्ति के कारण मनुष्य समग्र जीव-जगत का सम्राट् समझा जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जब विचार करते हैं और ज्ञानियों के कथन पर ध्यान देते हैं, तब भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। वीतराग और सर्वज्ञ प्रभु का कथन है कि चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य से भिन्न देवों की भी एक सृष्टि है और सांसारिक सुखों के लिहाज़ से देवों को मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त हैं, किन्तु जहां आध्यात्मिक साधना और उस की सिद्धि का सवाल आता है, देवता नगण्य साबित होते हैं। देवता अधिक से अधिक चार श्रेणियाँ-चार गुणस्थान पा सकते हैं, किन्तु मनुष्य चौदह गुणस्थानों को भी पार करके परमात्मा का पद प्राप्त कर सकता है।

यह मानव-जीवन की महामहिमा है। इस महिमामय मानव-जीवन की प्राप्ति प्रकृष्ट पुण्य के उदय से होती है। भला विचार तो कीजिए कि संसार की असंख्य योनियों से बच कर मनुष्य योनि पा लेना कितनी बड़ी बात है ? अनन्त अनन्त सुकृतों के फलस्वरूप ही मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। जिन्हें यह योनि, यह महान् मानव जीवन प्राप्त हुआ है, वे अत्यन्त धन्य हैं। उन्हों ने बहुत बड़ी पुण्यराशी व्यय

करके यह जीवन पाया है।

अगर हजारों और लाखों रुपये खर्च करके कोई वस्तु आपने प्राप्त की हो तो क्या उसे आप यों ही फैंक देंगे ? नहीं, उसे आप प्राणों की तरह प्यार करेंगे और सम्भाल कर रखेंगे। उस का दुरुपयोग नहीं करेंगे और उस से पूरा २ लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। अगर आप बुद्धिमान् हैं तो निस्सन्देह ऐसा ही करेंगे और जो अपनी बहुमूल्य वस्तु का दुरुपयोग करेगा, उसे मूर्ख और पागल कहने में संकोच न करेंगे। तो यह मनुष्य जीवन, जो आप को प्राप्त है, क्या लाखों और करोड़ों में मिलने वाली वस्तु की अपेक्षा कम मूल्यवान है ? नहीं। करोड़पति अपना सर्वस्व दे कर और चक्रवर्ती सम्राट् अपना षट्खंड का साम्राज्य निछावर करके भी मानव-जीवन को नहीं खरीद सकता। मनुष्य का यह जीवन किसी भी जड़मूल्य से नहीं खरीदा जा सकता। यह अन-मोल जीवन है और केवल पुण्य के उदय से ही प्राप्त हो सकता है।

तो आप बड़े भाग्यवान् हैं कि आप को मानव-जीवन मिल गया है। इस महान जीवन को पाकर आप क्या बनना चाहते हैं ? किस प्रकार इस का उपयोग करना चाहते है ? किस प्रकार इसे सार्थक और सफल बनाना चाहते हैं ? क्षण-क्षण कर के नदी के प्रवाह की तरह जीवन चला जा रहा है और निमेषमात्र भी वह ठहरता नहीं है। ऐसी स्थिति में आप को शीघ्र ही यह निर्णय कर लेना है। प्रमाद ही प्रमाद में बहुत सा समय बीत चुका है। अब भगवान् महावीर की अमर वाणी का स्मरण करो—

**समयं गोयम ! मा पमायए।**

अर्थात्— हे गौतम ! पल भर भी प्रमाद न करो।

भगवान् का यह उपदेश सिर्फ गौतम स्वामी के लिए नहीं, हम सभी के लिए है। गौतम स्वामी के लिए ही होता तो उसे शास्त्र में लिखने की आवश्यकता ही क्या थी ? इस के अतिरिक्त गौतम स्वामी का जीवन जैसे पल २ बीत रहा था, हमारा जीवन भी बीत रहा है। गौतम स्वामी तो महापुरुष थे और जीवन की उच्चतर साधना में ही निरत थे। उन को भी भगवान ने चेतावनी दी है तो आप को जो

दुनिया के प्रपंचों में ही रात-दिन संलग्न रहते हैं, इस चेतावनी की कितनी अधिक आवश्यकता है ?

प्रश्न हो सकता है कि मानव-जीवन की सार्थकता किस में है ? मनुष्य क्या करे कि उस का जीवन सफल समझा जाय ? यह प्रश्न ठीक है और आप को बड़ी समझदारी और सावधानी के साथ इस का समाधान प्राप्त करना है। समाधान प्राप्त कर लेने के बाद उसी के अनुसार चलना भी है। मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझने की कोशिश करे। एक उर्दू के कवि कहते हैं—

जिंदगी इक तीर है, जाने न पाए रायगां* ।
देख लो पहले निशाना, बाद में खींचो कमां।

जो मनुष्य अपने जीवन के रहस्य को समझ कर इस संसार में चलते हैं, वे इस लोक में भी सुखी होते हैं और अपना परलोक भी सुधार लेते हैं। इस के विपरीत जो जीवन के उद्देश्य को बिना समझे, अंधाधुन्ध जीवन व्यतीत करते हैं, वे यहां भी दुःखी रहते हैं और अपने परलोक को भी दुःखमय बना लेते हैं। इसलिए उर्दू-कवि के कथनानुसार मनुष्य को उचित है कि वह अपने जीवन के उद्देश्य और रहस्य को, ज्ञानी जनों की वाणी के प्रकाश में भलीभाँति समझे और फिर कल्याण के राजपथ पर अपनी जीवनयात्रा शुरू करे। अन्यथा जैसे लक्ष्य स्थिर किये बिना ही छोड़ा हुआ तीर व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार जीवन के लक्ष्य को बिना जाने जीवन व्यर्थ हो जाता है।

मानव-जीवन की सफलता के सम्बन्ध में लोगों ने तरह २ की कल्पनाएँ कर रक्खी है। जो बहिरात्मा हैं, पुद्गलानन्दी हैं, जिन्हें आत्म-तत्त्व का भान नहीं है, जिन्हें परलोक पर आस्था नहीं है और जो इसी जीवन के पश्चात् आत्मा की सदा के लिए समाप्ति होना मानते हैं, उन की बात छोड़ ही देना चाहिए। वे तो इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्

अर्थात्— मौज कर लो, मजे उड़ा लो, ऋण लेकर घी पिओ।

---

*व्यर्थ।

थोड़े दिनों की इस जिन्दगी में जितना आनन्द मिल सकता हो, उसे न छोड़ो।

ऐसा समझने वाले लोग घोर अन्धकार में विचरण कर रहे हैं। उन की समझ पर ज्ञानी पुरुष तरस खाते हैं। सचमुच वे दया के पात्र हैं। वे अपनी मौजूदा जिन्दगी को ही नहीं, आगे की अनन्त जिन्दगियों को भी बिगाड़ रहे हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ चर्चा करने का अभी अवकाश नहीं है। उन के लिए हम यही भावना करते हैं कि वे अन्धकार से प्रकाश में आएँ, वे अपने आपको समझें और अपने जीवन की महिमा से परिचित हो जाएं।

जीवन के उद्देश्य के संबन्ध में कुछ लोगों का ख्याल है कि जिसने अच्छे काम करके प्रतिष्ठा प्राप्त की है, कीर्त्ति कमाई है, उस का जीवन सफल है। कहा भी है—

चलं वित्तं चलं चित्तं, चले जीवितयौवने।
चलाचलमिदं सर्वं, कीर्तिर्यस्य स जीवति॥

धन विनश्वर है, चित्त अस्थिर है, जीवन और यौवन क्षण-भंगुर है; और यह सारी सृष्टि संध्या की लालिमा की भाँति अध्रुव है। ऐसे अशाश्वत संसार में जिसकी कीर्त्ति जीवित है। वही मनुष्य जीवित है।

एक दूसरे संस्कृत के कवि कहते हैं—

वाणी रसवती यस्य, भार्या पुत्रवती सती।
लक्ष्मीर्दानवती यस्य, सफलं तस्य जीवितम्॥

अर्थात्—जिसकी वाणी में सरसता है, मिसरी की मिठास है और बोलता है तो मानों फूल झड़ते हैं; और जिसे पुत्रवती एवं सती पत्नी मिली है, और जो लक्ष्मी का दान करता है, उसका जीवन सफल है।

इन कवियों ने जीवन की सफलता की जो कसौटी हमारे सामने पेश की है। मेरा ख्याल है, वह भी अचूक कसौटी नहीं है। यह सत्य है कि उन्होंने इस जीवन की सफलता को दिखलाने का ठीक प्रयास किया है, किन्तु जीवन की वास्तविक सफलता केवल इसी जीवन को ठीक ढंग से गुजार देने में नहीं है और वाह-वाह पा लेने में ही

है। इस जीवन के सहारे अनन्त भविष्य को प्रशस्त और उज्ज्वल बनाने में ही वास्तविक जीवनसाफल्य है। तब हमारा ध्यान एक और उक्ति की ओर जाता है। वह है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो बहुनामरूपः ।
तपःसमाधौ कलितो न येन,
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥

जिस मनुष्य ने तपस्या करके और समाधि धारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय स्वरूप को नहीं समझा। जिसने अपने उपयोगमय चेतनस्वरूप को नहीं पहिचाना और जिसने अपने समस्त पर्यायों से अतीत देवतास्वरूप को नहीं जाना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया, उस की जिन्दगी अकारथ चली गई।

जीवन का वास्तविक उद्देश्य यही है। सभी आस्तिक शास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य अखण्ड और अक्षय शांति तथा अनन्त, असीम और अव्याबाध सुख को प्राप्त करना है। अतएव हमारे सभी पुरुषार्थ, सभी यत्न, सभी साधनाएं और समस्त कर्म ऐसे होने चाहिए जो उस ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति में सहायक हो सके।

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य इस विराट् उद्देश्य की ओर ध्यान नहीं देते और केवल दुनियादारी के धंधों में ही फंसे रहते हैं। जैसे पशुओं को अपने भविष्य की कोई कल्पना नहीं होती, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्यों को अपने भविष्य की चिन्ता नहीं है। ऐसे मनुष्यों और पशुओं में आकृतिभेद के सिवाय और क्या भेद समझा जाए? जो मनुष्य जीवन के उपर्युक्त उद्देश्य को भुला देते हैं या समझने की कोशिश ही नहीं करते, उन्हें फारसी के एक कवि का यह कथन स्मरण रखना चाहिए:—

ऐ गिरफ्तारे पाए बन्दे अयाल।
दिगर आजादगी मबन्द ख़्याल।

गमे फरजजन्दो नानो जामाओ कूत।

अर्थात् हे मनुष्य ! तू सन्तान, खान–पान, वेष–भूषा, आजीविका तथा अन्य सांसारिक पदार्थों के प्रेम में आसक्त रह कर किसी प्रकार भी वन्धन से मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि इन पदार्थों की चिन्ता स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता में बाधक होती है ।

संसार में रत रहने वाले पुरुष का हृदय अति संकुचित हो जाता है और संकुचित भावना वाला अपने जीवन में कभी उभार नहीं ला सकता। मनुष्य जितना उदार होगा, जितना विशालहृदय बनेगा, उतना ही उस के जीवन का विकास होगा और अपने जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति में उसे उतनी ही सुविधा होगी।

यह अनुभवसिद्ध वात है कि संसार में दो ही स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक सिकुड़ना और दूसरी विस्तृत होना । मनुष्य भी अपने जीवनक्षेत्र मे या तो सिकुड़ता है या फैलता है । सिकुड़ने मे हानि और फैलने मे लाभ है। जो मनुष्य अपने लिए ही जीवित रहता है, अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए समस्त क्रियाएँ करता है, जिस का अहंत्व और ममत्व अपने पिण्ड तक ही सीमित होकर रह गया है। वह अत्यन्त संकुचित क्षेत्र मे निवास करता है। इसके विपरीत, जो अपनी आत्मीयता को, अपनी भावनाओं को विस्तृत कर के, प्राणी मात्र की भलाई के लिए प्रयत्न करता है। वह वास्तव मे अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है ।

आत्मीयता की भावना का विकास क्रम से होता है। कई मनुष्य ऐसे हैं जो केवल अपने ही स्वार्थ तथा अपने ही शारीरिक सुख का ध्यान रखते हैं। कोई उन से आगे बढ़ कर अपने सगे-सम्बन्धियों के ऊपर भी आत्मीयता की भावना रखते है और उनसे प्रेम करके उनकी सेवा करते है। किसी २ मे यह भावना कुछ और विशालरूप ग्रहण करती है और वे अपने सगोत्रीय, सजातीय और नगरनिवासियो के हित के लिए परिश्रम करते हैं। किसी २ की सहानुभूति अपने प्रान्तवासियों तक फैलती है। कई लोग अपने समाज और सहधर्मियो तक अपनी भावना ले जाते हैं और कइयों की उदारता राष्ट्रव्यापक होती

है। यहाँ विभिन्न व्यक्तियों को लक्ष्य करके भावना की उदारता की जो तरतमता दिखलाई गई है, वह एक ही व्यक्ति के जीवन में भी, विभिन्न समयों में पाई जा सकती है, शर्त यही है कि वह व्यक्ति विकासशील होना चाहिए।

भावना में जितनी उदारता हो, उतनी ही वह प्रशस्त है। मगर सीमित क्षेत्र में भावना जब उदार बनती है तो उस में एक दोष रह जाता है। उदाहरणार्थ–किसी मनुष्य की भावना अपनी जाति तक फैलती है तो वह संसार की दूसरी जातियों के प्रति सहानुभूति न रखने के कारण उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है, उन्हें नीची समझता है। इसी प्रकार जिस का अनुराग अपने राष्ट्र तक फैला है, वह अपने राष्ट्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है और राष्ट्रहित के लिए अपने हित का बलिदान भी कर सकता है: किन्तु दूसरे राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति न रखने के कारण उन्हें हानि पहुंचा कर भी अपने राष्ट्र को लाभ पहुँचाने की चेष्टा करता है। आज के विश्व में इस सचाई को समझना कठिन नहीं है। हिटलर के स्वदेशप्रेम ने कितने ही राष्ट्रों को धूल में मिला दिया। आज प्रत्येक राष्ट्र, दूसरे राष्ट्रों का रक्तपान करके मोटा ताजा बनना चाहता है। इसका कारण यही है कि अन्य राष्ट्रों के प्रति उसकी वैसी सहानुभूति नहीं है। आशय यह है कि जब राग सीमित होता है तो उसके साथ द्वेष चिपट जाता है और इस राग-द्वेष के कारण संसार में कलह और संघर्ष का जन्म होता है।

समग्र विश्व में जिस की आत्मीयता फैल जाती है, वह किसी से राग-द्वेष नहीं करता। अतएव भगवान् महावीर के कथनानुसार वही विस्तृत भावना परमानन्दप्रद हो सकती है, जिस में जाति, समाज या राष्ट्र की कोई सीमा नहीं है, कोई दीवार नहीं है, जो प्राणिमात्र पर एक सरीखी है। एक उर्दू के कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

आयें सब एक नजर गर ये दुई का पर्दा।
ए जफर बीच से उठ जाय तो क्या अच्छा है॥

अब विचारणीय विषय यह है कि भावना में सर्वव्यापिनी उदारता लाने के लिए किन साधनाओं का प्रयोग करना चाहिए? इस

विषय में भगवान् महावीर स्वामी का प्रवचन है कि—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥
(दशवैकालिक अ० ४, गा० ८)

अर्थात्—यतनापूर्वक चलने से, यतनापूर्वक ठहरने से, यतनापूर्वक बैठने से, यतनापूर्वक शयन करने से और यातनापूर्वक भोजन करने तथा भाषण करने से पाप कर्म का बंध नहीं होता।

बस, जो मनुष्य यतनापूर्वक अर्थात् विचार और विवेक पूर्वक सारी प्रवृत्तियां करेगा, वह अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होगा किसी भी प्रवृत्ति में जब विवेक का रस डाल दिया जाता है, उस का ज़हर मर जाता है। संस्कृत के एक कवि ने कहा है:—

विवेकः परमो धर्मो, विवेकः परमं तपः।
विवेकः परमं ज्ञानं, विवेको मुक्तिसाधनम् ॥

अर्थात्—विवेक परम धर्म है, विवेक परम तप है, विवेक परम ज्ञान है और विवेक ही मुक्ति का साधन है।

आज संसार में दुःख की जो बाढ़ आई हुई है, वह सब विवेकहीनता का ही परिणाम है। मनुष्य अपनी विवेकबुद्धि से काम न लेकर पतन की ओर दौड़ रहे हैं। एक दूसरे की खोटी क्रियाओं का अनुसरण कर रहे हैं। कहा है—

देखा देखी करत सब, नाहिन करत विचार।
आँख मूँद कर चल रहा, भेड़-चाल संसार।

ऐसी विचारहीन गति का परिणाम क्या होता है, वह भी विस्मृत नहीं होना चाहिए। एक कवि कहते हैं—

नर-नारी जो करत हैं, बिना विचारे काम।
अपनी तो हानि करें, जग में हों बदनाम ॥

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में भावना की उदारता सब से अधिक सहायता देती है। इस

सिद्धान्त को मनुजी ने इस प्रकार प्रकट किया है—

संरक्षणार्थं जन्तूनां, रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव, समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥

अर्थात्— जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए, शरीर पर कष्ट आ जाने पर भी, रात में या दिन मे— जब कभी चलने का काम पड़े, भूमि को देखभाल कर ही चलना चाहिए।

इस प्रकार का परहित-विचार तभी उत्पन्न होता है, जब मनुष्य आत्मनिरीक्षण करे। अपनी त्रुटियों की ओर दृष्टि रक्खे और प्राणीमात्र के कष्ट को अपना ही कष्ट अनुभव करे। आत्मनिरीक्षण करने वाला पुरुष ऐसी कोई क्रिया नहीं करता, जिस के कारण उसे लज्जित होना पड़े। इसीलिए फारसी के एक कवि ने कहा है—

अगर ख़ेश्तन मलामत कुनी,
मलामत न बायद शुनीदन ज़ि कस।

अर्थात्— यदि तू अपने आप की मलामत करता रहेगा, अर्थात् अपने दोषों पर दृष्टि रक्खेगा तो तुझे दूसरों को लांछित करने का अवसर न आएगा।

आज विविध देशों और प्रदेशों मे जो विषमता और विरोध का प्रसार हो रहा है, उस का कारण भी विवेकहीनता और उस के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला उदारता का अभाव ही है। जिन भाग्यशाली पुरुषों के हृदय, भगवान् महावीर की पवित्र शिक्षा के अनुसार प्राणीमात्र से प्रेम करने की शिक्षा से भरपूर हो जाते हैं, वे सदैव उच्च स्वर से यह घोषणा करते है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

अर्थात्- सभी प्राणी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई भी दुःख या कष्ट का भागी न हो।

ऐसी उदार भावना रखने वाले मनुष्य क्षुद्र से क्षुद्र जीव को भी

दुःखी करने से भयभीत होते हैं। शेख सादी ने कहा है—

ज़ेरे पायत गर बिदानी हाले मोर।
हम चूँ हाले तुस्त ज़ेरे पाय फील॥

एक चींटी को अपने पैर के नीचे आने को ऐसा जान, जैसे तू स्वयं एक हाथी के पाँव के नीचे आ गया हो। हाथी के पाँव के नीचे आने पर तेरी जैसी दशा होगी, तेरे पैर के नीचे चींटी आने पर उस की भी वैसी ही दशा होगी। कितना सुन्दर भाव है।

उदारभावना से सम्पन्न पुरुष के अन्तरतर में मित्र और शत्रु, अपने और पराये, स्नेही और विरोधी, परिचित और अपरिचित आदि का तुच्छ भेदभाव नहीं रहता। वह सब को एक दृष्टि से देखता है और सब पर समान स्नेह का भाव रखता है। भला, विशाल दृष्टि वाले पुरुष का शत्रु हो ही कौन सकता है? जो कीड़ी और कुञ्जर को समान रूप से अपने प्रेम का पात्र समझता है, उस के अन्तस्तल में यह भावना कैसे आ सकती है कि यह मेरा मित्र और यह मेरा शत्रु है? यह अधम और यह उत्तम है? यदि पारस पत्थर की ही कसौटी बन जाय तो फिर सोने और लोहे का भेद कैसे रह जाएगा? उस पर जो लोहा रगड़ा जाएगा, वह निर्मल स्वर्ण ही बन जाएगा। इसी प्रकार जिस हृदय में निर्मल बुद्धि के द्वारा सद्भाव स्थापित हो जाते हैं, उसे समस्त स्थावर जंगम विश्व केवल आत्मस्वरूप ही दिखलाई पड़ता है।

यह उत्तम प्रकार का ज्ञान जिसे पूर्णरूप से प्राप्त हो जाता है, वह बाहिर के आकारों और रूपों के भ्रम में नहीं पड़ता। वह समस्त विश्व में अपनी जैसी आत्मा विद्यमान देखता है। उस की प्रार्थना भी सदा इस प्रकार की होती है—

कह रहा हूँ जो मुझे है, आज भगवन्! माँगना।
कुछ नहीं प्यारे! मुझे, धन–धाम कञ्चन माँगना॥
लोक-आदर मान की भी, कुछ मुझे इच्छा नहीं।
और क्या मुझको नहीं है, राज्य-आसन मांगना॥

सिद्धता अरु योगसाधन, सिद्धि भी नहीं चाहिए ।
ये नहीं कुछ भी मुझे है, नाथ ! तुझ से मांगना॥
प्रेम हो इतना कि देखूँ, प्रेममय संसार को ।
कामना है एक केवल, प्रेम—जीवन माँगना ॥

ऐसा विशाल हृदय और उदार भावना वाला पुरुष न केवल अपने लिए ही सुख और शांति की उपलब्धि करता है । प्रत्युत वह जहाँ जाता है, वहाँ भी शान्ति का साम्राज्य स्थापित और स्थिर कर देता है । उसके वचनामृत का पान करने से हृदय शान्त और संपुष्ट होता है, धर्मभाव बढ़ता है और उसकी दृष्टि इतनी पवित्र होती है कि जिस ओर वह अपने प्रेम भरे नयन फिरा देता है । उधर ही सुख और शान्ति के सौरभसमन्वित सुमनों की वर्षा होने लगती है । उसके दर्शन मात्र से मन में शान्ति की तरंगे उत्पन्न होने लगती हैं । उसका तो गीत भी यह होता है:—

मैं हरफ़े प्रीत पढ़ता हूँ, मैं लफ्ज़े प्रीत कहता हूँ ।
मैं बिन प्रीति के निष्फल,ज़िंदगी को मीत ! कहता हूँ ।
मेरा प्रीति ही खाना है, मेरा प्रीति ही पीना है ।
तू प्रीति से ही जी दुनिया में, जितनी देर जीना है ॥

इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह विचारपूर्वक अपनी भावनाओं को उदार बनाता हुआ, हृदय को प्रेमजल से पूरित करके अपने लक्ष्य को निरन्तर अपने सम्मुख रक्खे । यदि इस अनमोल और उत्तम मानव जीवन को उसने अपने लक्ष्य से विचलित होकर निष्फल बना दिया तो न जाने फिर कितनी अधम और पापपूर्ण योनियों में घूमना पड़ेगा । मनुष्य जन्म ही वह द्वार है, जिस में प्रवेश करके ही हम अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच सकते हैं । जैसा कि पहले कहा जा चुका है । बड़े ही सौभाग्य से हमें यह द्वार प्राप्त हुआ है । अतएव इस का पूरा २ लाभ उठा लो । धर्ममय जीवन व्यतीत करके अपने

अतीतकालीन कल्मप को धो डालो और अपने जीवन के चारों ओर ऐसी सुदृढ़ दीवारें खड़ी कर लो कि पापों का अपावन प्रवाह तुम्हारे पास तक न पहुंचने पाए। ऐसा न किया गया तो हमारी वही दशा होगी, जो चक्षुहीन पुरुप की हुई थी।

एक चक्षुहीन पुरुप किले मे बंद था। उसे दीवार टटोलते २ चलने का आदेश देकर सूचित किया गया था कि इस दुर्ग का एक ही द्वार है। जब तू उस द्वार पर पहुँच जाय तो अपने आपको दुर्ग से बाहिर निकाल लेना। किन्तु वह नेत्रविहीन पुरुप जब इधर-उधर टकराता हुआ, भटकता हुआ किसी प्रकार द्वार के निकट पहुंचा तो अपना सिर खुजलाने लगा और इसी बीच द्वार को छोड़ आगे निकल गया। इस प्रकार वह उसी दुर्ग में चक्कर काटता रहा।

यही अवस्था उन मनुष्यो की होती है जो चौरासी लाख योनियों के किले में पड़े हुए हैं और मानव-जन्मरूपी द्वार को विपयभोगों में पड़ कर छोड़ देते हैं और फिर जन्म-मरण के चक्कर में ही पड़े पड़े असह्य यातनाएं भोगते हैं। इसलिए हे मानव! तू सावधान हो। अपने आन्तरिक नेत्रों को खोल कर अपनी स्थिति पर विचार कर। अपने जीवन के लक्ष्य को विस्मृत मत कर और इस चौरासी के चक्र से बाहिर निकलने का प्रयत्न कर। समय निकल जायगा तो फिर पश्चाताप के सिवाय कुछ न हो सकेगा और तब पश्चाताप करने से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? वही बात होगी—

अब पछताए होत क्या! जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।

हे मानव! यदि तू केवल खान-पान को ही और विपयभोग को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझ लेगा, तब तो तुझ में और पशु में कोई अन्तर न रहेगा। खान-पान तो केवल शरीररक्षा के लिए है और शरीररक्षा का उद्देश्य आत्मिक साधना करना है; क्योंकि मानव-तन के बिना आध्यात्मिक साधना की ऊँचाई प्राप्त नहीं की जा सकती। जीवनरहस्य समझने वाले पुरुपों के सम्बन्ध में तो कहा गया है—

नान अज वराए कुञ्जे इनादत गरिफ्ता अन्द ।
गाहिब दिलां न कुंजे इनादत वराए जान ॥

अर्थात्—भक्त पुरुष प्रभु का भजन करने के लिए भोजन करता है। वह भोजन के लिए भजन का ढोंग नहीं करता।

शेख सादी ने भी इस विषय में यही भाव व्यक्त किया है। कहा है--

खुर्दन वराए जीस्त नो जिक्र करदनस्त ।
तो मोतकिद कि जीस्तन अज नहरे खुर्दनस्त ॥

अर्थ—भोजन केवल प्राणरक्षा और प्रभु भजन के लिए किया जाता है। किन्तु तू तो यह समझ बैठा है कि यह जीवन खाने-पीने के लिए ही मिला है।

अन्त में भगवान् महावीर के पावन उपदेश की एक झलक दिखला कर इस विषय को समाप्त किया जाता है:--

जातिं च वुड्ढिं च इह ज्ज पास,
भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं ।
तम्हाऽतिविज्जो परमं ति णच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥

(आचारांग, ३, २)

भगवान् फरमाते हैं—हे इन्द्रभूति गौतम ! इस संसार में जन्म और मरण के दुःखों को तू देख और इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इस बात को समझ कर ज्ञानी जन मोक्ष के मार्ग को जान कर, सम्यक्त्वधारी बन कर किंचित् मात्र भी पाप का आचरण नहीं करते हैं।

बस, मानव-जीवन का यही सच्चा उद्देश्य है। जिस ने इस परम-उद्देश्य को समझ लिया है, वह संसार के प्रपंचों में पड़ कर, विषयवासनाओं के आधीन हो कर और भोगोपभोग में आसक्त हो

कर अपने जीवन को निष्फल नहीं बनाएगा। वह जीवन के लक्ष्य की ओर ही निरन्तर बढ़ता जायगा और परम समभाव धारण कर के, जीव मात्र को अपनी ही आत्मा के समान समझ कर, उन पर करुणा और प्रेम का अमृत बरसाता हुआ और भगवान् की वाणी का अनुसरण करता हुआ अपने जीवन को सफल बनाएगा। वह इस अनमोल अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करेगा। पशु की भाँति निरुद्देश्य जीवन व्यतीत नहीं करेगा।

हे मनुष्यो! अपने सौभाग्य की सराहना करो कि तुम्हें यह मनुष्यजीवन प्राप्त हो गया है, वीतराग देव की वाणी सुनने और समझने की कला मिली है और धर्म मे पुरुषार्थ करने की सभी सामग्री प्राप्त हुई है। अतएव तुम शीघ्रातिशीघ्र जिनधर्म की शरण ग्रहण करो अपना कल्याण करो और अनन्त सिद्धि को प्राप्त करो। ऐसा करने से तुम्हारे जीवन का उद्देश्य सफल होगा।

# ❋ मधुर भाषण ❋

जगत् में अनन्तानन्त एकेंद्रिय प्राणी हैं। उन्हें केवल स्पर्शनेंद्रिय प्राप्त है और जिह्वा आदि इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं हैं। यह जीव असंख्य और अनन्त समय तक एकेंद्रिय की योनियों में भ्रमण करता हुआ अतिशय पुण्य के प्रभाव से द्वीन्द्रिय की योनि पाता है। उस समय उसे जिह्वा-इन्द्रिय प्राप्त तो हो जाती है, किन्तु स्पष्ट और सार्थक वचन बोलने की शक्ति तब भी प्राप्त नहीं होती। यह शक्ति त्रीन्द्रिय मे नहीं, चतुरिन्द्रिय में नहीं और समस्त पंचेन्द्रियों में भी नहीं है। हाथी, घोड़ा आदि पशुओं के शरीर तो मनुष्य की अपेक्षा भी विशाल होते हैं, किन्तु वे भी मनुष्य की भाँति स्पष्ट भाषण नहीं कर सकते। वचनों का आदान-प्रदान करने का सामर्थ्य मनुष्य में ही है।

इस का आशय यह है कि अनन्त पुण्य का उदय होने पर जीभ मिलती है और उस के पश्चात् जब फिर अनन्त पुण्य का उदय होता है, तब व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता आती है। प्रत्यक्ष रूप मे पता नहीं चलता कि व्यक्त वाणी को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कितना मूल्य चुकाना पड़ा है, मगर ज्ञानियो की दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि इस के लिए बहुत भारी क़ीमत अदा करनी पड़ी है। अनन्त पुण्य देकर मनुष्य भाषण शक्ति प्राप्त करता है।

जब यह बात है और इसकी सत्यता में संदेह के लिए कोई अवकाश भी नहीं है, तो हमे अपने भाषण के विषय में गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए। बुद्धिमान और विवेकशील पुरुष अपनी बहुमूल्य वस्तु को यो ही नहीं गँवा देता। वह उस से पूरा पूरा लाभ उठाता है और जितनी क़ीमत देकर उसे प्राप्त किया है, उससे अधिक क़ीमत उस से वसूल करता है। इस दृष्टि से वही मनुष्य विवेकवान् कहा जा सकता है, जो अपनी जिह्वा और वाणी के द्वारा अधिकतर नवीन पुण्य का संचय कर लेता है।

वाणी के द्वारा पुण्य का संचय किया जा सकता है। हमारे यहाँ शास्त्रों में पुण्य के नौ भेद किये गये हैं और उन में एक वचन-पुण्य भी गिना गया है। इस से स्पष्ट है कि अगर हम सोच समझ कर और समझ-बूझ के साथ अपनी वाणी का उपयोग करें तो उस के द्वारा महान् पुण्य का उपार्जन हो सकता है।

तो वाणी का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में हमारे धर्मशास्त्रों में और इतर धर्मग्रन्थों में अनेक बातें लिखी गई हैं। उन सब में मुख्य बात यह है कि मनुष्य जब भी बोले, मधुर वचन ही बोले और कटुक वचन का प्रयोग कदापि न करे। एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मधुर वचन है औषधि, कटुक वचन है तीर।
श्रवण-द्वार ह्वै संचरे, साले सकल शरीर॥

सच पूछो तो मृदुता का ही दूसरा नाम मनुष्यता है और इस के विपरीत कठोरता— कटुता को पिशाचता की संज्ञा दी जा सकती है। मृदुतायुक्त मनुष्य जीती- जागती प्रेम और दया की मूर्ति होता है। उस की मुद्रा से प्रेम के प्रशान्त पीयूष से परिपूर्ण सरोवर का भास होता है। जब ऐसे मनुष्य के मुख से शब्द निकलते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि सुधाकर से सुधा की धारा बह रही है।

सभी मत-मतान्तरों की धर्म-पुस्तकों में मधुर भाषण पर विशेष ध्यान दिलाया गया है। जैनागमों में तो इस विषय पर बहुत विशद विवेचन मिलता है। मनु जी कहते हैं—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्, अभद्रमिति ना वदेत्।

(मनुस्मृति ४, ११६)

अर्थात्—मनुष्य को मीठे मीठे वचनों का ही उच्चारण करना चाहिए, कठोर वचनों का उच्चारण करना अनुचित है।

जो मनुष्य मृदुता के सद्गुण से विभूषित है, वह बहुत कम बोलता है, अनावश्यक वचन मुख से नहीं निकालता। वह आवश्यकता होने पर ही अपनी जिह्वा खोलता है और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग

करता है, जो सर्वहितकर हों। वह ऐसे कोमल शब्दों में वार्त्तालाप करता है कि उस का भाषण सब को प्यारा लगता है और उस के एक एक शब्द में सत्य और परहित ओतप्रोत रहता है। उस की वाणी से न किसी को कष्ट पहुँचता है, और न भय। उसे सदैव इस बात का ध्यान रहता है कि उसकी वाणी दूसरों को सुख देने वाली हो। तुलसीदास भी कहते हैं—

तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजे चहुँ ओर।
वशीकरण यह मंत्र है, तजिए वचन कठोर॥

प्रकृति ने मनुष्य की जिह्वा को अति कोमल बनाया है; अतएव इससे बोले हुए वचन भी कोमल और मधुर होने चाहिएं। एक फारसी का कवि इसी भाव को प्रकट करता हुआ कहता है:—

अज़ बराए नरम गुफ्तन शुद ज़बां बे उस्तखां।
सख्त तंगो तुरश गुफ्तन नेस्त कोर आकिलां॥

अर्थात्—जिह्वा मे हड्डी इसीलिए नहीं रक्खी गई कि यह कोमल शब्दों का उच्चारण करे। कटु और कठोर शब्द बोलना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है। उर्दू के एक कवि ने इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है:—

फितरत को नापसंद है सख्ती ज़बान में।
पैदा हुई ना इसलिए हड्डी ज़बान में॥

मुसलमानों की धर्म पुस्तक कुरान में भी कई स्थलों पर मृदुता का आदेश है। सूरत बकर के रुकू ३६ की तीसरी आयत में लिखा है—

'कौलन मारफुन वा मग़फिर तुन, खैरुन मिन मदक तिन।'

अर्थात्—भद्र और क्षमायुक्त शब्दों का प्रयोग करना, दान देने से भी श्रेष्ठतर है।

ईसाइयों की धर्म पुस्तक 'इञ्जील' की किताब अमसाल के अध्याय १६ की आयत २४ कहती है—

**Pleasant words are as honey comb. sweet to the soul and health to the borns.**

अर्थात्—प्रिय शब्द मधु के समान होते हैं। वे चित्त को प्रिय लगते है और शरीर को भी सुख देते हैं।

सिखपंथ के धर्मग्रन्थ में कहा है:—

जित बोलिये पति पाइए सो बोल्या परवाण।
फिक्का बोल विगुच्चणा सुन मूर्ख मन अजान॥
(श्रीराग म० १)

अर्थात—ऐसी वाणी ही बोलने योग्य है, जिससे मनुष्य सन्मान पाये। हे मूर्ख और अज्ञानी मन! कठोर भाषण करके अपमानित न हो।

बुद्धिमान मनुष्य ऐसी सावधानी से बोलता है कि प्रथम तो उस के शब्दों से किसी के मन को खेद न पहुँचे और न उस के कथन का तिरस्कार ही हो। जब कभी वह बोलने लगता है तो सुनने वालों को ऐसा प्रतीत होता है, मानों उनका कोई सुहृद या सखा बोल रहा हो। उस के विवेकपूर्ण नपे तुले और मधुर शब्द अमृत की तरंगों के समान प्रतीत होते हैं। उन्हे सुन कर श्रोता का हृदय आह्लादित हो जाता है, चित्त खिल उठता है और रग-रग में तृप्ति व्याप जाती है। संस्कृत के एक कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है:—

न तथा शशी न सलिलं, न चन्दनरसो न शीतलच्छाया।
आह्लादयंति पुरुषं, यथा हि मधुराक्षरा वाणी॥

अर्थात्—मनुष्य की मीठी बोली जिस प्रकार शीतल और प्रसन्न करने वाली होती है, वैसा शीतल न चन्द्रमा है, न जल है, न चन्दन है और न शीतल छाया है। चन्द्रमा आदि शरीर को ही शीतल बनाते हैं, जब कि मधुर बोली अन्तरंग को भी शीतलता प्रदान करती है।

वाणी के द्वारा ही मनुष्य के भले या बुरे होने की पहचान होती है। वाणी वह कसौटी है, जिस पर मनुष्य की कुलीनता और अकुलीनता की परीक्षा की जा सकती है। कहा है:—

न जारजातस्य ललाटशृङ्गं, कुलप्रसूते न च पाणिपद्मम्।
यदा यदा मुञ्चति वाक्यवाणं, तदा तदा तस्य कुलं प्रमाणम् ॥

अर्थात—जो अकुलीन है उसके सिर पर सींग नहीं होते और उच्चकुलीन के हाथ मे कमल नही होता। अधम और उत्तम कुल में उत्पन्न होने वालों की आकृति मे कुछ भी अन्तर नहीं होता; किन्तु जब वह बोलते हैं तब पता चल जाता है कि इसने कैसे कुल में जन्म लिया है! हिन्दी के एक कवि ने भी कहा है—

बोलत ही पहचानिए, साह चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुख की बाट ॥

वाणी एक दर्पण है, जिस में मनुष्य के अन्तस्तल की परछाई पड़ती है। वाणी के दर्पण मे हम मनुष्य के अन्तरंग को देख सकते हैं क्योंकि जैसा मनुष्य का विचार और आचार होगा। उसी प्रकार का उस का उच्चार होगा। इसी भाव को लक्ष्य करके यहाँ कहा गया है कि मनुष्य की भीतर की क्रियाएँ मुख के मार्ग से बाहिर निकलती हैं। अतएव मनुष्य को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सुन्दर शब्दों का ही प्रयोग करे और कभी असुन्दर अर्थात असभ्य गँवारू और भद्दे शब्द मुंह से न निकाले। भूल नहीं जाना चाहिए कि वाणी के द्वारा ही मनुष्य अपने संसर्ग मे आने वाले मनुष्यों को मित्र या शत्रु बनाता है।

मृदुभाषी पुरुष के अगणित मित्र होते हैं और कटुभाषी मनुष्य निष्कारण ही बहुतों को अपना शत्रु बना लेता है। मृदुभाषी परायों को अपना और कटुभाषी अपनों को भी पराया और विरोधी बना बैठता है। उर्दू का कवि कहता है:—

गैर अपने होंगे शीरीं हो गर अपनी जबां।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिस की जबां ॥

संस्कृत के एक कवि ने भी यही बात कही है—

लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे, जिह्वाग्रे मित्रबान्धवाः।
जिह्वाग्रे बन्धनं प्राप्तं, जिह्वाग्रे मरणं ध्रुवम् ॥

मनुष्य की इस छोटी-सी जीभ पर बड़ी-बड़ी बातें निर्भर हैं। जीभ के अग्रभाग पर लक्ष्मी का निवास है और मित्रों और हितैषियों का वास है। अर्थात् मधुर भाषण करने से लक्ष्मी भी प्राप्त होती है और बन्धु-बान्धव भी बनते हैं, और फिर इस जीभ की बदौलत बन्धन में भी पड़ना पड़ता है, और मौत का भी शिकार होना पड़ता है।

कौरवों और पाँडवों का जो महाभारत हुआ, उस के मूल की ओर दृष्टिपात कीजिए। द्रौपदी ने दुर्योधन को जो कटुवचन कह दिया था कि अन्धे की सन्तान भी अन्धी ही होती है, यही कटुक वचन दुर्योधन के हृदय में बाण की तरह चुभ गया और आगे चल कर वह कितना भयानक परिणाम लाया! स्वयं द्रौपदी को और उस के साथ पांडवों को भी कठिन यातनाएँ सहन करनी पड़ीं, असंख्य योद्धा युद्ध में मारे गये और एक प्रकार से भारतवर्ष की सारी शक्ति उस युद्ध की ज्वालाओं में भस्म हो गई। इस प्रकार कभी-कभी छोटा-सा भी कटुक वचन बड़ा ही अवांछनीय परिणाम उत्पन्न कर देता है।

दूसरों पर वचन का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, यह बात सुन्दर कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से कही है। वह कहता है—

वचन तें दूरी मिटे, वचन विरोध होय,
वचन तें राग बढे, वचन तें द्वेष जू।
वचन तें ज्वाला उठे, वचन तें शीत होय,
वचन तें मुदित, वचन ही तें रोष जू।
वचन तें प्यारो लगे, वचन तें दूरी भगे,
वचन तें मुरझाए, वचन तें पोष जू।
'सुन्दर' कहत ये वचन को भेद ऐसो,
वचन तें बंध होय, वचन तें मोख जू॥

सभी मनुष्यों के हाथ-पांवों और दूसरे अवयवों की आकृति एकसी होती है, किन्तु उन में कोई सर्वप्रिय होता है और कोई सब को

अप्रिय लगता है। प्रायः इस का कारण मधुर और कटुक वाणी ही होती है। कोयल और कौवा दोनों काले होते है। किन्तु दोनों के विषय में दुनिया की धारणा में कितना अन्तर है ? कवि कहता है:—

न कुछ दे हैं कोयल न छीने है कौआ।
मगर मीठी आवाज के सब हैं शैदा॥

सुन्दर बोलने वाली जिह्वा मानों मोतियों और हीरों की खान है। उस से निकले हुए शब्द बहुमूल्य होते है और हृदय को हरण कर लेते हैं। इस के विपरीत कटु वाली हृदय को वेधने वाली बंदूक से निकली हुई गोली है। इसी लिए कहा है:—

लाल उगल मुंह से, अगर तुझ में हिम्मते मरदाना है।
आग उगलने को मुंह मसले रफल पाया तो क्या ?॥

जिस मनुष्य ने वाणी के महत्त्व को जान लिया है, वह व्यर्थ बकवाद नहीं करता, निरर्थक तर्क-वितर्क और वितंडावाद से बचता रहता है। नाहिं उस के द्वारा हठवाद, अनुचित परिहास और छलवाद होता है। वह कोई बात दूसरों को सन्ताप देने वाली या दूसरों का निरर्थक विरोध करने वाली नहीं कहता। उस की वाणी में कठोरता और कटुता तो नाम मात्र को भी नहीं होती। वह कभी चिढ़ कर या आवेश में आकर जिह्वा नहीं खोलता। वह कभी कुशंकाएँ नहीं करता और न बढ़-चढ़ कर अहंकारयुक्त शब्दों का उच्चारण करता है। उस का दृष्टिपात भी ऐसा होता है कि उस के नेत्रों से कोमलता और दयालुता की धाराएँ बहती हैं। झूठ, कपट और चुगली से भरे शब्द तो उस के मुख से कदापि नहीं निकल सकते। वह भली भाँति समझता है कि कटुवचनों का दूसरे पर कितना पीड़ाजनक प्रभाव होता है। कहा भी है:—

छुरी का तीर का तलवार का तो घाव भरा।
लगा जो जख्म जबाँ का रहा हमेशा हरा॥

वास्तव मे वचन के बाण बड़े ही तीखे होते हैं और उन का आघात अन्य शस्त्रों के आघात की अपेक्षा बहुत भयानक और दीर्घ काल तक हृदय प्रदेश को सालने वाला होता है। भगवान् महावीर

स्वामी का प्रवचन बतलाता है:—

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया-दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

(दशवैकालिक अ० ६, उ० ३, गा० ७)

लोहे के कॉटे बदन में चुभ जाते हैं तो कुछ समय तक ही व्यथा उत्पन्न करते हैं और उन को बाहिर निकाल देने में भी विशेष कठिनाई नहीं होती; किन्तु दुर्वचन के कॉटे जब कलेजे में चुभ जाते हैं तो उन का निकलना बड़ा कठिन होता है। वे जन्म-जन्मान्तर तक भी वैर की परम्परा को कायम कर देते हैं और अत्यन्त भयजनक होते हैं।

वाणी से ही मनुष्य सम्मान का भाजन बनता है और वाणी से ही अपमान का पात्र बनता है। वाणी ही उस के लाभ का कारण बनती है और वाणी ही अनर्थ का कारण बन जाती है। कहा भी है—

जिह्वा में अमृत बसै, विष भी तिस के पास ।
इक बोलें तो लाख ले, एकें लाख-विनास ॥

इस समय जिस ओर भी दृष्टिपात करते हैं, उधर ही वैर, विरोध और संघर्ष का बाजार गर्म दिखलाई पड़ता है। परिवारों में मनमुटाव दृष्टिगोचर होता है, समाज में कलह दिखाई देता है, राष्ट्र में अशान्ति नजर आती है। पिता-पुत्र मे, सास-बहू में, देवरानी-जिठानी में, राजा-प्रजा में और शिक्षक-शिष्य मे जो भी संघर्ष विद्यमान है, उसके कारणों पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि अधिकांश संघर्षों का कारण वाणी का दुरुपयोग ही है इस विषय में सुन्दर कवि ने बड़ी अच्छी बात कही है—

वचन तें गुरु-शिष्य बाप पूत प्यारो होय,
वचन तें बहुविध होत उत्पात हैं ।
वचन तें नारी औ पुरुष में नेह अति,

वचन तें दौड आप आप में रिसात हैं ।
वचन तें सब आए राजा के हजूर होएं,
वचन तें चाकर हू छोड़ के पलात हैं ।
'सुन्दर' सुवचन सुनत अति सुखी होय,
कुवचन सुनत ही प्रीति घट जात है ॥

मृदुतासम्पन्न पुरुष वास्तव में भाग्यशाली कहलाने का अधिकारी है। जिसका हृदय मृदुता के बहुमूल्य मंडन से मंडित है, उस के कृत्यों मे भी मृदुता का ही आभास होगा। वह अपने हाथों से कभी किसी को कष्ट या भय नहीं देगा किन्तु यदि परोपकार या परहित का अवसर आजाय तो वह अपने इन हाथों में सुरक्षित रही हुई मृदुता की शक्ति का प्रयोग कर लेगा। अर्थात् उस के हाथ केवल किसी की रक्षा के लिए, किसी को आश्रय देने के लिए और किसी के कष्ट की निवृत्ति के लिए ही उठेंगे। उस के हाथों में कुछ ऐसी अनिर्वचनीय विद्युत् का संचार होता है कि यदि वह किसी पशु की पीठ पर भी प्रेम से उन्हें फेरे तो वह पशु भी प्रफुल्लित हो उठता है।

मृदुतापूर्ण पुरुष का मन भी अति कोमल तथा दया के अमृत रस से द्रवित रहता है। वास्तव मे तो मृदुता का स्थान मन ही है और वहीं से वह दूसरे अवयवों में अर्थात् वाणी, दृष्टि और हाथों में प्रकट होती है। अन्यथा जो चीज मन में न हो, वह किसी और अंग में व्यक्त कैसे हो सकती है? मृदुतायुक्त मन ही अपनी स्वर्गीय सम्पत्ति से अन्य इन्द्रियों को सम्पन्न बना देता है। अतएव वाणी की मृदुता के लिए मन की मृदुता अनिवार्य है और मन की मृदुता ही वास्तविक मृदुता है। इसीलिए कबीर जी कहते हैं:—

कबीर माला मनह की, और संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिलें तो गले रहट के देख ॥

अर्थात्—माला का ठीक प्रयोग मन की लगन से ही हो सकता है। अगर मन माला फेरने में व्यस्त नहीं है, वह इधर-उधर भटक रहा

है और केवल हाथ से ही माला फेरी जा रही है तो उसका कोई सुपरिणाम आने वाला नहीं है। कूप पर रहट फिरता रहता है तो कूप को भगवान् थोड़े ही मिल जाते हैं। असली चीज तो मन ही है। मन मे मृदुता आनी चाहिए ।

जिस मनुष्य का मन कोमल है, उसके सन्मुख चाहे संसार के सारे समुद्र एकत्रित हो जाएँ, असख्य सूर्य एक ही साथ तपने लगें, प्रलयकाल की भीषण वायु-तरगें उठें, फिर भी उसकी शान्ति भंग नहीं हो सकती ।

अतएव यह सत्य है कि मृदुता का मूल स्रोत मन ही है, किन्तु मन की मृदुता की अभिव्यक्ति प्रायः वाणी द्वारा ही होती है। इसलिए हे संसार के मनुष्यो !—

बोल सकते हो अगर तो बोल लो,
तुम बड़ी प्यारी रसीली बोलियां ।
दिल किसी का चूर करते मत रहो,
मुंह से चलाकर गालियों की गोलियाँ ॥

यह बात विस्मरण न करनी चाहिए कि दुर्जन पुरुष कई बार प्रकट में तो बड़ी सुन्दर तथा कोमल वाणी का उच्चारण करते हैं, किन्तु उनके हृदयस्थल मे कपट भरा रहता है और क्रूरता क्रीड़ा किया करती है। एक फारसी भाषा का कवि कहता है:—

बद अंदेश रा लफ्ज़े शीरीं मनी ।
कि मुमकिन बुनद ज़हर दर अंगनी ॥

अर्थात्—दुर्जन के मीठे २ शब्द सुन कर भूल मत जाना, क्योंकि संभव है, मधु में विष का मिश्रण हो ।

ऐसे कपटी पुरुष, जिनका बाह्य तथा आन्तर स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, अन्ततः जब सचेत होते हैं तो अपने कपटपूर्ण आचरण का अनुभव करके स्वयं ही कहने लगते हैं:—

शखसम बचश्मे आलिमियाँ खूब मनजरस्त ।
वज खुबसे बातनम सरे खिजलत फगन्दाह पेश ॥

अर्थात्—मेरे वाहिरी ठाठ से लोग मुझे भला समझते हैं, परन्तु अपनी अन्तरिक नीचता के कारण मेरा सिर शर्म से नीचे झुका हुआ है।

इस प्रकार कपटी पुरुप की आत्मा स्वयं ही अपने आप को धिक्कार-ती रहती है और वह मन ही मन लज्जित होता रहता है। सहज ही सोचा जा सकता है कि जिसकी आन्तरिक आत्मा अपने आपको धिक्कार का पात्र समझती हो, उस का जीवन किस प्रकार प्रफुल्लित और आह्लादमय वन सकता है? यही कारण है कि कपटी की आंखें नीची रहती हैं।

हमारे शास्त्रकारों ने भापा के सम्यक् प्रयोग पर वहुत वल दिया है। सत्यव्रत का निर्माण इसीलिए किया गया है कि मनुष्य अपने मन में भापा की सचाई का सदैव ख्याल रक्खे और कभी कटुक, कठोर और असत्य भापा का प्रयोग न करे। सत्य की उपासना करने वाले की सुविधा के लिए शास्त्र में भापा का वर्गीकरण कर दिया गया है और उसे मुख्य रूप से चार वर्गो मे वाँट दिया गया है—(१) सत्य भापा (२) असत्य भापा (३) मिश्र भापा और (४) व्यवहार भापा।

इन चार प्रकार की भापाओं में से असत्य और मिश्र अर्थात् कुछ सत्य और कुछ असत्य भापा सर्वथा हेय है। सत्पुरुप इन दो प्रकार की भापाओं का कदापि प्रयोग नहीं करते। वे या तो सत्यभापा का प्रयोग करते है या व्यवहारभापा का। व्यवहारभापा वह भापा है, जिस मे असत्य की या सत्य की कल्पना नहीं होती, फिर भी लोकव्यवहार में वह असत्य नहीं समझी जाती। जैसे— 'यह मार्ग देहली जाता है।' इस प्रकार वोलने का रिवाज है। यद्यपि मार्ग का धर्म जाना नहीं है, वह जहाँ का तहाँ ही रहता है और फिर मार्ग पर चलने वाले पथिक ही जाते हैं, फिर भी आमतौर पर ऐसे ही कहा जाता है कि यह सड़क अमुक गाँव को जाती है। इस तरह की भापा व्यवहारभापा कहलाती है।

सत्यभापा भी दो प्रकार की है— वक्तव्य और अवक्तव्य। सत्पु-रुप वक्तव्य अर्थात् वोलने योग्य भापा का ही प्रयोग करते हैं। जो भापा

सत्य होने पर भी बोलने योग्य नहीं है, ऐसी पापमय, कर्कश, पीड़ाजनक, सन्देहग्रस्त और असभ्य भाषा का भी वे प्रयोग नहीं करते। जिस ने अपने मन और वाणी पर पूरी तरह नियंत्रण कर लिया है, वह भलीभाँति समझ-बूझ कर हित, मित, सत्य और पथ्य भाषा ही बोलेगा। उस की जीभ से कभी अनुचित और अप्रशस्त शब्द नहीं निकलेंगे। वह प्रतिक्षण इस बात को ध्यान में रखता है—

जिह्वायाः खण्डनं नास्ति, तालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ? ॥

कोमल-कान्त-पदावली का उच्चारण करने से, ऐसा तो नहीं है कि जीभ कट जाय अथवा तालु भिद जाय। कोमल शब्दों की कमी भी नहीं है। कोमल शब्दों का विशाल भंडार भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में कोमल और मधुर शब्द बोलने में क्यों दरिद्रता दिखलाई जाय ? भलेमानुस, तेरे पास दान देने को और कुछ नहीं है तो मीठी बोली का तो दान तू दे ही सकता है। इस दान में तेरी कौन सी पूंजी व्यय होती है ?

मनुष्य अपने सौंदर्य का प्रदर्शन करने के लिए सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं। किन्तु उन्हें पता नहीं कि—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥

सचमुच, मनुष्य का सच्चा आभूषण वाणी ही है। कड़े, कुण्डल और केयूर पहन लेने से पुरुष की शोभा नहीं बढ़ती। चन्द्रमा के समान चमकने वाले हार धारण कर लेने से भी मनुष्य का सौन्दर्य नहीं खिलता। स्नान करने से, सुगन्धमय द्रव्यों का लेप करने से, फूलों की माला पहनने से और बालों को सँवार लेने से भी मनुष्य सुन्दर नहीं बन जाता। मनुष्य की वाणी में अगर सौन्दर्य नहीं है तो यह सब

सौन्दर्यवर्द्धक वस्तुएँ व्यर्थ हैं। अतएव हे मानव! यदि तू अपने सौन्दर्य को दूसरों के समक्ष प्रकट करना चाहता है, वाह्यसौन्दर्य के साथ अपने अन्तरङ्ग को भी सौन्दर्यसम्पन्न बनाना चाहता है तो वाणी के बहुमूल्य आभूषण को धारण कर। इस आभूषण से तेरा यह जन्म भी सुन्दर बन जायगा और अगले जन्म भी सुन्दर बन जाएँगे।

बन्धुवर! तू सत्पुरुषों के पथ का अनुसरण कर नवनीत की तरह कोमल और मिसरी के समान मधुर वाणी का उच्चारण कर। इसी में तेरा कल्याण है।

# मुनिवृत्ति

संसार में अनेक धर्म, पंथ, सम्प्रदाय और मतमतान्तर प्रचलित हैं। उन की मान्यताएं भी भिन्न भिन्न प्रकार की हैं, किन्तु कुछ व्यापक सिद्धान्त ऐसे भी हैं, जिन्हे सब ने एक स्वर से स्वीकार किया है। ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्तों में त्यागवृत्ति भी है। विश्व के समस्त धर्मशास्त्र त्यागवृत्ति को जीवन के उच्चतर विकास के लिए आवश्यक, वल्कि अनिवार्य समझते हैं। त्यागवृत्ति के विना जीवन सुखमय, सन्तोषपूर्ण और शान्त नहीं वन सकता।

अनादिकालीन वासनाओं के प्रभाव से जीव भोगों की ओर आकर्षित होता है। भोगों में उसे रस आता है और त्याग मे नीरसता प्रतीत होती है। किन्तु विरल व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपनी अनादिकालीन वासनाओं और भोगलिप्साओं पर विजय प्राप्त कर लेते है। उन्हें भोग रोग दिखाई देते हैं, विलास विनाश का प्रतीक प्रतीत होता है और दुनिया के मजे- मौजे मौत की भाँति भयानक मालूम होते हैं ऐसे वासनाओं के विजेता पुरुष संसार के विषय भोगों से विमुख और विरक्त हो जाते हैं और त्यागवृत्ति को अपना कर अपनी आत्मा के उत्थान की साधना मे निमग्न हो जाते हैं। उन के अन्तस्तल में निरन्तर यह ध्वनि गूंजती रहती है—

दारा परिभवकारा, वन्धुजनो वन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा? ॥

दारा परिभव करने वाली है। वन्धु-वान्धव वन्धन रूप हैं। विषयभोग विष के समान हैं। फिर भी आश्चर्य है कि मनुष्य इन सव के मोह में फँस कर इतना मूढ़ वन जाता है कि वह शत्रुओं में मित्र का भाव रखता है।

इस प्रकार की उच्च अनासक्ति की भावना उत्पन्न हो जाना और जन्म-जन्मान्तर के मोहमय संस्कारों पर विजय प्राप्त कर लेना

कोई साधारण बात नहीं है। इस के लिए गंभीर आत्मिक साधना की आवश्यकता है। विषय भोगों के प्रबल आकर्षण से छुटकारा पाने के लिए बड़ी भारी शक्ति चाहिए। त्यागवृत्ति को धारण करने के लिए असीम साहस की और उसे आजीवन निभाने के लिए निश्चल विरक्ति और अटल सत्संकल्प की अनिवार्य आवश्यकता है। त्यागवृत्ति को अपना कर के उस पर स्थिर रहने के लिए कठोर चर्या का अनुसरण करना पड़ता है। बड़ी- बड़ी मुसीबतों का सामना करना होता है।

किन्तु कई लोग, जिन्हों ने त्याग के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर एक भी कदम नहीं बढ़ाया है, जिन्हों ने साधु जीवन की कठिन चर्या का तनिक भी अनुभव और अध्ययन भी नहीं किया है, अज्ञानतावश कह देते हैं कि साधु लोग तो बड़े आनन्द में है। उन्हे न काम-काज करना पड़ता है, न कमाई करनी पड़ती है। दोनों समय सीधा तैयार किया कराया भोजन मिल जाता है और उत्तम भोजन मिल जाता है। इच्छानुसार वस्त्र मिल जाते हैं। सेवा के लिए चेले बना लेते हैं। और बड़े बड़े लोग आकर उनके चरणों पर झुकते हैं। उन्हें जो कुछ चाहिए, सब अनायास मिल जाता है। न किसी प्रकार की चिन्ता करनी पड़ती है न फिक्र।

ऐसा प्रलाप करने वाले लोगों से कहा जाय कि वास्तव में साधु-जीवन अगर इतना मजेदार है और सरल है तो आओ, तुम भी साधु बन जाओ, तो ये दूर भाग जाते हैं। जिस ने साधुजीवन की कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया है, वही लोग इस प्रकार की ऊलजलूल बातें करते हैं, या फिर ऐसे लोग कहते हैं जो ईर्ष्या- द्वेष से ग्रस्त हैं।

कुछ भी हो, सचाई यह है कि मुनिवृत्ति कोई सहज चीज नहीं है। संसार का कोई काम तो शरीर की सहनशीलता से होता है, कोई बुद्धिबल से होता है और कोई मनोबल से। किन्तु साधुधर्म की साधनाओं के लिए इन तीनों के संयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अतएव निर्बल आत्माएँ इस कठिन मार्ग पर गमन नहीं कर सकतीं। यह फूलों का नहीं, काँटों का मार्ग है। यह कोई हास- परिहास नहीं कि जिसका जी चाहे, कर बैठे। इस वृत्ति के सम्बन्ध में यदि यह कहा

जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह तो मोम के दाँतों से *लोहे के चने चवाना है या †भुजाओं से अथाह सागर को तैर कर पार करना है, अथवा ‡गिरिराज सुमेरु को करतल पर धर कर तोलना है।

मुनिवृत्ति एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मनुष्य के धैर्य, साहस, सहनशीलता, संयम, शान्ति, सन्तोप और पवित्रता की परख होती है। इस कसौटी पर खरे स्वर्ण के समान वीर पुरुप ही पूरे उतरते हैं। कायर पुरुप प्रथम तो इस वृत्ति को अङ्गीकार ही नहीं कर सकते; और कदाचित् अङ्गीकार कर लेते हैं तो उस से पतित हो जाते हैं। मुनिवृत्ति की महत्ता का अनुमान इसी वात से लगाया जा सकता है कि सच्चे मुनि जीवित अवस्था में ही मृत्यु से निर्भीक हो जाते हैं।

साधुवृत्ति धारण करके मनुष्य को अपनी सभी वासनाओं और कामनाओं का दमन करना पड़ता है। एक- एक इन्द्रिय को भी वश में करना कितना कठिन है? किन्तु साधु अपनी समस्त इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं, अपनी इच्छाओं का विरोध करते हैं और मन को मारते हैं। यह मन ही सब अनर्थों की जड़ है। यही तमाम इन्द्रियों को उत्तेजित करता है। वड़ा हठीला है, और प्रवल है पारे की तरह चपल है। पल- पल में उस की गति वदलती रहती है। वास्तव में उस पर नियं- त्रण स्थापित कर लेना कोई साधारण वात नहीं है। किन्तु ऐसा किये विना समीचीन रूप से साधुवृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। अतएव जो पुरुप साधुवृत्ति अङ्गीकार करते है, उन्हें मन को भी जीतना पड़ता है। सच्चे सन्तों के लक्षण वतलाते हुए कहा गया है—

विपयों की आशा नहिं जिनको, साम्यभाव धन रखते हैं,
निज-पर के हित-साधन में जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थत्याग की कठिन तपस्या विना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के दुःख समूह को हरते हैं।

---

*—जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं। †—जहा भुयाहिं तरिउं दुक्करं रयणायरो। ‡—जहा तुलाए तोलेउं, दुक्क- रो मन्दरो गिरी। (उत्तराध्ययन अ० १९)

इस प्रकार की साधना क्या साधारण साधना है ? इस के लिए साधु को निरन्तर जागृत और सावधान रहना पड़ता है, सतत आत्म-निरीक्षण करना पड़ता है, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन और तपश्चरण का प्रयोग करना होता है, विषय-वासना की ओर दौड़ने वाले मन को संयम का अंकुश लगा कर रोकना होता है। तब कहीं सच्ची साधुवृत्ति का भलीभाँति निर्वाह और आचरण हो सकता है।

ऐसी स्थिति में जो लोग बिना समझे- बूझे अथवा ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर साधु- महात्माओं पर आक्षेप करते हैं, वे अपनी त्रुटियों और निर्बलताओं को विस्तृत करके दोषदृष्टि को ही सामने रखते हैं। साधुजनों का हृदय विश्ववात्सल्य के पीयूषरस से परिपूर्ण होता है, जबकि एक साधारण दोषदृष्टि रखने वाला पुरुष अपने सगे- सम्बन्धियों से भी प्रेम नहीं कर सकता; प्रत्युत उनका भी विरोधी बना रहता है। ऐसा पुरुष कभी सत्य को उपलब्ध नहीं कर सकता। छिद्रान्वेषी पुरुष की दृष्टि को एक ऐसा अनोखा यन्त्र कहना चाहिए, जिस में पड़ कर परकीय गुण भी अवगुण के रूप में ढल जाते हैं। दोषदर्शी पुरुष किसी का भी प्रीतिभाजन नहीं बन पाता। शेख सादी ने इस संबन्ध में ठीक ही कहा है—

शुनीदम कि मरदाने राहे खुदा,
दिले दुश्मनां हम न करदन्द तंग।
तुरा कै मुयस्सर शब्द ईं मुकाम,
कि बा दोस्तानत खिलाफस्तो जंग॥

अर्थात्—मुझे ज्ञान है कि सच्चे सन्त अपने शत्रुओं के हृदय को भी दुःखित नहीं करते। तू उन के उस उच्च स्थल पर कैसे पहुँच सकता है, उस उच्चतर भूमिका को कैसे पा सकता है, जिस का कि अपने मित्रों के प्रति भी वैर और शत्रुभाव बना हुआ है।

सच्चे सन्त सारे संसार को अर्थात् विश्ववर्ती समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझते हैं। प्रत्येक नर-नारी, यहां तक की क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु भी उन का बन्धु है। किन्तु उन के वास्तविक बन्धु ये

होते हैं:—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिः परस्सगेहिनी,
सत्यं सुनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भयं योगिनः॥

अर्थात्—धैर्य जिस का पिता हो, क्षमा माता हो, शान्ति गृहिणी हो, सत्य सुपुत्र हो, दया बहिन हो और मनोनिग्रह भाई हो, पृथ्वीतल ही जिस की शय्या हो, दिशाएँ जिस के वस्त्र हों और जो ज्ञान के अमृत का ही आहार करता हो, जिस का इतना सुन्दर और विशाल परिवार हो उस योगी को भय किस से हो सकता है? वह प्रत्येक परिस्थिति मे निर्भय और मस्त रहता है।

सच्चे सन्त की अभिलाषा क्या होती है और वह कौन-से धन की कामना करता है, यह भी सुन लीजिए—

ऐ कनाअत तवंगरम गरमां कि बेश अज़् तो हेच नेमते नेस्त।

अर्थात्—हे सन्तोष! मुझे तो तू ही धनवान् बना; क्योंकि तुझ से बड़ा और कोई ऐश्वर्य नहीं है। सन्तोष के अभाव में मनुष्य अधिक से अधिक ऐश्वर्यशाली होने पर भी तृष्णा की आग मे जलता और व्याकुल होता रहता है। संसार की समग्र सम्पत्ति भी उसे सुखदायिनी नहीं हो सकती; किन्तु जब अन्तस्तल में सन्तोष का शीतल निर्झर प्रवाहित होने लगता है, तो संसार की समग्र सम्पत्ति धूल के समान प्रतीत होने लगती है। कहा भी है—

जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूल समान।

ऐसे सन्तोषशाली सन्त संसार के मनुष्यों को, जो विषय-विकारों में आसक्त रहते हैं, सम्बोधन करते हुए कहते हैं:—

कनाअत तवंगर कुनद मरद रा,
खबर कुन हरीसे जहां गरद रा॥

संसार में व्यर्थ भटकने वाले लोभी मनुष्य को सावधान कर दो कि केवल सन्तोष ही मनुष्य को धनवान् बनाता है।

यह बात नहीं है कि संसार के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य से बचने की नीयत से साधु बना जाता है। साधु बन कर मनुष्य अपने कंधों पर महान् और विशाल उत्तरदायित्व को ग्रहण करता है। गृहस्थ का उत्तरदायित्व प्रायः अपने परिवार तक, बिरादरी तक या अपने राष्ट्र तक परिमित होता है। उस के ऊपर परिमित बोझ रहता है। परन्तु साधु बन जाने के पश्चात् उस का उत्तरदायित्व विश्वव्यापी हो जाता है, क्योंकि साधु पृथ्वीतल के प्रत्येक प्राणी को अपना परिवार-जन ही समझता है। अतएव वह अपनी समग्र शक्तियाँ लोककल्याण में व्यय करता है, किन्तु साथ ही साथ वह अपनी आध्यात्मिक साधना में भी तत्पर रहता है। वह अपनी साधना को ऐसा समन्वित रूप प्रदान करता है कि विश्वकल्याण और आत्मकल्याण में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जिस का व्यक्तित्व विश्वव्यापी बन जायगा, उस के लिए व्यष्टि और समष्टि का भेद कैसे रह सकता है? अतएव साधु पुरुष जहां लोकहित का साधन करते हैं, वहीं बड़ी धीरता और वीरता के साथ क्षमा, दया, सत्य, सदाचार आदि के शस्त्रास्त्रों को लेकर कर्मरूपी शत्रुओं के साथ घोर युद्ध भी करते रहते हैं।

तो जिस ने साधुता के पथ पर एक भी पैर नहीं रक्खा है, जिसे साधुजीवन के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का भान नहीं है, वही ऐसा प्रलाप करता है कि साधु बनने में क्या रक्खा है? इस में क्या कठिनाई है? समुद्र ऊपर-ऊपर से सपाट और समतल प्रतीत होता है, किन्तु उस के भीतर कितनी गहराई है? यह बात तो वही समझता है जो उस में अवगाहन करता है। दूर खड़े हो कर देखने वाले अनुभवशून्य मनुष्य को वास्तविकता का पता नहीं चलता।

अतएव जो लोग समझते है कि साधु तो कोई भी ऐरे-गैरे बन सकते हैं, वे भूल में है। उन की समझ है कि जब भी कमाने और काम करने से जी ऊब गया तो मूंड़ मुड़ाकर और झोली गले में डाल कर साधु बन गये! संन्यासी बन बैठे! इसी दृष्टिकोण से यह

लोकोक्ति चल पड़ी है कि—

मूंड़ मुड़ाये तीन गुण, सिर की मिटती खाज।
खाने को लड्डू मिलें, लोग कहें महाराज॥

लेकिन ऐसा समझना और कहना अपने अज्ञान का परिचय देना है। ऐसे लोगों ने वेष-परिवर्त्तन को ही साधुत्व समझ लिया है, उन्हें क्या ज्ञान कि साधु बनने के लिए वेष के साथ-साथ मन, बुद्धि तथा आत्मा का भी परिवर्तन करना पड़ता है। इस आन्तरिक परिवर्तन के अभाव में बाह्य वेष के परिवर्तन का कुछ अर्थ नहीं है। बाह्य वेष तो सिर्फ पहचान के लिए है। शास्त्र में भी कहा है—

लोए लिंगप्पयोअणं।

बाह्य वेष से आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता! आत्मकल्याण के लिए तो आध्यात्मिक साधना ही कार्यकारिणी होती है।

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥३१॥
(उत्तराध्ययन सू० अ० २५)

अर्थात्—केवल सिर मुण्डाने से कोई साधु नहीं बन जाता, और नाहिं ओंकार शब्द के जाप से कोई ब्राह्मण हो सकता है, इसी भाँति केवल अटवी में निवास कर लेने से ही न कोई मुनि हो सकता है और न केवल घासविशेष अर्थात् डाभ का वस्त्र पहन लेने से तपस्वी बन सकता है।

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥३२॥
(उत्तराध्ययन सू० अ० २५)

अर्थात्—समभाव से श्रमण-साधु, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

किन्तु साधुसमाज पर इस प्रकार का आक्षेप करने वाले भी, आधुनिक परिस्थिति में अधिक दोषपात्र नहीं कहे जा सकते; क्योंकि

वास्तव में कई उदर-देव के पुजारी और साधुवेषधारी साधु कहलाने वाले लोगों ने अपनी कुक्रियाओं के द्वारा साधुसमाज को कलंकित कर दिया है। ऐसे नामधारी साधुओं के विषय में कहा गया है—

दुराचारी दंभी जटिल मुण्डे मुनि घने।
परमादी पाखंडी अबुध गुण्डे घने॥

ऐसे साधु बनना तो उलटा महापाप है। ऐसे वेषधारी साधु स्वयं नरक के पात्र बनते हैं और जनसमाज को पाप-मार्ग पर चलाते हैं। वे दंभ और पाखंड का सेवन करके समस्त साधुसमाज पर से जनता की आस्था कम करते हैं। उन के विषय में कहा गया है—

गृहीतलिङ्गस्य हि चेद् धनाशा, गृहीतलिङ्गो विषयाभिलाषी।
गृहीतलिङ्गो रसलोलुपश्चेद्, विडम्बनं नास्ति ततोऽधिकं हि॥

अर्थात—साधु का वेष धारण कर लेने पर भी यदि धन की आशा बनी रही या विषयों की अभिलाषा न मिटी, रस-लोलुपता का क्षय न हुआ, तो इस से बढ़ कर विडम्बना और क्या हो सकती है? यह तो सब से बड़ा प्रपंच है!

सच्चा साधु वह है जो मलिन और मन्द भावनाओं के मेघों को छिन्न भिन्न करके अपनी आत्मा में विशुद्ध भावनाओं की ज्योति जगाता है, जो परम विरक्ति और परम सन्तोष को अपने हृदय में धारण करता है, जिस के लिए संसार का साम्राज्य भी धूल के समान है, जो मणि को भी तृण के समान उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, जिस ने कंचन और कामिनी की ओर से अपनी मनोवृत्ति मोड़ ली है, जिस के मानस-सरोवर में भूतदया की उत्ताल तरंगें उठती रहती हैं, जो निरंतर अपनी आत्मा में रमण करता रहता है और अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप में निमग्न रहता है, और जो जगत् में रहता हुआ भी जल में कमल की तरह जगत से अलिप्त रहता है।

साधुवृत्ति ग्रहण करके जो झोली ग्रहण की जाती है, वह तो मोक्ष-मार्ग की मंझोली होती है। यह भव-भय को हरने वाली और कर्मसैन्य को चकनाचूर करने वाली है, सच्चे सन्त, जो झोली को धारण करते

हैं, वे संसार के भोगों से विरक्त हो कर क्रोध, मान, माया, लोभ के विषवृक्षों का क्रमशः क्षमा, मृदुता, सरलता और निस्पृहता के तीक्ष्ण शस्त्रों से मूलोच्छेदन करते हैं। अनादिकालीन आत्मिक कल्मष को धो डालने के लिए संयम और संवर की साधना करते हैं। वे सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, बन्धु-वैरी और जीवन-मरण आदि में पूर्ण समभाव धारण करते हैं। सुन्दर कवि ने इस सम्बन्ध में कितना सुन्दर कहा है—

काम ही न क्रोध जाके, लोभ ही न मोह जाके,
मद ही न मत्सर जाके कोउ न विकारो है।
दुःख ही न सुख माने, नाहीं हानि-लाभ जाने,
हरष न शोक आने देह ही सें न्यारो है।
निन्दा न प्रशंसा करे, राग ही न द्वेष धरे,
लेन ही न देन करे, कछु ना पसारो है।
सुन्दर कहत ताकी अगम अगाध गति,
ऐसो कोइ साधु हो तो प्रभु को पियारो है॥

सिख ग्रंथ में सच्चे सन्तों के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं:—

सुख–दुःख जिह परसे नहीं, लोभ मोह अभिमान।
कहे नानक सुन रे मना!, सो मूरत भगवान्॥
इस्तुत निंद्या नाहिं जिह, कंचन लोह समान।
कहे नानक सुन रे मना!, मुक्ति ताहि ते जान॥
हरष–शोक जाके नहीं, वैरी–मीत समान।
कहे नानक सुन रे मना!, मुक्त ताहि ते जान॥
भय काहू को देत ना, ना भय मानत आन।
कहे नानक सुन रे मना!, ज्ञानी ताहि बखान॥

(श्लोक महल्ला ९)

वैदिक सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध शास्त्र भगवद्गीता में सन्तों के लक्षण बड़े विस्तार से बतलाये गये हैं। उन में से एक अंश इस प्रकार है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।
सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मद् भक्तः स मे प्रियः॥

(भगवद्गीता, अ० १२, श्लोक १३-१४)

अर्थात्—वही महात्मा प्रभु का प्यारा होता है, जो किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करता। सब के प्रति मैत्रीभाव धारण करता है। दीन-दुःखियों पर दया करता है। ममत्व और अहंभाव को त्याग देता है। सुख और दुःख को समान समझता है और क्षमाभाव से युक्त होता है। सर्वदा सन्तोषरूपी अमृत का पान किया करता है, अपनी इन्द्रियों पर और मन पर विजय प्राप्त करता है, अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ निश्चय वाला होता है और अपने मन तथा बुद्धि को प्रभु के चरणों में अर्पण कर देता है।

सन्त के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनशास्त्रों में भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये गये हैं। कहा है:—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

(उत्तराध्ययनसूत्र)

अर्थात्—महापुरुष वही है जिस ने ममता को मार डाला है, अहंकार को चकनाचूर कर दिया है, सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर दिया है, बड़प्पन को त्याग दिया है, जो स्थावर और जंगम-प्राणी मात्र के प्रति समान भाव रखता है; जो लाभ और हानि में, सुख और

दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में एक-सा रहता है। सच्चे सन्त की व्याख्या करते हुए मुस्लिम शास्त्र भी फकीर का लक्षण इस प्रकार प्रकट करते हैं—

फ़कीर–फे से फाक़ा–तप, क़ाफ से क़नाअत, सब्र, सन्तोष, ये से यादे इलाही, परमात्मा की याद, रे से रियाजत अर्थात् भजन, बन्दगी, इबादत करना।

अभी कहा गया था कि आजकल कतिपय वेषमात्रधारी साधुओं ने साधुवर्ग को अपनी कुत्सित क्रियाओं से कलंकित कर दिया है, किन्तु यह हर्ष की बात है कि जैन साधु ने अपने चरित्र को देश-काल के अनुरूप, शुद्ध और निर्मल रक्खा है। भगवान् ने संघ की जो व्यवस्था की है और उनके लिए जो नियम-उपनियम बनाये हैं, वे इतने सुन्दर और शृंखलावद्ध हैं और जैन मुनियों की वृत्ति इतनी नियमित और कठिन रक्खी है कि उनके लिए अनुचित व्यवहार करना अत्यन्त कठिन है, जैन साधु का मार्ग इतना सीधा निर्मित हुआ है कि यदि वह उससे तनिक भी इधर उधर होने की चेष्टा करे तो तत्काल साधुव्रत से च्युत हो जाता है और उस दशा में संघ उसे साधु के रूप में स्वीकार नहीं करता।

जैनागमों में साधु के लिए बहुत विस्तार के साथ उपदेश दिया गया है। जितनी कड़ी मर्यादाएँ जैन साधु के लिए रक्खी गई हैं। उतनी और किसी भी मत-मतान्तर के साधु के लिए नहीं बनाई गई हैं!

आक्षेप करने वाले अबुध जन समझते हैं और कहते हैं कि साधुओं को तरह-तरह के रसमय और स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होते हैं, किन्तु जो लोग इस विषय में शास्त्र के आदेशों को जानते हैं, उन्हीं को यथार्थ अवस्था का ज्ञान हो सकता है। साधु के लिए भोजनसंबन्धी नियम बड़े कड़े हैं। शास्त्र में कहा है:—

महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दन्ता, तेण वुच्चंति साहुणो॥

(दशवैकालिक, अ० १ गा० ५)

अर्थात्—हे गौतम! जिस प्रकार भ्रमर फूलों से थोड़ा २ रस

लेकर अपना निर्वाह करता है, उसी प्रकार जो अनेक गृहस्थों के घरों से थोड़ा २ भोजन लेते हैं, अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए, जैसा भी मिल जाय उसी में संतोष धारण करते हैं और अनासक्त भाव से निर्दोष भोजन करते है, वही साधु कहलाते हैं।

और भी कहा है:—

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥

अर्थात्—जिनेन्द्र देव ने कहा है कि साधु मुक्ति की साधना के लिए शरीर को धारण करना आवश्यक समझ कर ही भोजन करे। विना भोजन के शरीर टिक नहीं सकता और विना मानव-तन के मोक्ष की साधना हो नहीं सकती। अतएव मोक्ष की साधना में उपयोगी समझ कर ही साधु इस शरीर को भाड़े के रूप में भोजन देते हैं, किन्तु वह भोजन असावद्य अर्थात् निर्दोष होना चाहिए। ऐसा नहीं कि साधु के भोजन के लिए किसी भी त्रस या स्थावर जीव की हिंसा हो, किसी को पीड़ा पहुँचे, कोई भोजन से वंचित हो जाय, किसी को असुविधा हो अथवा किसी प्रकार का आरम्भ करना पड़े। और भी कहा है:—

अरसं विरसं वा वि, सूइअं वा असूइअं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोअणं।
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुअं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥

(दश० अ० ५, उ०१)

अर्थात्—साधु को जैसा भी आहार मिल जाय। वह उसे सन्तोष के साथ ग्रहण करे। चाहे सरस मिले या नीरस मिले। ताजा मिले या बासी मिले, गीला मिले या रूखा-सूखा मिले। बेर का चूरा मिले या छिलके मिलें, जो भी साधु के लिए तैयार न किया हुआ मिले, चाहे वह थोड़ा हो या पर्याप्त हो, अगर अचित्त है तो साधु उस आहार की अवहेलना न करे। निष्कामजीवी साधु निष्काम भाव से प्राप्त निर्दोष आहार का उपयोग करे।

आहार के संबन्ध में जैन शास्त्रों में जो नियम प्रतिपादित किये गये हैं, उनकी यह तो साधारण-सी झांकी है। उन सब नियमों का उल्लेख करने पर तो एक विशाल काय ग्रन्थ ही बन सकता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कि साधु मन चाहा बढ़िया भोजन करते हैं, भ्रम मात्र है।

जैन साधुओं और साध्वियों के लिए जिन पाँच महाव्रतों को पालन करने का आदेश है, उनकी साधना करना भी कोई सरल काम नहीं। फिर उनके अतिरिक्त और भी इतने कड़े नियम हैं कि जिन का पालन करना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। धन-सम्पत्ति के नाम पर एक कानी कौड़ी भी पास न रखना, रात्रि में भोजन न करना। शीत-उष्ण आदि बाईस परीषहों को सहन करना, पैदल यात्रा करना, एक ही स्थान पर जम कर न रहना और यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश करना, हरी वनस्पति और फल आदि का सेवन न करना, किसी का आमंत्रण स्वीकार करके भोजन न करना और केवल भिक्षा-वृत्ति के द्वारा ही शरीरनिर्वाह करना; साधु के लिए, दीन-दुःखियों एवं भिखारियों के लिए तैयार किया हुआ भोजन न लेना। हाथों से केशलुञ्चन करना, नंगे सिर और नंगे पाँव विहार करना; आहार आदि न मिलने पर खिन्नचित्त न होना, वर्षा होते समय और भीषण आँधी चलते समय भिक्षा के लिए न निकलना, और दुःख एवं कष्ट देने वाले का भी अनिष्ट चिन्तन न करना, नियत समय पर स्वाध्याय और ध्यान करना, सांसारिक प्रपंचों से दूर रहना, व्यर्थ बातें न करना, आदि-आदि सहस्रों नियम साधु को पालने होते हैं। इन सब व्रतों और नियमों का पालन करना क्या साधारण बात है?

इस प्रकार विचारपूर्वक देखने से विदित होगा कि सांसारिक भोग-विलासों का बाह्य रूप में त्याग करना ही कठिन होता है, किन्तु साधु को तो मान प्रतिष्ठा आदि आन्तरिक दुर्गुणों का भी परित्याग करना पड़ता है, एक फारसी के कवि ने कहा है:—

जाहिर अज़ आमाले नेको पाक कुन।
बातन अज़ हक्कुल् यकीं बेबाक कुन॥

अर्थात्—हे जीव ! तू अपने बाह्य स्वरूप को शुभ कर्मों द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावों का दृढ़ श्रद्धा से उत्थान कर।

इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं कि चरित्र का निर्माण करने के लिए कष्ट सहन करने पड़ते हैं, अत्यन्त सावधानी के साथ व्यवहार करना पड़ता है और एक-एक क़दम सोच विचार कर ही रखना होता है और विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। किन्तु कल्याणमार्ग पर चलने वाले मुनियों के लिए कष्ट सहन करना उन के नित्य-जीवन का एक साधारण अंग बन जाता है। फिर भी किसी असावधानी से या सहज दुर्बलता से किसी नियम का भंग हो जाय तो उनके हृदय पर वज्रपात-सा हो जाता है। उसके लिए वे पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त भी करते हैं।

साधु मानव-जीवन के पावन और उच्चतम उद्देश्य की प्रतिमूर्ति है। वह संयम और सदाचार की चलती फिरती प्रतिमा है। अंधकार में विचरण करने वाले संसार के लिए प्रकाशस्तम्भ है। परमात्मा बनाने वाली साधना का प्रतीक है। वह काजल की कोठरी में रहते हुए भी कालिमा से बचे रहने की कला है। साधु का जीवन तप और त्याग का जीवन है। अतएव भूल कर भी यह बात नहीं कहनी चाहिए कि साधु-महात्मा निकम्मे रह कर गृहस्थियों की कमाई पर आनन्द करते हैं।

जैनधर्म में गृहस्थों के लिए विधान है कि वे भी समय-समय पर साधुओं सरीखी वृत्ति का पालन करें। जो ऐसा करते हैं उन्हें साधु-जीवन का अभ्यास हो जाता है और उस की कठिनाइयों का ज्ञान हो जाता है। इस में सन्देह नहीं कि मुनिवृत्ति दुष्कर है, किन्तु जो दुष्कर को करते हैं, वही मुक्ति के मधुर सुफल को पाते हैं। प्रवृत्तिमार्ग पर चलने वालों को तात्कालिक सुख की अनुभूति होती है, किन्तु वास्तव में वह सुख नहीं, सुखाभास है। उस का अन्तिम परिणाम घोर दुःखमय होता है। अतएव प्रत्येक सुखाभिलाषी को यथासंभव निवृत्ति की ओर ही बढ़ना चाहिए और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए सन्मुख होना चाहिए। परिश्रम, कठिनाई और दुःख सहन करने के पश्चात् ही सुख की प्राप्ति होती है।

—:o:—

# अहिंसा

भारतवर्ष के विभिन्न धर्मों की आचारप्रणालिका पर तुलनात्मक विचार करते हैं, तो विदित होता है कि उस में बहुत कुछ समानता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को हम सर्वसम्मत धर्म कह सकते हैं। फिर भी इस में सन्देह नहीं कि जैनशास्त्रों मे अहिंसा का जैसा सर्वांगीण, विशद, प्रभावजनक और व्यावहारिक विवेचन किया गया है, वैसा किसी भी भारतीय धर्मशास्त्र में नहीं मिलता। सूक्ष्म विचार करने पर यह भी स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि जैनाचार की मूल भित्ति अहिंसा है। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है, इस कथन में लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है। जैनधर्म के भव्य, मनोहर और विशाल भवन की पहली ईंट अहिंसा ही है। अथवा यों कह सकते हैं कि मुक्ति-रूपी महल में प्रवेश करने के लिए जैनधर्म ने जो सोपान-रचना की है, उस की पहली सीढ़ी अहिंसा है। जैनधर्म का दूसरा नाम ही अहिंसा-धर्म या दयाधर्म है।

यों तो भारतीय और अभारतीय सभी धर्म अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार करते हैं और जिन्हों ने हिंसा का विधान किया है, वे भी उस हिंसा को अहिंसा ही मानते हैं। यद्यपि उन का वह विधान समीचीन नहीं है, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है संसार के किसी भी धर्म ने हिंसा को धर्म के रूप में अंगीकार नहीं किया। जब हम वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान और इसाई धर्म के ग्रन्थों को देखते हैं तो यह सत्य स्पष्ट रूप से झलकने लगता है। इन धर्मों के प्रतिपादक ग्रन्थो और धर्म-नेताओं ने अहिंसा की मुक्त कंठ से सराहना की है। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि अहिंसातत्त्व की जितनी सूक्ष्म और गहन विवेचना जैनशास्त्रों में उपलब्ध होती है, वह अद्वितीय और असाधारण है। जैनधर्म के उपदेष्टाओं ने अहिंसा के सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। भगवान महावीर अपनी वाणी में फरमाते हैं—

एवं खु नाणिनो सारं, जं न हिंसइ किंचणं,
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया ॥
(सूयगडांगसूत्र अ० ११ गा० १०)

जैनाचार के प्रवर्तकों ने अहिंसा की मीमांसा ही नहीं की है, प्रत्युत उस को स्वयं आचरण मे लाकर उस की व्यवहार्यता भी प्रमाणित कर दी है। अगणित जैन सन्त अहिंसा के उस रूप का अपने जीवन में आचरण करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं। अतएव उस की व्यवहारिकता के विषय में कोई भ्रम नहीं रहना चाहिए।

अन्य मतों ने अहिंसा को केवल कायिक रूप देकर ही समाप्त कर दिया है; किन्तु जैनधर्म का अहिंसातत्त्व उस से बहुत आगे वाचिक और मानसिक होकर आत्मिक रूप तक चला गया है। प्रायः दूसरे धर्मों ने अपनी अहिंसा की मर्यादा मनुष्य जाति तक ही मानी है और कहीं उस से आगे गई तो पशुओं और पक्षियों तक सीमित हो गई। किन्तु जैनधर्म की अहिंसा की कोई ऐसी मर्यादा नहीं है। जैन अहिंसा के विशालतर प्रांगण में विश्व के समस्त चराचर जीवों का समावेश होता है, फिर भी वह अमर्याद और असीम है, वह आकाश की तरह असीम है, आत्मा की तरह सूक्ष्म है और काल की तरह अनन्त है।

ऐसा होने पर भी खेद की बात यह है कि जैनधर्म के इस महान् तत्त्व के यथार्थ रहस्य को समझने का प्रयास बहुत कम लोगों ने किया है। यही कारण है कि इस विषय में साधारण जनता में और विद्वत्समाज में भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। कभी-कभी तो प्रतिष्ठित विद्वान् भी इसको अनाचरणीय, आत्मघातक एवं कायरता की जननी कह बैठते हैं और कई लोग यह आरोप लगाते हैं कि अहिंसा के कारण ही राष्ट्र का अधःपतन हुआ है; उनके खयाल से जैनों की अहिंसा ने देश को कायर और निर्वीर्य बना डाला है।

अहिंसा पर किये जाने वाले इन आक्षेपों पर आगे संक्षेप में विचार किया जायगा। यहाँ आत्मनिरीक्षण के तौर पर एक बात कहनी है। वह यह कि आजकल के जैनसमाज का जीवन कुछ इस प्रकार का

वन गया है कि उसे देख-देख कर लोगों को इस प्रकार के आक्षेप करने का अवसर मिलता है। जैन समाज के वर्तमान जीवन की गति-विधि में भीरुता का अंश आ गया है और यही कारण है कि जिन लोगों ने स्वतंत्र भाव से जैन शास्त्रों का गंभीर अध्ययन नहीं किया है और जो लोग जैन समाज को देख कर ही जैनों के अहिंसातत्त्व के विषय में अपनी धारणाएँ वनाते हैं, उन्हे ऐसे २ आक्षेप करने का मौका मिलता है। किन्तु अहिंसा के शुद्ध और असली शास्त्रोक्त स्वरूप का अध्ययन करने पर इन आक्षेपों और आशंकाओं का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

अब थोड़ा इन आक्षेपों पर विचार कर ले। जैन धर्म की अहिंसा पर पहला आक्षेप यह किया जाता है कि इसकी मर्यादा इतनी बढ़ा दी गई है कि वह व्यवहार में लाई ही नहीं जा सकती। अर्थात् जैन-अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन किया जाय तो जीवन के समस्त व्यापारों को, समस्त क्रियाओं को वंद कर देना पड़ेगा; निश्चेष्ट होकर देह का ही परित्याग कर देना होगा। उनका तात्पर्य यह है कि जीवन व्यवहार चलाना और जैन अहिंसा का पालन करना परस्पर विरुद्ध है। या तो मनुष्य इस अहिंसा की उपेक्षा करके जीवन चलावे या फिर अहिंसा का पालन करने के प्रयास में अपने आपको समाप्त कर दे। इस प्रकार जैनअहिंसा के सिद्धान्त का पालन करना एक कल्पना मात्र है। जब कोई भी मनुष्य अहिंसा का पालन करने के लिए प्राणत्याग देने को तैयार नहीं हो सकता तो अहिंसा का आचरण करना भी संभव नहीं।

ऊपर-ऊपर से विचार करने पर यह आक्षेप बड़ा ठोस प्रतीत होता है। किन्तु जैनशास्त्रों में अहिंसा का जो वर्गीकरण किया है और साधक की योग्यता एवं भूमिका के आधार पर अहिंसा की जो श्रेणियां वनाई गई हैं, उन को भली भाँति समझ लिया जाय तो इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं रह जाती।

गंगा अपना विशाल रूप लिये वह रही है। उसकी असीम जलराशि और चौड़े पाट को देखकर कोई मनुष्य किनारे पर खड़ा २ विचार करे कि मैं प्यास से छटपटा रहा हूँ; मगर गंगा का जल पीयूँ तो कैसे पीऊँ? गंगा का प्रवाह वहुत वड़ा है और मेरा मुँह वहुत छोटा

है। इस छोटे से मुँह में इतना बड़ा प्रवाह कैसे समा सकता है ? तो ऐसा सोचने वाले पुरुष को आप क्या कहेंगे ? यही कहेंगे कि गंगा का प्रवाह विशाल है तो इसमें तेरी क्या हानि है ? यह अनिवार्य तो है नहीं कि तू पीये तो सम्पूर्ण प्रवाह को पीये और न पीये तो बिल्कुल ही न पीये और प्यास से छटपटाता ही रहे; तुझे जितनी प्यास है उतना पी सकता है ! सारांश यह कि प्रवाह के विशाल और असीम होने के कारण गंगा का जल जैसे अपेय नहीं हो जाता, उसी प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त विशाल और असीम होने पर भी अनाचरणीय नहीं है। जैसे गंगा की असीम जलराशि में से एक चुल्लू, एक लोटा, एक घड़ा पानी लेकर व्यवहार में लाया जा सकता है, उसी प्रकार अहिंसा का भी अपनी शक्ति के अनुसार व्यवहार किया जा सकता है।

जैनधर्म में साधकों की अनेक श्रेणियाँ हैं और उनके सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा की भी अनेक श्रेणियाँ हैं। मुनिजन सम्पूर्ण अहिंसा का पालन करते हैं और गृहस्थ के लिए देश-अहिंसा का विधान है, जिसे अहिंसाणुव्रत कहते हैं। फिर इसमें भी बहुत-सी कोटियाँ हैं और जो जिस कोटि की अहिंसा का पालन कर सकता हो, वह उसी का पालन करता है।

यह समझना कि अहिंसा का पालन करने से संसार के काम ही रुक जाते हैं सर्वथा भ्रम है। अनेक राजा-महाराजा और सम्राट् हो चुके हैं, जो अपने जीवन काल में अहिंसा का भी पालन करते थे और बड़े २ साम्राज्यों का भी संचालन करते थे। इसका कारण यही है कि उन्होंने देश अहिंसा की प्रतिज्ञा ग्रहण की थी। वे संकल्पजा हिंसा अर्थात् मार डालने की बुद्धि से की जाने वाली हिंसा के त्यागी थे। आरंभजा और विरोधी हिंसा के त्यागी नहीं थे। उन्होंने निरपराध जीवों की हिंसा का त्याग किया था, अपराधी को दंड देने का त्याग नहीं किया था।

इस प्रकार जब हम अहिंसा की बारीकियों में उतरते और विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म की अहिंसा न अव्यवहार्य है और न अनाचरणीय ही।

जैन-अहिंसा पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि इस अहिंसा के प्रचार ने भारतवर्ष को कायर बना दिया और दासता की जंजीरों में जकड़ दिया है। इस प्रकार का आक्षेप करने वाले लोगों का कथन है कि हिंसाजन्य पाप से भयभीत हो कर भारतीय लोग शौर्य और वीर्य को गँवा बैठे, जिस के कारण यहाँ की प्रजा के मानस में से युद्ध करने की भावना नितान्त नष्ट हो गई और ऐसी स्थिति में विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश पर लगातार आक्रमण करके इसे अपने आधीन कर लिया।

अहिंसा पर किया जाने वाला यह आक्षेप भी प्रमाणहीन और निराधार है। ज्ञात होता है कि आक्षेपकर्त्ताओं ने भारतीय इतिहास पर गम्भीरता से विचार ही नहीं किया है। भारत का प्राचीन इतिहास तो यह साबित करता है कि जब तक इस देश में अहिंसा के उपासक शासकों का राज्य बना रहा, तब तक यहां की प्रजा मे शौर्य और पराक्रम की तनिक भी कमी नहीं रही। उन शासकों ने अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए शक्तिशाली शत्रुओं के साथ वीरतापूर्ण युद्ध किए और कदापि कायरता से सिर नही झुकाया। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक अहिंसाधर्म के सब से बड़े उपासक और प्रचारक थे किन्तु उनके शासन-काल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। बल्कि भारत की जितनी विशाल सीमाएँ उस काल में थीं, उतनी कभी नहीं रहीं और न निकट भविष्य में होने की संभावना ही की जा सकती है।

फिर इस आक्षेप का जीता जागता उत्तर महात्मा गांधी का जीवन है। गांधी जी अहिंसा के उपासक थे। किन्तु क्या कोई कह सकता है कि उनमें कायरता थी? गांधी जी ने अहिंसा के दिव्य शस्त्र को ग्रहण करके शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार का डट कर सामना किया और रक्त की एक भी बूंद बहाये बिना उसके पैर उखाड़ दिये। सैकड़ों वर्षों की भारत की दासता का अन्त आया तो आखिर अहिंसा के ही प्रभाव से अहिंसा के ही प्रताप से और अहिंसा की ही असाधारण शक्ति से आया! स्वयं गांधी जी कहते थे मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति

है। कायरता तथा दुर्बलता के लिए इसमें स्थान नहीं है। एक हिंसक से तो अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है, किन्तु कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता।'

वस्तुतः अहिंसा और कायरता का कोई संबंध नहीं। दोनों में आकाश और पाताल का सा अन्तर है। अहिंसा अगर कायरता की जननी होती और हिंसा शूरवीरता की जननी होती तो सभी हिंसा-वादी लोग शूर-वीर दिखाई देते। किन्तु न पूर्वकाल के इतिहास से ही यह बात प्रमाणित होती है और न आधुनिक समय को देखते हुए ही इस ख्याल की पुष्टि होती है। आधुनिक काल में कांग्रेस-दल से संबन्ध रखने वाले पराक्रमी वीरों ने अहिंसा के प्रशस्त पथ का अनुसरण करते हुए निर्भीकता के साथ अपनी छाती में गोलियाँ खाईं।

इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि सच्ची अहिंसा मनुष्य को कदापि कायर नहीं बना सकती। अहिंसा स्वयं शक्ति है और प्रचण्ड शक्ति है। इस शक्ति की उपासना करने वाला निर्भीक, शूरवीर और तेजस्वी ही बनेगा; कायर, दब्बू और डरपोक नहीं बनेगा अपनी स्वाभाविक कायरता और दुर्बलता को आच्छादित करने के लिए अहिंसक होने का बहाना करना अलग बात है, किन्तु सच्चा अहिंसक कायर नहीं हो सकता।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अहिंसा के बिना कोई भी धर्म नहीं टिक सकता। प्रत्येक धर्म आत्मशान्ति और विश्वशान्ति के पवित्र उद्देश्य को लेकर ही स्थापित हुआ है और यह उद्देश्य अहिंसा के अभाव में पूरा हो ही नहीं सकता। संसार मे जो कुछ भी शान्ति दृष्टिगोचर होती है और मानव जाति मे दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, सहानुभूति आदि की जो स्वर्गीय भावनाएँ पाई जाती हैं। यह सब भगवती अहिंसा की बहुमूल्य देन है। संसार के प्राणी मात्र में कदाचित् हिंसा और द्वेष की भावना जागृत हो जाय और अहिंसा की भावना लेश मात्र भी न रहे तो उस समय इस संसार की क्या स्थिति हो? क्या यह संसार नरक से भी अधिक भयानक नहीं हो जायेगा? भाई २ को, माता अपने पुत्र को, पति पत्नी को और प्रत्येक दूसरे को मार डालने और खा जाने के लिए

तैयार नहीं हो जायगा ? जरा कल्पना तो कीजिए उस विश्व की जिस में हिंसा और मारकाट का ही बाजार गर्म हो ! कितना बीभत्स होगा वह ?

जो लोग अहिंसा पर भाँति-भाँति के आक्षेप करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि उन का जीवन भी अहिंसा की बदौलत ही कायम है। अहिंसा के बिना जगत् स्थिर नहीं रह सकता। यही कारण है कि जगत् के प्रत्येक धर्म ने अहिंसा को धर्म स्वीकार किया है। भगवद्गीता में लिखा है:—

यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।

(गीता, अ० १२ श्लो० १५)

अर्थात्—जो मनुष्य न किसी को दुःख देता है और न किसी से दुःखी होता है, वही ईश्वर का प्यारा होता है।

सिक्ख धर्म के ग्रन्थ साहब में कहा है:—

ना को वैरी नहीं बेगाना, सगल संग हम को बन आई।

(कानड़ा महल्ला ५)

इस्लाम धर्म में भी दया करने के कई दृष्टान्त हमें मिलते हैं। एक स्थल पर लिखा है—मुहम्मद साहब अपने शत्रुओं के बढ़ जाने के कारण एक अवसर पर अपने घर से निकल पड़े। शत्रु उन के पीछे लग गए। मुहम्मद साहब पहाड़ की एक गुफा में प्रवेश करने लगे तो उन्हों ने देखा कि गुफा के मुख पर मकड़ियों के जाले तने हुए हैं। मुहम्मद साहब के दिल में दया आई और उन्हों ने उन जालों को न हटा कर अन्यत्र छिपने का स्थान खोज निकाला।

शत्रु जब वहां पहुंचे तो यह देख कर कि मकड़ी के पुराने जाले वहाँ ज्यों के त्यों विद्यमान हैं, और यह सोच कर कि मुहम्मद साहब इस ओर नहीं आये, वापिस लौट गए। इस प्रकार मुहम्मद साहब के दयाभाव ने उन की प्राणरक्षा की।

जैनशास्त्र अहिंसा के समर्थन में बड़ी सीधी-सादी किन्तु बड़ी ही सबल और सुन्दर युक्ति देते हैं। यहां केवल एक दो प्रमाण दिये जाते हैं:—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

(दशवैकालिकसूत्र, अ० ६, गा० १०)

अर्थात्– संसार के सभी जीव, चाहे दरिद्र हों, रोगी हों, दुःखी हों या किसी भी अवस्था में हों, जीवित ही रहना चाहते हैं और मरना कोई भी नहीं चाहता। इसी कारण निर्ग्रन्थ—जैन मुनि महाभयावह हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं। और भी कहा है:—

'सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं'।

(आचारांग, अ० २ उ० ३, सू० ८१)

अर्थात्– सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है। वे सभी सुख चाहते हैं। सभी दुःख को अवांछनीय समझते हैं। उन्हें वध अप्रिय है और जीवन प्रिय है; अतएव वे दीर्घायु चाहते हैं। और भी कहा है:–

जइ ते न पियं दुक्खं जाणिउ एमेव सव्व जीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अतोवम्मेण कुणसु दयं ॥

(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गा० ६)

अर्थात्– सर्वथप्रम यह विचार कर कि दुःख तुझे प्रिय है या अप्रिय? अगर तुझे अप्रिय है तो और जीवों के विषय में भी यही समझ। जैसे तुझे दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को अप्रिय है। इस प्रकार आत्मौपम्य की बुद्धि से, प्राणियों पर पूर्ण रूप से दया कर।

वेदों के अन्दर भी हमें अनेक स्थलों पर अहिंसा के प्रमाण मिलते हैं:—

न किर्देवा मिनीमसि, न किरा योपयामसि ।

(ऋग्वेद १०-१३४-७)

अर्थात्—हे देवताओ! हम न किसी को मारें, न किसी को दुःखी करें। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में भी स्थान-स्थान पर अहिंसा-विधायक आदेश उपलब्ध होते हैं। एक जगह लिखा है:—

यस्मादण्वपि भूतानां, द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य, भयं नास्ति कुतश्चन ॥

(मनुस्मृति, अ० ६-४०)

अर्थात्--जिस द्विज से प्राणियों को तनिक भी भय उत्पन्न नहीं होता, वह जब देह को त्याग कर परलोक में जाता है तो उसे किसी से भय नहीं होता। मतलब यह है कि जिस ने इस जीवन में पूरी तरह अहिंसा का पालन किया है, वह परलोक में पूर्ण निर्भय और सुखी होता है।

इस्लाम धर्म के कुरान में लिखा है:—

वल्लाहो ला युहिब्बुल ज़ालमीन ।

(सूरत आल इमरान, ६-३)

और- अला इन्नज़्ज़ालमीन फ़ी अज़ाबिन मुकीम ।

(सूरत सूरा, ५-२)

अर्थात्—खुदा अत्याचारियों से प्रेम नहीं करता। याद रक्खो, अत्याचारी लोग सदा के लिए कष्ट सहन करेंगे।

ईसाई मत के धर्मशास्त्र इञ्जील में लिखा है:—

**Thou shalt not kill.**

अर्थात्—तू किसी का वध नहीं करेगा। बौद्धधर्म तो अहिंसा का प्रतिपादक है ही। बुद्ध की कारुणिकता प्रसिद्ध है। बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में कहा है:—

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोत्ति पवुच्चति ॥

(धम्मपद १६—१५)

अर्थात्—जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता है, वह आर्य या भला पुरुष नहीं होता। भला कहलाने का अधिकारी वही है जो दूसरों को कष्ट नहीं देता।

शेख सादी ने अहिंसा की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। एक स्थल पर वह कहते हैं:—

खुदा रा बर आँ बन्दा बख्शाइश अस्त ।
कि खल्क अज़ वजूदश दर आसाइश अस्त ॥

खुदा उसी पुरुष को कृतकृत्य करेगा कि जिस के हाथों से किसी भी जीव को हानि नहीं पहुंचती।

हिन्दी भाषा के एक कवि ने व्यास की वाणी का अनुसरण करते हुए सुन्दर और सरल भाव प्रकट किये है:—

पोथियाँ सारी वांच के, बात निकाली दोय ।
सुख दीये सुख होत है, दुःख दिये दुःख होय ॥

एक और फ़ारसी के कवि ने अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि हिंसा के सिवाय और कोई पाप नहीं है। वह लिखता है:-

मबाश दर पै आज़ार हरचि खाही कुन ।
कि दर तरीकते मा ग़ैर अज़ीं गुनाहे नेस्त ॥

अर्थात— हे मनुष्य! तू और जो चाहे कर, किन्तु किसी को दुःख न दे। क्यों कि हमारे धर्म में इस के अतिरिक्त दूसरा कोई पाप नहीं है। और भी कहा है—

ला ताई लाउ ज़ी खल्के अल्लाह।

अर्थात्–'परमात्मा की पैदा की हुई सन्तान को दुःख मत दे।

विभिन्न धर्मशास्त्रों की जो वाणियाँ आप के सामने रक्खी गई हैं, उन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अहिंसा को सभी धर्मों में उच्च स्थान दिया गया है। अतएव जो लोग अहिंसा को जैनधर्म का ही सिद्धान्त समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। अहिंसा तो मनुष्य की प्रकृति का एक अविभाज्य अंग है। मनुष्य के अन्दर मनुष्यता जैसी अगर कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में मनुष्य को मनुष्यत्व ही प्राप्त नहीं हो सकता और न केवल मनुष्य में ही बल्कि पशुओ और पक्षियों में भी हम अहिंसा का अटल साम्राज्य देखते हैं। इस का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि उन में अगर अहिंसा की मृदुतामयी भावना न होती तो उन की सृष्टि-परम्परा ही न चल पाती।

हम बड़े से बड़े हिंसक और क्रूर प्राणियों में सिंह की गणना करते हैं। किन्तु सावधानी के साथ विचार करें तो मालूम होगा कि उस के हृदय-मन्दिर के एक कोने में अहिंसा का निवास अवश्य है। ऐसा न होता तो उत्पन्न होते ही वह अपनी सन्तान को क्यों न खा जाता ? मगर हम देखते हैं कि सिंह और सिंहनी भी अपनी सन्तान पर दया और स्नेह का वैसा ही झरना बहाते हैं, जैसा मनुष्य अपनी सन्तान पर। और इसी कारण उन की सन्तान-परम्परा चल रही है। नहीं तो वह चल ही न पाती।

ऐसी स्थिति में यह समझना कि अहिंसा का सिद्धान्त अव्यवहार्य है और उसके पालन करने पर जीवन स्थिर नहीं रह सकता, नितान्त भूल है। बल्कि सचाई यह है कि अहिंसा के बिना जीवन स्थिर नहीं रह सकता और विश्व का पल भर भी काम नहीं चल सकता। अहिंसा अमृत है, हिंसा मृत्यु है। मृत्यु के बल पर दुनियाँ जीवित नहीं रह सकती। जीवन देने वाला तो अमृत ही है।

कई लोगों का खयाल है कि मनुष्य को शारीरिक बल की प्राप्ति के लिए मांसाहार करना आवश्यक है। उन का यह खयाल भी भ्रमपूर्ण और अज्ञानजनित है। पशुओं की ओर दृष्टि दौड़ा कर देखिए कि बैल घास खाकर कितना हृष्टपुष्ट होता है ? वह मनों बोझ ढो सकता है और समय पड़ने पर सिंह से भी टक्कर लेता है। बन्दर फलभोजी होने पर भी कितना नीरोग और फुर्तीला होता है ? इसी प्रकार तोते और कबूतर आदि अनेक पक्षी भी फल या अन्न खाकर स्वस्थ और पुष्ट रहते हैं।

शारीरिक बनावट की दृष्टि से मांसाहारी और वनस्पतिभोजी जीव अलग अलग प्रकार के होते हैं। मांसाहारी जीवों के पंजे स्वभावतः तीखे होते हैं, और वे जीभ से चप-चप करके पानी पीते हैं। वनस्पति भोजी जीव इन से विलक्षण प्रकार के होते हैं। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो मनुष्य वनस्पतिभोजी प्राणी सिद्ध होता है। उस के लिए मांसाहार प्रकृतिविरुद्ध भोजन है।

जो लोग मांस को मनुष्य का आहार समझते हैं, वे निसर्ग के नियमों से अनभिज्ञ तो है ही; आधुनिक डाक्टरों की सम्मतियों से भी अनजान हैं। अनेक डाक्टरों ने अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं कि मांसाहारी मनुष्यों को पेट और दांतों की अनेक व्याधियां ग्रस लेती हैं और जब तक वे इस अभक्ष्य आहार का त्याग नहीं करते, उन्हें स्वस्थता प्राप्त नहीं हो सकती। जो लोग मांसाहार करते हैं वे चिरस्थायी शारीरिक स्वास्थ्य और बल से प्रायः वंचित ही रहते हैं। यही नहीं, अपितु अप्राकृतिक भोजन करने के कारण नाना प्रकार की व्याधियों के शिकार होते हैं।

इस प्रकार मांसाहार अहिंसा की दृष्टि से सर्वथा दूषित है और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी। किसी जीवित प्राणी का घात कर के उस के कलेवर को अपने पेट में डाल लेना कितना कुत्सित और क्रूर व्यवसाय है, ऐसे लोगों के उदर को जीती जागती कब्र के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ? जिस ने अहिंसा के महत्त्व को समझा है, वह मांसाहार को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि शिक्षक अपने शिष्य को अनुग्रह बुद्धि से दण्ड देता है, पिता अपने पुत्र की हित-कामना से दण्ड देता है और डाक्टर किसी रोगी का ऑपरेशन करता है, तो यह सब हिंसा में सम्मिलित है या नहीं ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर पाने के लिए यह बात स्मरण में रखनी चाहिए कि हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः मनुष्य की भावना के साथ है। दूसरे शब्दों से यह कहा जा सकता है कि हिंसा दो प्रकार की है— द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी जीव के प्राणों का घात हो जाना द्रव्यहिंसा है और घात करने या उसे कष्ट पहुँचाने की भावना होना, इरादा होना, संकल्प होना भावहिंसा है। जहाँ यह भावहिंसा है वहाँ पाप अवश्यंभावी है; किन्तु द्रव्यहिंसा के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। जीव की घात करने की भावना न हो और विवेकपूर्वक प्रवृत्ति की जा रही हो, फिर भी अकस्मात् जीव का घात हो जाय तो प्रवृत्ति करने वाला पाप का भागी नहीं होता। इस के विपरीत अगर कोई अविवेक

के साथ गमनागमन आदि क्रिया कर रहा है और संयोगवश जीवघात नहीं होता तो भी वह दोष का भागी होता है। इस प्रकार कोई प्रकट में हिंसा करता हुआ भी, हिंसा की भावना न होने के कारण हिंसा का फल प्राप्त नहीं करता और कोई हिंसा न करके भी अयतना-अविवेक के कारण हिंसा का फल प्राप्त करता है। डाक्टर जब किसी रोगी के फोड़े को चीर रहा है तो रोगी को दुःख तो अवश्य होता है, किन्तु डाक्टर की भावना उसे दुःख देने की नहीं, दुःख से मुक्त करने की है, अतएव वह हिंसा का कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। इस के विपरीत, देश में अकाल पड़ जाने पर कोई व्यापारी लोभवश अन्न के भंडार को बंद रखता है और अन्न के अभाव में मनुष्य मृत्यु के मुख में चले जाते हैं, तो वह व्यापारी प्रकट में हिंसा न करता हुआ मालूम होने पर भी हिंसा का दोषी ठहरता है।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, जैनधर्म में अहिंसा की अनेक श्रेणियाँ हैं। साधुवर्ग की अहिंसा और गृहस्थवर्ग की अहिंसा की श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। साधुओं के लिए किसी भी काल में किसी भी स्थान पर और किसी भी अवस्था में, मन, वचन और काय से कोई भी अनुचित विचार या व्यवहार करना वर्जित है। किन्तु गृहस्थ के लिए विरोधी से आत्मरक्षा करने के निमित्त अथवा किसी आततायी और आक्रमणकारी से अपने, राज्य, देश, कुटुम्ब और धर्म की रक्षा करने के निमित्त, एक आवश्यक सीमा तक हिंसा करना वर्जित नहीं है। हाँ, मन में फिर भी उस आततायी या पापी के सुधार का और उसे पाप कर्म से बचाने का भाव ही रखना चाहिए।

जिन लोगों को अहिंसा के विषय में संदेह थे, मेरा ख़याल है, गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धांत को अंगीकार करके और क्रियात्मक रूपमें अहिंसा की महत्ता को सिद्ध करके, उन संदेहों का निवारण कर दिया है। उन्होंने अहिंसा के संबन्ध में कई अनुभवपूर्ण बातें कही हैं। उनमें से दो-तीन बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है:—

**My Mahatmaship is worthless. What is of abiding worth is my insistence on truth, non-**

**violence and Brahmcharya which is the real part of me.**

अर्थात्—मेरे महात्मापन का कोई अर्थ नहीं है। जो अर्थयुक्त वस्तु मेरे अन्दर है, वह है मेरा सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य, जो कि मेरे जीवन का वास्तविक अङ्ग है।

**I am nothing but a mere lump of earth. Truth and love-ahinsa is the only thing that counts. Where this is present, everything rights itself in the end. This is the law to which there is no exception.**

अर्थात्—मै तो केवल मिट्टी का एक पुतला हूँ। सत्य और प्रेम अर्थात अहिंसा ही गिनती में आनेवाली वस्तु है। जहाँ अहिंसा है वहाँ अन्ततः सब काम ठीक हो जाते है। यह एक ऐसा नियम है जिस-का अपवाद नहीं।

**Life without love is death. It is my firm faith that we can conquer the whole world by truth and love.**

अर्थात्—प्रेम शून्य जीवन मृत्यु के समान है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम सत्य और प्रेम अर्थात् अहिंसा के द्वारा सारे जगत् पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

आधुनिक काल के एक विशिष्ट अहिंसा के साधक की यह वाणी अत्यन्त विचारणीय है। इस पर विचार करके और अहिंसा की महिमा को समझ कर जो अहिंसा के पुनीत पथ पर प्रयाण करेगे, वे अपना और जगत् का कल्याण करेगे।

# श्रद्धा

आज के विश्रृंखल संसार में, सामाजिक जीवन के अन्दर अनेक प्रकार के वादों तथा जयकारों की ध्वनियों ने मानव के मानस को अस्थिर और चंचल बना रक्खा है। यह युग अपने ढंग का कुछ विचित्र-सा है बातें इस प्रकार की की जाती है। मानों हम चन्द्रमा को पकड़ कर पृथ्वी पर ले आए हों और आकाश मे थेगली-थग्गी लगा दी हो। चारों ओर भौतिक विज्ञान के चमत्कार और चाकचक्य से आँखों में चकाचौंध-सी छा गई है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वाहिर जितना-जितना विद्युत्- प्रकाश वढ़ता जा रहा है और मनुष्य विद्युत् के रहस्यों से अभिज्ञ होता जा रहा है, उसका हृदयस्थल उतना ही अन्धकार से परिपूर्ण होता जा रहा है। नेत्रों में अवश्य कुतूहल और आश्चर्य है किन्तु मन धूमाच्छिन्न हैं। व्यक्तिगत जीवन सन्देह, भ्रम तथा अनिश्चय से परिपूर्ण हैं और गंभीर भाव से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य ने अपनी आत्मा खो दी है अथवा यों कहे कि उसकी आत्मा सुप्त या लुप्त हो गई है। सर्वत्र श्रद्धा का अभाव दिखाई पड़ता है।

यह एक सचाई है कि किसी भी देश या जाति का निर्माण उसके युवकों और युवतियों के द्वारा होता है। युवकों और युवतियों के हाथों में ही किसी भी देश और जाति के भविष्य की वागडोर होती है। इसका करण यही है कि उनमें वल, साहस और उत्साह अधिक मात्रा में होता है। किन्तु हम अपने देश के युवकों और युवतियों की ओर जब देखते हैं तो पाते हैं कि वे बोलते वड़े आवेश से हैं। अपने आपको सर्वज्ञ मानते हैं और अपने पूर्वजों का उपहास करते हैं। उनकी दृष्टि में हमारा प्राचीन इतिहास अट्टहास मात्र है। अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के प्रति उन्हे कोई प्रीति नहीं, वल्कि विरक्ति की भावना है और अनादर की भावना है। उनकी निगाहों में

देश के वड़े से वड़े विद्वान्, नेता, सन्त और देशभक्त मानों क्षुद्र प्राणी है। वे यहाँ तक कहने में भी संकोच नहीं करते कि अमुक महापुरुष ने लोगों को काठ का उल्लू वना कर अपनी पूजा-प्रतिष्ठा करवाई।

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आधुनिक युवक और युवतियां इस प्रकार की जो अनाप-सनाप वाते करते हैं, उन पर उनका दृढ़ विश्वास होता है। ऐसी भी कोई वात नहीं है। गंभीर चिन्तन, मनन और विचार के पश्चात ऐसी वात कही जाती तो समझा जा सकता कि चलो, उनकी विचारधारा ही इस प्रकार की है। मगर ऐसी भी कोई वात नहीं होती। पहले क्षण वे जो कुछ कहते हैं, अगले क्षण उससे विरुद्ध भी कहने लगते हैं। तव हम समझ जाते है कि उस आलोचना के पीछे कोई ठोस दृष्टिकोण नहीं है, किन्तु अविचार और अविश्वास ही है।

श्रद्धा और विश्वास क्या चीज है, इसका उन्हे पता नहीं। आश्चर्य की वात तो यह है कि उन्हे अपने ऊपर ही विश्वास नहीं है। और यह तो सिद्धान्त की वात है कि जिसे अपने पर विश्वास नहीं, वह दूसरे पर कैसे विश्वास कर सकेगा?

तो आज हम इस प्रकार की जो ऊलजलूल वाते सुनते हैं, उन के मूल मे अविद्या और अज्ञान ही है। जो युवक इस प्रकार की वातें करते हैं, उन्हों ने अपने धर्मग्रन्थों को कभी उठाकर नहीं देखा। उन्हे ज्ञान ही नहीं है कि हमारे धर्मशास्त्र भी वैज्ञानिक तथ्यो एव सिद्धान्तों से परिपूर्ण हो सकते हैं। वे पश्चिम की मायाविनी सभ्यता पर मुग्ध हो कर उसी की उपासना करते हैं और अपनी सभ्यता का परिचय भी प्राप्त नहीं करते। वे वुद्धिवाद की वाते वनाते है, किन्तु उन की एक वात भी वुद्धिसंगत नहीं होती। वड़े परिताप का विपय है कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र चिन्तनशक्ति गँवा दी है। वे जीवन के संवन्ध में, गहराई में उतर कर विचार नहीं कर सकते। इधर उधर की पढ़ी- पढ़ाई और सुनी सुनाई वातें कर के अपनी तर्कप्रणाली पर गर्व से फूल उठते हैं।

आखिर इस अवस्था का कारण क्या है? इस का एक मात्र कारण यही है कि आधुनिक जनजीवन घोर अश्रद्धा से व्याप्त हो गया

है। श्रद्धा ही जीवन की रीढ़ है और वह टूट चुकी है। किसी भी उपयोगी तत्त्व या सिद्धान्त पर लोगों का विश्वास नहीं रहा, और उन्हें कल्पना मात्र या आदर्शमात्र मान लिया गया है। उदाहरण के तौर पर ब्रह्मचर्य या आत्मनिग्रह को ही लीजिए। पश्चिमी डाक्टरों के ग्रन्थों को पढ़-पढ़ कर लोग ब्रह्मचर्य की बात सुन कर ही अविश्वास की हँसी हँस देते हैं, मानों उन्हें कोई असम्भव कहानी सुनाई जा रही हो।

कई लोग कहने लगते हैं— महाराज! ये तो सतयुग की बातें हैं। कलिकाल मे ये कहाँ सम्भव हैं? फिर कहेंगे– जरा विचार तो कीजिए, भला माया ने किसे नाच नहीं नचाया है? बड़े-बड़े ऋषि मुनि इस के चंगुल से अछूते न रह सके तो हम तो हैं ही किस गणना में?

यह सब अश्रद्धा के ही विषमय फल हैं। हमारा सामाजिक जीवन जो इतना क्षीण, दलित, श्रीविहीन, शक्तिहीन, निःसत्त्व और और पग पग पर लांछित हो रहा है, इसका प्रधान कारण यही है कि जीवन अश्रद्धा और सन्देह से आक्रान्त हो गया है। असली शक्ति का स्रोत आत्मा है और आत्मिक शक्ति की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। धनबल, जनबल, बाहुबल और राज्यबल आदि तो हमारी समझ में आते हैं किन्तु आत्मबल का विचार ही नहीं आता।

आधुनिक सभ्यता से हमारी जो सब से बड़ी हानि हुई है, वह यही है कि हमारा समग्र जीवन अनात्मवाद की लहरों मे बह गया है। हम अपने आपको भूलकर और खोकर जगत् को खोजने चले हैं। परिणाम यह होता है कि हम न अपने आपको पाते हैं और न जगत् को ही पा सकते हैं। आत्मिक अविश्वास के कारण अपने को खो बैठे हैं और अपने आपको खो बैठने के कारण जगत् तो खोया हुआ ही समझते हैं। यही कहावत चरितार्थ हो रही है—

**दुबिधा में दोनों गये, माया मिली न राम।**

अथवा एक उर्दू के कवि ने कहा है—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

आज की सारी परिस्थिति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आज का मनुष्य एक कृत्रिम वातावरण मे जी रहा है। उसके जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र मे देखो, बनावट ही बनावट दिखाई देती है। उसे सत्य के पाने की कोई चिन्ता नहीं है। सत्य के प्रति जिज्ञासा या लिप्सा भी नहीं है। सत्य से उसे कोई सरोकार नहीं है। कोई निष्ठा नहीं है। हम अकस्मात् नहीं उत्पन्न हो गये है। कहीं से आये है और कहीं जाने वाले है। हमारा पूर्वजन्म था और अगला जन्म भी होगा। आत्मा की आदि नहीं है और अन्त भी नहीं है, वह अजर- अमर और अक्षय है। इस सत्य की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। सब ने मानों यही समझ लिया है कि जो कुछ भी है, यही जीवन है और यह जीवन भी कोई ठोस सत्य नहीं है। इस प्रकार जो नास्तिक हैं, वे तो नास्तिक हैं ही, किन्तु जो लोग अपने आपको आस्तिक कहते हैं, वे भी नास्तिकों के समान विचार और व्यवहार कर रहे हैं। किसी नास्तिक और आस्तिक के जीवन की तुलना करने बैठे तो सम्भवतः कुछ भी अन्तर नजर नहीं आएगा। दोनों ही जगह श्रद्धा का अभाव लक्षित होता है। आस्तिक के जीवन मे भी श्रद्धा की छाँह नजर नहीं आती।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बड़े- बड़े शास्त्रों के ज्ञाता भी केवल अर्थोपार्जन के निमित्त एक अशिक्षित और मूर्ख धनवान् के सामने इस प्रकार सिर झुका देते है, जैसे एक भिक्षुक किसी दाता के सामने झुक जाता है। इस प्रवृत्ति के मूल में श्रद्धाविहीनता ही तो है। जिसे अपने आप पर सुदृढ़ विश्वास होगा, वह क्या कभी बड़े से बड़े धनवान्, किन्तु असभ्य और मूर्ख के सामने सिर झुकाएगा? नहीं। वह अपने व्यक्तित्व को न क्षुद्र बनाएगा और न अपनी आत्मा का अनादर ही करेगा।

आज के भारतीय जीवन में जो इतनी भीरुता, संकीर्णता, परवशता, अशान्ति, दीनता और इतना अन्धकार है, उसका कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे श्रद्धाशून्य होकर कार्य करना है। संशय और अविश्वास

तो हमारा श्वासोच्छ्वास सा बन गया है। हमारा अन्तःकरण इनसे अभिभूत हो गया है। यही कारण है कि हम चारों ओर से अभावों से घिरे हुए हैं। श्रद्धाहीन पुरुष के लिए आत्मप्राप्ति की बात तो दूर रही, वह तो सांसारिक पदार्थ भी नहीं पा सकता।

जब तक श्रद्धा नहीं है, तब तक मनुष्य ऐसा ही है जैसे बिना रीढ़ का शरीर। यह श्रद्धा ही तो है जो मानव में जीवन और गति उत्पन्न करती है। श्रद्धा ही समाज को सच्चे प्रगति के पथ पर अग्रसर करती है। श्रद्धा ही मनुष्य में मनुष्यता का सृजन करती है और श्रद्धा ही संस्कृति की उज्ज्वल ज्योति जगाती है। कल्याण के पथ पर अग्रसर होने वाले मनुष्य के लिए श्रद्धा ही परम मित्र और सहायक है। श्रद्धा से ही लौकिक और लोकोत्तर कार्यों में सफलता और सिद्धि प्राप्त होती है। श्रद्धा के अभाव में किसी सद्गुण की प्राप्ति नहीं होती और श्रद्धा का सद्भाव अनेक सद्गुणों को आकृष्ट कर लेता है। कहा है—

श्रद्धया साध्यते धर्मो, महद्भिर्नार्थराशिभिः।
अकिञ्चना हि मुनयः, श्रद्धावन्तो दिवंगताः॥

महान पुरुष अपनी सुदृढ़ श्रद्धा के सहारे ही धर्म की साधना करते हैं। धन के द्वारा धर्म का क्रय-विक्रय नहीं होता। मुनिजनों के पास कौन सा धन होता है? वे तो फूटी कौड़ी भी अपने पास नहीं रखते। सब कुछ त्याग कर ही मुनि बनते हैं। धन से स्वर्ग मिलता होता तो वे क्यों धन का परित्याग करके अकिंचन बनते? किन्तु नहीं; धन से नहीं, श्रद्धा के द्वारा ही वे स्वर्ग की साधना करते हैं। अतएव धन की अपेक्षा श्रद्धा ही अधिक उपयोगी है। श्रद्धा के द्वारा स्वर्ग ही नहीं; इस से भी बड़ी चीज मिलती है। एक आचार्य कहते हैं—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

जिस पुरुष का अन्तःकरण श्रद्धा के सौरभ से सुरभित होता है, वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही परम शान्ति अर्थात् मुक्ति को भी प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

सच तो यह है कि श्रद्धा के विना परम शान्ति कभी प्राप्त ही नहीं हो सकती। जिसके मन में श्रद्धा नहीं, उस का मन सदैव पारे की तरह चंचल रहता है वह कभी इधर की ओर कभी उधर की सोचता है। कभी एक राह पर चलता है तो कभी दूसरी राह पर चलने लगता है। न तो उस के विचारों में स्थिरता आती है और न क्रियाओं में ही। इस कारण वह एकनिष्ठ भाव से किसी भी साधना में तत्पर नहीं होता और ऐसी साधना के विना न उस का उद्देश्य सिद्ध होता है और न उसे लक्ष्य की प्राप्ति ही हो सकती है।

श्रद्धा वह दिव्य अग्नि है जिस में समस्त पापों का कूड़ा कचरा एकदम भस्म हो जाता है। लिखा है—

अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥

अश्रद्धा घोर पाप है। संसारी जीव अनादि काल से जो भवभ्रमण कर रहा है और संसार में विविध प्रकार की यातनाएँ और व्यथाएँ भोग रहा है, उस का मूल कारण उस की श्रद्धाविहीनता ही है। जैनशास्त्रों का विधान है कि सच्ची श्रद्धा प्राप्त होते ही भवभ्रमण सीमित हो जाता है और श्रद्धाशील प्राणी संसार भ्रमण से बच जाता है। श्रद्धा समस्त पापों से बचाने वाली है। जैसे सर्प पुरानी कॅचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु मनुष्य पापों का परित्याग कर देता है। सच्ची और निश्चल श्रद्धा के समीप पाप ठहर नहीं सकते। श्रद्धा में इतना तेज और प्रभाव होता है कि उस के आगे पाप काँपने लगते हैं।

बड़े से बड़ा विद्वान् भी यदि श्रद्धावान् नहीं है तो उस की विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं है। विद्वत्ता का सच्चा आभूषण तो श्रद्धा ही है। ज्ञान श्रद्धान के विना निष्फल है और ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति श्रद्धा में ही निहित है। श्रद्धावान् तर जाता है और ज्ञानी, यदि उस में श्रद्धा नहीं है तो, संसार में ही गोते खाता रहता है।

सौ बात की एक बात यह है कि यदि आप अपने जीवन में किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, तो पहली शर्त यही है कि आपको श्रद्धावान् बनना चाहिए। श्रद्धा के विना दृढ़ता, संकल्प-

शक्ति और बल तथा साहस कदापि उत्पन्न न होगा और इन गुणों के अभाव मे आप सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

कइयों का खयाल है कि श्रद्धा मे अन्धता होती है और जैसे अन्धा पुरुष किसी ओर चल पड़ता है और विना देखे-भाले चल पड़ने के कारण ठोकरें खाता फिरता है, उसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति भी संसार में ठोकरें खाता है। उनका यह खयाल सर्वांश में सही नहीं कहा जा सकता। श्रद्धा विवेक की विरोधिनी नहीं है, अपितु उसकी सहचरी है। विवेकयुक्त श्रद्धावान् कभी ठोकरें नहीं खाता। वह अपने विवेक के द्वारा किसी तत्त्व पर विचार करता है और जव एक निर्णय पर आ जाता है तो अपनी समस्त शक्तियाँ उसी को समर्पित कर देता है। फिर वह अपने मन में पद-पद पर शंका और अविश्वास को स्थान नहीं देता। उस में इतनी दृढ़ता आ जाती है कि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति करके ही छोड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य शंका और अविश्वास के ही वायुमंडल में घूमता रहता है, उसका समग्र जीवन असफल हो जाता है। अश्रद्धालु मनुष्य प्रथम तो किसी भी पथ पर चलने का साहस ही नहीं करेगा और करेगा भी तो डट कर चल नहीं सकेगा। वह अविश्वास की आँधी में आक की रुई की भाँति इधर उधर उड़ता फिरेगा। वह अपने जीवनोद्देश्य को स्थिर करने में भी असमर्थ रहेगा और जव उद्देश्य को ही निश्चित न कर सकेगा तो फिर प्रगति की आशा ही क्या की जा सकती है ?

संसार का कोई भी ऐसा धर्म और धर्मशास्त्र नहीं जिसने श्रद्धा पर सर्वप्रथम वल न दिया हो। जैनशास्त्र तो श्रद्धा को आध्यात्मिक प्रगति और विकास की प्रथम भूमिका अङ्गीकार करते ही हैं, अन्य शास्त्र भी यही कहते हैं। गीता मे स्पष्ट उल्लेख है—

मयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

यह आत्मा श्रद्धा का ही पुतला है, जिस की जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही बन जाता है।

सिक्खधर्म के ग्रन्थ में लिखा है:—

निश्चल निश्चय नित चित जिन के।
वाहि गुरु सुखदायक तिन के ॥

अर्थात्—वे ही मानव सुख की प्राप्ति कर सकते हैं, जिनके हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण होते है ।

ईसाई मत की धर्मपुस्तक इन्जील में लिखा है:—

**A doubte minded man is unstable all his ways.**

**(Games 1. 8)**

अर्थात्—एक श्रद्धाविहीन पुरुष अपने सभी कृत्यों मे चलायमान रहता है। उसके दिल और दिमाग में स्थिरता नहीं होती।

जैन शास्त्रों मे तो श्रद्धा पर बहुत जोर दिया ही गया है। कहा है:—

सद्धा परम दुल्लहा ।

अर्थात्—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने अतिशय पुण्य का उपार्जन किया है, जो अतीव सौभाग्यशाली है और जिसने पहले साधना की है, उसी को श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

शास्त्र और गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा और सन्मान का विवरण करते हुए दशवैकालिक सूत्र मे लिखा है:—

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥

(अध्ययन ८, गा० ४५)

अर्थ—जितेन्द्रिय साधु को गुरु श्री के समीप उपयोगपूर्वक अपने हाथों, पैरों और शरीर को मर्यादित रूप में संकोच कर बैठना चाहिए ।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चणा पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥

(दश० ८, ४६)

साधु को आचार्य प्रमुख गुरुजनों के समीप न बराबरी में बैठना

चाहिए, न आगे बैठना चाहिए, न उनकी ओर पीठ करके बैठना चाहिए और न जांघ पर जांघ चढ़ा कर बैठना चाहिए ।

विनय श्रद्धा का प्रतीक है। अतएव विनय के रूप में श्रद्धा को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

चउव्विहा खलु विणयसमाहीपएणत्ता, तंजहा-(१)अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ, (२) सम्मं संपडिवज्जइ (३) वेय-माराहइ,(४) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए, चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ अत्थ सिलोगो:—

पेहेई हिआणुसासणं, सुस्सुसइ तं च पुणो अहिट्ठिए ।
न य माण-मएण मज्जइ, विणयसमाहि आययट्ठिए ॥

अर्थात्- विनयसमाधि चार प्रकार की है; यथा- (१) गुरु द्वारा शासित होकर, गुरुश्री के सुभाषित वचनों को सुनने की इच्छा करे। (२) गुरु जी के वचनों को सम्यक् प्रकार से समझे- बूझे। (३) श्रुतज्ञान की पूर्णतया आराधना करे और (४) गर्व से आत्मप्रशंसा न करे। यह चौथा पद है। इस पर एक श्लोक है:—

जो मुनि गुरुजनों से कल्याणकारी शिक्षा को सुनने की प्रार्थना और अभिलाषा करता है, सुन कर यथार्थ रूप से परिबोध करता है, तथा श्रवण और परिबोध के अनुसार ही आचरण करता है; साथ ही आचरण करता हुआ विनय-समाधि के विषय में स्थिर होकर किसी प्रकार का गर्व भी नहीं करता है, वही सच्चा आत्मार्थी और मोक्षार्थी है।

गुरुजनों और शास्त्रों के विषय मे जो इस प्रकार श्रद्धावान् है, वही कल्याण का भागी हो सकता है ऐसी श्रद्धा ही जीवन को सफल बना सकती है ।

कहा जा सकता है कि आखिर श्रद्धा को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है ? श्रद्धा से ही सफलता मिलती है और श्रद्धा के अभाव मे सफलता नहीं मिलती, इस विधान का हेतु क्या है ? सफलता का आधार तो पुरुषार्थ और प्रयत्न है। उसमें श्रद्धा न हो तो क्या क्षति हो सकती है !

ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि पुरुपार्थ से सफलता मिलती है, यह सत्य है, किन्तु पुरुपार्थ तो आखिर श्रद्धा का ही शिशु है। श्रद्धा ही पुरुपार्थ की जननी है। जिसे जिस विपय मे श्रद्धा ही नहीं है, वह उस विपय मे प्रयत्न करने की प्रेरणा किससे पाएगा ? मनुष्य की श्रद्धा ही तो उसे पुरुपार्थ के लिए प्रेरित करती है। कदाचित् श्रद्धा के अभाव में, अस्थिर चित्त से, तरंग में आकर मनुष्य कोई पुरुपार्थ करने भी लगा तो वह तनिक सी भी विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर उसे त्याग बैठेगा। इसके विपरीत श्रद्धावान व्यक्ति को संसार को बड़ी से बड़ी बाधाएँ भी उसके सत्पथ से विचलित नहीं कर सकतीं। भीपण से भीपण आपत्तियाँ और विपत्तियाँ उसका मार्ग नहीं रोक सकतीं। उसका संकल्प इतना प्रबल और प्रखर होता है कि विपत्ति भी उसके सामने सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है, जितनी-जितनी विपत्तियाँ आड़ी आती हैं, श्रद्धाशील पुरुप का संकल्प बल उतना ही उग्र और उग्रतर होता चला जाता है और उतना ही वह सफलता के सन्निकट पहुँचता जाता है। वह कभी अधीर नहीं होता, कभी धैर्य का परित्याग नहीं करता और मन को कभी अस्तव्यस्त नहीं होने देता।

उपासकदशांग सूत्र में कामदेव श्रावक का वर्णन आया है। कामदेव की जीवनी श्रद्धा का जीता–जागता चित्र है। देवता ने उसे विचलित करने के लिए क्या उठा रक्खा था ? भयानक से भयानक धमकियाँ दीं और फिर उन धमकियों को कार्य रूप मे परिणत करके भी दिखा दिया। तब भी कामदेव अपने सत्पथ से तिल मात्र भी च्युत नहीं हुआ। इस प्रकार की अटलता मनुष्य में कब उत्पन्न हो सकती है ? सुदृढ़ श्रद्धा ही यह अटलता प्रदान करती है। कामदेव के चित्त में श्रद्धा का वास न होता तो वह अपने पुनीत पथ से विचलित हो गया होता। श्रद्धा ने उसके हृदय को अजेय बल और साहस प्रदान किया और वह सभी संकटों को सहन करने में समर्थ हो सका।

आज कहाँ है ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा ? आज तो पैसे पैसे के लिए लोग अपना धर्म बेच देने को तत्पर हो जाते हैं। जरा सा रोग हो

जाय तो न जाने कितने देवताओं को मानते हैं। पुत्र और पोते की अभिलाषा से भैरों भवानी आदि के आगे मत्था टेकते हैं।

एक तरफ यह स्थिति है और दूसरी तरफ, जैसा कि पहले कहा गया था, पाश्चात्य सभ्यता ने श्रद्धा और तर्क में संघर्ष उत्पन्न कर दिया है और दुर्भाग्य से तर्क, श्रद्धा पर हावी हो गया है। आज के पढ़े-लिखे लोग तर्क को ही अपना पथप्रदर्शक मानते हैं। किन्तु तर्क का काम किसी वस्तु का निश्चय या निर्णय करना नहीं है। वह तो मनुष्य को संदेह और अविश्वास के अंधकार में ले जाकर छोड़ देता है। तर्क से नास्तिकता उत्पन्न होती है और दिमाग में अस्थिरता आती है। श्रद्धाविहीन तर्क के लिए कहीं भी विश्रान्ति का स्थल नहीं है। यही कारण है कि आज व्यापक रूप में अविश्वास, अनिश्चय और नास्तिकता का भाव फैला हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है।

बतलाया जा चुका है कि श्रद्धा के अभाव में मानव जीवन स्थिर नहीं हो सकता। प्रत्येक क्रिया की, चाहे वह सांसारिक हो या पारमार्थिक, सफलता और जीवन की वास्तविक उन्नति श्रद्धा पर ही निर्भर है।

जैसे चारों ओर से बंधी हुई पाल का नाम तालाब नहीं, तालाब तो जल के होने से ही कहलाता है; इसी प्रकार मनुष्य चमड़ी और हड्डियों के ढांचे को नहीं कहते। मनुष्य की मनुष्यता उसकी श्रद्धा रूपी जल पर ही निर्भर है तालाब में जितना अधिक जल होगा, उतना ही वह शोभासम्पन्न और उपयोगी होगा, इसी प्रकार जितनी अधिक श्रद्धा मनुष्य मे होगी, उतना ही अधिक उसका जीवन सुन्दर और उपयोगी बनेगा।

श्रद्धा का दूसरा नाम है— दृढ़ता या निष्ठा! काष्ठ वही उत्तम समझा जाता है, जो सघन और दृढ़ हो और जो तनिक सी धूप, शीत या जल के लगने से टेढ़ा-मेढा न हो जाय और फट न जाय या और जिसमें किसी किस्म का दोष उत्पन्न न हो जाय! ऐसा काष्ठ मूल्यवान् माना जाता है। इसी प्रकार उसी मनुष्य का जीवन उत्तम और बहुमूल्य होता है, जिस की श्रद्धा गाढ़ी हो और प्रतिकूल वातावरण में

भी जो अटल रह सके। नाना प्रकार के प्रलोभन आने पर भी जिस मनुष्य की श्रद्धा शिथिल नहीं होती, वही भाग्यवान है और वही मानव समाज में आदरणीय और वन्दनीय होता है। शिथिल श्रद्धा वाले लोगों ने आज तक कोई महान् कार्य नहीं किया है और न वे कभी कर सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मनुष्य के जो भी कृत्य आज हमें सराहनीय और श्लाघायुक्त दिखाई देते हैं, वे सभी उसकी दृढ़ श्रद्धा के ही परिणाम हैं। इसलिए ईसा कहते हैं—

'यदि दृढ़ श्रद्धा से एक पर्वत को कहो कि वह अपने स्थान से हिल जाय तो उसे अवश्य तुम्हारी आज्ञा का पालन करना पड़ेगा।'

प्रकृति के लिहाज से सभी मनुष्य समान हैं और सब में समान योग्यता है। अतएव किसी भी देश में उत्पन्न होने वाला, किसी भी जाति या वर्ण का और कोई भी वेष धारण करने वाला मनुष्य जब श्रद्धा से सम्पन्न होकर अपने पवित्र और उच्च जीवनोद्देश्य की पूर्ति में लग जाता है तो उसे अवश्य सफलता मिलती है।

हाँ, इस बात के कहने में कुछ भी संकोच नहीं होना चाहिए कि भगवान् महावीर के बतलाए संयम मार्ग में जिस प्रकार की श्रद्धा का आदेश दिया गया है वैसा अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। जिसकी श्रद्धा भगवान् महावीर के मार्ग पर अक्षुण्ण है, वे पुण्यशाली हैं और वे अपना और दूसरों का कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।
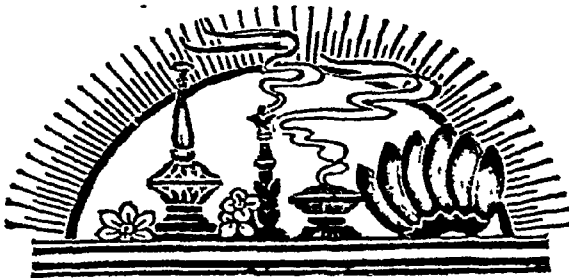
# ❋ जैनधर्म की महत्ता ❋

आज के युग में धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। भारतवर्ष धर्मप्रधान देश कहलाता आ रहा है और सचमुच वह कभी धर्मप्रधान ही रहा है और मानवीय संस्कृति के इतिहास के अनुसार देखा जाय तो विश्व में सर्वप्रथम भारत में ही धर्म का उज्ज्वल आलोक प्रसृत हुआ था जब शेष संसार असभ्य और असंस्कृत दशा में, पशुओं की भाँति, जीवन-यापन कर रहा था, उस समय भी भारत धर्मसंस्कृति की दृष्टि से बहुत उन्नति पर था।

इस प्रकार आर्यावर्त्त की युग-युगान्तर से चली आने वाली गरिमा की सब से बड़ी विशेषता धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में रही है। समय-समय पर जन्म लेने वाले अनेक मनस्वियों ने इस परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। इस युग की आदि में भगवान् ऋषभदेव द्वारा संस्थापित जैन धर्म की गरिमा को भगवान् महावीर ने संवर्द्धना प्रदान की। उनके पश्चात् भगवान् की शिष्यपरम्परा ने स्थान-स्थान पर पैदल भ्रमण करके इस देश के एक कोने से दूसरे कोने तक धर्म का प्रचार किया, जनता के हृदय पर धर्म की महत्ता अंकित की और जनता का पथप्रदर्शन किया।

किन्तु आज एक विलक्षण युग आया है। पाश्चात्य लोगों का भारत पर शासन स्थापित हुआ और धीरे-धीरे वैज्ञानिक सुविधाओं की बदौलत पश्चिमी और भारतीय प्रजा का सम्पर्क बढ़ा। साधारणतया देखा जाता है कि शासक जाति का शासित प्रजा पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। यही सत्य यहाँ भी चरितार्थ हुआ। पश्चिम में धर्म का स्थान अत्यन्त गौण है। वहाँ धर्म जीवन का प्रधान अंग नहीं है। अतएव वहाँ की देखादेखी, पश्चिमी संस्कृति के रंग में रंगे लोगों ने यहाँ भी यही किया। परिणाम यह आया है कि आज यहाँ भी धर्म उपेक्षा की वस्तु बन रहा है। यही नहीं, कुछ लोग तो धर्म को पारस्परिक कलह

का कारण समझ कर उसके वहिष्कार की सम्मति भी देने में संकोच नहीं करते ।

इस परिस्थिति पर गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो विदित हुए विना नहीं रहेगा कि धर्मसंबन्धी अनभिज्ञता ही इसका प्रधान कारण है। जैन शास्त्र धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित करते हैं, वह इतना उदार, सार्व और सुन्दर है कि प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज तथा प्रजा के लिए समान रूप से उपादेय है। दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

जो उत्कृष्ट मंगलमय है वही धर्म है। मंगलमय का अर्थ है—बुराइयों एवं पापों को दूर करने वाला और सुखशान्ति देने वाला। जो व्यक्ति के लिए मंगलमय है वह व्यक्ति का धर्म है और जो परिवार, समाज, देश और विश्व के लिए मंगलमय है, वह क्रमशः परिवार आदि का धर्म है। यही जैन शास्त्र के अनुसार धर्म की परिभाषा है ।

कहा जा सकता है कि ऐसा कौन-सा विधि-विधान है, जिससे सब का मंगल-साधन होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार ने वतलाया है-अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी ही मंगलमय है और वही कल्याणकारिणी, पापप्रणाशिनी और विश्वधारिणी है।

अहिंसा के संवन्ध में एक स्वतंत्र प्रवचन किया जा चुका है । कौन नहीं जानता कि आज विश्व को अहिंसा के अमृत की कितनी आवश्यकता है? भीषण महायुद्ध की मार-काट से त्रस्त और ध्वस्त समस्त जगत् आज शान्ति की कामना कर रहा है और वह शान्ति हिंसा से नहीं, अहिंसा से ही प्राप्त हो सकती है। शताब्दियों से दासता के बन्धनों में जकड़े हुए भारत ने अहिंसा के दिव्यास्त्र से अपने वन्धनों को काट कर संसार के सन्मुख एक पुरातन सिद्धान्त को नूतन स्वरूप प्रदान किया है और एक अभिनव आदर्श उपस्थित किया है । सद्यः प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा और राष्ट्रनिर्माण का कार्य भी अहिंसा के द्वारा ही हो सकता है। भारत आज भी अपनी अहिंसक नीति पर चल रहा है।

अहिंसा का आदर्श महान् है। 'Let and let live.' स्वयं जीओ जौर दूसरों को जीने दो; यह इसी आदर्श की समाप्ति नहीं है। जैनधर्म का विधान है कि स्वयं जीओ और दूसरों के जीवित रहने में सहायक बनो। बल्कि दूसरों को जीवित रखने के लिए स्वयं जीओ!

धर्म का दूसरा स्वरूप संयम है। संयम का अर्थ है—नियंत्रण। अपनी कामनाओं को और आवश्यकताओं को नियंत्रण में रखना—अपने आप पर काबू पाना ही संयम है। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र जब अपनी कामनाओं को अपरिमित बना लेता है और अपनी आवश्यकताओं को अनापसनाप बढ़ा लेता है, तबउसे दूसरों का हक हड़पने की अभिलापा होती है और वही अभिलापा हिंसा को जन्म देती है। अतएव अहिंसा का ठीक-ठीक पालन करने के लिए संयम की अनिवार्य आवश्यकता है।

किन्तु संयम रखने के लिए कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण से धर्म का तीसरा रूप तप बतलाया गया है। स्वेच्छापूर्वक, प्रशस्त भाव से कष्टों को सहन करना तप है और तप को जब जीवन में स्थान मिलता है तो अहिंसा और संयम का भलीभाँति पालन होता है।

जैनधर्म ने धर्म की यह जो परिभापा की है, उस पर उदार भाव से विचार किया जाय तो कहना ही पड़ेगा कि यह धर्म किसी देश, काल या जाति के लिए नहीं है, यह तो सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक धर्म है।

आचार और विचार की समष्टि ही जीवन है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जीवन के दो अंग हैं—आचार और विचार। जैनधर्म ने आचार में सर्वप्रथम अहिंसा को और विचार में अनेकान्त-वाद को स्थान देकर अपनी महत्ता को हिमालय की चोटी पर पहुँचा दिया है। जैनधर्म ने अहिंसा के द्वारा समग्र सृष्टि की मंगलकामना की है और अनेकान्त के द्वारा समस्त धर्मों के पारस्परिक विरोध के विष को शमन करके उन के ऐक्य का सराहनीय प्रयत्न किया है।

इस में सन्देह नहीं कि आज जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या अल्प है, किन्तु दीर्घ दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि जैनधर्म के

सिद्धांतों का प्रभाव आज भी प्रत्येक धर्म के भीतर झलक रहा है। भगवान महावीर के उपदेश आज भी जन-जीवन के अङ्ग बने हुए हैं। गांधी नीति और सर्वोदय आदि की विचारधाराओं के विभिन्न नामों और रूपों में वही जगत् का पथप्रदर्शन कर रहे हैं। एक बार संसार पर उन पावन विचारों की जो छाप लग चुकी है, वह अमिट है। जैन-धर्म के इस रूप पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उसकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी जैनधर्म की महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। अतएव भले ही जैन कहलाने वाले व्यक्ति अल्पसंख्यक हों, किन्तु जैनधर्म के सिद्धान्त तो विश्वव्यापी हो रहे हैं और उनका अनुसरण करने वालों की कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती।

आज की राजनीतिक परिस्थिति यद्यपि आशाजनक नहीं है, तथापि जैनधर्म द्वारा उपदिष्ट और आधुनिक काल में महात्मा गांधी द्वारा व्यवहृत और परीक्षित अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त ही जगत का त्राण करने में समर्थ हो सकते हैं। यह शान्तिमयी विचारधारा न केवल भारत के राष्ट्रनिर्माण में सहायक हो सकती है, अपितु सारे संसार को युद्ध की आग में झुलसने से बचा सकती है। आज का भयाकुल मानव और बर्बर मानव तभी विनाश से बच सकता है जब वह उक्त सिद्धान्तों का अवलम्बन करे। अन्यथा जिस प्रकार पूर्व के महायुद्धों ने संसार को अव्यवस्थित, अशान्त, अभावग्रस्त और दुःखी बना दिया है, क्या असंभव है कि आगे फिर युद्ध की ज्वालाएँ भड़क उठें और उस स्थिति में जो महाप्रलय होगा, उस के कुफल का अनुमान लगाना ही कठिन है। वस्तुतः भगवान् महावीर के द्वारा प्रसारित अहिंसा ही एक ऐसा अमोघ मंत्र है, जो जीवन के समस्त व्यापारों में उपयोगी हो सकता है और विश्व की समस्त व्याधियों का उपचार कर सकता है।

जैनधर्म ने जैसे आचार में पावनता लाने के लिए अहिंसा, सत्य आदि का उपदेश दिया है, उसी प्रकार विचारों में व्यापकता, सत्यता और निर्मलता लाने के लिए स्याद्वाद का अनमोल उपहार समर्पित किया है। स्याद्वाद के मनोहर सिद्धान्त द्वारा विविधता में एकता और एकता में विविधता का दर्शन करा कर जैनधर्म ने विश्व की महान् सेवा की

है। अपने इस महान् सिद्धान्त की बदौलत जैनधर्म विश्वधर्म होने के साथ-साथ वैज्ञानिक धर्म भी साबित होता है।

आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ में ऐसे ऐसे गुण विद्यमान हैं, जिन्हें पूरी तरह जाना नहीं जा सका है और जिनको जानना भी सहज नहीं है। जिस रूप मे साधारणतया हम पदार्थों देखते हैं, वही उसका पूरा रूप नहीं होता। पदार्थ में अनेकों अप्रकट गुण या शक्तियाँ विद्यमान होती हैं, जिन्हे जानने और समझने के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं और उन के प्रयासों के फलस्वरूप पदार्थ की नयी- नयी शक्तियाॅ प्रकाश मे आ रही हैं। उदाहरणार्थ- पहले अणुशक्ति अज्ञात थी। अब उस का पता चला और उसकी बदौलत संसार में भारी उथलपुथल मच गई। मगर वैज्ञानिक जिसे अणु कहते हैं, जैनदर्शन के अनुसार वह भी अणु नहीं, स्थूल ही है और अणु तो अब भी गहरी खोज का विषय है। मगर इससे यह तो स्पष्ट हो ही चुका कि पदार्थ में अनन्त धर्म स्थित है। विज्ञान के इस सिद्धान्त ने जैनधर्म के स्याद्वाद का समर्थन और पोषण किया है। जैनदर्शन तो बहुत पहले ही यह घोषणा कर चुका है कि—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्।

स्याद्वाद की आधार- शिला पर खड़ा हुआ जैनधर्म प्रकट करता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु- दीपक से लगा कर आकाश पर्यन्त तक की सम्पूर्ण पदार्थराशि में अनन्त- अनन्त शक्तियाॅ विद्यमान है।

इन अनन्त शक्तियों और पदार्थों को जब तक भिन्न- भिन्न दृष्टिकोण से अवलोकन न किया जाय तब तक वस्तु का समग्र और सत्य स्वरूप नहीं समझा जा सकता। मगर अनन्त शक्तियों को पूरी तरह समझ लेना और विशेष रूप में जान लेना हमारे सामर्थ्य से बाहिर है। हमारी दृष्टि परिमित गुणों तक ही पहुँच पाती है। अतएव ऐसा होता है कि एक तत्त्वद्रष्टा किसी एक धर्म का प्रत्यक्षीकरण करता है और दूसरे को किसी दूसरे धर्म का साक्षात्कार होता है। तीसरे को कोई तीसरा धर्म प्रतिभासित होता है। यद्यपि यह सब धर्म उस पदार्थ

में विद्यमान हैं, पर वास्तव में वे उसके एक- एक अंश ही हैं। सम्पूर्ण पदार्थ तो अनन्त धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। किन्तु द्रष्टा पदार्थ के सम्पूर्ण रूप को न देखकर अपूर्ण रूप को देखता है और जब वह मान लेता है कि मैंने सम्पूर्ण रूप को देख लिया है और मेरे ज्ञान से बाहिर कुछ नहीं रह गया है, तभी गड़बड़ पैदा हो जाती है। दार्शनिक मत-भेदों का यही मूल है। अपूर्ण में पूर्ण की कल्पना ही पारस्परिक विरोध को उत्पन्न करती है।

इसी जगह स्याद्वाद आकर हमें सावधान करता है। वह बतलाता है कि तुमने पदार्थ के जिस अंश को समझा है, वह अंश मात्र है, पूरा पदार्थ नहीं है। वह अपूर्ण सत्य है, पूर्ण नहीं है। इसी प्रकार दूसरों द्वारा ग्रहण किया हुआ सत्य भी अपूर्ण है। यह सब अपूर्ण सत्य परस्पर समन्वित हो कर ही सम्पूर्ण सत्य का रूप ग्रहण करते हैं। अतएव जैसे तुम अपने सत्य पर विश्वास करते हो, उसी प्रकार दूसरे के सत्य पर भी विश्वास करो। अपने आप को सच्चा समझने के साथ-साथ दूसरे को भी सच्चा समझो। अगर दूसरे को ग़लत कहोगे तो तुम स्वयं ग़लत हो जाओगे, क्योंकि दूसरा भी तुम्हारी ही तरह सत्यांश को प्रकट करता है। यही विचारधारा स्याद्वाद कहलाती है।

स्याद्वाद को सरल रूप में समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक ही पुरुष अपने भिन्न-भिन्न संबन्धी जनों की अपेक्षा कई संज्ञाओं से पुकारा जाता है। वह किसी का पिता है, किसी का पुत्र है, किसी का पति है और किसी का भाई है। किसी का मामा, किसी का भानजा, किसी का काका और किसी का भ्राता है। इस प्रकार एक पुरुष को उसके भिन्न-भिन्न संबन्धी अनेक नामों से पुकारते है। उसमें अपने पुत्र की अपेक्षा पितृत्त्व धर्म है, पिता की अपेक्षा पुत्रत्त्वधर्म है, और पत्नी की अपेक्षा पतित्व धर्म है। यह नहीं कि जो पिता है वह एकान्त रूप से पिता ही है, ऐसा हो तो वह अपने पिता का भी पिता हो जाएगा। यही बात दूसरे सब धर्मों के विषय में समझनी चाहिए।

कुछ दार्शनिक स्याद्वाद के संबन्ध में कहते हैं कि वह परस्पर विरोधी धर्मों को एक ही पदार्थ मे स्थापित करता है, किन्तु विरोधी धर्म एक जगह नहीं रह सकते। ऐसा कहने वालों को इस दृष्टान्त से

समाधान प्राप्त करना चाहिए जैसे पितृत्व और पुत्रत्व परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी एक ही पुरुष में निर्विरोध रहते हैं, उसी प्रकार और-और धर्म भी विरोधहीन भाव से रहते हैं। विभिन्न अपेक्षाएँ और दृष्टिकोण प्रतीत होने वाले विरोध को मिटा देते है। जैसे जिस अपेक्षा से कोई पुरुष पिता है, उसी अपेक्षा से अगर उसे पुत्र कहा जाय तो विरोध हो सकता है, किन्तु पुत्र की अपेक्षा पिता और पिता की अपेक्षा पुत्र कहने से विरोध नहीं रहता। इसी प्रकार विभिन्न नयों-दृष्टिकोणों से एक ही पदार्थ में अनन्त धर्म रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं होता। इस विरोध का मथन करने की कला ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

स्याद्वाद के इस अनुपम तत्त्व को न समझने के कारण विश्व में विविध धर्मों, दर्शनों, मतों, पंथों और सम्प्रदायों में विवाद खड़े होते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य एवं मिथ्या बतलाते हैं। वे अपने ही माने हुए धर्म या मत को सम्पूर्ण सत्य मान कर दूसरे धर्मों का विरोध करते हैं। इसी तरह संसार में धर्म के नाम पर विवाद उपस्थित होते हैं, जिनके परिणामस्वरूप कभी-कभी तो घोर हानियाँ होती हैं। आज धर्म अगर बदनाम हो रहा है तो उसका कारण एकान्तवाद ही है। एकान्तवाद होता तो अपूर्ण है, फिर भी वह सम्पूर्ण होने का दावा करता है और इसी झूठे दावे के आधार पर वह दूसरे धर्मों को मिथ्या होने का फतवा दे देता है।

इस संबन्ध में कुछ अन्धों का एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना था, किन्तु उसकी आकृति का ज्ञान उन्हें नहीं था। संयोगवश एक दिन उनके गाँव मे हाथी आ गया। अन्धों ने उस हाथी के भिन्न-भिन्न अंग छुए। किसी ने उसका पैर पकड़ा, किसी ने सूंड पकड़ी। किसी ने पूंछ को हाथ लगाया और किसी ने पेट टटोला। इस प्रकार अपने-अपने हाथ में आए हुए हाथी के एक-एक अवयव को ही वे पूरा हाथी समझने लगे। पैर टटोलने वाले ने हाथी को स्तंभ के समान समझा, सूंड पकड़ने वाले ने मूसल के समान समझा, कान पकड़ने वाले ने सूप के समान और पूंछ को

हाथ लगाने वाले ने मोटे रस्से के समान समझ लिया ।

अन्धे अपने-अपने अनुभव के आधार पर हाथी के एक-एक अवयव को सम्पूर्ण हाथी समझते हुए आपस में मिले और जब उनके अनुभव परस्पर विरोधी प्रकट हुए तो वे आपस में विवाद करने लगे और सभी एक दूसरे को झूठा बतलाने लगे। ठीक यही हाल एकान्त-वादी दर्शनों, धर्मों और मतों का है ।

उक्त जन्मान्धों का कथन एक-एक अंश मे सत्य अवश्य है, किन्तु जब वे दूसरों को झूठा बतलाते हैं तो स्वयं झूठे बन जाते हैं । इसी प्रकार जगत् के एकान्तवादी धर्म अपने आपको सच्चा समझते हुए दूसरे को झूठा न माने तो कोई विवाद उपस्थित नहीं हो सकता । परन्तु दूसरे के दृष्टिकोण को अपनी नजरों से ओझल करके और उनकी आंशिक सचाई को अस्वीकार करके और इस प्रकार अज्ञान और कदा-ग्रह के वशीभूत होकर वे दूसरों को झूठा कहते हैं और इस कारण वे स्वयं झूठे बन जाते हैं। इससे परस्पर विरोध बढ़ रहा है ।

धर्म संसार के विविध प्रकार के संतापों को शमन करने के लिए हैं। अशान्ति को दूर करके शान्ति प्रदान करने के लिए हैं। किन्तु जब वे आपस में विरोधी और प्रतिस्पर्द्धी बन जाते हैं। तो उनकी बदौलत एक नये कलह का जन्म होता है। इस प्रकार आग बुझाने के लिए आया हुआ जल भी स्वयं आग बन जाता है। फिर संताप कैसे मिटे और शान्ति किस प्रकार हो ? अनेकान्तवाद धर्मों को आग बनाने से रोकता है और प्रयत्न करता है कि धर्म जल ही बने रहें और आग न बनने पाएँ ।

सत्य सर्वत्र एक है, अखण्ड है और व्यापक है। उसके संबन्ध में किसी प्रकार के विवाद के लिए गुंजाइश नहीं है संसार के विभिन्न धर्म और पन्थ सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ज्ञान की अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अंश को ही प्राप्त कर पाते हैं: किन्तु सत्य के एक अंश को ही जब सम्पूर्ण सत्य समझ लिया जाता है, तब तरह-तरह के मतभेद और तज्जनित झगड़े खड़े हो जाते हैं । यदि धर्म के क्षेत्र में आग्रह और अभिनिवेश से काम न लिया जाय

और निष्पक्ष भाव से, उदार दृष्टिकोण से सत्य को समझने का प्रयत्न किया जाय तो ही धर्म का व्यापक स्वरूप मालूम हो सकता है। इस विषय में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े सुन्दर भाव प्रकट किये है। कैटो (Cato) ने कहा है—**It is remarkable that men, when they differ in what they think considerable, are apt to differ in almost every thing else. Their difference becomes contradiction, condradiction begets heat, heat rises into resentment rage and ill will. Thus they differ in effection, as they differ in judgment, and the contention which began in pride, ends in anger.**

अर्थात्—यह उल्लेखनीय बात है कि मनुष्य जब अपनी-अपनी विचारधारा को उत्तम या सत्य मान कर परस्पर मतभेद प्रकट करते है तो शनैः शनैः प्रत्येक बात मे उनका मतभेद बढ़ता जाता है। उनका मतभेद फिर विवाद का रूप धारण कर लेता है। विवाद आवेश में परिणत हो जाता है और आवेश का फल पारस्परिक अरुचि क्रोध और घृणा होते हैं। इस प्रकार जैसे उनका मतभेद होता है वैसे ही प्रेम में भेद पड़ जाता है और जो विवाद केवल अभिमानवश उत्पन्न हुआ था, वह कोप का रूप धारण कर लेता है।

एक दूसरे विद्वान एडीसन (Addison) कहते है—**If man would consider not so much were in they differ as where in they agree, there would be for less of uncharitableness and angry feeling in the world.**

अर्थात्—यदि मनुष्य मतभेद की बातों पर विचार करने की अपेक्षा उन बातों को ध्यान में लावें, जिनमे वे सहमत है, तो संसार में विरोध और विषमता बहुत थोड़ी हो।

भक्त कबीर जी ने भी इस संबन्ध में अत्यन्त सुन्दर भाव प्रकाशित किया है। उन्होंने सार ग्रहण करने के लिये यों कहा है—

एक वस्तु के नाम बहु, लीजे नाम पिछान।
नाम-पच्छ ना कीजिए, सार तत्त्व ले जान॥

सब काहू का लीजिए, सांचा शब्द निहार।
पच्छपात ना कीजिए, कहैं कबीर विचार ॥
सभैं हमारे एक हैं, जो सिमरे सत नाम।
वस्तु लहो पिछान के, वासन से क्या काम ॥

जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और दर्शनों का समन्वय करता है। वह विश्व को यह शिक्षा देता है कि जगत् के सभी धर्म और दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अंश हैं, किन्तु जब एक अंश दूसरे अंश से न मिल कर उसका तिरस्कार करता है, तब वह विकृत हो जाता है, और वह सत्य न रह कर केवल सत्याभास बन जाता है। ऐसी स्थिति में वह धर्म या दर्शन अपने अनुयायियों के लिए पार करने वाली नौका न रह कर मंझधार में डुबाने वाली पाषाण नौका बन जाता है। परन्तु जो मत, पंथ या दर्शन दूसरे सत्य के अंशों को पचाने की क्षमता रखता है, वह उदार और संगठित बन कर पूर्ण सत्य के मार्ग पर प्रगति करता है।

स्याद्वाद हमें सिखलाता है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखो। तुम अपने दृष्टिकोण को सत्य समझो किन्तु जो दृष्टिकोण तुम्हें अपना विरोधी प्रतीत होता है, उसकी सत्यता को भी समझने का यत्न करो। उसे मिथ्या कह कर अस्वीकृत और तिरस्कृत करने से तुम स्वयं मिथ्यावादी बन जाओगे; क्योंकि तुम सत्य के अंशों को मिथ्या कहते हो।

विश्व में जितने एकान्तवादी मत या पन्थ हैं, वे अपने ही माने हुए तत्त्व को पूर्ण सत्य मान कर शेष मतों का तिरस्कार करते हैं; अतएव वे सभी अमान्य ठहरते हैं। जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त इस विषय में मानव जाति को अपूर्व ज्योति प्रदान करता है और विभिन्न धर्मों के समन्वय की सुन्दर कला सिखलाता है आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा भी है:—

उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।

न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥
(चतुर्थ द्वात्रिंशिका, श्लोक १५)

अर्थात्—हे नाथ ! जैसे सभी नदियाँ समुद्र में पहुँच कर सम्मिलित होती हैं उसी प्रकार विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन में सम्मिलित हो जाते हैं, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में समुद्र दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप दिखाई नहीं देते, फिर भी जैसे नदियों का आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार समस्त दर्शनों का आश्रयस्थल आपका शासन ही है।

वास्तव में पूर्ण सत्य एक ही है और विभिन्न मत उस सत्य के चरणों तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते है, किन्तु वे अपने २ ही मार्ग की सत्यता पर हठ करके वादविवाद में पड़ जाते हैं। इस भाव को एक उर्दू कवि ने इस प्रकार कहा है—

शेख काबा से गया वां तक ब्राह्मन दैर* से।
एक थी दोनों की मंजिल, फेर था कुछ राह का॥
(अमीर)

पूर्ण सत्य की एकता को फारसी के एक विचारक कवि ने यों दिखलाया है—

इख्तलाफे वजा बेदिल दरलिबासे बेरुं अस्त।
वरना खूं यकसां बुवद दर पैकरे ताऊसो जाग॥

बेदिल कवि कहता कि आकार का भेद बाह्य रूप में ही है, अन्यथा मोर और कौवे के शरीर में रक्त का वर्ण एक समान ही होता है। इसी प्रकार सत्य सर्वत्र एक समान व्याप्त है।

जैनदर्शन का स्याद्वादसिद्धान्त जगत्-व्यवहार की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः इस सिद्धान्त की समन्वय करने की क्षमता अनुपम है। संसार के विचारकों के लिए अगर कोई महान् से महान् वरदान हो सकता है तो वह स्याद्वाद सिद्धान्त के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? वह सत्य भगवान् की दिव्य झांकी दिखलाता है,

*मन्दिर

विचारजगत् में अद्भुत प्रकाश देता है, विभिन्न धर्मों को एक साथ ला कर खड़ा कर देता है और उनकी महत्ता को चार चाँद लगाने का प्रशस्त प्रयास करता है।

इस प्रकार जैनधर्म की महत्ता और विशिष्टता अहिंसा और अनेकान्तवाद के द्वारा सहज ही समझी जा सकती है; मगर उस के और भी सिद्धान्त ऐसे हैं, जो उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

अनेक भारतीय दर्शनों ने ईश्वर को एक स्वीकार किया है और वे उसे इस जगत् का कर्त्ता मानते हैं। संसार के प्राणियों का भाग्य ईश्वर के हाथ मे है। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख, किसी को दुःख, किसी को स्वर्ग और किसी को नरक देता है। कोई भी प्राणी सैकड़ो जन्मों तक कितनी ही सवल साधना क्यों न करे, उसे ईश्वर वनने का अधिकार नहीं है। ईश्वर अपने समान कोई दूसरा ईश्वर नहीं वनाता, अगर वह ऐसा करे तो उसकी असाधारण महत्ता और विशिष्टता अक्षुण्ण न रह जाय!

परन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध में भी अत्यन्त उदार और तर्क-संगत ढंग को अपनाता है। जैनदर्शन हमे वतलाता है कि तुम स्वयं अपने भविष्य के निर्माता हो। तुम्हारा भविष्य पूर्ण रूप से तुम्हारे ही हाथ मे है और तुम्हारे सिवाय किसी दूसरे के हाथ मे नहीं है। तुम कुमार्ग पर चल कर नरक तक पहुंच सकते हो और सन्मार्ग पर प्रयाण करके स्वर्ग के भव्य द्वार भी खोल सकते हो। इतना ही नहीं, वीतराग पुरुषों द्वारा प्रदर्शित साधना का आश्रय लेकर तुम परमात्मा भी वन सकते हो। ईश्वरत्व पर किसी भी एक व्यक्ति का एकाधिपत्य नहीं है। अनन्त आत्माओं ने परमात्मपद प्राप्त किया है और अव भी उच्चतम साधना करके उस पद को प्राप्त किया जा सकता है।

जैनदर्शन संसार के प्राणियों के समक्ष इस प्रकार का ऊंचा आदर्श प्रस्तुत करता है। वह नर को नारायण और आत्मा को परमात्मा बनने की भावना प्रदान करता है।

इस के अतिरिक्त जैनधर्म की उदारता और श्रेष्ठता उसकी उत्तम शिक्षाओं से भी सिद्ध होती है। उन शिक्षाओं का कुछ सार यहां दिया

जा रहा है:—

(१) अपने लाभ के लिए दूसरों की हानि कदापि मत करो ।
(२) अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा मत करो ।
(३) अपने सम्मान और दूसरों के अपमान की चेष्टा न करो ।
(४) अपने लिए सुख की, दूसरे के लिए दुःख की भावना न करो ।
(५) अपने गुण और दूसरे के अवगुण कभी प्रकट न करो ।
(६) सेवा करने में सुख मानों, कराने मे नहीं ।
(७) दूसरों को देने में सुख का अनुभव करो, उनसे लेने में नहीं ।
(८) भोगों को दुःख का मूल और त्याग को सुख का मूल जानो ।
(९) विषयों में अप्रीति और आत्मा में प्रीति उत्पन्न करो ।
(१०) मनमाने आचरण छोड़कर जिनवाणी पर आस्था रखो ।
(११) साधुओं की सेवा और असाधुओं की उपेक्षा करो ।
(१२) कुसंग मे अरुचि और सत्संग मे प्रीति पैदा करो ।
(१३) जगत् में अनासक्ति और आत्मा के प्रति ममता रक्खो ।
(१४) क्रोध, मान, माया और लोभ से पिंड छुड़ा कर क्षमा, विनय सरलता और सन्तोष धारण करो ।
(१५) स्वार्थपरता से दूर रह कर परमार्थलाभ करो ।
(१६) बाहरी रोगों की अपेक्षा मानसिक विकार अधिक कष्टकर हैं । उनकी ओर विशेष रूप से ध्यान दो ।
(१७) अधर्म से उदासीनता और धर्म से प्रीति करो ।
(१८) मृत्यु का भय न करो, जीवन की लोलुपता त्यागो और मुक्ति को ही अपना लक्ष्य बनाओ ।
(१९) घर और परिवार की चिंता करते हो तो आत्मा की भी चिंता करो ।
(२०) प्रतिशोध की भावना से संताप उत्पन्न होता है, उसे छोड़ो । वह तुम्हारे चित्त में अशान्ति उत्पन्न करेगा ।
(२१) विपत्ति को वैरी नहीं बन्धु समझो । उसका सामना करने से आत्मबल की वृद्धि होगी ।
(२२) संयम और शील का पालन करते हुए दया धर्म पर दृढ़ रहो ।
(२३) अप्रिय, कटुक, कठोर, सन्देहयुक्त और असत्य भाषा न बोलो ।

(२४) अपनी भूलों के लिए सायंकाल और प्रातः काल पश्चात्ताप करो।
(२५) क्षण भर के लिए भी प्रमादग्रस्त मत होओ; एक क्षण के बुरे विचार भी जन्म- जन्मान्तर में दुःखदाई हो सकते हैं।

यदि मनुष्य इन पवित्र शिक्षाओं को अपने आचरण में लावे तो उसको सुख और शान्ति प्राप्त करने में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। ये शिक्षाएँ जीवन को सुन्दर, प्रशस्त और सार्थक बनाने वाली हैं। वास्तव में सुन्दर वही है जिस का जीवन शुभ और सुन्दर है। जिसकी चमड़ी अच्छी है और बातें ही सुन्दर हैं, किन्तु आचरण कलुषित है, वह तो एक प्रकार से कलंक ही है। जैनधर्म आचरण से ही सुन्दरता, पवित्रता और उच्चता स्वीकार करता है। वह जन्म से, जाति से या वर्ण से पवित्रता में विश्वास नहीं करता। किसी हीन समझी जाने वाली जाति में जन्म लेकर भी यदि कोई व्यक्ति अपने आचरण को पवित्र बना लेता है, तो वह उच्चजातीय किन्तु आचरणहीन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित और सम्माननीय है। जैनशास्त्र स्पष्ट घोषणा करते हैं—

न दीसइ जाइविसेस कोई।

अर्थात्— मनुष्य- मनुष्य के बीच जाति की कोई भी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में भी एक महान् क्रान्ति की थी। अन्त्यजोद्धार की गांधी जी द्वारा जो प्रवृत्ति इस युग में चालू की गई, उस को वहीं से मूल प्रेरणा मिली मालूम होती है। पहले शूद्रों के प्रति अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। समाज में उनका कोई स्थान नहीं था। वे सर्वत्र घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। वैदिक धर्म ने यहां तक कठोर विधान बना रक्खा था कि अगर किसी शूद्र के कान में वेद की ध्वनि पड़ जाय तो उबलता शीशा उसके कान में भर देना चाहिए। यह अत्याचार की चरमसीमा थी। किन्तु जैनधर्म ने इस व्यवस्था का प्रबल शक्ति के साथ विरोध किया और शूद्रों को दूसरे वर्ण वालों के ही समान अधिकार दिये। भगवान् महावीर के विशाल संघ में जातीयता का कोई स्थान नहीं था केवल आचरण की पवित्रता को ही स्थान था। आज जैनधर्म का यह मन्तव्य सर्वव्यापी बनता जा

रहा है।

जैनधर्म साधक को आदेश देता है कि तू अपने ही दोषों और अपनी ही त्रुटियों पर दृष्टि रख और उन्हें सुधारने की सतत चेष्टा कर। दूसरों को देखना हो तो उन्हीं के दृष्टिकोण से देख और उनकी परिस्थिति में पहुंच कर देख। सर्वप्रथम अपना सुधार कर और मनुष्य का अपना सुधार हो गया तो जगत् का एक अङ्ग अपने आप ही सुधर गया। इस प्रकार सब अपना-अपना सुधार करने लगें तो समस्त समाज अपने आप ही सुधर जाएगा। इसलिए तू अपने ही दोषों पर दृष्टि रख। दूसरों की तरफ दृष्टि डालनी हो तो उनके गुणों को ही देख। दूसरों के गुण देखने से तुझे गुणों की प्राप्ति होगी, दूसरों के गुण देखने वाला गुणवान् बनता है और दोष देखने वाला दोषों का समुद्र बन जाता है।

जैनधर्म की शिक्षा का सार यह है कि दूसरे लोगों के साथ वैसा ही वर्त्ताव करो जैसा तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो! जो इन शिक्षाओं और सिद्धान्तों का अनुसरण करके अपने जीवन को उच्च बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे अपना कल्याण करने के साथ ही साथ जगत् का भी कल्याण करते हैं।

# लोभ

जैन धर्म में चार बड़े विकार या कषाय बतलाये गये हैं। लोभ उन में एक है। समस्त विकारों को उत्पन्न करने वाले, संसार-तरु के बीज, आत्मा को सम्यग्दृष्टिहीन बना देने वाले मोहनीय कर्म की सेना का सब से अन्तिम सैनिक लोभ ही है। यों तो मोहनीय कर्म के सभी सैनिक बड़े प्रबल हैं किन्तु लोभ उन सब से बढ़ कर है। आत्मा जब इन सैनिकों के साथ संग्राम करता है तो मोहनीय कर्म के अन्य सैनिक पहले परास्त हो जाते हैं, लोभ फिर भी डटा रहता है। वह सब से अन्त में पराजित होता है। इसलिए शास्त्र में कहा है:—

लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।

(उत्तराध्ययन, ३२-८)

अर्थात्—जिसने लोभरूपी अन्तिम योद्धा को परास्त कर दिया उसे फिर किसी को परास्त करने के लिये शक्ति नहीं लगानी पड़ती। लोभ को परास्त करते ही अन्यान्य कर्मों के सैनिक अनायास ही मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं और लोभविजयी महात्मा शीघ्र ही पूर्ण वीत-राग बन जाते हैं। लोभ का पूर्णरूपेण अन्त होते ही आत्मा में ऐसी परिपूर्ण और स्थायी निर्मलता आ जाती है कि फिर कोई भी विकार, कभी भी अपना मस्तक ऊपर नहीं उठा सकता। आत्मा अप्रतिपाती अवस्था प्राप्त कर लेता है, अर्थात् फिर उसका पतन कदापि नहीं होता। जैनशास्त्र की परिभाषा में इसे क्षीणमोह दशा की प्राप्ति होना कहते हैं।

लोभ का कलुष धुल जाने पर आत्मा में अपूर्व विशुद्धि आ जाती है और उसके प्रभाव से शीघ्र ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता की प्राप्ति हो जाती है। इसका आशय यह हुआ कि आत्मा लोभ पर पूर्ण विजय पाते ही परमात्मा बन जाती है। आत्मा को परमात्मा बनने में बाधा डालने वाला लोभ है। इस प्रकार लोभ को जीतने का अभिप्राय है—समस्त मोह-विकारों को जीतना और आत्मा को निरंजन एवं निर्वि-

कार वनाना ।

लोभ कपाय का वर्णन करते हुए शास्त्र कहता है कि यह संसारी आत्मा इतना असन्तोपशील है कि किसी भी अवस्था मे उसकी इच्छाएं, तृष्णाएं और कामनाएं पूरी नहीं हो सकतीं । जव तक लोभ विद्यमान है, आत्मा की इच्छाओं का अन्त ही नहीं आता और जव अन्त ही नहीं आता तो उनकी तृप्ति की संभावना ही क्या हो सकती है ? इस विराट जगत् में जितना धन-धान्य है, हीरा, मोती माणिक, पन्ना, सोना, चांदी आदि वहुमूल्य पदार्थ हैं, वे सव के सव एक ही मनुष्य को दे दिये जाएं और विश्व भर का अकंटक राज्य भी दे दिया जाय, तो भी लोगों की इच्छा की पूर्ति न होगी । शास्त्र में कहा है—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज एक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

(उत्तरा अ० ८, गा० १६)

अर्थात्—एक ही मनुष्य को समग्र धन-धान्य से परिपूर्ण यह समस्त लोक दे दिया जाय तो उस से भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता ! आत्मा इस प्रकार अतृप्तिशील है ।

वस्तुतः लोभ अग्नि के समान है । अग्नि मे ज्यों-ज्यो ईंधन डालोगे, वह वढ़ती जायगी । इसी प्रकार लोभ को शान्त करने के लिए जैसे-जैसे परिग्रह का संचय किया जाता है, तैसे-तैसे लोभ वढ़ता जाता है । अतएव जैसे ईंधन देने से अग्नि कदापि नहीं बुझ सकती, उसी प्रकार परिग्रह जुटाने से लोभ कभी शान्त नहीं हो सकता। अतएव हृदय-तल में निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली लोभ की अग्नि को धन आदि से शान्त करने का प्रयत्न करना निरर्थक ही नहीं वरन् विपरीत प्रयत्न है । विवेकी जन इस प्रकार के मूढ़तापूर्ण प्रयत्न नहीं करते जैसे आग को वुझाने के लिए पानी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार लोभ को नष्ट करने के लिए संतोपवृत्ति या अकिंचन भाव धारण किया जाता है । विवेकी पुरुप इसी उपाय का अवलंवन करते है । वे लोभ की उपशान्ति के लिए ऐसी चेष्टाएं नहीं करते जिससे लोभ की

अधिकाधिक वृद्धि होती चली जय। कहा है—

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

अर्थात्—यदि सारा संसार और संसार का सभी धन तुम्हारा हो जाय तो भी लोभ की विद्यमानता में वह तुम्हारे लिये अपर्याप्त ही रहेगा। वह धन तुम्हारी रक्षा करने में सहायक न होगा। धन का भारा तुम्हें ऊँचा न उठने देगा, वह तो अधोगति की ओर ही ले जाएगा।

उत्तराध्ययन सूत्र में लोभ का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। उसमें अनेक स्थानों पर लोभ की वास्तविकता का वर्णन मिलता है। एक जगह कहा है:—

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

अर्थात्—कैलाश पर्वत के समान विशालकाय सोने-चांदी के असंख्यात पर्वत भी क्यों न हों, लोभी मनुष्य का उन से मन नहीं भरता। इतना पाकर भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश की तरह इच्छा का कहीं अन्त नहीं है।

असंख्य सोने-चांदी के पर्वत पाकर लोभी के अन्तःकरण में अधिकतर लोभ का उदय होगा और वह सोचने लगेगा—क्या ही अच्छा होता अगर इन से भी कई गुने पर्वत मुझे और मिल जाते! इसीलिए एक उर्दू कवि ने कहा है—

मुंह से वस न करते हरगिज़ यह खुदा के बंदे।
इन हरीसों* को खुदा गर सारी खुदाई† देता ॥

एक दूसरे कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से लोभी की मनोवृत्ति का

---

*लोभी †जगत

चित्र खींचा है। वह कहता है:—

इस कदर अहले‡ जहां को है मुहब्बत ज़र** से।
पेट में मारते सोने का जो ख़ंजर†† होता ॥

वैदिकशास्त्र यजुर्वेद में लोभत्याग के संबन्ध में कहा है—

मा गृधः कस्यचिद्धनम् ।

(यजुर्वेद, ४०–१)

अर्थात् किसी का धन देख कर लोभ मत करो; सोचो कि यह धन किस के पास रहा है ? यह तो आता और जाता ही रहता है ।

भगवद्गीता में नरक के तीन द्वार बतलाए गए है, उन में एक लोभ भी है। कहा है:—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(भगवद्गीता, १६–२१,)

अर्थात्—नरक के तीन द्वार हैं, जो आत्मा का विनाश करने वाले हैं। वे ये हैं—काम, क्रोध और लोभ। अतएव इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए ।

हमारे यहाँ लोभ को पाप का बाप अर्थात् सभी पापों का जनक बतलाया गया है। एक कवि इसी बात को इस प्रकार कहते हैं:—

लोभात् क्रोधः प्रभवति, लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम् ॥

अर्थात्—लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है । लोभ से काम की उत्पत्ति होती है। लोभ से ही मोह का उद्भव है और लोभ आखिर मनुष्य का सर्वनाश करके ही छोड़ता है। लोभ सब पापों का मूल है।

ईसाई धर्म शास्त्र कहता है:—

**Take heed and be ware of covetousness, for a man's life consis teth not in the abundance of**

---

‡सांसारिक जन **धन ††तलवार।

**the things which he possesseth.**

**(Luks, 12-15.)**

अर्थात्—सावधान रहो और ध्यान रक्खो कि मनुष्य का वास्तविक जीवन धन सम्पत्ति से नहीं बनता ।

कबीर जी कहते हैं:—

कबीर औंधी खोपरी, कबहूँ धाये नाहिं ।
तीन लोक की सम्पदा, बरु आवे घर मांहि ॥

लोभ से अभिभूत होकर जिसकी बुद्धि विपरीत हो गई है, उसे कदापि सन्तोष नहीं होता; भले ही तीन लोक की सारी सम्पत्ति उसके घर में आ जाय ।

मुस्लिम शास्त्र ने भी इसी भाव की पुष्टि की है। हज़रत मुहम्मद की एक हदीस में लिखा है:—

यदि मनुष्य को धन-सम्पत्ति से भरपूर दो वन मिल जाएं तो वह तीसरे की इच्छा करेगा। मनुष्य के उदर को कब्र की मिट्टी के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं भर सकती।'

सुन्दर कवि ने भी इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा कहा है:—

भूख लिये तू दशों दिशि दौरत,
ताहि ते तू कबहूँ न अघै है* ।
भूख-भंडार-भरै नहिं कैसेहु,
जो धन मेरु कुबेरु लौं पैं† है ।
तू सब आगे है हाथ पसारत,
यासि तैं हाथ कछू नहिं ऐ‡ है।
'सुन्दर' क्यों न सन्तोष करे शठ !
खाय कि खाय कितौ अब खै है ॥

इन विभिन्न धर्मों और विभिन्न विचारकों के कथनों से यह बात स्पष्ट होती है कि लोभ मानव-जीवन को निरर्थक बना डालता है ।

*तृप्त होगा। †पाएगा। ‡आएगा ।

लोभी मनुष्य, लोभ के वशीभूत होकर अपने समस्त सांसारिक सुखों से हाथ धो बैठता है। वह प्राप्त सम्पत्ति और सुख-सामग्री का उपभोग नहीं कर पाता, केवल अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। ऐसा मनुष्य धन का स्वामी नहीं, धन ही उसका स्वामी है। वह धन का दास है, गुलाम है। वह अर्थ का उपभोग नहीं कर सकता किन्तु अर्थ ही उसका उपभोग करता है। वह जितना उपार्जन करता है, उससे कई गुण उपार्जन करने की लालसा रखता है। इस कारण उपार्जित धन के द्वारा होने वाली प्रसन्नता उपार्जन की तीव्र लालसा से आच्छादित हो जाती है और उपार्जित धन उसके लिए आनन्ददायक नहीं होता। वास्तव में लोभी मनुष्य अत्यन्त करुणा का पात्र है। वह सुख की सामग्री पाकर भी सुख से वंचित है! लोभ उस के सभी सुखो का अपहरण कर लेता है और केवल दुःख, तृष्णाजनित संताप, व्याकुलता और चिन्ता ही उस के भाग्य मे लिखो है।

लोभी मनुष्य जैसे इस लोक मे सुख के स्पर्श से भी रहित होता है उसी प्रकार आगामी भव में भी। वह न यहां का रहता है, न वहां का ही। मृत्युकाल उपस्थित होने पर जब समस्त उपार्जित धन के सम्पूर्ण त्याग का अनिवार्य अवसर आ जाता है, तब उस की कितनी दयनीय दशा होती है! वह छटपटाता हुआ प्राणों का त्याग करता है और गहरी ममता के साथ मर कर नरक का अतिथि बनता है। इसीलिए कहा है—

लोहो सव्वविणासणो।

अर्थात्—लोभ सर्वनाश करने वाला है। इस लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाला है।

लोभ से मनुष्य को किंचित् भी तो सुख नहीं होता। फिर भी आश्चर्य है कि लोग इसी के चंगुल में फंसे हुए हैं। एक कवि कहता है—

यह शहद बुरा है लालच का,<br>
इस मीठे को मत खा प्यारे!<br>
यह शहद नहीं यह जहर निरा,<br>
इस जहर पै मत तू जा प्यारे!

जो मक्खी इस में आन फंसी,
फिर पंख लिये लपटा प्यारे !
सिर पटके रोए हाथ मलें,
है लालच बुरी बला प्यारे !
यह लोभ बुरा पत खोता है,
नहीं इज्जत लालच-मारे की ।
यह लोभ चमक खो देता है,
हर एक चमकते तारे की ॥

लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य अपना आदर-सन्मान, प्रतिष्ठा आदि सभी कुछ खो देता है। वह अपनी धन-सम्पत्ति से तनिक भी सुख अनुभव नहीं कर सकता। धनवान् हो कर भी वह भिखारी बना रहता है। लोभ के कारण उसकी प्रेमभावना भी नष्ट हो जाती है। वह प्रत्येक के साथ झगड़ा करने को उद्यत हो जाता है। लोभ की आग जब अन्तः करण में धधकती है तो उसमें सभी सद्गुण और सभी कोमल मानवोचित भावनाएं दग्ध हो जाती है। लोभी का हृदय वह ऊपर भूमि है, जिसमें कोई भी सद्गुण नहीं पनपने पाता। वह भाँति भाँति के दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। इसी लिए एक और कवि कहता है:—

गर हिरसो हवा के फंदे में, तू अपनी उमर गंवाएगा।
न खाने का फल देखेगा, न पीने का सुख पाएगा ॥
इक दो गज कपड़े तार सिवा कुछ संग न तेरे जाएगा।
ऐ लोभी बंदे लोभ भरे, तू मर कर भी पछताएगा ॥
इस हिरसो हवा की गोली से, है तेरी शक्ल भिखारी की ।
पर तुझको अब तक खबर नहीं, ऐ लोभी अपनी ख्वारी की ॥
हर आन किसी से कज़िया है, हर आन किसी से झगड़ा है।
कुछ मीन नहीं कुछ मेख नहीं, सब हिरसो हवा का झगड़ा है॥

लोभी मनुष्य न तो अपने सम्मान का ध्यान रखता है, नहीं दूसरों के सम्मान का। उसकी लोभवृत्ति किसी समय ऐसा भयंकर रूप धारण कर लेती है कि वह घृणित से घृणित और नीच से नीच कृत्य करने को भी तत्पर हो जाता है। यहाँ तक कि अपने प्रिय से प्रिय संबंधियों को हानि पहुँचाने में कुछ संकोच नहीं करता, बल्कि अपने लोभ की धुन में उनके प्राणों का भी ग्राहक हो जाता है।

इतिहास के पन्नों को पलट कर देखेंगे तो सैकड़ों घटनाएं आपके नेत्रों के सामने तैरने लगेंगी, जिन में भाई ने बहिन को या बहनोई को बहिन ने भाई को, पुत्र ने पिता को और भाई ने भाई को लोभान्ध होकर परलोक पहुंचा दिया। इसीलिए कहा गया है:—

मातरं पितरं पुतरं, भ्रातरं वो सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्॥

अर्थात्—लोभी मनुष्य माता, पिता, पुत्र, भाई, स्वामी और मित्र आदि किसी को भी मार डालता है।

इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि लोभी मनुष्य की विवेकशक्ति समाप्त हो जाती है। वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के अन्तर को समझने में असमर्थ हो जाता है। उसे लोकलज्जा की भी परवाह नहीं रहती। दूसरे उसके संबन्ध में क्या सोचते और कहते है, इस बात की उसे चिन्ता नहीं होती। उसे अपने कल्याण-अकल्याण का भी विचार नहीं आता। उसे यह भी भान नहीं रहता कि मै कौन हूं और मेरा यथार्थ स्वभाव क्या है? मैं नाशवान् हूं या अविनाशी? वह नहीं सोच सकता कि मैं सच्चिदानन्दमय हूं और यह धन सम्पदा जड़ है। चेतन के साथ जड़ पदार्थों का क्या सरोकार? आत्मा का वास्तविक धन तो चैतन्य ही है और उसी के विकास एवं संचय मे आत्मा का कल्याण है। यह जड़ धन तो आत्मा के लिए विडम्बना मात्र है। इस के उपार्जन मे नाना प्रकार के कष्ट उपार्जित कर लेने पर रक्षा के लिए भाँति-भाँति की चिन्ता, और रक्षा करते-करते भी चले जाने पर दुःख, इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में यह धन मनुष्य को कष्ट ही कष्ट देता है।

धनोपार्जन में कितना श्रम और कष्ट, उठाना पड़ता है; यह

कौन नहीं जानता ? एक-एक पैसे के लिए अनेक-अनेक पापों का सेवन करना पड़ता है। यह धन ही तो है जिस के लिए लोग भयंकर से भयंकर खतरा उठाते हैं ! कोई समुद्र यात्रा की जोखिम उठाते हैं, कोई हिंस्त्र श्वापदों से आकीर्ण वनों में भटकते हैं, कोई सैनिक बन कर युद्धभूमि में जाते हैं और मौत की आजीविका करते हैं ! कई लोग इहलोक और परलोक के फजीते का विचार त्याग कर डाके डालते हैं, चोरी करते हैं, जेबें कतरते हैं और जब पकड़े जाते हैं तो कारागार की व्यथाएँ भोगते हैं ! लोग उन के मुंह को देखना भी बुरा समझते हैं उन पर घृणा बरसाते हैं और उन की घोर निन्दा करते हैं। सचमुच इस पैसे ने जगत् को पापपूर्ण और पागल बना दिया है ! पैसे के लोभ ने मानव जाति का जितना अकल्याण किया है, उतना अन्य किसी वस्तु ने शायद ही किया हो ! पैसे का दास बन कर मानव-समाज कितना अधःपतन के गहरे गर्त में गिर गया है ? मनुष्य उन्मत्त-सा हो रहा है और पैसे का भूत उस के सर पर सवार है। सत्य ही कहा है:—

जनकः सर्वदोपाणां, गुणग्रसनराक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः ॥

अर्थात्—यह लोभ समस्त दोषों का जनक है। संसार में कोई भी ऐसी बुराई नही, दुराचरण नहीं, जो पैसे के लिए न हो ! और यह लोभ राक्षस की तरह समस्त गुणो का नाश कर देता है। यह आपत्तियों और विपत्तियों की जड़ है। यह सभी अर्थों को बाधा पहुँचाने वाला है।

बड़े-बड़े विद्वान् पुरुष भी लोभ के पास में फंस जाते हैं। लोभ मनुष्य की प्रतिभा को मलीन कर देता है, बुद्धि को विकृत कर देता है और विवेक को मिट्टी में मिला देता है।

लोभादेव नरा मूढ़ा, धन-विद्यान्विता अपि ।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते, भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥

अर्थात्—धन और विद्या-बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य भी लोभ के प्रभाव से मूढ़ बन जाते हैं और मूढ़ बन कर कुकृत्यों में लग जाते हैं।

लोभ उन से अकृत्य कर्म करवाता है और दुर्गम प्रदेशों में उन्हें भटकाता है। लोभी मनुष्य, महात्मा और विचारशील पुरुषों द्वारा किये हुए निर्णय पर कभी विचार नहीं करता, किन्तु धीरवीर पुरुष क्या करते हैं ?

चक्रेश-केशव-हलायुधभूतितोऽपि,
सन्तोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति ।
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्यक्,
लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति धीराः ॥

जिन का मस्तिष्क लोभ के प्रबल प्रहारों को झेल लेता है और जो जीवन के उच्च और पवित्र उद्देश्य को समझ कर उस पर दृढ़ रहते हैं, वे कभी लोभरूपी दुष्ट ग्रह के वशीभूत नहीं होते । वे विचार करते हैं कि जिस पुरुष के हृदय में सन्तोष नहीं है, उसे तो चक्रवर्त्ती वासुदेव और बलदेव का वैभव पाकर भी तृप्ति नहीं हो सकती । और जहां तृप्ति नहीं है वहां सुख नहीं है । तृप्ति के अभाव में-

इच्छति शती सहस्रं, सहस्री लक्षमीहते ।
लक्षाधिपस्ततो राज्यं, राज्याच्च स्वर्गमीहते ॥

अर्थात्--सौ वाला हजार की कामना करता है, हजार वाला लखपति बनने के मंसूबे करता है, लखपति राज्य की लालसा करता है और जिसे राज्य प्राप्त है वह स्वर्ग की अभिलाषा करता है । इस प्रकार—

आकांक्षितानि जन्तूनां, सम्पद्यन्ते यथा यथा ।
तथा तथा विशेषाप्तौ, मनो भवति दुःखितम् ॥

मनुष्य को ज्यों-ज्यों उस के अभीष्ट पदार्थ मिलते जाते हैं, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक की इच्छा करता चला जाता है और परिणाम यह होता है कि उस का मन सदैव दुःखी ही बना रहता है ।

जब तृप्ति और सन्तोष के बिना सुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकती तो मनुष्य उसे छोड़ कर क्यों धन-सम्पत्ति के कुचक्र में पड़ जाता है ? धन पराधीन है, तृप्ति स्वाधीन है । जो अपने हाथ की चीज़ है और जिस के सद्भाव में 'सब धन धूल समान' हो जाते हैं

तो फिर उसे त्याग कर मनुष्य क्यों झंझटों और मुसीबतों को मोल लेता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है:—

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः,
कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे ।
पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो,
जयत्यसौ काचन मोहलीला ॥

लोभ (मोह) की लीला संसार में सर्वत्र विजयी हो रही है। उसी का यह प्रभाव है कि पत्थर के टुकड़ों को लोग रत्न समझते हैं। उसी के प्रभाव से लोग रक्त और मांस के लोथ को प्रियतमा मान रहे है और पॉच भूतों के इस विनाशशील पुतले को(शरीर को)आत्मा समझ बैठते है।

मानव-जीवन सांसारिक जीव की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है । अतएव यह जीवन अतिशय प्रशस्त है, किन्तु इच्छाओं ने, कामनाओं ने और तृष्णाओं ने उसे अत्यन्त अप्रशस्त बना दिया है। इच्छाओं के गुरुतर भार से लदा हुआ मनुष्य कभी उन्नति-ऊंची प्रगति-नहीं कर सकता। इच्छाओं की भूलभुलैया में पड़ कर मानव-जीवन पथभ्रष्ट होगया है। मनुष्य की इच्छाओं ने उस के जीवन को अत्यन्त जटिल और व्यस्त बना दिया है। सच पूछो तो मनुष्य की इच्छाएं, अभिलाषाएं ही मनुष्य-जीवन के लिए घोर अभिशाप बनी हुई हैं।

इच्छाओं की दासता स्वीकार करके मनुष्य ने अपना कितना अधःपतन कर लिया है ? स्वार्थपरता, हृदयहीनता और निष्ठुरता जैसी दुर्वृत्तियॉ मनुष्य मे कहां से आईं ? इच्छाओं के अपरिमित प्रसार से ही। जीवन-निर्वाह के लिए तो स्वल्प सामग्री से भी काम चल सकता है और हजारों-लाखों मनुष्य 'कर गुजरान गरीबी मे' के कथन को चरितार्थ करते हुए देखे भी जाते हैं, किन्तु यह इच्छाएं हृदय में असन्तोष की ऐसी अग्नि उत्पन्न कर देती हैं कि मनुष्य उस से संतप्त हो कर असन्तोषशील बन जाता है। उस की शान्ति स्वाहा हो जाती है। निराकुलता नष्ट हो जाती है। सुख का संहार हो जाता है। प्रसन्नता

का प्राणान्त हो जाता है। निश्चिन्तता का नाश हो जाता है। पवित्र मनोवृत्तियों पर पाला पड़ जाता है। वह निरर्थक अधिकाधिक सामग्री के संचय में इतना व्यस्त रहता है कि अपने जीवन के लक्ष्य को विस्मृत कर देता है; यहां तक कि अपने भाई-बन्धुओं के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं का भी विचार नहीं करता। यही नही, उन पर कभी-कभी अमानुषिक अत्याचार भी कर बैठता है। निष्ठुर व्यवहार करना तो उस के लिए साधारण-सी बात हो जाती है। इस प्रकार इच्छाओं के स्वच्छन्द प्रसार के कारण ही यह मानव-जगत् नरकभूमि बना हुआ है। प्राणी सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ विधान—मानव—राक्षस के रूपमे परिणत हो गया है। दुःखों की यह बाढ़ इसी का परिणाम है।

लोभ आध्यात्मिक उन्नति में तीव्र बाधा उत्पन्न करता है। एक आचार्य ने लोभ के विषय मे ठीक ही कहा है:—

प्राप्योपशान्तमोहत्वं, क्रोधादिविजये सति।
लोभांशमात्रदोषेण, पतन्ति यतयोऽपि हि॥

क्रोध, मान और माया नामक तीन कषायों को जीत कर जो मुनिवर उपशान्तमोहिनीय नामक ग्यारहवे गुणस्थान तक पहुंच जाते हैं, वे भी लोभ का एक सूक्ष्म अंश उपशान्त दशा मे रह जाने के कारण गिर जाते हैं।

यह है लोभ का कुप्रभाव! लोभ का बहुत सूक्ष्म अंश और वह भी उपशान्त दशा में महान् मुनियों के पतन का कारण बन जाता है और उनकी प्रगति—उन्नति में बाधक बन जाता है, तो जिन मनुष्यों मे स्थूल लोभ भरपूर मात्रा में विद्यमान हो, उनकी आत्मिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है?

लोभ जीव को परपदार्थों से विलग नहीं होने देता और विलग न होने के कारण जीव को नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। जीव यह सब दुःख सहन करता हुआ भी लोभ को नहीं त्यागता! यह सब मोहकर्म की बलिहारी है!

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जब लोभ कभी शान्त नहीं होता, इच्छा का कहीं अन्त नहीं आता, तृष्णा सदा बढ़ती रहती

है, अभिलाषाएँ असीम हैं और इनकी पूर्ति होना कदापि संभव नहीं है, तब क्या करना चाहिए ? इन सब से छुटकारा पाने का कोई उपाय है या नहीं ? यदि उपाय है तो क्या है ?

इस जिज्ञासा का निवारण करने के लिए शास्त्र कहता है:—

इइ विज्जा तवं चरे ।

अर्थात्—इच्छा की असीमता और अनन्तता जान करके तप करना चाहिए । तप का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने कहा है—इच्छानिरोधस्तपः ।

अर्थात्–इच्छाओं का दमन करना ही तप कहलाता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं को नष्ट करने का एक मात्र उपाय यही है कि अन्तःकरण में उनका उद्भव ही न होने दिया जाय । जैसे आग में ईंधन डालने से अग्नि का उपशम नहीं होता उसी प्रकार इच्छाओं की तृप्ति के लिए सामग्री जुटाते रहने से इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती । अतएव सर्वोत्तम उपाय यही है कि इच्छा की उत्पत्ति ही न होने दी जाय और अगर कभी कोई इच्छा उत्पन्न हो भी जाय तो उसका उसी समय दमन कर दिया जाय ।

आशंका की जा सकती है कि यदि इच्छाएँ न रहें तो मनुष्य को शुभ कर्मों की प्रेरणा भी न रहेगी । शुभ कर्म करने की आन्तरिक प्रेरणा भी तो एक प्रकार की इच्छा ही है । इस सम्बन्ध मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इच्छाएँ प्राणी को प्रेरणा प्रदान अवश्य करती हैं, परन्तु वह प्रेरणा प्रायः पाप की ही होती है । हाँ, जो इच्छाएँ मनुष्य को दिव्य पथ की ओर प्रेरित करती है, वे निस्सन्देह शुभ इच्छाएँ हैं; परन्तु उनका महत्व उतना ही है जितना एक विष का नाश करने के लिए दूसरे विष का महत्त्व है या एक काँटे को निकालने के लिए दूसरे काँटे का यद्यपि दोनों विष और दोनों काँटे विष और काँटे ही हैं, फिर भी एक हेय और दूसरा उपादेय माना जाता है; किन्तु आखिर में तो वह भी हेय ही है । जब इच्छामात्र को नष्ट करना अशक्य होता है तो प्रथम अशुभ इच्छाओं का दमन करने के लिए शुभ इच्छाओं का अवलम्बन लिया जाता है और जब अशुभ इच्छाओं पर विजय प्राप्त हो जाती है तो शुभ

इच्छाओं का भी निरोध करना पड़ता है। ऐसा करने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। कहा भी है—

**यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।**

अर्थात्– जिस महात्मा को मोक्ष की इच्छा भी नहीं रहती है, वही मोक्ष को पाता है। इच्छावान् मोक्ष नहीं पा सकता।

अतएव विवेकशील पुरुषों का कर्तव्य है कि वे लोभ और इच्छाओं का अन्त करने के लिए तप का आचरण करें। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है और यही शाश्वत कल्याण का सर्वोत्तम उपाय है।
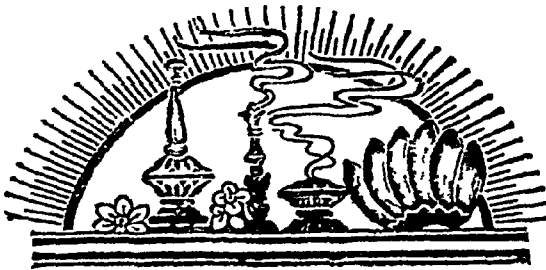
# एक भयंकर भूल

अधिकांश मनुष्य सोचते हैं कि अभी यौवन में कामभोगों का सेवन कर लें जब बुढ़ापा आएगा तो परलोक की कमाई कर लेंगे। जब शरीर सांसारिक व्यवहार के अयोग्य बन जायगा, तब धर्म की साधना हो जायगी।

ऐसा सोचने वाले लोग इस भ्रम में रहते हैं कि जीवन भर चाहे जैसे कर्म किए जाएँ, जीवन भले ही हिंसा आदि पापों से परिपूर्ण व्यतीत किया जाय, घोर आरम्भ और घोर परिग्रह में आसक्त रह कर सारा समय यापन कर दिया जाय, परन्तु अन्तिम समय सुधार लेने से सारा जीवन सुधर जाता है। यही नहीं, उनके विचार के अनुसार अन्त सुधार लेने से आगामी भव भी सुधर जाता है।

इस प्रकार की विचारसरणी पर आरूढ़ होकर मनुष्य रातदिन भोग-विलासों मे आसक्त रहता है। वह भोग-विलास के साधन जुटाने में न्याय- अन्याय, औचित्य- अनौचित्य और कर्त्तव्य- अकर्त्तव्य का भी विवेक नहीं रखता। दूसरों के प्रति विश्वासघात करके और अन्याय कर के भी धनोपार्जन करता है। दीन-हीन जनों को सता कर उनसे अनुचित लाभ उठाता है। धन के लिए हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, छलकपट करता है, चोरी करता है और नीच जनों की सेवा करता है। वह अपनी स्वाधीनता बेच कर धनिकों के इशारे पर नाचता है। धनवानों की चापलूसी करता है। उनके अवगुणों को भी गुण बतलाकर उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। धनवान् यदि कंजूस हुआ तो उसे मितव्ययी कहता है। उड़ाऊ हुआ तो उदार बता कर खुश करता है। कायर हो तो क्षमाशील और शान्तिप्रिय कहता है। क्रोधी हो तो तेजस्वी बतलाता है। इस प्रकार अपनी आत्मा को बेच कर तरह- तरह से अपने स्वामी को प्रसन्न करके अर्थलाभ करना चाहता है।

कई लोग व्यापार- धंधा करते हैं। कोई- कोई खेती करते हैं। यहां तक कि बहुत से लोग तो जुआ सरीखा निन्दनीय कर्म भी करते

हैं। अभिप्राय यह है कि कोई किसी साधन का अवलम्बन करता है और कोई किसी उपाय को ग्रहण करता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी नीरोग अवस्था में धनोपार्जन तथा विषय भोग मे इतना अधिक लीन रहता है कि उसे आत्मा के कल्याण की कल्पना ही नहीं आती। किन्तु जब उपार्जित धन किसी कारण से नष्ट हो जाता है, इष्ट जन का वियोग होजाता है,या अन्य कोई अनिष्ट घटना घट जाती है, तब चित्त एकदम क्षुब्ध हो जाता है। चित्त में नाना प्रकार की चिन्ताहरी चिताएं धधकने लगती हैं और घोर अशान्ति मनुष्य के मन को बेचैन और व्यग्र बना देती है। इस प्रकार वह अपने जीवन को भारभूत समझने लगता है।

इस तरह जीवन के अन्त को सुधार लेने मात्र से यह जीवन और आगामी जीवन सुधार लेने की भ्रममय धारणा से प्रेरित मनुष्य अपने इस जीवन को और अगले जीवन को भी बिगाड़ लेता है। उसकी मिथ्या धारणाएं उसे गहरा धोखा देती हैं।

सत्य यह है कि जीवन के अन्तिम क्षणों में वैसी ही भावना उत्पन्न होती है, जैसी गति में उसे जाना होता है। आयु कर्म अमिट है। उसका एक बार बन्ध हो जाने पर उसमे परिवर्तन होने का अवकाश नहीं है। जिस जीव ने अपने जीवनकाल में नरकायु का बन्ध कर लिया है, वह लाख प्रयत्न करके भी नरक से नहीं बच सकता। उसे नरक में जाना ही पड़ेगा। इस विषय में सम्राट् श्रेणिक का इतिवृत्त प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर के मुखारविन्द से श्रेणिक को पता चला कि वह नरकायु का बन्ध कर चुका है। उसे बहुत चिन्ता हुई और बहुत बहुत प्रयत्न उसने किये, मगर 'कर्म की रेख टरै नहिं टारी!' आखिर वह नरक से नहीं बच सका।

जो जीव नरकायु का बंध कर चुका है, उसके परिणाम मृत्यु के समय नरकगति के ही अनुकूल होंगे, देवगति के अनुकूल नहीं हो सकते ऐसे परिणाम अगर पहले उत्पन्न न भी हों तो मृत्यु से अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य ही उत्पन्न हो जाते हैं। लोक में कहावत प्रसिद्ध है—'अन्त मता सो गता।' अर्थात्—अन्तिम समय जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है। इस लोकोक्ति में सचाई अवश्य है, किन्तु इस का अभिप्राय

यही है कि अन्त मे मति वैसी ही होती है, जैसा आयुकर्म बंध चुका हो। यह नहीं कि जीवन भर कोई कैसा ही विचार और आचार करता रहे, उस का कोई मूल्य नहीं है, वह सब निरर्थक है, और सिर्फ अन्तिम समय अच्छी मति कर लेने मात्र से परलोक सुधर जाएगा। अतएव परलोक सुधारने के लिए निरन्तर सावधान रहना चाहिए और अन्तिम समय के भरोसे नहीं बैठा रहना चाहिए। क्योंकि निश्चित रूप से अन्तिम समय तो पूर्वबद्ध आयु के ही अनुसार ही होगा और आगामी भव भी उसी के अनुसार होगा।

भगवान् महावीर ने जगत् के जीवों को सावचेत करते हुए कहा है—

समयं गोयम ! मा पमायए।

(उत्तराध्ययन सूत्र,)

अर्थात्—हे गौतम ! एक पल भर भी असावधान मत रह।

भगवान् का यह उपदेश अत्यन्त गंभीर भाव को लिये हुए है। इस में गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। भगवान् हमें समझाते हैं कि आयु कर्म के बन्धने के समय का तुम्हें पता नहीं लग सकता। तुम नहीं जान सकते कि कब आगामी भव की आयु बन्धेगी। वह किसी भी समय बंध सकती है। यद्यपि वर्त्तमान आयु के दो भाग बीत जाने पर और तीसरे भाग के शेष रहने पर आयुकर्म का बन्ध होता है, किन्तु प्रथम तो तुम यह नहीं जान सकते कि आयु के दो भाग कब समाप्त हो रहे हैं, दूसरे यह समय भी आगामी आयु के बन्धने के लिए एकदम निश्चित नहीं है। संभव है भुज्यमान आयु का तिहाई भाग शेष रहने पर भी आयुकर्म का बन्ध न हो। तब तिहाई भाग के भी दो भाग व्यतीत हो जाने पर तीसरा भाग शेष रहने पर आयु का बन्ध होगा। किन्तु यह काल भी अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हो सकता है कि उस समय भी नवीन आयु का बन्ध न हो और शेष रहे तिहाई भाग में से भी दो भाग व्यतीत होने पर बंध हो ! यह भी संभव है कि वर्त्तमान आयु समाप्त होने से अन्तमुहूर्त्त पूर्व ही आगामी आयु का बन्ध हो !

आशय यह है कि नवीन आयु-कर्म के बँधने का काल हम जान नहीं सकते। हमारी अनजान में ही वह बँध जाता है। ऐसी स्थिति में

हमारा यही कर्त्तव्य है कि हम प्रत्येक समय सावधान और सतर्क रहें क्षण भर के लिए भी प्रमाद में न पड़ें; क्योंकि संभव है जो क्षण हमारे प्रमाद का हो, वही क्षण आगामी आयु के बँधने का हो ! और यह तो बतलाया ही जा चुका है कि आयुबन्ध हो जाने पर फिर उससे छुटकारा नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति में अन्तिम समय को सुधार लेने के भरोसे बैठे रहना विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं। किसे ज्ञात है कि कब किसका अन्तिम समय आएगा ? हम देख तो रहे हैं कि मनुष्य मञ्च मे बैठा-बैठा सहसा लुढ़क जाता है, रास्ता चलते-चलते समाप्त हो जाता है और हृदय की गति बंद होते ही परलोक की ओर प्रयाण कर जाता है। ऐसी दशा में बुढ़ापे पर निर्भर रहना विवेकशून्यता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भगवान् ने फरमाया है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

× × × × ×

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥
(उत्तराध्ययन, १०-१, २)

अर्थात्- जैसे पीला पड़ा हुआ पेड़ का पत्ता, काल व्यतीत होने पर किसी भी समय, हवा का एक हलका सा झौंका लगते ही, नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार यह मानव- जीवन भी, किसी भी समय समाप्त हो जाता है। अतः गौतम ! एक समय भी प्रमाद न करो।

जैसे घास की नोक पर लटकने वाली ओस की बून्द बहुत थोड़े समय तक ही ठहरती है, अधिक देर तक नहीं ठहर सकती, उसी प्रकार यह मानवजीवन अल्प काल ही ठहरता है, अतः गौतम ! एक समय भी प्रमाद न कर।

इसी बात को उत्तराध्ययन शास्त्र के चौदहवें अध्ययन में दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स व ऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

जैसे संसार के दूसरे जन सोचते हैं, उसी प्रकार राजा इषुकार का पुरोहित भी सोचता था कि अभी संसार के भोगोपभोग भोग लें, आमोदप्रमोद कर लें और विलासमय जीवन व्यतीत कर ले; और फिर साधुवृत्ति अंगीकार करके आत्मकल्याण कर लेंगे। पुरोहित के दो पुत्र जब विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत हुए तो पुरोहित ने अपने पुत्रों के समक्ष ऐसी ही बात रक्खी। भगवान् महावीर का कथन है कि पुरोहित-पुत्रो ने बड़ी ही तेजः पूर्ण भाषा में कहाः—

'जिसने मृत्यु के साथ मित्रता स्थापित कर ली हो अथवा जो मृत्यु के आने पर भाग कर बचने की आशा रखता है—जो समझता हो कि मृत्यु मेरे साथ रियायत करेगी या मैं भाग कर उसके विकराल पंजों में पड़ने से बच जाऊँगा, अथवा जिसे यह विश्वास हो कि मेरी मौत आने वाली ही नहीं है—मैं अजर-अमर हूं; वही सोच सकता है कि आज नही, कल धर्म का आचरण कर लूंगा।'

कितना कठोर सत्य है! वास्तव में जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं है। अभी है और अभी नहीं है। संसार में मृत्यु के इतने अधिक कारण विद्यमान है कि प्राणी का जीवित रहना ही आश्चर्य की बात हैं, मर जाने में कोई आश्चर्य नहीं है। जन्म के साथ ही साथ मौत मस्तक पर मँडराती रहती है और किसी भी समय झपट्टा मार बैठती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य भविष्य का भरोसा करके अपने जीवन को नष्ट और बर्बाद कर रहे हैं! यही मनुष्य की भयंकर भूल है।

मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल है। वायु का प्रबल वेग भी उस के वेग के सामने नगण्य है, सिनेमा के दृश्यों की तरह मन में एक विचार आता है और आने के साथ ही विलीन हो जाता है। जब धर्मश्रवण, और स्वाध्याय आदि का योग होता है, तब मन में प्रशस्त विचारों का उद्भव होता है; किन्तु कुछ ही क्षण बीते नहीं कि नवीन तृष्णा और मोह से परिपूर्ण विचार उन प्रशस्त विचारों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। वस्तुतः मन को इस चंचलता के कारण ही अन्त समय

सुधार लेने की भयंकर भूल होती है। यह मन इतना छली है कि मनुष्य को सदैव धोखे मे रखना चाहता है। यह इतनी प्रबल शक्ति से सम्पन्न है कि आत्मा को इसने अपना दास बना रक्खा है। इसके कपटयुक्त प्रभाव से अनेक त्यागी अपने त्याग से च्युत हो जाते हैं, अनेक योगी योग से भ्रष्ट हो जाते हैं और अनेक संयमी अपने संयम से पतित हो जाते हैं। ऐसी दशा में साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है? उन्हें तो यह ऐसे भंवर में डालता है और ऐसे प्रलोभन देता है कि वे बेचारे इह लोक के सुखों में रत रहने में ही अपना कल्याण समझते रहते हैं।

जो मनुष्य अपने जीवन काल में परलोक पर कुछ भी ध्यान नहीं देते, परलोक के सुख की कुछ भी सामग्री नहीं जुटाते और इह-लोक के भोगों में ही ग्रस्त रहते हैं, उन्हे सांसारिक पदार्थों मे इतनी ममता हो जाती है कि बुढ़ापे मे उस ममता का त्याग करना असम्भव सा हो जाता है। किसी साधक ने अपने मन को धिक्कार देते हुए और वृद्धावस्था का साक्षात् चित्र खींचते हुए कहा है—

वपुः कुब्जीभूतं गतिरपि तथा यष्टिशरणा,
विशीर्णा दन्ताली श्रवणविकलं श्रोत्रयुगलम्।
शिरः शुक्लं चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो,
मनो मे निर्लज्जं तदपि विषमेभ्यः स्पृहयति॥

बुढ़ापे में मनुष्य की क्या स्थिति होती है? साधक कहता है- शरीर कुबड़ा हो गया है- कमर झुक गई है। लाठी के सहारे थोड़ा-बहुत चलना- फिरना होता है। समस्त दांतों के गिर जाने से मुँह पोपला हो गया है। दोनों कान बहरे हो गये हैं। सिर सफेद हो गया है। आँखें अन्धकार से आवृत हो गई हैं- नेत्रों से सूझता नहीं है; इस प्रकार समस्त शरीर और सारी इन्द्रियां शिथिल पड़ गई हैं; फिर भी यह निर्लज्ज मन विषयों की कामना करता रहता है।

तात्पर्य यह है कि चित्त पटल पर जीवन भर के कुसंस्कार संचित होते- होते इतने प्रबल और सघन हो जाते हैं कि अशक्त वृद्धावस्था में

उनका उन्मूलन कर डालना और उनके स्थान पर नवीन सुसंस्कारों का आरोपण करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। वह मोह-ममता और आशा-तृष्णा के जाल में फंसा हुआ मनुष्य अपने वास्तविक कल्याण का कोई भी साधन नहीं जुटा सकता।

कदाचित् वृद्धावस्था में सद्‌बुद्धि जाग उठे और मनुष्य सचमुच ही आत्मकल्याण करने का इच्छुक हो जाय, तो भी उस समय उसकी स्थिति इतनी विषम और दुर्बल होती है कि आत्मकल्याण करना उसके लिए कठिन हो जाता है। यह तो सभी जानते हैं कि वृद्धावस्था जीवन का संध्याकाल है। उस समय में जीवन-सूर्य अस्त होने की तैयारी में होता है। मनुष्य जब इस बात का विचार करता है तो उसके चित्त पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका चित्त अस्थिर-सा रहता है। इस के अतिरिक्त उस दशा में शारीरिक दुर्बलता के फलस्वरूप नाना प्रकार की व्याधियां उभर पड़ती हैं। इन्द्रियां कमजोर पड़ जाती हैं और अशान्ति तथा व्याकुलता बढ़ जाती है। इन सब कारणों से धर्माचरण करने की शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। अतएव ज्ञानी जनों का यही कहना हैं कि तुम अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हो तो कल की भी राह न देखो। जो शुभ कार्य कल करना चाहते हो उसे आज ही कर डालो।

किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य ज्ञानियों के इस उपदेश की उपेक्षा करके ऐसा आचरण करता है, मानों उसे कभी बूढ़ा नहीं होना है, सदैव जीवित रहना है या संसार के परिवार को, धन--वैभव को अपने साथ ही ले जाना है! यह ममता का ही प्रभाव है। ममता की अधिकता से मनुष्य शरीर आदि के प्रति आसक्ति का भाव रखता है और ऐसा व्यवहार करता है जिससे शरीर का पोषण और मन की वासनाएँ तृप्त होती रहें।

वास्तव में देखा जाय तो समस्त ममता का केन्द्र शरीर है। शरीर पर ममत्त्व होने के कारण ही संसार के अन्य पदार्थों पर ममत्त्व उत्पन्न होता है। अतः आत्महितैषी पुरुष को सर्व प्रथम अपने शरीर से ममत्त्व हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। शारीरिक ममता के हट जाने पर अन्य पदार्थों की ममता हट जाना इतना कठिन नहीं होगा। मनुष्य को सोचना चाहिए कि:—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धम्,
तस्यास्ति किं पुत्र कलत्रमित्रैः ! ।
पुण्यक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

जिसकी अपने शरीर के साथ भी एकरूपता नहीं है, उसकी पुत्र पत्नी और मित्र जनों के साथ एकरूपता कैसे हो सकती है ? जव शरीर ही आत्मा से पृथक् है तो परिवार तो पृथक् होगा ही। शरीर पर मढ़ी हुई चमड़ी को अलहदा कर दिया जाय तो रोम-कूप क्या शरीर में रह जाएँगे ? नहीं ! चमड़ी के हट जाने पर रोम शरीर में नहीं रह सकते, इसी प्रकार जव शरीर ही अपना नहीं है तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं ? इसी विषय को श्रीमल्लिषेण आचार्य अपने भावों में भी व्यक्त करते हैं ।

'यद्यद्वाञ्छसि तत्तदेववपुषे, दत्तं सुपुष्टं त्वया,
सार्द्धनैति तथापि ते जड़मते मित्रादयो यान्ति किम् ।
पुण्यं पाप मिति द्वयं च भवतः पृष्ठेनयातिहते,
तस्मान्मास्म कृथा मनागपि भवान्मोहं शरीरादिषु ॥१॥

अर्थात्—अय मूढ़मते ! जो जो पदार्थ इस शरीर द्वारा चाहे गये, वही वही पदार्थ शरीर को देकर तूने इस शरीर को हृष्ट-पुष्ट वनाया किन्तु फिर भी ये तेरा साथी नहीं हुआ, तो मित्र, परिवार, भाई, बन्धुओं की तो वात ही क्या ? कोई तेरा सहचर नहीं है, हाँ, एक पुण्य पाप का जोड़ा अवश्य तेरे साथ जायेगा। इसलिए अय मानव ! तू शरीरादि के अकिंचन मोह का सर्वथा परित्याग कर ।

शरीर से ममता का हट जाना भी सहज वात नहीं है । किन्तु यदि शरीर के अनित्य और अपवित्र तथा अपावन रूप का चिन्तन किया जाय तो ममता का हट जाना संभव है। योगी जन तो—

अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं ।

अपने शरीर के प्रति भी ममता नहीं रखते हैं। शरीर की अनित्यता और अपावनता कोई परोक्ष वस्तु नहीं है। उसका तो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा

है। केवल इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

शरीर क्षणभंगुर है। प्रतिक्षण पलटता रहता है। क्षण-क्षण में न पलटता होता तो अवस्थाओं का भेद कैसा होता, किन्तु जब शिशु का जन्म होता है तब से लगाकर बाल्यावस्था, कुमारावस्था, नवयुवकावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था आदि अनेक अवस्थाएँ इस शरीर की होती हैं। मनुष्य की शारीरिक शक्ति का ह्रास यौवन-अवस्था के पश्चात् प्रारंभ हो जाता है और फिर प्रतिक्षण होता रहता है जैसे प्रातः कालीनसूर्य का तेज मध्यान्ह तक क्रमशः बढ़ता और मध्यान्ह के पश्चात् क्रमशः क्षीण होता जाता है और अन्त में वह अस्त ही हो जाता है, इसी प्रकार क्रम से क्षीण होता हुआ यह शरीर भी अन्त में नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य सदा उदित नहीं रह सकता उसी प्रकार शरीर भी सदा टिका नहीं रह सकता।

मनुष्यदेह के जन्म मरण का यह क्रम अनादि काल से चला आता है। और अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह क्रम कभी भंग नहीं हुआ, इस मे कभी परिवर्तन नहीं हुआ। जगत् में बड़े बड़े महा पुरुष हो गए हैं, किन्तु इस नियम को कोई भंग नहीं कर सका। अनन्त तीर्थंकर हुए, अनन्त चक्रवर्ती राजा हो चुके, असंख्य बड़े बड़े सम्राट् हुए और पृथ्वी को कंपित करने वाले सेनापति इस भूतल पर आए परन्तु अन्त मे किसी का शरीर टिका न रहा। जिनकी उंगली के एक संकेत मात्र से बड़े बड़े वीरों के दिल दहल उठते थे, जो अपने को अपराजित समझे बैठे थे, जिनकी धाक से सारा संसार काँपता था, वे आज कहाँ है? अपने अपरिमित बल में चूर, रावण का अन्त वही हुआ जो एक क्षुद्र कीड़े का होता है। तात्पर्य यह है कि संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अजर-अमर हो। कहा है—

बिजली की क्षणभंगुर आभा, कहती देखो आओ,
तेरे मेरे जीवन में है कितना भेद बताओ?
जल-बुद-बुद मानों दुनिया को अमर सीख देता है,
'मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।'
उच्छ्वासों के मिष से प्रतिपल प्राण भागते जाते,

बादल की सी छाया, काया पाकर क्या इठलाते !
कौन सदा रख सका इन्हें फिर क्या मैं ही रख लूंगा,
पा यम का संकेत तनिकसा मैं प्रस्थान करूंगा ।

जिसने जन्म लिया है, उसको मृत्यु अवश्यंभावी है । यह नियम अटल है, निरपवाद है । इससे कोई बच नहीं सकता ।

आश्चर्य है कि मनुष्य पल २ में होने वाले परिवर्तन को देखता हुआ भी अन्धा बना हुआ है । वह अजर-अमर की तरह भोग-विलासों में मस्त होकर जीवन को गवां रहा है । वह सोचता है कि संसार के दूसरे सब मनुष्यों का तो अन्त आजायेगा, किन्तु मैं अनन्त काल तक ऐसा ही बना रहूँगा । सभी मनुष्य मानो ऐसा ही सोच कर निश्चित हो कर व्यवहार कर रहे हैं । महाभारत में लिखा है:—

अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषा स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम ॥

(महाभारत वन० ३१३-११६)

अर्थात्—प्राणी प्रतिदिन यम लोक के अतिथि बनते जा रहे है । किन्तु अभी जो बच रहे हैं वे अपने आपको अजर-अमर समझते हैं । इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ? इस अज्ञान और मूढ़ता से बढ़कर और कौन सा अज्ञान होगा, कौन-सी मूढ़ता होगी ?

मोह के प्रबल उदय से मनुष्य नेत्रवान् होते हुए भी अन्धा है, कान होते हुए भी बहरा है और चेतन होते हुए भी जड़वत् बना हुआ है । मोह के उदय से यह जीव अपने स्वरूप को ही भूल गया है । जीवन ज्यों-ज्यों अस्त की ओर जारहा है, त्यों-त्यों उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है, इन्द्रियाँ तो क्षीण होती जाती हैं किन्तु विषय भोग की लालसा के नवीन अंकुर फूटते जाते हैं । शरीर शिथिल होता जाता है पर लालसा की लता लहलही होती जाती है । गर्दन काँपने लगती है, मानो वह मौत को आने की मनाही कर रही है, फिर भी मृत्यु समीप से समीपतर होती ही जाती है । केश श्वेत हो गये हैं, वे मृत्यु का संदेश सुना रहे है ।

जिस मनुष्य की दशा ऐसी हो गई हो, जिसकी शारीरिक शक्ति वृद्धावस्था अथवा रोगादि के कारण क्षीण हो गई हो, वह अपने मस्तक पर बोझ लाद कर दुर्गम मार्ग पर कैसे चल सकता है ? उस समय तो पश्चाताप करना ही उसके भाग्य में रह जाता है वह अपने को धिक्कारता हुआ कहता है 'हाय' मैं कितना अधम हूँ कि मैंने अपने बहुमूल्य श्वास विषयविलास में गंवा दिये ! मैंने उचित समय पर सन्मार्ग ग्रहण नहीं किया ! आह, अब मेरी क्या दशा होगी ! इस विषय में शास्त्र कहते हैं—

**अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमे ऽवगाहिया ।**
**पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥**

(उत्तराध्ययन, १०–३३)

अर्थात्—जैसे निर्बल बोझा ढोने वाला विषम मार्ग में प्रवेश करके पश्चाताप करता है, वैसे तू मत कर । सन्मार्ग में प्रगति करने में हे गौतम एक समय का भी प्रमाद मत कर ।

हां तो समय निकल जाने पर पश्चाताप करना ही शेष रह जाता है । मगर पश्चाताप करने पर भी वह अपने आप उत्पन्न की हुई व्यथा से बच नहीं सकता । उसे अपनी असावधानी का कटुक फल तो भोगना ही पड़ता है । इतना ही नहीं, पश्चाताप के द्वारा उस व्यथा में और भी वृद्धि हो जाती है । मनुष्य की इस भयंकर भूल के संबन्ध में सूत्रों में और विविध शास्त्रों में अनेक चेतावनियाँ मिलती हैं । एक स्थल पर कहा है:—

**न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई**
**पच्चुप्पण्णेण कारियं, को दट्ठुं परलोगमागए ॥**

(सूयगडांग, २–३–१०)

जीवन टूट जाने पर पुनः नहीं जोड़ा जा सकता । फिर भी अज्ञानी जीव पापाचरण करने में लज्जित नहीं होता । धर्म के लिए प्रेरणा करने पर वह धृष्टतापूर्वक कहता है—मुझे तो वर्तमान से ही प्रयोजन है । कौन परलोक को देख कर आया है ? परलोक है या नहीं, कौन जानता है ?

ऐसे मोहयुक्त पुरुषों को भगवान् वर्द्धमान स्वामी का यह कथन सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णु विहिंसा अजया गहिंति ॥
(उत्तराध्ययन, ४-१)

अर्थात्—यह जीवन असंस्कृत है एक वार टूटा कि फिर कदापि नहीं जुड़ सकता यह भी निश्चित है कि मनुष्य जब जरा की विकराल दाढ़ों के बीच आ जाता है तो उसे कोई नहीं बचा सकता । ऐसी स्थिति में हिंसा और असंयम में जीवन व्यतीत करने वाले प्रमादी पुरुष अन्त समय किस की शरण ग्रहण करेंगे ?

मनुष्य की मोह निद्रा को भंग करने के लिए ज्ञानी जनों ने अनेक प्रयास किये हैं, शास्त्रकारों ने अनेक उपदेश दिये हैं और सन्तों ने भी अपने मूल्यवान् अनुभव प्रकट किये हैं । एक कवि कहते हैं—

जौ लौं देह तेरी काहू रोग सों न घेरी,
जौ लौं जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है ।
जौ लौं जम नामा वैरी देय न दमामा,
जौ लौं मानै कान रामा बुद्धि जाइ न विगारि है ।
तौ लौं मित्र मेरे ! निज कारज सँवारि लैरे ।
पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है ?
अहो आग आए जब झौंपरी जरनि लागी,
कुआ के खुदाए तब कौन काम सरि है ?

जब तक शरीर को किसी व्याधि ने नहीं घेरा है, जब तक बुढ़ापा निकट नहीं आया है, जब तक यम नामक वैरी अपने नगाड़े नहीं बजाता, जब तक बुद्धि नहीं सठिया गई है, तब तक अपना काम

बना लो। आत्मा का कल्याण करके जीवन का महान् उद्देश्य पूर्ण कर लो। फिर तो बुढ़ापा आने पर पुरुषार्थ थक जाएगा। उस समय क्या कर सकोगे? अरे मेरे मित्र! आग नजदीक आ जाने पर जब झोंपड़ी जलने लगी हो, तब कुआ खुदवाने का उपक्रम करने से क्या लाभ होगा? बुढ़ापा और मृत्यु निकट आने पर कुछ भी नहीं कर सकोगे। अतः आत्मा का कल्याण करना है तो पहले ही कर लो।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी तो यह सोचते हैं कि जब बुढ़ापा आ जाएगा तब धर्माचरण कर लेंगे; किन्तु ज्ञानी पुरुष इससे विपरीत यह परामर्श देते हैं कि जब तक शरीर सशक्त है, इन्द्रियाँ-काम दे रही हैं, तब तक धर्म की साधना कर लो। वृद्धावस्था आएगी भी या नहीं? क्योंकि बाल्यावस्था और युवावस्था में ही अनेक मनुष्य मरणशरण हो जाते हैं। कदाचित् आई भी तो वह अर्ध मृतक-सी अवस्था होती है। उस में नाना प्रकार की व्याधियाँ और नाना प्रकार की पीड़ाएँ आ घेरती हैं, जिन के कारण चित्त में समाधि और शान्ति नहीं रहती। ऐसी दुरवस्था में धर्म की विशिष्ट प्रतिपालना संभव नहीं है। अतएव सब प्रकार का अनुकूल अवसर पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। अप्रमत रह कर, संयम आदि का अनुष्ठान करके जरा-मरण को ही जीत लेने का प्रयत्न करना चाहिए।

कोई- कोई मनुष्य यह सोचते है कि यदि इस जीवन का अन्त अचानक ही हो गया तो भी क्या हानि है? आत्मा तो अजर, अमर है, अविनाशी है। इस जन्म के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण करना ही पड़ेगा। तब उसी आगामी जन्म में शेष कार्य सिद्ध कर लेंगे। इस जन्म में विषयभोगों का सेवन करके भावी भव मे आत्मकल्याण कर लेंगे। अभी क्या जल्दी है?

इस प्रकार का विचार करना भी अपनी आत्मा को धोखा देना है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का फरमान हृदयपटल पर अंकित करने योग्य है:—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए॥
(उत्तराध्ययन, १०–४)

अर्थात्– हे गौतम ! सब प्राणियों के लिए मनुष्यभव चिरकाल तक भी दुर्लभ है। दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है; क्योंकि कर्मों के फल बहुत गाढ़े होते है, अतः समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

कौन जानता है कि आगामी भव मनुष्य का ही भव होगा ? खास तौर पर जो लोग इस जीवन को विषय- वासनाओं के सेवन में और अर्थसंचय करने मे ही व्यतीत करेंगे, वे मनुष्य का आयुष्य कैसे पा सकते हैं ? उनके तो किसी नीच योनि में ही जाने की संभावना की जा सकती है। अतएव मनुष्य को सावधान करते हुए सुन्दर कवि कहते हैं:—

पायो है मनुष्यदेह अवसर बीत्यो जात,
ऐसी देह बार- बार कहो कहाँ पाइए ?
भूलत है बावरे ! तू अब कै सियानो होय,
रतन अमोल यह काहे को ठगाइए ?॥
समझ विचार करि ठगन को संग त्याग,
ठगबाज़ी देख कहीं मन न डुलाइए।
'सुन्दर' कहत तोसे अब सावधान होय,
हरि को भजन कर हरि में समाइए ॥

जब तें जनम धर्‍यो तब ही तें भूलि पर्‍यो,
बालापन माँहि भूल्यो समझो न सुख में ॥
योवन भयो है जब काम वस भयो तबै,
युवती सौं एकमेव भूल रह्यो सुख में ॥
पुत्र हों परपौत्र भये भूल्यो तब मोहबन्दी,
चिन्ता करि- करि भूल्यो जानै है दुख में ॥
'सुन्दर' कहत शठ नीकों पन माँहि भूल्यो,
भूल्यो भूल्यो जाय पर्‍यो काल ही के मुख में ॥

अतएव ऐ संसार के प्राणियो ! स्मरण रक्खो, संसार की कोई भी वस्तुएं रक्षा करने वाली नहीं है। जब बुढ़ापा आएगा तो माता, पिता, भाई आदि कोई भी साथ नहीं दे सकेगा। मृत्यु से बचाने वाली कोई वस्तु नहीं है। अतएव धर्म का आश्रय लो। किन्तु यह तभी होगा जब मन स्थिर हो। यदि मन चंचल है, मैला है, अस्थिर है और विषयों की ओर भागता है, तो धर्म में रुचि नहीं हो सकती। अतएव मन को स्थिर बनाओ। यह विचार त्याग दो कि अभी जल्दी क्या है, फिर धर्माचरण कर लेंगे। ऐसा विचार करने वाले स्वयं धोखे में पड़ते हैं। इस प्रकार का विचार मनुष्य जीवन की सब से बड़ी भूल है। इस भूल से बचोगे और आत्म कल्याण के लिये पल-पल का सदुपयोग करोगे तो आपका कल्याण होगा ।

# जीवन की सफलता

प्रत्येक मनुष्य जीवन जी रहा है, मगर कितने लोग हैं जो जीवन की सफलता के सम्बन्ध में गंभीर विचार करते हों ? आप बाजार से कोई साधारण सी वस्तु खरीदते हैं तो पहले कुछ उद्देश्य निश्चित कर लेते हैं और सोच लेते हैं कि किसलिए इसकी आवश्यकता है ? खरीदने के पश्चात् भी उसे सार्थक बनाने की बात सोचते हैं। मगर यह जीवन किसलिए प्राप्त हुआ है ? इस जीवन की सफलता किस में है ? हमें कौन से कर्त्तव्य करने चाहिए, जिससे जीवन निष्फल न होकर सफल हो जाय ? इत्यादि प्रश्नों का उद्भव कभी आपके मानस में होता है ?

चार पैसे की चीज की सफलता पर विचार करने वाले जब मनुष्य जीवन जैसी अनमोल वस्तु की सफलता पर विचार करने में उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करते हैं, तो ख्याल आता है कि मनुष्य चार पैसों की अपेक्षा भी अपने जीवन को तुच्छ समझता है; स्वर्ग के देवता भी जिस जीवन की स्पृहा करते हैं, उस जीवन का यह मूल्य समझा है आपने !

कुछ लोग जीवन की सफलता के विषय में विचार तो करते है, पर उनकी दृष्टि बहुत सीमित होती है। अतएव वे ऐहलौकिक सफलता पर ही विचार करते हैं और आत्मा के शाश्वत कल्याण के दृष्टिकोण से किंचित् भी विचार नहीं करते। कोई धन-कुबेर बनने में अपने जीवन का साफल्य देखते हैं, कोई मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति में, कोई परिवार की वृद्धि में और कोई भोगोपभोग भोगने में। उनकी दृष्टि में शरीर ही मुख्य होता है और शरीर में विराजमान आत्मा नगण्य होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वे शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न तत्त्व नहीं समझते। ज्ञानी पुरुष ऐसी स्थूल दृष्टि पर विस्मय करते हैं और विचारते हैं कि मनुष्य अपने आपको ही नहीं पहचान पाया है ! प्रकृति के गूढ़ और गूढतर रहस्यों को खोल कर दुनियां के सामने

रख देने का दावा करने वाला मानव अभी अपने को भी नहीं समझ सका है! बलिहारी है इसकी वैज्ञानिक अन्वेषणाओं की!

वस्तुतः शरीर एक पिंजरे के समान है। इसमें आत्मा रूपी हंस बंद है। पिंजरा और हंस एक नहीं, अलग-अलग हैं। पिंजरे के अनेक द्वार खुले हुए हैं। ऐसी दशा मे हंस कभी भी उड़ सकता है। उस के उड़ जाने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आश्चर्य तो इस बात पर किया जा सकता है कि वह अब तक उड़ क्यों नहीं गया?

जीवन की सफलता के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि यद्यपि आत्मा अमर है, किन्तु यह जीवन अमर नहीं है। यह जीवन तो कभी भी समाप्त हो सकता है मनुष्य संसार में सदैव देखता रहता है दूसरों का जीवन अचानक ही समाप्त हो जाता है। एक व्यक्ति बैठा-बैठा बाते कर रहा है, हास्य-विनोद में पूर्णतया निमग्न है, और उसी समय हृदय का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है और जीवन का अन्त आ जाता है। कोई बैठा-बैठा क्षण भर मे भूमि पर लुढ़क जाता है। कोई ठोकर लगते ही प्रयाण कर जाता है। जीवन की क्षणभंगुरता को इस प्रकार प्रत्यक्ष करता हुआ भी मनुष्य अपने जीवन को स्थायी और शाश्वत माने बैठा है। वह नाना प्रकार की व्यवस्थाएँ सोचता रहता है। अगणित मनोरथों का सेवन करता रहता है। कल यह करेंगे, परसों वह करेंगे, एक वर्ष पश्चात् ऐसा करेंगे और दस वर्ष पीछे वैसा करेंगे। किन्तु पल भर की प्रतीति नहीं है। काल सहसा सामने आ जाता है और समस्त संकल्पों को सदा के लिए समाप्त कर देता है। कहा भी है:—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस के पल की खबर नहीं॥

मृत्यु क्षण भर की भी भिक्षा नहीं देती। संसार की समस्त सम्पत्ति, बृहत् परिवार और महल-मकान आदि सभी कुछ यहाँ का यहाँ रह जाता है और जीव अकेला, अपने किये हुए कर्मों की गठरी लाद कर चल देता है। कौन उस समय उसे बचाने में समर्थ हो सकता है? कहा भी है:—

भरतखंड के अधिपति चक्री कितने भू पर आये,
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाये।
प्रबल शक्तिसम्पन्न सैन्य उनका-सा और कहाँ है?
किन्तु धरातल पर क्या उनका नाम निशान रहा है?

× × × ×

अम्बर में पाताल लोक में या समुद्र गहरे में,
इन्द्र भवन में, शैल गुहा में, सेना के पहरे में।
वज्रविनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई! यम के फंदे मे अन्त पड़ेगा आना।

(भावना)

वास्तव में मृत्यु का आगमन होने पर संसार की कोई भी शक्ति मनुष्य को बचाने मे समर्थ नहीं हो सकती। विलासिता की सामग्री धरी रह जाती है। वैद्यों और डाक्टरों की औषधियाँ कोई काम नहीं आतीं। सगे सम्बन्धी किसी प्रकार सहायक नहीं होते। इसीलिए एक कवि ने कहा है:—

बने रहे बटना बनाए रहे भूषण भी,
अतर फुलेलन की शीशियाँ धरी रहीं।
तानी रही चाँदनी सोहानी रही फूल-सेज,
मखमल तकियों की पंकती करी।
बने रहे नुस्खे त्रिफले माजून कन्द,
खुरस खमीरा याकूतियाँ परी रहीं।
उड़ गयो बीच में ते हंसजो सुन्दर हुतो,
बस यह शरीर अरु खोपरी परी रही।

ऐसे अनित्य, अध्रुव अस्थायी और क्षणभंगुर जीवन को पाकर के जो उसे विषयभोगों मे व्यतीत कर देते हैं और जीवन की शाश्वत

सफलता के लिए कभी प्रयत्न नहीं करते, वे नेत्र रहने पर भी अन्धे और पठित होने पर भी अज्ञानी हैं। वे शुभ्र सांसारिक लाभ के लिए अपने भविष्य को दुःखपूर्ण बनाते हैं। वे चिन्तामणी को खोकर बदले में पत्थर का टुकड़ा लेना चाहते हैं। वे कल्पवृक्ष को उखाड़ कर उसकी जगह एरंड की स्थापना करते हैं। वास्तव में वे अविवेकी हैं, अकुशल हैं, अज्ञानी हैं। वे शरीर के पालन पोषण में और उसे सिंगारने संवारने में ही अपना बहुमूल्य समय नष्ट कर देते हैं और इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। वे नहीं जानते कि शरीर नाशवान है। इसका तो चमड़ा भी किसी काम नहीं आता! इसीलिए भक्त तुलसीदास ने चेतावनी देते हुए कहा है:—

तेल फुलेल अनेक लगावत खींच के बंद संवारत बाहिं,
भोगन भोग अनेक करे तरुणी वरु देख अति हरषाहि।
ले दर्पन मुख देखत हैं और अति आनन्द सौं निरखत छाहि।
तुलसीदास भजो हरि नामा, यह चाम चमार के काम को नाहि॥

यद्यपि किसी मनुष्य के पास विपुल वैभव है, असीम सम्पत्ति है, अपार ऐश्वर्य है, किन्तु यदि उसे अपने जीवन को सफल बनाने का ध्यान नहीं है और उसके लिए वह कोई तप साधना नहीं करता तो उसका वह सारा वैभव व्यर्थ है। भले ही वह बुद्धि और विद्या में भी बड़ा हो। कहा भी है:—

बुद्धि बड़ी सुघड़ाई बड़ी चतुराई बड़ी जग में प्रकटी है।
ज्ञान बड़ो धन धाम बड़ो करतूत बड़ी तन में लिपटी है॥
लाखों ही भूप विलोकत दर पै कोष में माया बहुत अटी है।
'तुलसी' राम की भक्ति बिन जैसे सुन्दर नारी की नाक कटी है॥

किसी स्त्री के अंग-अंग सौन्दर्य से सम्पन्न हों, सामुद्रिक शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार बने हों, लेकिन नाक कटी हुई हो तो उसका सौन्दर्य किस काम का? उसकी सारी सुन्दरता धूल में मिल जाती है। इसी प्रकार जीवन की वास्तविक सफलता के लिए जो प्रभु भक्ति नहीं

करता, उसकी समग्र सामग्री व्यर्थ है। जीवन की असली सफलता तो भगवद्भक्ति में ही है। इसीलिए महात्मा कहते हैं:--

धन-यौवन यूं जायगो, जैसे उड़त कपूर।
राम-नाम को छोड़ कर, क्यों चाटे जग-धूर॥
आए हैं सो जाएंगे, राजा रंक फकीर।
कोई सिंघासन चढ़ि चले, कोई बांधे जात जंजीर॥

मानव-जीवन बड़े सौभाग्य से मिलता है। अत्यन्त शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही इसकी प्राप्ति होती है। कहा भी है:—

दुर्लभ मानवजन्म है, मिले न बारम्बार।
पत्ता टूटा वृक्ष से, लगे न फिर से डार॥

यदि इस जन्म को सफल न बनाया और मोक्ष रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न किया तो अत्यन्त अनिष्ट होगा। केन उपनिषद् में कहा है:—

'इह चेद् वेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहा वेदीन महती विनष्टि।
(केनोपनिषद्, २-५)

अर्थात्—यदि इसी जन्म को सफल बना लिया अर्थात् आत्मा को जान लिया तब तो अच्छा है; अन्यथा बड़ी हानि होगी।

जिन भोगोपभोगों के लिए मनुष्य दिन रात दौड़ धूप किया करता है और जिनकी प्राप्ति के लिए अपने अमूल्य मनुष्य जन्म को वृथा गँवा कर भी अपने जन्म को सफल समझता है, उसके विषय में भगवान् महावीर क्या कहते हैं?

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥
(उत्तराध्ययन, १९-१७)

जैसे ऊपर-ऊपर से सुन्दर दिखाई देने वाले किंपाक फलों का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता और:—

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुञ्जमाणा।
ते खुड्‌डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे॥

(उत्तराध्ययन, ३२-२०)

जैसे किंपाक फल चखने में और देखने में बड़े मनोरम होते हैं और खाते समय अच्छे लगते हैं किन्तु जब पेट में जाते हैं और उनका रस बनता है तो इस जीवन का ही नाश कर देते है। इसी प्रकार कामभोग भी अत्यन्त आकर्षक और सुखद जान पड़ते हैं, परन्तु अन्त में तो सर्व-नाशकारी सिद्ध होते हैं।

इन कामभोगों के संबन्ध में और भी कहा है:—

खणमित्त मोक्खा बहु कालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगाम सुक्खा।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

(उत्तराध्ययन, १४-१३)

अर्थात्—यह काम भोग क्षण भर सुख देने वाले हैं और चिर-काल तक दुःख देने वाले हैं। उनमें सुख थोड़ा और दुःख बहुत अधिक है। यह काम भोग जन्म-मरण से छुटकारा पाने के विरोधी है मोक्ष सुख के परम शत्रु हैं और अनर्थों की खान हैं।

वीतराग देव जिन काम-भोगों को आत्महित का घातक और अनर्थों का भण्डार कहते हैं, उन्हीं की प्राप्ति मे संसारी जीव अपने जीवन की सफलता मानते हैं। इस विपरीत बुद्धि के लिए क्या कहा जाय? यह सब मोह की ही लीला है। जो मनुष्य नर-देह को पाकर उससे पूर्ण लाभ नहीं उठाता, उसे वैदिक धर्म में आत्महत्यारा कहा है। यथा:—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्व तेरितं, पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद् भागवत, ११-२०-१७)

अर्थात्— यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार- सागर से पार उतरने के लिए यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण ग्रहण करने मात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बन कर पतवार का संचालन करने लगते है और स्मरण मात्र से ही अनुकूल होकर मैं (शुद्धात्मा) इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूं। इतनी सुविधाएं पाकर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार-सागर से पार नहीं हो जाता, वह अपनी आत्मा का घातक है।

एक पश्चिमी विद्वान् क्लेरंडन (Clarendon) ने लिखा है:-

**"If we do not weigh and consider to what end this life do given us and thereupon order and dispose it right, we do not number our days in the narrowest and most limited signification."**

अर्थात्- यदि हम इस बात पर ध्यान नहीं देते और विचार नहीं करते कि यह जन्म हमें किस उद्देश्य के लिए मिला है;- और अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाकर सुष्ठु प्रकार से व्यतीत नहीं करते तो हम अपनी आयु के दिनों का कुछ भी मोल या आदर नहीं करते।

कई लोग सोचते हैं कि हम अन्तिम पन में जीवन- सुधार की क्रियाएँ कर लेंगे! उनका यह सोचना ठीक नहीं है। इस विषय की चर्चा एक अलग प्रवचन मे की जा चुकी है। एक पश्चिमी विद्वान् हैरिक कहता है:—

**'That man lives twice who lives the first life well'**

अर्थात्— उसी मनुष्य का जीवन सच्चा जीवन कहा जा सकता है, जो अपनी पहली आयु को सुन्दर रूप में व्यतीत करता है।

वस्तुत. अपने जीवन को सफल या असफल बनाना मनुष्य के अपने हाथ में है। एक उर्दू कवि कहता है:—

ग़नीमत* समझ जिन्दगी की बहार,
मिलता न जामा† है यह बार–बार।

*अच्छा †चोला शरीर

तू कर इस तरह आगे दुनियां की सैर,
करें प्यार तुझ से सब अपने व गैर* ।
चुन अपने लिए फूल या खारां† तू,
कि नेकी बदी का है मुख्तार‡ तू ।
जो दिल चाहे जीवन को आबाद कर ।
जो दिल चाहे इस को तू बरबाद कर ।
रहेंगे वे खुश जो हैं इनसां भले ।
भलाई की खेती सदा ही फले ।
चलन नेक रख यह निरी ढाल है ।
नहीं नेक चलनी सी कोई चाल है ॥

मनुष्यभव में ही विशिष्ट विवेक की प्राप्ति होती है। इसी में बुद्धि का प्रकर्ष होता है। इसी मानव-शरीर का निमित्त पाकर मुनिजन षष्ठ आदि उच्च गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और इसी भव से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसे महान् उपयोगी जीवन को प्राप्त करके यदि विशेष आत्म-कल्याण की साधना नहीं की तो इसकी प्राप्ति ही निरर्थक हो गई। इतना ही नहीं, गांठ की वह पूंजी भी गई जिससे इसकी प्राप्ति हुई थी। साथ ही विषयभोग भोग कर और कर्मबन्धन करके आगे के लिए भारी ऋणी भी हो गया, जिसे चुकाने में न जाने कितने भव व्यतीत करने पड़ेंगे।

एक बार मानव-जीवन वृथा व्यतीत कर देने के बाद दूसरी बार इस की प्राप्ति कब होगी, यह नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में हमारे यहां दस दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। उनका यहां उल्लेख करने से विस्तार अधिक हो जाएगा, किन्तु मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझने के लिए उन्हें प्रत्येक को पढ़ना चाहिए। मगर यह तो सभी समझ सकते हैं कि संसार में कीट-पतंगों आदि की जो असंख्य जातियां हैं, उन सब से बच कर और नरक-निगोद आदि के विडम्बनामय जीवन से बच कर

*पराये †कांटे ‡स्वतंत्र।

मनुष्य जीवन का पा लेना कोई साधारण बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। अतएव ऐसे जन्म को यों ही नष्ट करना महामूर्खता है। अतएव मृत्यु को स्मरण रखते हुए मनुष्य को सचेत रहना चाहिए। कहा भी है:—

जिन्दगी कहती है दुनिया से तू अपना दिल लगा।
मौत कहती है कि ऐसी दिल्लगी अच्छी नहीं॥

जीवन की सार्थकता आत्मकल्याण में है। आत्मकल्याण का अभिप्राय आत्मा के अपने विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होना है। आत्मा ज्यों-ज्यों अपने असली स्वरूप की ओर प्रगति करता जाय, त्यों-त्यों उसका कल्याण है, और यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियों के विषयों से तथा प्रमाद से बचा जाय। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द रूप विषयों में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह तो संभव नहीं कि इन्द्रियाँ अपना अपना काम छोड़ दें। आँख के सामने जो वस्तु आएगी, उसे वह देखेगी ही और कान बोले हुए शब्दों को सुने बिना नहीं रहेगा। इसी प्रकार नाक गंध को ग्रहण किये बिना नहीं रह सकती। अतएव इन्द्रियविजय का अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रियाँ अपना काम करना त्याग दें, बल्कि यह अर्थ है कि ग्रहण किये हुए विषयों में राग और द्वेष न हो। सुन्दर रूप देखकर, मनोहर शब्द सुन कर, मनोज्ञ रस का आस्वादन करके और प्रिय गंध एवं स्पर्श का अनुभव करके रागभाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए और अप्रिय रूप आदि में द्वेष का भाव जागृत नहीं होना चाहिए। दोनों अवसरों पर समभाव की परिणति जागृत रहनी चाहिए। यही इन्द्रियविजय का वास्तविक अर्थ है।

जो मनुष्य इन्द्रियविजयी हैं, वह मधुर से मधुर भोजन को भी उसी अनासक्त भाव से खाएगा, जिससे रूखा-सूखा और नीरस भोजन खाया जाता है। ऐसा होने पर चिकने कर्म नहीं बँधते, क्योंकि असल में विष पदार्थों में नहीं राग-द्वेष में ही है। अनासक्त भाव से मिष्टान्न खाने वाला उतना कर्मबंध नहीं करता, जितना आसक्तिपूर्वक चने चबाने वाला करता है। अतएव आसक्ति, लोलुपता अथवा गृद्धि को त्याग देना ही वास्तव में आत्मकल्याण है और

जितनी- जितनी मात्रा में आसक्ति का त्याग होता जाता है, उतनी ही उतनी मात्रा में आत्मा का स्वरूप विशुद्ध होता जाता है और यही मानव जीवन की असली सफलता है।

विषयासक्ति ही अनर्थों का मूल है। एक- एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हाथी, मृग आदि पशुओं को भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है, तो जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों मे आसक्त हैं उनकी दुर्दशा का क्या पार है ? विषयों में ऐसी विचित्रता है कि ज्यों ज्यों इनका सेवन किया जाता है, त्यो- त्यों भोग की लालसा, घटने के बदले बढ़ती ही जाती है। इनके सेवन से कभी जीव को तृप्ति नहीं मिली और न मिल ही सकती है। तृप्ति उसी को मिलेगी जो इनका परित्याग करके अनासक्ति का भाव धारण करेगा। इसीलिए भर्तृहरि जी कहते हैं:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।

अर्थात्– भोगी जीव भोगों को नहीं भोगता, अपितु भोग ही उसे भोगते हैं। भोग तो संसार में बने ही रहेंगे, भोक्ता समाप्त हो जाएगा।

विषयभोग अतृप्तिकारक हैं। यही नहीं, वे भोगाभिलाषा के वर्द्धक होने से जीव के चित्त में स्थायी व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। उस व्याकुलता के वशीभूत होकर मनुष्य अधिक-अधिक भोगसामग्री के संचय का प्रयत्न करता है और उसके लिये जो भयानक विडम्बनाएं करनी पड़ती हैं, उन्हें तो आप सब भली भाँति जानते ही हैं।

अतएव इन्द्रियों के विषय किसी भी अवस्था में ग्राह्य नहीं है। जो पुरुष उनसे विमुख हो जाते हैं, अपने चित्त की भूमि से विषय-लालसा की जड़ को ही उखाड़ फैंकते हैं, वही निराकुल होकर सच्चे सुख का अनुभव कर पाते है। वही तृप्ति के अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं। वही इस लोक में सुखी है। वही परलोक में परमानन्द के पात्र बनते है। अतएव रूप, रस आदि विषयों का परित्याग करने में ही सच्चा श्रेय है। यदि इस रहस्य को न समझा और अपनी पुरानी रफ्तार जारी रक्खी तो अन्त समय में वही अवस्था होगी—

जिस दम नज़दीक वक़्ते रहलत* होगा ।
यारो ! क्या ही मुकामे† हैरत होगा ॥
कोई अमल‡ नेक न होगा जुज़** यास†† ।
आखिर को वही रफीके‡‡ तुरबत*** होगा ॥

कहा जा सकता है कि यदि विषयासक्ति ही मे विष है और विषयों में विष नहीं है तो फिर समस्त विषयो का त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? विषयों का सेवन करते रहें, केवल आसक्ति का त्याग कर दें तो आत्मा का कल्याण हो जाएगा, किन्तु यह बात कहने में तो सरल है, इसका व्यवहार करना बहुत कठिन है । विषयों का सेवन करते जाना और असक्ति न होना ! इसके लिए बड़ी भारी साधना चाहिए । जिसने इतनी महान् साधना कर ली होगी, वह विषयों का सेवन ही क्यों करेगा ? आप मधुर और सरस भोजन करें किन्तु भोजन करते समय रागभाव उत्पन्न न हो, यह साधारण बात नहीं है । अतएव आप के लिए उचित यही है कि आप रागभाव उत्पन्न करने वाले आहार का ही त्याग कर दें । विष को भी पचा जाने वाले साधक आप नहीं हैं । अतएव इस आत्मवंचना के मार्ग पर आप का चलना बहुत भयजनक है ।

आप को यह समझ लेना है कि आपकी जिंदगी थोड़े समय की है और आपको थोड़ी देर के लिए ही स्वर्ण- अवसर मिला है । इस अवसर से जो लाभ आप उठा सकते हों, उठा लें । यह निश्चित है कि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है । कल तक भी जीवित रहने का भरोसा नहीं किया जा सकता । जैसे बाज़ पक्षी तीतर पर अचानक झपट कर उसके प्राणों का तत्काल अन्त कर देता है, उसी प्रकार मृत्यु भी मनुष्य के जीवन पर आक्रमण करके क्षण भर में प्राणों का अन्त कर देती है । कितना सुन्दर कहा है —

'सूने और गहन वन में जब सिंह हिरन को पाता,
तब उसकी रक्षा करने को कौन सामने आता ?

---

*कूच †आश्चर्य का स्थान ‡कर्म-काम **सिवाय ††निराशा ‡‡साथी ***कब्र ।

इसी भाँति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचाए भू पर ?

अतएव विवेकविभूषित व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने जीवन की महत्ता को और साथ ही उस की विनश्वरता को समझें और अन्तिम समय आने से पूर्व ही तैयारी कर रक्खें, ताकि ऐन मौके पर पछतावा न करना पड़े। मृत्यु का आना अनिवार्य है और यह भी निश्चित है कि उसके आने पर विश्व की कोई भी शक्ति या समस्त शक्तियाँ सम्मिलित होकर भी जीव को बचा नहीं सकती। तनिक विचार तो करो कि आज तक कोई भी मृत्यु के पंजे मे पड़ने से बच सका है ? तुम्हारे पास कौन- सा साधन है जो तुम्हे मौत स बचा सके ? कहा है—

देखो–देखो, खोजो, अपनी दृष्टि ज़रा फैलाओ।
कण-कण अणु-अणु देख तर्क के तीखे तीर चलाओ॥
ऊपर नीचे दक्षिण उत्तर पश्चिम पूर्व निहारो।
यदि रक्षक हो कहीं शरण लो उसकी, मृत्यु निवारो॥

आशय यह है कि मृत्यु ध्रुव है और अनिवार्य है और साथ ही उसके आने का कोई भी समय निश्चित नहीं है। अतएव भविष्य पर ज़रा भी निर्भर न रहकर शीघ्र से शीघ्र अपने इस उत्तम जीवन को सफल बनाने के लिए उद्यत हो जाना जाहिए। समझ लेना चाहिए कि यह अवसर बड़ी कठिनाई से मिला है और फिर शीघ्र इसके मिलने की कुछ भी आशा नहीं की जा सकती।

अब प्रश्न यह है कि इस जीवन को सफल बनाने के लिए क्या करना चाहिए ? इस विषय में श्री वर्द्धमान स्वामी का आदेश है—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि॥
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबन्ध कुज्जा॥
(दशवैकालिक, चूलिआ १०-गा० ७-१३)

अर्थात्- साधक को चाहिए कि वह रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में स्वयं आत्मा का निरीक्षण करे और विचारे कि मैंने कौन-से कर्त्तव्य कार्य किये हैं, कौन सा कार्य करना अवशेष है और क्या- क्या शक्य अनुष्ठानों का मैं आचरण नहीं करता हूँ। दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं? मुझे स्वयं अपने आप में क्या दोष दिखाई देते हैं? क्या मैं इन दोषों का त्याग करने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ?

इस प्रकार सम्यक् रीति से अपने दोषों को देखने वाला भविष्य में ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे कि संयम मे बाधा पहुंचे।

इस साधना से मनुष्य के अन्तःकरण में शुद्धि होती जायगी। यदि साधक जानना चाहे कि मेरी उन्नति हो रही है या नहीं, तो उसे उन्नत पुरुषों के लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए। वे लक्षण यह हैं—प्रकृति में नम्रता हो, छल- कपट की वृत्ति न पाई जाती हो, अति कुतूहल का भाव न हो, गुरुजनों और माता- पिता आदि के प्रति आदर और सेवा का भाव हो, स्वभाव में भद्रता और सरलता आ जाय, इन्द्रियलोलुपता न रह जाय, प्रत्येक कार्य प्रशस्त हो, वाणी मे सत्य और माधुर्य हो, व्यवहार में प्रामाणिकता हो, शक्तिकेअनुसार तपस्या करता हो, पापाचरण से भयभीत रहता हो, सब के प्रति मैत्रीभाव रखता हो, दीन-दुःखियों पर करुणा हो, यथाशक्ति दान देता हो, प्रमाद से दूर रहता हो, मन में पवित्रता हो, भावना विशुद्ध हो, अहिंसा का पालन करता हो, शांतिप्रिय हो, मृदुतायुक्त हो, क्षमाशील हो, धैर्यवान् हो, गुणग्राहक हो, ममता और अहंकार से रहित हो; ईर्षा, द्वेष और परनिन्दा से दूर रहता हो, सन्तोष शील से युक्त हो और सोच-विचार कर ही कोई क़दम उठाता हो।

महाभारत में उल्लेख है कि भीष्म पितामह से युधिष्ठर ने प्रश्न किया था कि मनुष्यलोक में योग्य रीति से जीवन-यापन करने के लिए मनुष्य को क्या आचरण या व्यवहार करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में भीष्मजी ने जो उपाय बतलाए, यदि मनुष्य उन्हें अपने जीवन का अंग बना ले तो जीवन सफल हो सकता है। भीष्म जी का उत्तर यह है:—

कायेन त्रिविधं कर्म, वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधञ्चैव, दशकर्मपथांस्त्यजेत्॥

प्राणातिपातः स्तैन्यञ्च, परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन, सर्वतः परिवर्जयेत् ॥
असत्प्रलापं पारुष्यं, पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र ! न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥
अनभिध्या परस्वेषु, सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति, त्रिविधं मनसा चरेत् ॥

(अनुशासनपर्व, १३, १-४)

अर्थात्- शरीर से हिंसा, चोरी और परस्त्रीगमन न करे; वचन से दुष्ट या व्यर्थ बातचीत, कठोर वचन, चुगलखोरी और झूठ, इन चार का प्रयोग न करे और मन से पर के धन पर अथवा वस्तु पर नीयत न करे, सब पर सौहार्द रक्खे और इस बात पर श्रद्धा रक्खे कि कर्मों का फल अवश्य मिलता है। इस प्रकार का जीवनव्यवहार रखने में जीवन की सफलता है ।

भागवतपुराण में जन्म- साफल्य के जिन उपायों का वर्णन किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

तपसा ब्रह्मचर्येण, शमेन च दमेन च ।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां, यमेन नियमेन च ॥

(भागवत, ६-१-१३)

अर्थात्—मनुष्य अपने आपको तप, ब्रह्मचर्य; मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम; त्याग, सत्य, पवित्रता और यम तथा नियमों का पालन करके उन्नत बनाता है। जो मनुष्य जीवन को उन्नत बनाना चाहते हैं और आत्म कल्याण करना चाहते है, उन्हे अपने अन्दर की आवाज पर ध्यान देना चाहिए। गांधी जी ने कहा है:—

'The divine music is heard on our going within ourselves, but the loud sences drown the delicate music which is unlike and infinitely superior to any thing we can perceive or hear with our sences.'

अर्थात्—हमारे अन्तस्तल में सतत अन्तर्नाद हो रहा है; किन्तु उस सूक्ष्म संगीत को हमारी कोलाहल करने वाली इन्द्रियां दबा देती हैं। वह संगीत इतना उत्कृष्ट और सूक्ष्म है कि न इन भौतिक इन्द्रियों की सहायता से देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है।

आत्मा के संकेत को ध्यान में रखने से ही आत्मबल की वृद्धि हो सकती है और यदि हमारा आत्मबल उत्पन्न हुआ तो सफलता मिल सकती है। कहा है—

उठना चाहो जो संसार में, भद्र भाव बना लेना।
प्रभुभक्ति और आत्मबल से नौका पार लगा लेना॥
अपने अन्दर आत्मबल को इतना अधिक बढ़ा लो तुम।
अपना जीवन-लक्ष्य सत्वर इसी जन्म में पा लो तुम॥

यह आत्मबल मनुष्य के अपने ही उद्योग से बढ़ सकता है। इस के लिए जितना भी अधिक पुरुषार्थ हो, उतना ही लाभप्रद है। कहा है—

स्वयं मनुज ही अपने बल पर अपना भाग्य विधाता है।
आत्मज्योति से ही सच्चा महापुरुष बन जाता है॥
वर्त्तमान और भविष्य समय को करतलगत कर लाता है।
सत्वर ही वह आत्मबल से जी चाहे सो पाता है॥
स्वयं हमारा आत्मबल ही भला-बुरा फल देता है।
आतमबल ही सदा हमारी जीवन-नौका खेता है॥

जो मनुष्य अपने जीवन में वास्तविक सफलता चाहते हैं, उन्हें निरन्तर आत्मबल के बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए। आत्मबल के बढ़ने से इन्द्रियों की प्रबलता घटेगी और विषयासक्ति हटेगी। ज्यों ज्यों विषयासक्ति कम हो जायेगी, आत्मा का उत्थान होता जायगा और त्यों-त्यों ही जीवन सफलता के पथ पर अग्रसर होता जाएगा।
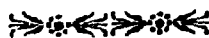
# ब्रह्मचर्य

संसार में प्रलोभन की अनेक वस्तुएं हैं । धन के लिए लोग नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हैं । स्वजन-ममता प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहती है और उस से प्रेरित होकर लोग पुत्र-पौत्र आदि के लिए भाँति-भाँति की विडम्बनाएँ भोगते देखे जाते हैं । अपनी यश-कीर्त्ति का प्रलोभन भी कम नहीं है । इसके लिए बहुत से लोग आकाश-पाताल एक कर डालते हैं । इस प्रकार मनुष्य तरह-तरह के प्रलोभनों की शृंखलाओं मे जकड़ा हुआ है । किन्तु इन सभी से बड़ा अत्यन्त उग्र प्रलोभन है—कामविकार । काम का प्रलोभन इतना प्रबल है कि उससे बचना सहज नहीं है । इतना व्यापक है कि इसने समस्त संसारी जीवों को अपने चंगुल में फँसा रक्खा है । मूर्ख तो मूर्ख हैं ही परन्तु इस प्रलोभन मे पड़ कर बड़े २ विद्वान भी मूर्खों मे मुख्य बन जाते हैं । यह आकर्षण योगियों को भी भोगियों की कतार मे लाकर खड़ा कर देता है ।

तात्पर्य यह है कि राजा, रंक, पंडित, मूर्ख, रोगी, निरोग, मनुष्य पशु-पक्षी आदि सभी भयंकर फाँसी को अपने गले में डाले हुए हैं और यह भी अपनी ही इच्छा से । ठीक ही कहा है—

> भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकबारं,
> शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
> वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था,
> हा हा ! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

जो भीख माँग कर खाता है रूखा-सूखा खाता है और सिर्फ एक बार ही खाता है, जमीन पर सोता है; परिवार के नाम पर अपना देह ही जिसका परिवार है, जो फटा-पुराना वस्त्र पहनता है और सैकड़ों चिथड़े जोड़-जोड़ कर जिस की गुदड़ी बनी है, खेद है कि ऐसे पुरुष भी विषयभोगों का त्याग नहीं कर पाते !

कामविकार के वशीभूत न होने वाले तो धन्य ही है, परन्तु ऐसे नर विरल ही मिलेंगे। कहा है—

विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरे॥

विश्वामित्र और पराशर आदि बहुत से ऋषि हो चुके हैं। उनमें कोई वायु का भक्षण करके रहता था, कोई जल पर ही जीवननिर्वाह करता था और कोई वृक्षों के पत्तों पर ही अपना जीवन-पालन करता था। किन्तु ऐसी तपस्या करने वाले भी स्त्री का सुन्दर मुख देखते ही विकारग्रस्त हो गए। ऐसी स्थिति में घी, दूध और दही से युक्त चावलों का भोजन करने वाले,माल-मलीदा उड़ाने वाले लोग अगर अपनी इन्द्रिय का दमन कर लें, तब तो विन्ध्य पर्वत भी पानी में तैरने लगे। तात्पर्य यह है कि जब रूखा-सूखा और निःसत्त्व भोजन करने वाले भी काम-विकार को परास्त करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं तो पौष्टिक भोजन करने वाले कब समर्थ हो सकते हैं ?

मनुष्यों और पशुओं की बात जाने दीजिए। एकेन्द्रिय होने के कारण जिनकी संज्ञा प्रायः व्यक्त नहीं होती, जिनकी चैतन्य की मात्रा अधिकांश में आवृत है, ऐसे वृक्ष भी तो इस दारुण प्रलोभन से नहीं बच पाते। कहा भी है—

कहते हैं इश्क जिसको, मत पूछ वह क्या है।
दरख्तों को सुखाता है लिपटना इश्के पेचां का॥

इस प्रकार कोई भी संसारी जीव इसके चंगुल से नहीं बच सका है। क्या देवता, क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी इस महान् व्याधि से ग्रस्त हैं। सभी कामवासना से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता से बेचैन हैं। वैमानिक, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवता भी विषयों की तृष्णा के दास हैं। विषयाभिलाषा की पीड़ा से पीड़ित हैं, अत्यन्त मूर्च्छित हैं और काम भोगों का सेवन करते हुए गाढ़े और

चिकने मोहनीय कर्म को बांध रहे हैं। कामविकार की यह प्रवलता प्राणिमात्र का घोर अनिष्ट करती है। कहा है—

यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत विगार।
या के पास न जात है, है जो ठीक होश्यार॥

कहा जा सकता है कि कामविकार अगर इतना प्रबल है तो उस पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है? और यदि विजय नहीं प्राप्त की जा सकती तो फिर विजय का प्रयत्न करने से भी क्या लाभ है? इस तरह की भावना रखने वालों को समझना चाहिए कि यद्यपि यह विकार प्रवल है, किन्तु आत्मा इससे भी अधिक प्रवल है। आत्मा में अनन्त शक्ति है और इतनी शक्ति है कि यदि अनुकूल दिशा में योग्य प्रयत्न किए जाएं तो वह इन्द्रियों का दमन कर सकता है और मन की नकेल अपने हाथों में लेकर उसका स्वामी बन सकता है। जिन्होंने इस पथ का अनुसरण किया है; वे सब प्रकार के काम विकार पर विजय प्राप्त कर सके हैं। वे पूर्ण ब्रह्मचारी बने हैं। उनके पवित्र चरणों में देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर देवता नतमस्तक होते हैं। भगवान् महावीर की वाणी में—

देवदानवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारी नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते॥

(उत्तराध्ययन, अ० १६–गाथा–१६)

पूर्ण ब्रह्मचारी पुरुष की ऐसी महिमा है। पूर्ण ब्रह्मचारी पुरुष में विस्मयजनक, दिव्य और असाधारण शक्तियाँ होती हैं।

ब्रह्मचर्य इतना महान् व्रत है कि उसके यशोगान का अन्त नहीं हो सकता। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं फरमाया है—

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।

(सूयगडांग सूत्र)

अर्थात्—ब्रह्मचर्य सभी तपस्याओं में उत्तम तपस्या है। ब्रह्मचर्य एक सर्वसम्मत और सर्वप्रशंसित धर्म है। उसकी महत्ता से प्रेरित होकर प्रत्येक धर्म के अनुयायी और प्रत्येक देश के निवासी उसका

आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और मुक्त कण्ठ से उस की प्रशंसा करते हैं। दक्षस्मृति में कहा है कि मैथुन आठ प्रकार के होते हैं और उनसे बच कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए:—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा रक्षणं पृथक् ।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टांगं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

अर्थात्—स्मरण, कीर्त्तन (प्रशंसा), क्रीड़ा, देखना, गुप्त भाषण करना, संकल्प (कामभोग का इरादा करना), अध्यवसाय (काम भोग के लिए प्रयत्न करना) और काम से ब्रह्मचर्य का भंग करना, यह आठ प्रकार का मैथुन है। अतएव आठों प्रकार से ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।

शास्त्रों, ग्रन्थों और पुराणों आदि मे ब्रह्मचर्य की अपार महिमा गाई गई है। वास्तव में ब्रह्मचर्य का जितना भी यशोगान किया जाय, थोड़ा ही है। एक जगह कहा है:—

शीलं प्राणभृतां कुलोदयकरं शीलं वपुर्भूषणम् ।
शीलं शौचकरं विपद्भयहरं दौर्गत्यदुःखापहम् ॥
शीलं दुर्भगतादिकन्ददहनं चिन्तामणिः प्रार्थिते ।
व्याघ्रव्यालजलानलादिशमनं स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥

अर्थात्—शील मनुष्यों के कुल की उन्नति करने वाला है, शीलवान् के कुल की कीर्त्ति बढ़ती है, प्रतिष्ठा बढ़ती है और श्रीवृद्धि होती है। शील मनुष्य के शरीर का शृंगार है। शील का पालन करने से शरीर तेजस्वी, ओजस्वी, प्रभापूर्ण और सुन्दर बनता है। शील से अन्तःकरण पवित्र बनता है। शील के प्रभाव से विपत्ति और भय का अभाव हो जाता है। शील दुर्गति के दुःखों को दलन करने वाला है। शील दुर्भाग्य को समूल दूर करने वाला है। शील इष्ट की प्राप्ति के लिए चिन्तामणी के सदृश है, अर्थात् शीलवान् के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं उसे कभी कहीं असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। शील के प्रखर प्रताप से व्याघ्र, सर्प, जल और अग्नि आदि की समस्त

बाधाएं दूर होती हैं। इन सब लौकिक लाभों के अतिरिक्त शील के प्रभाव से स्वर्ग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य की जो महिमा दिखलाई गई है वह निम्नोक्त है।

"ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान पर्वत से भी महान् और तेजस्वी है। ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गंभीर और स्थिर हो जाता है। साधु जन अर्थात् सत्पुरुष ब्रह्मचर्य का आचरण करते है। वह निर्मल सिद्धिगति का स्थान है, शाश्वत है, अव्याबाध है। जन्म- मरण का निरोध करने वाला है। प्रशस्त है, सौम्य है, सुखस्वरूप है, शिवरूप है, अचल और अक्षय बनाने वाला है। खेद के कारणों से रहित है और पाप की चिकनाहट से भी रहित है। ब्रह्मचर्य का भंग होने पर सभी व्रतों का तत्काल भंग हो जाता है और सभी व्रत, विनय, शील, तप, नियम और गुण आदि दही की तरह मथ जाते हैं, चूर- चूर हो जाते हैं, पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान खण्ड- खण्ड हो जाते हैं।"

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए एक हिंदी कवि ने कहा है:—

ऋषियों ने व्रत ब्रह्मचर्य को नित्य सन्माना।
सकल व्रतों का उसे सदा सिर ताज बखाना ॥
चढ़ती है जो ज्योति वदन पर इस व्रतवर से ।
मिलती है जो शक्ति भुजा को इस यशधर से ॥
नहीं स्वप्न में भी कहीं और भाँति नर पा सके ।
बरु खाए हजारों औषधें, सब मंत्रों की दिसो तके ॥

ब्रह्मचर्य के लाभ वास्तव में अद्भुत और कल्पनातीत हैं। ब्रह्मचर्य से चहुँमुखी- शारीरिक, मानसिक, वाचिक और आध्यात्मिक- उन्नति होती है। लौकिक और लोकोत्तर लाभ होता है। ब्रह्मचारी की स्मरणशक्ति स्थिर और संग्राहक बन जाती है: बुद्धि, विचारशक्ति और

इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। ब्रह्मचर्य के महान् तेज से जीवन ऐसा रूपान्तर ग्रहण करता है; जिस की स्वेच्छाचारियों को कल्पना भी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य जीवन मे ऐसा विलक्षण सौंदर्य और सौरभ भर देता है कि जीवन अतिशय प्रशस्त और स्पृहणीय बन जाता है। ब्रह्मचर्य का आन्तरिक, अनुभूतिगम्य और अनुपम आनन्द नित्य नया मालूम होता है। ब्रह्मचारी की तेजस्विता, चित्त की शान्ति, और हृदय की प्रफुल्लितता की तुलना मे, कामी जनों के चित्त की अशान्ति, अस्थिरता, अस्वस्थता और व्याकुलता का जब विचार करते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है। भला इन्द्रियसंयम से कोई रोग कभी होता सुना गया है? किन्तु इन्द्रियों के असंयम से होने वाले रोगों की तो कोई गणना ही नहीं की जा सकती! इन्द्रियों के असंयम से शरीर तो सड़ ही जाता है, परन्तु उससे भी अधिक बुरा परिणाम मस्तिष्क, मन और हृदय पर पड़ता है।

इन सब कथनो पर विचार करने से स्पष्ट होजाता है कि ब्रह्मचर्य आत्मिक, मानसिक और नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक व्रत है और साथ ही शारीरिक आरोग्य और शक्ति के लिए भी उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। यही कारण है कि क्या जैन और जैनेतर सभी धर्म-शास्त्रों में इस महान् व्रत की बहुत महिमा गाई गई है। बुद्धधर्म के 'धम्मपद' नामक ग्रंथ मे ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे लिखा है:—

अचरित्वा ब्रह्मचर्यं, अलद्धा योब्बने धनम्।
सेन्ति चापा तिखीणा व, पुराणानि अनुत्थुनम्॥

(धम्मपद, ११-११)

अर्थात्- जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया और जिन्होंने जवानी मे धन का उपार्जन नहीं किया, वह टूटे हुए धनुषों के समान पड़े रहते हैं और अपने पहले के समय की याद किया करते हैं।

अथर्ववेद मे उल्लेख है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत,
इन्द्रो हि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।

(अथर्ववेद, ११-५-१६)

अर्थात्- विद्वान् लोग ब्रह्मचय और तप से मृत्यु को जीत लेते हैं। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक तेजस्वी बनता है ।

भगवद्गीता में काम और क्रोध के त्याग को ही सुख का साधन माना है:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं, प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं, स युक्तः सः सुखी नरः ॥

अर्थात्- जो पुरुष अपने शरीरत्याग से पूर्व ही काम और क्रोध के आवेश को रोक लेता है, वही योगी है, वही सुखी है और वही वीर है ।

सिक्खों के धर्मशास्त्र में कामविकार को अन्य समस्त विकारों का मूल कहा है:—

यां ते काम मूल मन जान, ऊपर विकार कीड़ फल जान ।
जब ही मूल को देहि उखेर, साखा पत्र न फलि हैं फेर ॥

अर्थात्- यह कामविकार एक विकारवृक्ष की जड़ के समान है। अन्य विकार इसी के शाखा और पत्ते हैं यदि इस मूल को उखाड़ दिया जाय तो फिर शाखाएँ और पत्ते अपने आप ही सूख जाते हैं, सब विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

कुरान की सूरत बकर रुकु २१, आयत १ में लिखा कि— 'तुम कामविकार के अधीन मत होना, क्योंकि यह तुम्हारा घोर शत्रु है।'

जो मनुष्य काम- विकार के वश मे न हो कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते है, उनसे यह ब्रह्मचर्य कहता है:—

शील कहे मम राखत जे, तिनकी रक्षिया तिन देव करेंगे ।
जे मम त्याग कुबुद्धि करें, तिन देव कुर्गे तिन सुदख हरेंगे ॥
ठौर नहीं तिन लोक विखें, दुख शोक अनेक सदैव धरेंगे ।
जारत हैं तिन्हि ताप तिन्हि, मम धारत आरतसिन्धु तरेंगे ॥

कितने सुन्दर ढंग से शील की महिमा बतलाई गई है ! शील का कहना है कि जो मनुष्य मेरी रक्षा करेंगे, उसकी देव रक्षा करेंगे और

जो कुबुद्धि के वशीभूत हो कर मेरा त्याग करेंगे, उन पर देवता कुपित हो कर उनके समस्त सुखों को हर लेंगे। उन्हें संसार में कोई ठौर-ठिकाना मिलने वाला नहीं है। वे निरन्तर दुःख और शोक की आग में पड़े हुए तड़फड़ाते रहेंगे। तीन ताप उन्हें तपाते रहेंगे; किन्तु जो लोग मुझे धारण करेंगे, वे समस्त दुःखों के सागर को सहज ही पार कर जाएँगे।

शील की महिमा का वर्णन एक कवि ने यों किया है:—

शील रतन सब से बड़ो, सब रतनन की खान ।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन ॥

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करने से क्या- क्या हानियाँ होती है, यह वतलाते हुए संस्कृत के एक कवि कहते हैं:—

आयुस्तेजो बलं वीर्यं, प्रज्ञा श्रीश्च महायशः ।
पुण्यञ्च प्रीतिमत्त्वञ्च, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥

जो विवेकशून्य पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन न करके विषयभोग में अपने वीर्य का विनाश कर डालते है, वे अपनी आयु को नष्ट कर डालते हैं। वे दीर्घजीवी होने के बदले अल्पायुष्क होते है। उनका तेज नष्ट हो जाता है, बल-नष्ट हो जाता है, वीर्य का विनाश तो हो ही जाता है। उनकी बुद्धि, श्री, यश, पुण्य और प्रसन्नता भी नष्ट हो जाती है।

वास्तव में यह कामविकार मनुष्य के जीवन को वर्बाद कर डालता है। इसकी बदौलत यह उत्तम जीवन वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है। अब्रह्मचर्य से जीवन मिट्टी मे मिल जाता है। इससे होने वाली हानियों की गणना करना भी संभव नहीं है। आश्चर्य की बात है कि मनुष्य कामविकार की हानियो को जानता हुआ भी इस महापावन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण नहीं करता। मैथुनका दुष्परिणाम बड़ा ही भयानक होता है, सुनिये—

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय ध्यानी हू को ध्यान जाय ।
मानी हू को मान जाय सूरा जाय जंग [illegible] त ॥
जोगी की रमाई जाय सिद्ध की सिधाई जाय ।

बड़े की बड़ाई जाय रूप जाय अङ्ग ते ॥
घर की तो प्रीति जाय लोकों में प्रतीत जाय ।
त्याग बुद्धि मीत जाय विकल होय ढंग ते ॥
संजम का विहार जाय हानि का उपचार जाय ।
जन्म सब हार जाय काम के प्रसंग ते ॥

सच है- यह कामविकाररूपी पिशाच ज्ञानी के ज्ञान को, ध्यानी के ध्यान को और सम्मानित पुरुष के सम्मान को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है। योद्धा को युद्ध से विरत कर देता है। योगी की जिन्दगी भर की कमाई पर पानी फेर देता है और सिद्ध पुरुष की सिद्धता को समाप्त कर देता है। बड़ों के बड़प्पन को धूल में मिला देता है और शरीर के सौंदर्य को नष्ट कर डालता है; व्यभिचारी अपने घर-कुटुम्ब में भी प्रीति का पात्र नहीं रहता। घर के जन भी उसकी दुर्वृत्तियों से घृणा करते हैं और दूसरे लोग उस पर विश्वास नहीं करते। उसकी बुद्धि और उसके स्नेही मित्र भी उस का परित्याग कर देते हैं। वह इन्द्रियसंयम और ज्ञान आदि सभी सद्गुणों से वंचित हो जाता है। उसका समग्र जीवन ही बर्बाद हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह काम- विकार सर्वस्व का अपहरण करने वाला और जिन्दगी को व्यर्थ और व्यथामय बना देने वाला है।

यद्यपि सामान्यरूप से वीर्यरक्षा को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, किन्तु ब्रह्मचर्य का वास्तविक और व्यापक अर्थ है- समस्त इन्द्रियों का संयम। जब तक अन्य इन्द्रियों पर संयम न रक्खा जाय तब तक स्पर्शेन्द्रिय- संयम रूप ब्रह्मचर्य का पालन होना संभव नहीं। इसी हेतु शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए समस्त इन्द्रियों पर संयम रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। विकारोत्पादक और पौष्टिक आहार का त्याग करना तथा पुरुषों का स्त्रियों की ओर और स्त्रियों का पुरुषों की ओर देखना, उनके कामोत्तेजक गायन आदि सुनना, एकान्त में संभाषण करना आदि ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए वर्जित है। जो इन रक्षक नियमों का पालन करता है, वही ब्रह्मचर्य की भलीभाँति रक्षा कर सकता है।

खेद का विषय है कि आर्यसंस्कृति में ब्रह्मचर्य पर इतना अधिक जोर देने पर भी आज इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। प्राचीन काल में प्रजा का जीवन सुव्यवस्थित था। बालक जब विद्याभ्यास के योग्य वय प्राप्त कर लेता था तब उसे आचार्य के समीप भेज दिया जाता था। वहाँ का वायुमंडल अत्यन्त स्वच्छ, सर्वथा निर्विकार, शान्त और सात्त्विक होता था। वहाँ विद्यार्थी को पहलेपहल इस प्रकार अत्यन्त मनोहर और लाभकारी शिक्षाएं दी जाती थीं—

१—कर्म कुरु—पुरुषार्थ करते रहना।

२—दिवा मा स्वाप्सीः—दिन में मत सोना।

३—क्रोधानृते वर्जय—क्रोध और झूठ से बचना।

४—मैथुनं वर्जय—मैथुन से दूर रहना।

५—गन्धं वर्जय—सुगंध का सेवन न करना।

६—उपरिशय्यां वर्जय—ऊँचे स्थान पर चढ़ कर न सोना।

७—अत्यन्तस्नानम्, अत्यन्तभोजनम्, अत्यन्तनिन्द्रां च वर्जय—बहुत स्नान, भोजन और नींद न लेना।

८—अत्यन्तं जागरणं वर्जय—बहुत न जागना।

९—निन्दालोभमोहशोकान् वर्जय—निन्दा, लोभ, मोह तथा शोक का त्याग करना।

१०—प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासने नित्यमाचर—प्रतिदिन रात्रि के पिछले पहर जाग कर, आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर दांत साफ करके और स्नान करके संध्या-उपासना करना।

११—मांसरूक्षाहारं वर्जय—मांस न खाना और निस्सत्त्व भोजन न करना।

१२—मद्यादिपानं वर्जय—मद्य आदि का सेवन न करना!

१३—गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय—गाय, बैल, हाथी, ऊँट, आदि की सवारी न करना।

१४--उपानच्छत्रधारणं वर्जय--जूता पहन कर और छतरी लगा कर न चलना।

१५--क्षुरकृत्यं वर्जय--हजामत न बनवाना।

१६--युक्ताहारव्यवहारौ कुरु--यथोचित आहार और व्यवहार करना।

१७--सभायां गुणग्राही भव--सभा में बैठने के गुण ग्रहण करना।

बालक को यह सुन्दर शिक्षाएँ दी जाती थीं और इनके साथ ही साथ और भी उपयोगी आदेश दिये जाते थे--जैसे अति खट्टा, तीखा, कटुक, क्षार और नमकीन भोजन न करना, अल्पभाषी बनना, ऊर्ध्वरेता बनना, आदि।

जो बालक एकान्त, शान्त, पवित्र और सात्त्विक वातावरण में रहकर इन सब आदेशों का पालन करे, उसके जीवन का कितना सुन्दर निर्माण होगा? वह ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ जब अपने जीवन का सर्वतोमुखी विकास करता होगा तो आगे चल कर अपने समाज और देश के लिए कितना हितकारी बन जाता होगा? वह अपना भी कल्याण करता होगा और जिस परिवार में, समाज में और राष्ट्र में रहता होगा, उसके भी गौरव में चार चाँद लगाता होगा।

यह कोई मनःकल्पना नहीं है। प्राचीन काल में वास्तव में ऐसा ही होता था। बालक पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ समस्त कलाओं और विद्याओं का अभ्यास करता था। इस प्रकार बाल्यकाल में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण उस समय के लोगों का शरीर-संगठन खूब दृढ़ होता था और वे दीर्घजीवी होते थे।

किन्तु आज यह परम्परा विच्छिन्न हो गई है। बालक विकारमय वातावरण में ही अपनी बाल्यावस्था व्यतीत करते हैं और अनेक माता-पिता तो कोमल वय में ही उन्हें विवाह की कठोर बेड़ियों में जकड़कर उनके जीवन के सर्वनाश की सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं।

युग-युगान्तर से ब्रह्मचर्य की महिमा का गान करने वाले इस धर्म-प्रधान देश मे जितनी छोटी उम्र में बालकों को विवाह के बन्धन में बांध दिया जाता है, वैसा किसी भी अन्य देश मे नहीं होता ।

इस देश के अधःपतन का प्रधान कारण यही है। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य का भलीभाँति पालन न होने से शरीर उखड़ा हुआ रहता है, नेत्रों की ज्योति क्षीण हो जाती है, शरीर व्याधियों का घर बन जाता है, शूरता, वीरता और सत्साहस का अभाव रहता है और अल्पायु में ही परलोकयात्रा की तैयारी हो जाती है। भारतवर्ष की मृत्यु-संख्या पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ की औसत आयु २३-२४ वर्ष की है। जिन्हे सवा सौ साल जीवित रहना था वे जब पच्चीस वर्ष भी जीवित नहीं रहते-तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का ध्यान ब्रह्मचर्य की ओर जाना चाहिए और पूर्वप्रचलित ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था को अमल में लाने का विचार करना चाहिए। ऐसा करने से इस देश के दुर्दिन समाप्त हो सकते हैं और प्रजा के बहुत से रोग, शोक और दुःख दूर हो सकते हैं। फिर औषधियों के बल पर घुलते घुलते जीवित रहने के बदले शान के साथ जीवित रहा जा सकता है और जीवन शक्तिसम्पन्न, तेजोमय और पवित्र बन सकता है।

वीर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है। कहना चाहिए कि वह जीवन का जीवन है और प्राणों का प्राण है। वीर्य की शक्ति से ही शरीर, मन और आत्मा शक्तिशाली बनता है। वीर्य की शक्ति से ही समस्त इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं। वीर्य मनुष्य को उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है और परमात्मदशा की ओर ले जाता है। वीर्य के अभाव में जीवन एक विडम्बना मात्र है। अतएव वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त उपयोगी है। कोई साधु हो या गृहस्थ, वीर्यरक्षा के बिना उसका जीवन सुखमय नहीं बन सकता। साधु के लिए तो पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य ही है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता उसे साधु-जीवन को अंगीकार करने का अधिकार नहीं। गृहस्थ अपनी वासनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त न कर सकने के कारण पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सके तो उसे कम से कम देश ब्रह्मचर्य का पालन तो करना ही चाहिए। उसे परनारी पर मातृभाव और भगिनी-

भाव रखना चाहिए। स्वस्त्री में सन्तुष्ट होकर तीव्र कामभोग की अभिलाषा का परित्याग करना चाहिए। स्वस्त्री में भी मर्यादाहीन नहीं होना चाहिये। कामवासनावर्द्धक चेष्टाएं नहीं करनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने का संकल्प सामने रख कर यथासंभव तैयारी करनी चाहिए। पत्नी के साथ भी एक शय्या पर शयन करना बहुत हानि-कारक है। इससे विषयाभिलाषा भड़कती है और वीर्य का विनाश होता है। राजस और तामस आहार से बचना चाहिए और मादक वस्तुओं का सेवन तो भूल कर भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मर्यादायुक्त गृहस्थजीवन व्यतीत करनेवाला यथासमय पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

कुछ लोगों की भ्रान्त धारणा बन गई है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना असाध्य कार्य है। ऐसा समझने वाले लोग एक प्रकार से जीवन का ही निषेध करते हैं। हमारे यहां तो कहा गया है—

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।

अर्थात—वीर्य का नाश करना जीवन का नाश करना है, मौत का आह्वान करना है और वीर्य की रक्षा करना जीवन की रक्षा करना है।

जिस देश में भीष्म पितामह ने जन्म लिया और जिस देश में असंख्य बालब्रह्मचारी अपने पावन, उच्च तथा दिव्य जीवन की छाप अङ्कित कर गए हैं, उसी देश की प्रजा अब ब्रह्मचर्य के विषय में ऐसी भ्रमपूर्ण और विनाशकारी धारणा रखती हो तो विस्मय होता है! जो लोग इस भ्रम के शिकार हो रहे हों उन्हें प्राचीन काल के महात्माओं के पवित्र चरित्र पर ध्यान देना चाहिए, उनका पठन, चिन्तन और मनन करना चाहिए। उन महापुरुषों ने अपने जीवन का जो क्रम बनाया था, उस क्रम के अनुसार चलने से ब्रह्मचर्य असाध्य नहीं रह सकता। ब्रह्मचर्य को असाध्य मानना आत्मा की पवित्र शक्ति को अस्वीकार करना है। जो लोग आध्यात्मिक शक्तियों से अनभिज्ञ है और प्रबल विकार के शिकार हैं। वही विकारविजय की शक्यता को अस्वीकार कर सकते हैं। जिनकी आत्मा दुर्बल होती है, वही ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र व्रत को धारण करने में

हिचकचाते हैं।

जैसा कि प्रारंभ में कहा जा चुका है, कामविकार अत्यन्त प्रबल है और उस पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। तथापि समुचित साधना करने से उसे जीतना असंभव भी नहीं है। जैनशास्त्रों में और इतर ग्रन्थों मे इस साधना के नियमों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। उन सब नियमों का इस समय वर्णन नहीं किया जा सकता जिज्ञासुजनों को उत्तराध्ययन सूत्र का ब्रह्मचर्यसमाधि नामक सोलहवॉ अध्ययन विचारपूर्वक पढ़ना चाहिए। यहां सर्वसाधारण की सुविधा के लिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के कुछ उपायों का दिग्दर्शन कराया जाता है–

१—परस्त्री और परपुरुष को यथासंभव एकान्त मे नहीं मिलना-जुलना चाहिए। यदि किसी अवसर पर यह अनिवार्य हो जाय तो दोनों को पवित्र भावनाएं रख कर और नीची दृष्टि रख कर आवश्यक बातचीन करके शीघ्र ही हट जाना चाहिए।

२—पवित्र संकल्प—जो मनुष्य अपने संकल्प को पवित्र बनाये रखने का निरन्तर उद्योग करता है, निःसन्देह उसका जीवन पवित्र बन जाता है और जिसकी भावना निकृष्ट होती है, वह स्वयं निकृष्ट बन जाता है। हमारे समस्त कार्यकलाप भावना के ही मूर्त्तरूप होते हैं। अतएव मनुष्य को भावना-शुद्धि पर निरन्तर ध्यान रखना चाहिए और जब कभी अपावन भावना मन मे उदित हो, अपने आपको धिक्कारना चाहिए और दंड देना चाहिए। भाव के विषय में कहा है—

याहि को तो भाव याको शंक उपजावत है।
याही को तो भाव याहि निसंक करत है॥
याहि को तो भाव याको भूत प्रेत होय लागे।
याही को तो भाव याकी सुमति हरत हैं॥
याहि को तो भाव याको चंचल बनाये देत।
याही को तो भाव याही थिरको धरत है॥
याहि को तो भाव याको धार में बहाय देत।
याही को तो 'सुन्दर' भाव याहि ले तरत है॥

३—निर्मल दृष्टि—स्त्री और पुरुष दोनों को हर समय अपनी दृष्टि में निर्मलता धारण करनी चाहिए। परस्त्री और परपुरुष को देखकर दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए और देखने का काम पड़ जाय तो पुरुष माता, बहिन, और पुत्री की दृष्टि से तथा स्त्री पिता, भाई और पुत्र की दृष्टि से देखे। विकारभरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

४—बालविवाह की प्रथा एकदम उठा देनी चाहिए। बीस वर्ष से पहले लड़के का और पन्द्रह वर्ष से पहिले लड़की का विवाह नहीं होना चाहिए।

५—बालविवाह कदापि क्षम्य नहीं होना चाहिए।

६—सगाई—सम्बन्ध बहुत पहले नहीं कर देना चाहिए।

७—बालक-बालिकाओं को और वयस्कों को चटकीला-भड़कीला वेष-भूषा नहीं धारण करना चाहिए।

८—श्रृंगाररस के और विशेषरूप से अश्लील काव्य, नाटक या कहानियों की पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिए। बच्चों के हाथ में तो कदापि गंदी पुस्तकें नहीं पहुँचनी चाहिए।

९—श्रृंगाररसप्रधान नाटक या सिनेमा नहीं देखना चाहिए और न बालकों को दिखलाना चाहिए।

१०—उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली वस्तुएं न खाई जाएं, मिर्च, गरम मसाला, अचार, खटाई, मद्य, मांस आदि उत्तेजक और हानिकारक वस्तुएं हैं। इनसे सदैव बचना चाहिए।

११—रात्रि में देर तक नहीं जागना चाहिए और प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में या सूर्योदय से कम से कम एक घंटा पहले उठ जाना चाहिए।

१२—रात्रि में सोते समय शरीर और मन शान्त तथा शीतल होना चाहिए और सोते तथा जागते समय प्रभु का स्मरण करना चाहिए।

१३—नित्य सत्संगति करनी चाहिए। पवित्र आचार-विचार वाले सत्पुरुषों के साथ कुछ समय व्यतीत करना चाहिए। दुष्ट आचार-विचार वाले असभ्य और असंस्कारी लोगों की संगति करने से जीवन खराब होता है।

१४—विलासिता का त्याग करके जीवन में सादगी, सात्त्विकता और भद्रता लाने की चेष्टा की जाय, सजावट और शृंगार से काम-वासना जागृत होती है।

१५—इत्र-फुलेल आदि का उपयोग न किया जाय। चटक-मटक छोड़ दी जाय। बार-बार दर्पण मे मुंह न देखा जाय।

१६—मल मूत्र के वेग को धारण न किया जाय।

१७—शरीर को आलस्यग्रस्त, सुस्त और निकम्मा न होने दिया जाय। इसके लिए नियमित व्यायाम सर्वोत्तम साधन समझा जाता है।

१८—शरीर की अशुचिता और संसार की असारता तथा अनित्यता का सदैव चिन्तन करना चाहिए, जिससे विरक्तिभाव की वृद्धि हो।

१९—महापुरुषों और वीर ब्रह्मचारियों के जीवनचरितों का अध्ययन करना चाहिए और मन तथा वाणी से उनकी प्रशंसा करनी चाहिए।

२०—सिगरेट, बीड़ी, चरस, गांजा, भंग, अफीम, काफी और चाय आदि के सेवन से दूर ही रहना चाहिए।

इन नियमों का पालन ब्रह्मचर्य के साधक के लिए बहुत उपयोगी होगा। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले पुरुष और स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह न केवल अपने खानपान के ही संबंध में, बल्कि अपने प्रत्येक व्यवहार में अत्यन्त सतर्क और सावधान रहे और ब्रह्मचर्य में बाधा पहुँचाने वाले व्यवहारों से बचता रहे। ऐसा करने पर ब्रह्मचर्य व्रत अवश्य स्थिर रह सकता है और कामविकार को परास्त किया जा सकता है।

इन सब नियमों के साथ कामभोग के दुष्परिणामों पर और उनके अपावन स्वरूप पर सदैव विचार करते रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना में यह विचार अतीव सहायक होता है। इस सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं:—

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ॥

अर्थात्— भोग भोगने से कर्मों का बन्ध होता है; और जो भोगों से विमुख हो जाता है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगी को भवभ्रमण करना पड़ता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है और अभोगी जन्म- मरण से मुक्त हो जाता है।

भोग वास्तव में कर्मबन्ध के कारण हैं। सर्वप्रथम जब भोगों को भोगने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, तब रागजनित कर्मों का बन्ध होता है। तदनन्तर जब मनुष्य भोग- सामग्री संचित करने के लिए उद्यत होता है तब नाना प्रकार का आरंभ- समारंभ करता है। उससे फिर कर्मों का बंध होता है। आरंभ- समारंभ करने पर भी यदि सामग्री का संचय न हुआ तो पश्चात्ताप और खेद होता है और उससे भी कर्मबन्ध होता है। कदाचित् सामग्री का संचय हो गया तो कहना ही क्या है! तब तो मनुष्य भोगों में इतना आसक्त हो जाता है कि अपने जीवन की सफलता के सम्बन्ध में विचार ही नहीं करता। रात- दिन विषयभोग में ही डूबा रहता है। और कर्मों का बन्ध करता है।

इस के विपरीत, जो भोगों से विमुख रहता है, जिसने भोगों की निस्सारता और परिणामों में दुःखजनकता को भलीभाँति समझ लिया है, अतएव जो आत्म- समाधि में ही डूबा रहता है, उसमें रागभाव न होने से वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष आत्मिक आनन्द के अमृत-रस का आस्वादन कर चुके हैं, वे इन नीरस और घृणित विषयभोगों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। ऐसे महापुरुष इस संसार के आभूषण हैं, मानवजाति के अलंकार हैं और विषयों की कीचड़ में पड़े लोगों के महान् आदर्श हैं।

जो ब्रह्मचर्य का साधक पूर्वोक्त नियमों का पालन करता हुआ विषयभोगों के विषय में इस प्रकार चिन्तन करता रहता है, वह ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ होता है।

हे संसार के जीवो! यदि तुम वास्तव में अपने कल्याण के अभिलाषी हो तो ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण पालन करो। ब्रह्मचर्य महान मंगल का मार्ग है और मुक्ति का दिव्य द्वार है।

एक पश्चिमी विद्वान् कहता है— 'जैसे एक शीशे पर पारा चढ़ाने से वह दर्पण बन जाता है और उसके अन्दर मनुष्य अपना मुख देख सकता है, उसी प्रकार जिस पुरुष ने ब्रह्मचर्य के द्वारा अपनी शक्ति तथा पवित्रता को सुरक्षित कर लिया है, उस के हृदयस्थल में परमात्मा की दिव्य मूर्ति का प्रकाश होता है।'

हमारे यहां कहा है—

समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौः प्रकीर्तिता ।
संसारतरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात्— जैसे समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार संसार को पार करने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

# आत्मा–परमात्मा

जैन सिद्धान्त की आधारशिला, यह मान्यता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। भारत के दूसरे दार्शनिकों का, जो ईश्वरवादी हैं, कहना है कि आत्मा और परमात्मा मौलिक रूप में पृथक-पृथक हैं परमात्मा वह है जो नित्य मुक्त है और जो इस सृष्टि का विधाता है। वह अनादि काल से परमात्मा है। परमात्मा बनने के लिए उसे कोई साधना नहीं करनी पडी। क्योंकि वह कभी विकारयुक्त नहीं था। वह कभी संसारी प्राणियों की भाँति जन्म-जरा-मरण का भाजन नहीं था।

यह नित्य ईश्वर अद्वितीय है। कोई भी आत्मा कितनी ही साधना करे। परमात्मा का पद उसे प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा अपनी साधना के द्वारा मुक्तात्मा तो बन सकती है, किन्तु परमात्मा नहीं बन सकती। इस प्रकार ईश्वरवादी दर्शन मुक्तात्मा और परमात्मा में भिन्नता मानते हैं।

किन्तु जैन दर्शन ने परमात्मा की अनादिता को स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः बिना प्रयास और साधना के किसी भी आत्मा की विशुद्धि नहीं हो सकती और विशुद्धि हुए बिना कोई परमात्मा नहीं बन सकता। यह मान्यता भी समीचीन नहीं है कि आत्मा और परमात्मा मूलतः ही भिन्न हैं। जिन में मौलिक भिन्नता होती है, उनके गुणों में भी भिन्नता होती है। बल्कि यह कहना चाहिए कि गुणों के भेद से ही पदार्थों में भेद माना जाता है। इस आधार पर विचार किया जाय तो आत्मा और परमात्मा में मौलिक भेद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उनके गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप वाला है और आत्मा भी ऐसा ही है। यह ठीक है कि ईश्वर की चेतना उत्कृष्ट कोटि की है और उसका विकास चरम सीमा पर पहुंचा हुआ है, और यह भी सही है कि उसका आनन्द नामक गुण भी ऐसा ही है, और आत्मा का चैतन्य और आनन्द गुण उस कोटि का नहीं

है किन्तु यह तो तरतमता का ही भेद है। इससे दोनों के गुणों की विलक्षणता सिद्ध नहीं होती। हाँ, ईश्वर में जो गुण हैं - सत्, चित् और आनन्द, वे मूलतः अगर आत्मा में न पाये जाते होते और आत्मा के गुण मूलतः ईश्वर में विद्यमान न होते, तो दोनों में मौलिक भेद माना जा सकता था। किन्तु ऐसी बात तो है नहीं। दोनों के गुण समान हैं, सिर्फ उन के विकास की मात्रा में ही अन्तर है, अतएव यही मानना युक्तिसंगत है कि दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल विकास की की मात्रा ही भिन्न-भिन्न है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करते-करते जब उन्हें अन्तिम सीमा पर पहुंचा देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

बात यह है कि आत्मा अपने मूल रूप में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख स्वभाव वाला है, किन्तु उपाधि-कर्म के संयोग के कारण उस के इन गुणों का आच्छादन हो गया है। ज्यों-ज्यों कर्म रूप उपाधि हल्की होती जाती है, त्यों-त्यों वह गुण विकसित होते जाते हैं और जब कर्मों का पूर्णरूपेण क्षय हो जाता है तो आत्मा के गुण अपने असली रूप में आविर्भूत हो जाते हैं। यही आत्मा की परमात्मदशा-प्राप्ति है।

कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा मोह-माया से सर्वथा रहित होने पर परमात्मा (ब्रह्म) के स्वरूप में विलीन हो जाती है और उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती। जैनदर्शन इस मान्यता को भी अस्वीकार करता है। उसकी युक्ति यह है कि अगर आत्मा की अपनी सत्ता है अर्थात् वह सत् है तो फिर असत् नहीं हो सकती; क्यों कि—

**नासतो विद्यते भावो नाभावो जायते सतः।**

अर्थात्—असत् सत् नहीं हो सकता और सत् असत् नहीं बन सकता और यदि आत्मा पहले से ही असत् है तो फिर कौन साधना करता है और कौन ब्रह्म में विलीन होने के लिए पुरुषार्थ करता है? ऐसा मानने से तो सारी रंगत ही बदल जाती है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा जब मोह और अज्ञान आदि विकारों से सर्वथा अतीत होकर वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त

कर लेती है तो वह अपनी स्वतंत्र सत्ता को कायम रखती हुई अनन्त चैतन्यमय होकर रहती है ।

जिस प्रकार की साधना के द्वारा आत्मा को परमात्मपद प्राप्त होता है, उसका जैन-शास्त्रों मे अत्यन्त विशद वर्णन पाया जाता है उस साधना का प्रारंभ स्वरूप ज्ञान से होता है । अर्थात्-सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि साधक अपने आपको जाने । मगर यह भी सरल बात नहीं है ।

मनुष्य की दृष्टि प्रायः बाह्य जगत् की ओर ही रहती है । वह अपने से बाहर की सृष्टि में ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है, बाहर की वस्तुओं की प्राप्ति में ही अपना सारा समय लगाता है, किन्तु अपने आपको जानने का कोई प्रयत्न नहीं करता । अर्थात् आत्मदर्शन और आत्मज्ञान की ओर इसका कुछ भी झुकाव नहीं होता । यही कारण है कि उसे शान्ति की प्राप्ति नहीं होती और इधर-उधर धक्के खाने पड़ते हैं । बाह्य वस्तुओं को अपनी बनाने के प्रयत्न में; अन्त में निराशा होती है और उस निराशा के फलस्वरूप चित्त में व्याकुलता, चिन्ता और खेद की तरंगें उठती रहती हैं ।

मनुष्य बाहर की छवि और मनोहरता की ओर दौड़ता है; किन्तु बाह्य सौन्दर्य तो मनःकल्पित एवं अवास्तविक है । संसारी वस्तुओं की सुन्दरता तो आभास मात्र है, प्रतिबिम्ब के सदृश है । वास्तविक और स्थायी ज्योति तो आध्यात्मिक सौन्दर्य की है । किन्तु खेद है कि मनुष्य उसके दर्शन की अभिलाषा ही नहीं करता । मनुष्य बाहरी वृत्तियों और प्रवृत्तियों में इतना व्यस्त और ग्रस्त है कि जीवनस्रोत की ओर दृष्टिपात करने का अवसर ही उसे नहीं मिलता । वह कहता है कि मुझे तो मरने का भी अवकाश नहीं है, मगर वह नहीं जानता कि मृत्यु क्या वस्तु है ? जो मनुष्य अपने जीवनध्येय को प्राप्त नहीं करता, वह तो प्राणों के रहते हुए भी मृतक के समान है । सच्चा जीवनध्येय है-आत्मदर्शन । आत्मदर्शन हो जाने के पश्चात् आत्मा अपने स्वरूप की ओर अग्रसर हो कर भगवत्- अवस्था प्राप्त कर लेती है ।

आत्मदर्शन न होने के कारण ही आत्मा जन्म- मरण के चक्र में फँसा रहता है । आत्मदर्शन को सम्यग्दर्शन भी कहते हैं । सम्यग्दर्शन

होने पर आत्मा में एक ऐसी निर्मलता आ जाती है कि तत्काल सम्यग्-ज्ञान भी हो जाता है। तत्पश्चात् ज्यों ज्यों क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का क्षय होता जाता है, त्यों-त्यो सम्यक्चारित्र की भी वृद्धि होती जाती है और ज्यों-ज्यों चारित्र की वृद्धि होती जाती है, मुक्ति समीप आती जाती है। चारित्र का चरमपरिपाक होने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है। कहा भी है:—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

(तत्त्वार्थसूत्र, १-१)

अर्थात्- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं।

शास्त्रों में आत्मा तीन प्रकार की बतलाई गई है- (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। बहिरात्मा वह है जो कषायों से युक्त है, क्रोध, मान, माया, लोभ में ही रमण कर रही है, जड़- चेतन के विवेक से शून्य है, बाह्य पदार्थों के प्रति आत्मभाव रखती है और अपने स्वरूप ज्ञान से सर्वथा शून्य है। प्रायः आजकल के मनुष्य इसी श्रेणी में आते हैं। अन्तरात्मा वह है जो कषायों से मुक्त हो कर सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र में रमण करती है और जब इस रत्नत्रय के अभ्यास से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाती है तो परमात्मा बन जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि आत्माएँ तो सब एक ही प्रकार की हैं। सब का स्वरूप एक सरीखा है; फिर यह तीन भेद क्यों किये गए हैं? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सब आत्माएँ मूलस्वरूप से एक ही समान है, किन्तु आत्मिक गुणों के विकास की तरतमता के कारण उनके यह भेद किये गये हैं। बहिरात्मा प्राथमिक दशा में- अविकसित अवस्था में है, अन्तरात्मा अर्धविकसित अवस्था में है और परमात्मा पूर्ण विकसित अवस्था में है। इसी दृष्टि से यह भेद किये गये हैं। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—

अच्छे मकानों के बाहर गन्दे पानी के चौबच्चे बने रहते हैं। मेहतर आता है उनमे से पानी निकाल कर मोरी मे फैंक देता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि जल असल में तो शुद्ध था। फिर वह किस

कारण से अशुद्ध हो गया ? विचार करने पर पता लगता है कि उसको अशुद्ध बनाने वाली छः वस्तुएँ होती हैं—(१) पुरीष (२) मूत्र (३) शुक्र (४) रक्त (५) रेशा और (६) मेद। यह छः वस्तुएँ मुख्य हैं और शेष गौण है। जब शुद्ध जल में इन वस्तुओं का मिश्रण होता है तो उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है, उसका वर्ण भी बदल जाता है और साथ ही वह अधिक बोझल हो जाता है।

जब तक वह जल चौबच्चे या हौज में है, तब तक उसकी अशुद्धि दूर नहीं होती। किन्तु जब मेहतर उसे वहाँ से निकाल कर मोरी में गिराता है, तब उसके सुधार की कुछ आशा बँध जाती है। क्योंकि पहले तो वह बिल्कुल बंद पड़ा था और अब मोरी में चलने लगा। मोरी में चलने लगा तो उसकी कुछ दुर्गन्ध वायु ने हरण की और उसके भारीपन को मोरी में पड़ी हुई मिट्टी ने खींच लिया। ऐसा होने पर भी जब तक वह जल मोरी में है, तब तक अशुद्ध ही समझा जाता है। न उससे कोई आचमन करता है, न स्नान और न वस्त्रशुद्धि ही करता है। किन्तु वही जल जब गंगा आदि किसी नदी में जा पड़ता है तो शुद्ध रूप धारण कर लेता है और मनुष्यों के प्रत्येक उपयोग में आता है।

स्पष्ट है कि वह जल अपने मूल रूप में शुद्ध है। जब उसमें दूसरी गंदी वस्तु का मिश्रण हो गया तो अशुद्ध बन गया और जब कारण मिलने पर उसकी अशुद्धि मिट गई तो वह शुद्ध हो गया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलों पर उसकी भिन्न-भिन्न स्थिति बन गई। इस दृष्टान्त के आधार पर आत्मसंबंधी शंका का स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिए।

आत्मा वास्तव में जल के समान एक ही है, किन्तु जब वह चौबच्चे के जल के समान एकदम अशुद्ध अवस्था में होती है, तब बहिरात्मा कहलाती है। जिस प्रकार जल की अशुद्धि के छः कारण बतलाए थे, उसी प्रकार बहिरंग आत्मा को मलीन बनाने वाले भी छः कारण हैं। वे हैं— क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष। जैनशास्त्रों में इन छः कारणों का उल्लेख है और जैनेतर ग्रन्थ भी छः कारणों से आत्मा का दोषयुक्त होना बतलाते हैं। वे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और

अहंकार के रूप में छः कारण मानते हैं। उनके यहाँ इन्हें 'षट्-ऊर्मि' भी कहते हैं। दोनों की यह मान्यता लगभग एक- सी है।

इन छः कारणों से दूषित होने पर आत्मा मे वासनारूप दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, जिस के कारण आत्मा नाना प्रकार के भवों को धारण करती है। कभी कीड़ी और कभी कुञ्जर बनती है। कभी मनुष्य और कभी देवता का शरीर भी धारण करती है। किन्तु वास्तव में इनमें से किसी भी रूप में जन्म लेना अभीष्ट और श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि एक बार जन्म ग्रहण करने पर, फिर चाहे वह इनमें से किसी भी रूप मे हो, आत्मा को उसके परिणाम अर्थात् जरा, रोग, शोक, दुःख, प्रिय-वियोग, अप्रियसंयोग और मृत्यु आदि भोगने ही पड़ते हैं।

बहिरंग आत्मा के सुधार की आशा तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसे गुरु का सदुपदेश नहीं मिलता। जैसे मेहतर चौबच्चे के पानी को मोरी में बहाता है और तब उसके सुधार की संभावना होती है, उसी प्रकार सद्गुरु का उपदेश सुनने पर आत्मा के सुधार की आशा बँधती है। जैसे गंदे पानी की दुर्गन्ध, मोरी में आने पर वायु ने हरी, उसी प्रकार बहिरंग आत्मा की वासनारूपी दुर्गन्ध ज्ञानरूप वायु हर लेती है और आत्मा का भारीपन चारित्ररूपी मिट्टी के साथ स्पर्श होने से दूर होने लगता है। फिर भी जब तक आत्मा किसी भी शरीर में है, तब तक वह मोरी के पानी के समान शुद्ध नहीं कही जा सकती। यह सत्य है कि उस आत्मा की गति सुधार की ओर है किन्तु शरीररूप मोरी के बंधन में होने के कारण वह अशुद्ध ही है और जब आत्मा देह के बन्धन से भी विमुक्त हो कर परमात्मा रूपी समुद्र में मिल जाती है, तब वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है।

जल और आत्मा में एक अन्तर अवश्य है। वह यह कि समुद्र या नदी का जल फिर भी अन्य वस्तुओं के संसर्ग से मलीन हो सकता है, किन्तु आत्मा एक बार पूर्ण विशुद्ध हो जाने के पश्चात् फिर कभी अशुद्ध अवस्था में नहीं आता।

कुछ लोगों की मान्यता है कि मुक्तात्मा भी समय- समय पर संसार में अवतीर्ण होते हैं और जन्म धारण करते है। किन्तु यह मान्यता विचार करने पर ठीक नहीं मालूम होती। जो आत्मा एक बार पूर्ण-

रूपेण निर्विकार और निरंजन हो चुकी है, उसके कर्मबंध होने का कोई कारण नहीं रह जाता। आत्मा के अन्दर विद्यमान विकार ही कर्मबंध के कारण होते हैं। शुद्ध आत्मा भी यदि कर्मबन्ध से लिप्त होने लगे तो इसका अर्थ यह होगा कि विना कारण ही कार्य होने लगेगा। ऐसा तो कदापि संभव नहीं है। विश्व का कोई भी दर्शन या विज्ञान इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता। अतएव यही मानना उचित है कि एक वार मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद फिर आत्मा जन्म- जरा- मरण के चक्र में नहीं पड़ता। उसकी शुद्धि अक्षय और अनन्त होती है।

अब यह समझ लेना कठिन नहीं है कि एक ही आत्मा की किस प्रकार तीन अवस्थाएँ होती हैं। चौवच्चे के पानी के समान वहिरात्मा है, नाली के पानी के समान अन्तरात्मा है और समुद्र के पानी के समान परमात्मा है।

भगवान महावीर ने इस विषय में इस प्रकार फर्माया है:-

जह रागेण कडाणं, कम्मोणं पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति ॥

(औपपातिक सूत्र)

अर्थात्- यह संसारी जीव राग- द्वेष रूप विकारों के कारण उपार्जित कर्मों का दुष्फल होता है; और जब समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है तो सिद्ध हो कर सिद्धिक्षेत्र को प्राप्त करता है।

जिस समय आत्मा की मलीनता और भारीपन दूर होता है, उसी समय उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है। शास्त्र में कहा है:—

भावणा-जोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

(सूत्रकृतांग, १५-५)

अर्थात्- जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नौका के समान है। वह आत्मा नौका की तरह संसार-समुद्र के तट पर पहुंच कर सभी दु:खों से छुटकारा पा लेती है।

स्पष्ट है कि आत्मशुद्धि के लिए भावना की पवित्रता आवश्यक है। जब तक भावना पवित्र नहीं वनी है और जीव सांसारिक पदार्थों

में सुख मान रहा है, तब तक वह सुखी नहीं हो सकता। उर्दू के एक कवि ने कहा है:—

जब तक इसी साग़र से तू मख़मूर है।
ज़ौक से जामे बका के दूर है॥

अर्थात्– जब तक तू सांसारिक पदार्थों के मद में उन्मत्त है, तब तक परम शान्ति के आनन्द से दूर ही रहेगा।

ईसाइयों की धर्म पुस्तक इंजील में बड़े अच्छे ढंग से कहा गया है:—

**Can a man take fire in his bosom and his cloths not be burned ? Can on go upon hot coals and his feet not be burnt ?**

**(Prov. 6-24-25.)**

अर्थात– क्या यह संभव है कि कोई मनुष्य अपनी छाती पर अग्नि रख ले और उसके वस्त्र जलने से बच रहें? क्या यह संभव है कि कोई मनुष्य धधकते हुए अंगारों पर चले और उसके पैर न जलें?

सचमुच संसार के विषय- भोगो की तृष्णा आग के समान है। जब तक यह आग अन्तःकरण में धधकती रहेगी, जीव को शांति नहीं प्राप्त हो सकती। वह उस आग के संताप से पीड़ित हो कर अशान्त और व्याकुल ही बना रहेगा। उसकी अशान्ति और व्याकुलता ही उसके कर्मबन्ध का कारण बनती है और कर्मबन्ध के कारण वह नाना योनियों और गतियों में चक्कर काटता रहता है। उर्दू का एक कवि क्या अच्छा कहता है:—

जिन्दगी की लज्जतो में, जिस क़दर आगे बढ़े।
दिलकशी के साथ रस्ता पुर खतर होता गया॥

ज्यों- ज्यों मनुष्य भोगों की आग में कूदता जायगा, उसके हृदय में संताप बढ़ता ही जायगा। उस संताप का उपशमन करने का वास्तविक उपाय भोगतृष्णा का निरोध करना है, किन्तु अज्ञानवश प्राणी उस आग को शमन करने के लिए आग का ही प्रयोग करता है। वह आग से आग के संताप को दूर करना चाहता है। अपने इस अज्ञान के

कारण ही जीव सुख के बदले दुःख, शान्ति के बदले अशान्ति और मुक्ति के बदले भवभ्रमण पाता है।

जो जीव आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे भान हो जाता है कि मैं चिदानन्दमय हूं और संसार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जब शरीर ही अपना नहीं, आत्मा से परे है तो दूसरे पदार्थ अपने किस प्रकार हो सकते हैं? ऐसा भान होने पर वह जगत् के समस्त पदार्थों से राग-द्वेष की वृत्ति को हटा लेता है। किसी पदार्थ के भोग होने पर उसे हर्ष नहीं होता और वियोग होने पर विषाद नहीं होता। वह जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में समभाव धारण करके रहता है।

जैसे समरभूमि में गये हुए योद्धा के लिए कवच ही बचाव का साधन होता है, कवच के दृढ़ होने पर शत्रुओं के प्रहार बेकार ही जाते हैं और योद्धा आत्मरक्षा करने में समर्थ होता है; उसी प्रकार साधना की समरभूमि में आध्यात्मिक साम्राज्य की प्राप्ति का अभिलाषी साधकरूपी योद्धा जब अपने आन्तरिक रिपुओं के साथ जूझता है और काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि शत्रु प्रहार करना प्रारम्भ करते हैं, तब उस साधक के लिए समभाव का सुदृढ़ कवच ही बचाव का साधन होता है। समभाव की महिमा असाधारण है। समभाव से विशुद्ध आत्मपरिणति होती है और मुक्ति प्राप्त होती है। कहा है—

समभावभावियप्पा, लहेइ मुक्खं न संदेहो।

अर्थात्—जो आत्मा समभाव से भावित है, समभाव के गहरे रंग में रंग गई है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसमें लेश मात्र भी संशय नहीं है। समभाव के विषय में और भी कहा है—

तस्यैवाविचलं सौख्यं, तस्यैव पदमव्ययम्।
तस्यैव बन्धविश्लेषः, समत्वं यस्य योगिनः॥

जिस योगी के अन्तःकरण में समभाव की स्वर्गीय सुधा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है, उसी को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, उसी को अक्षय पद-मोक्ष-की प्राप्ति होती है और वही अपने बंधनों को तोड़ कर फैंक सकता है! इसलिए—

मोहवह्निमपाकर्तुं, स्वीकर्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं, समत्वमवलम्ब्यताम् ॥

मोह अग्नि के समान है। अग्नि का संताप तो शरीर पर ही असर करता है और थोड़े समय में ही दूर हो जाता है, किन्तु मोह जनित संताप बड़ा ही भयानक होता है। वह आत्मा को तपाता है और चिरकाल पर्यन्त भवभ्रमण कराता है! आठ कर्मों में मोहकर्म की स्थिति ही सब से अधिक सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। एक बार बद्ध हुआ मोहनीय कर्म इतने लम्बे समय तक आत्मा का पिण्ड नहीं छोड़ता! मोह की आग में आत्मा के सम्यग् दर्शन, ज्ञान आदि सभी सद्गुण भस्म और विकृत हो जाते हैं। इसी के ताप से सारा संसार जल रहा है, कराह रहा है, फिर भी इसमें ऐसी विलक्षण मोहिनी शक्ति है कि जीव उससे अपना पिण्ड नहीं छुड़ाता और उसी को गले लगाता है। मोह ने सचमुच ही संसारी जीवों को पागल बना रक्खा है। देखिए कवि क्या कहते हैं--

न छूटी है च्यूँटी, न छूटा है हाथी, न छूटा है कोई परिन्दा।
सबकी गर्दन फँसी इसमें, इस मोह ने कर दिया है जगत् को अन्धा॥

इस मोह की आग को शान्त करने के लिए समभाव का शीतल और निर्मल निर्झर ही समर्थ होता है।

जब तक समभाव की जागृति नहीं होती तब तक संयम रूपी लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं होती। कषाय भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है और जब तक कषाय है तब तक संयम नहीं आता। शास्त्र में विधान है कि अनन्तानुबंधी कषाय के सद्भाव का विनाश होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अप्रत्याख्यानावरण मोह के हटने पर सदेशसंयम होता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय के दूर होने पर सर्वविरति-संयम आता है और संज्वलन कषाय के हटने पर यथाख्यात संयम का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार संयम का घातक भी मोहकर्म है। समभाव के द्वारा जब मोहरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, तभी संयमरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

राग और उसका सहचर द्वेष भी मोहमूलक है। समभाव के

द्वारा ही इनका भी विनाश होता है ।

इस प्रकार मोहरूपी आग को शमन करने के लिए, संयमश्री को प्राप्त करने के लिए और रागरूपी वृक्षों का उन्मूलन करने के लिए समभाव का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

साधक का प्रधान लक्ष्य समत्व की प्राप्ति करना ही होना चाहिए। समत्व की प्राप्ति होना ही समस्त साधना का फल है। समभाव के लिए ही समग्र शास्त्र और उपदेश है। एक आचार्य कहते हैं—

साम्यमेव परं ध्यानं, प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं, मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥

सर्वज्ञ भगवान् ने समभाव को ही उत्कृष्ट श्रेणी का ध्यान कहा है और इतना सारा शास्त्रों का जो विस्तार है, वह सब समभाव की प्राप्ति के लिए ही है।

समभाव प्राप्त करने पर आत्मा में ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शीतलता आ जाती है जो केवल अनुभवगोचर है। आत्मा सब प्रकार के संताप से छुट्टी पा लेता है और अपने ही स्वरूप में रमण करने लगता है। समभाव के प्रभाव से समस्त कर्मों का प्रक्षय हो जाता है और तब आत्मा सिद्धदशा प्राप्त करके, ऊर्ध्वगमन करता है और लोकाकाश के अन्त में विराजमान हो जाता है।

बहिरात्मा किस प्रकार अन्तरात्मा बन कर परमात्मा के पद पर आरूढ़ हो सकता है, इस विषय पर जैन शास्त्रों में बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया है और उसके लिए अनेक साधनों का उपदेश दिया है। उनमें से यहाँ कुछ साधनों का उल्लेख किया जाता है:—

१—आलोचना—साधक सतत सावधान रह कर प्रवृत्ति करता है, फिर भी सहज दुर्बलता के कारण कभी-कभी स्खलना हुए बिना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जो स्खलना हुई हो; जो दोष लगे हो उन पर विचार करना और अपने गुरु के समक्ष उन्हें प्रकट कर देना।

२—[illegible]ात[illegible]िक दृढ़ता—घोर से घोर कष्ट आ पड़ने पर भी [illegible]ने धर्म में दृढ़ और अटल रहना।

३—अनिश्रित उपधान—निष्काम भाव से अर्थात् इहलोक अथवा परलोक के सुख की तथा ऐश्वर्य आदि की कामना न रखते हुए तप करना ।

४—निष्प्रतिकर्मता—शरीरशृंगार न करना, शरीर की ओर आसक्ति न रखना और यह समझना कि इस अपवित्र शरीर को सजाना बेकार है ।

५—अलोभ—बाह्य पदार्थों का और कीर्ति आदि का लोभ न करना ।

६—तितिक्षा—परीषहों और उपसर्गों को धैर्य पूर्वक सहना ।

७—आर्जव—कुटिलता को त्याग कर सरलता धारण करना, कपट न करना ।

८—शुचिता—अन्तःकरण को राग-द्वेष आदि मलीन भावनाओं से दूषित न होने देना ।

९—विनय—मद और अहंकार को छोड़ कर विनयपूर्ण आचरण करना ।

१०—धृति—संयम आदि के अनुष्ठान में धैर्य धारण करना ।

११—मति—सदैव वैराग्यमयी बुद्धि रखना ।

१२—सुविधि—संयम-पालन में ढील न करना या शिथिल न होना ।

१३—सर्वकामविरक्तता—इन्द्रियों के भोगों से तथा सब प्रकार की कामनाओं से विरक्त रहना ।

१४—अप्रमाद—निद्रा, विकथा, आलस्य आदि के वश में न हो कर कर्त्तव्यपालन करना ।

१५—प्रायश्चित्त—किये हुए पापों के लिए पश्चात्ताप करना और जीवन को निष्पाप बनाना ।

१६—ध्यान—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान धारण करना ।

यद्यपि दूसरी जगह दूसरे शब्दों में भी इस साधना का वर्णन किया गया है, किन्तु सब का सार एक ही है । पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार की तपस्या आदि का जो विधान है, उस सब का इसमें समावेश समझना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीव को दो बातों का प्रधान रूप से ध्यान रखना पड़ता है । प्रथम यह कि नवीन कर्मों का आस्रव और बंध न होने पावे और दूसरे, पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो । जब संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोक दिया जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट किया जाता है , तब धीरे-धीरे समस्त कर्मों का अन्त हो जाता है । इस प्रकार संवर और निर्जरा यही दो मोक्ष के कारण हैं । साधक को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए, जिससे संवर और निर्जरा हो । संवर और निर्जरा की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब उपादेय हैं और आस्रव तथा बन्ध करने वाली क्रियाएँ हेय हैं । जो साधक संवर और निर्जरा के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होते चले जाते हैं, उन्हें अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है और वे परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं । वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, सुख के असीम सागर, परम ज्योतिर्मय, निरंजन, निराकार, निष्कलुष और शुद्ध चेतनामय बन जाते हैं । सदा काल के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं । लोकाकाश के अग्रभाग पर सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं और निरन्तर आत्मानन्द में रमण करते हैं ।

इस प्रकार जैनधर्म की साधना आत्मा को परमात्मा बना देती है ।

—:o:—

# जैनधर्म में नारी का स्थान

सृष्टि-प्रवाह की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रधान अंग दो है- नर और नारी। सृष्टि के यह दोनों अंग समान भाग हैं। हिन्दू शास्त्रों में अर्द्धनारीश्वर भगवान् की जो कल्पना की गई है, उसमें भगवान् की आकृति आधी नर और आधी नारी के रूप में हैं। अर्द्धनारीश्वर का वामभाग नारी-रूप और दक्षिणभाग नर-रूप है।

हमें सोचना है कि आखिर यह कल्पना क्यों की गई है? इस कल्पना के मूल में कौन सी भावना निहित है? आखिरकार भगवान् आधे स्त्री और आधे पुरुष तो हो नहीं सकते; फिर भी यह जो कल्पना की गई है, उसका कुछ विशेष अभिप्राय होना ही चाहिए। तो हमें विचार करना है कि वह अभिप्राय क्या है? हमारे विचार से इस कल्पना के मूल में एक मात्र यही अभिप्राय हो सकता है कि जगत् को यह दिखलाया जाय कि सृष्टि में नर और नारी का समान स्थान है, समान अधिकार है और समान सन्मान है।

हमने जो निष्कर्ष निकाला है, उसकी पुष्टि प्राचीन भारतीय सभ्यता से भी होती है। प्राचीन इतिहास और साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इस आर्यावर्त में, किसी युग में नर और नारी के अधिकार समान थे, प्रतिष्ठा समान थी और दर्जा भी समान था। महाभारत के अनुशासनपर्व के १४६ वें अध्याय में उल्लेख है—

देववत् सततं साध्वी, भर्त्तारमनुपश्यति।
दम्पत्योरेष वै धर्मः, सहधर्मकृतः शुभः॥

अर्थात्—पत्नी यदि पति को देवता के समान समझती है तो पति भी उसे उसी दृष्टि से देखता है। दम्पती का एक ही धर्म है, अर्थात् सहचारिता दोनों के लिए आवश्यक है।

आचारशास्त्र में जैसे पत्नी के लिए पतिव्रत-धर्म है, उसी प्रकार पति के लिए पत्नीव्रत धर्म भी है। इस संबन्ध में दोनों की स्थिति में,

शास्त्रों ने कुछ भी अन्तर नहीं किया है। जैन शास्त्रों में तो यह विषय अत्यन्त प्रसिद्ध ही है, किन्तु वैदिक आदर्श भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का जीवनचरित्र इसका जीता-जागता प्रमाण है ।

जिस प्रकार सिक्के की दोनों बाजुओं का महत्त्व समान है, उसी प्रकार नर और नारी का महत्त्व भी समान है। जैसे रथ की गति में उसके दोनों चक्र समान रूप से उपयोगी हैं वैसे ही सृष्टि के संचालन में नर और नारी का समान भाग है। नर और नारी संसार में एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे अकेला नर अपने आपमें पूर्ण नहीं है, उसी प्रकार नारी भी अपने आपमें पूर्ण नहीं है। दोनों जुदा-जुदा अपूर्ण हैं। ऐसी स्थिति में कौन किससे उत्तम और कौन किससे अधम कहा जा सकता है? वास्तव में नर और नारी समकक्ष हैं।

ऐसा कौन-सा बल और बुद्धि का कार्य है जिसे पुरुष तो कर सकता हो किन्तु स्त्री न कर सकती हो? या जिसे स्त्री कर सकती हो परन्तु पुरुष न कर सकता हो? दक्षिण नयन जिसे देख सकता है उसे वाम नयन भी अवश्य देख सकता है।

आदि काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से लेश मात्र भी हीन नहीं समझा जाता था, बल्कि अनेक दृष्टियों से तो पुरुषों की अपेक्षा भी ऊँचा था। जैन शास्त्रों में इस बात का उल्लेख किया गया है कि युगप्रवर्त्तक आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की अपेक्षा अपनी पुत्रियों को ब्राह्मी और सुन्दरी को पहले शिक्षा दी थी। ब्राह्मी को लिपि विद्या और सुन्दरी को अंकविद्या-गणित सिखलाई थी। आज भी उन्हीं ब्राह्मी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाती है ।

समस्त आर्य प्रजा में विद्या की अधिष्ठात्री देवी भी 'सरस्वती' ही मानी जाती है, कोई 'सरस्वत' नहीं। धन की अधिष्ठात्री होने का गौरव भी 'लक्ष्मी' को प्राप्त है, किसी 'लक्ष्म' को नहीं। क्या इससे स्त्री जाति की प्रधानता सिद्ध नहीं होती?

हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव ने पुत्रों से भी पहले पुत्रियों को शिक्षा देकर हमारे सामने क्या आदर्श

उपस्थित किया है ? विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने समाज व्यवस्था मे स्त्रियों का, पुरुषों की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान समझा था। इसका कारण यही हो सकता है कि मानवता की अमर वेल नारियों के द्वारा ही सिञ्चित और पालित-पोषित होकर फलती-फूलती है। माताओ के सुशिक्षिता और सुसंस्कृता होने पर ही बालकों में अच्छे संस्कार उतर सकने की सम्भावना होती है। कूप में जल होने पर ही उसे क्यारियों मे पहुंचाया जा सकता है। यदि कूप ही जलविहीन होगा तो क्यारियां में जल कहाँ से आएगा ? यदि वे माताएँ, जिनकी गोद मे बालक पलते है; सुशिक्षिता नहीं हैं, तो बालकों में सत्संस्कारों का परिस्राव कहाँ से होगा ? बालकों के जीवन का निर्माण तो माता की ममतामयी गोद मे ही होता है। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी महत्ता का आद्य स्रोत तो माता ही रही है। माता की प्रेरणा ने उन्हें महापुरुष बनने मे मुख्य भाग अदा किया है ।

यही विचार कर भगवान ऋषभदेव ने पहले अपनी पुत्रियों को शिक्षा देने का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस आदर्श की छाया मे कहा जा सकता है कि नारी को माता बनने से पहले सुशिक्षिता और सुसंस्कृता बनने की आवश्यकता है। जो नारी सुशिक्षिता और सुसंस्कृता नहीं, उसे माता बनने का क्या अधिकार है ? जो नारी अपनी सन्तति के प्रति समुचित कर्त्तव्य का पालन करने के योग्य नहीं, उसे सन्तति को जन्म देने का उत्तरदायित्व भी वहन नहीं करना चाहिए।

भारतीय सभ्यता के आदिकाल मे नारीजाति की बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसी कारण भारतवर्ष उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन था। किन्तु बड़े खेद का विषय है कि मध्यकाल मे नारी की प्रतिष्ठा का ह्रास हो गया; यही नहीं बल्कि उसकी अवहेलना भी होने लगी। धीरे-धीरे वह समय आया कि पुरुष वर्ग ने नारी के अधिकारों का अपहरण किया और उन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है, इस नूतन सिद्धान्त का आविष्कार हो गया। वे पुरुषों की दासियां समझी जाने लगीं।

परन्तु ज्यों-ज्यों नारीजाति का आसन नीचे खिसकता गया, त्यों

त्यों आर्य जाति भी अवनति के गहरे गर्त्त में गिरती गई। पुरुषवर्ग ने शक्ति की मूर्ति नारी को अवला कह-कह कर अवला ही बना दिया। किन्तु नारी को अवला बना देने पर पुरुष सवल कैसे रह सकते थे? भला, अवला सवल को जन्म कैसे दे सकती थी? फल यह हुआ कि नारी को अवला बनाने से पुरुष स्वयं निर्बल हो गए और सारी आर्य-जाति सत्त्वहीन, निस्तेज और पराधीन हो गई। पुरुषों ने नारी की स्वतन्त्रता छीनी तो वे स्वयं अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे। नारी को खिलौना बनाने वाले पुरुष स्वयं दूसरों के खिलौना बन गए। नारी की अवज्ञा करने वाले स्वयं अवज्ञा के पात्र बन गए।

भारत का किसी समय यह उच्च, महान् और वास्तविक आदर्श था:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।

अर्थात्— जहाँ नारी की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ देवता अर्थात् दिव्य शक्ति से सम्पन्न पुरुष क्रीड़ा करते हैं। नारी के प्रतिष्ठाजनित तेज, ओज और प्रभाव से उसकी सन्तान भी तेजस्वी, ओजस्वी और प्रभावशाली बनती है। मनु जी ने कहा था:—

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता, वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

(मनुस्मृति, ३-५७)

अर्थात्—जिस कुल में नारियाँ दुःख के कारण शोक करती रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही नाश हो जाता है। और जिस कुल में नारियाँ प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा उन्नत रहता है।

भारत में ऐसा भी समय था जब स्त्रियों की ऐसी महत्ता और प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता था; । परन्तु मध्ययुग में ऐसी अनिष्टकारी विचारधारा फैली कि बहुत-से देशों ने नारी के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार आरम्भ कर दिया। धार्मिक क्षेत्र में भी नारी तिरस्कृत हुई। बड़े-बड़े नीतिकारों और पण्डितों ने यहाँ तक कह डाला कि नारी स्वभाव से ही अविश्वसनीय, चरित्रहीन, चंचल एवं मूर्ख होती है। उसके सिर पर सदैव डंडा तान कर रहना चाहिए। वह कभी स्वतंत्र न होने

पाए। यथा—

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशौचं निर्दयत्वञ्च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

अर्थात्— झूठ, साहस, कपट, मूर्खता, लोभीपन, अपवित्रता और क्रूरता यह स्त्रियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दोष हैं।

किसी ने कहा— स्त्रियों को ढोल की तरह पीटना चाहिए:—

'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।'

किसी- किसी ने तो यहाँ तक कहने में भी संकोच नहीं किया कि:—

स्त्रियो हि मूलं निधनस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं व्यसनस्य पुंसः।
स्त्रियो हि मूलं नरकस्य पुंसः,
स्त्रियो हि मूलं कलहस्य पुंसः॥

अर्थात्— स्त्रियाँ पुरुष की मृत्यु का कारण है, स्त्रियाँ पुरुष की विपत्ति का कारण हैं, स्त्रियाँ नरकगति का मूल कारण हैं, और स्त्रियाँ पुरुष के कलह का कारण हैं।

जो नारी पुरुष की जननी है, पुरुष को जन्म देकर अपने कलेजे का रस पिला कर उसमे जीवन का संचार करती है, जो सैकड़ों कष्टों को सहन कर के, अपने समस्त सुखों का बलिदान करके अपने पुत्र और पति के सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहती है और उनके सुख के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देती है, उसी नारी को पुरुष की मृत्यु का कारण बतलाना पुरुष की कितनी बड़ी कृतघ्नता है।

शास्त्रों में महारंभ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय प्राणी का वध और मांस भक्षण आदि को नरक का कारण बतलाया था, मगर अब नया धर्मशास्त्र भी रच डाला गया और विधान कर दिया गया कि नरक का मूल स्त्री है। धर्मशास्त्रों के ऐसे विधाताओं ने यह भी नहीं सोचा कि प्रत्येक प्राणी अपने आचार और विचार से ही अच्छी या बुरी गति पाता है; कोई किसी को नरक या स्वर्ग मे नहीं भेज सकता। उन्होंने यह विचार भी नहीं किया कि अगर स्त्री, पुरुष के नरक का कारण है

तो पुरुषों को नरक के सिवाय और किसी भी गति की आशा नहीं रखनी चाहिए।

किसी- किसी ने कह दिया— स्त्री सदैव अपवित्र रहती है— अशुद्ध होती है, अतएव उसे शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं है—

'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम् ।'

अर्थात्—स्त्री और शूद्र वेद नहीं पढ़ सकते।

एक ने नारी जाति पर स्वार्थपरायणता का आरोप करते हुए यहाँ तक कहने में संकोच नहीं किया कि:—

एताः स्वार्थपरा नार्यः, केवलं स्वसुखे रताः ।
न तासां वल्लभः कोऽपि, सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥

यहाँ धृष्टता की हद हो गई। स्त्रियाँ स्वार्थपरायण हैं और केवल अपने ही सुख में रत रहती हैं। अपने सुख के सिवाय उन्हें और कोई प्यारा नहीं: अपना पुत्र भी नहीं।

इस पर कोई टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। संसार जानता है और आज भी कोई भी अनुभव कर सकता है कि स्त्री-जाति अपने पति और पुत्र के लिए किस प्रकार अपने सुखों का परित्याग करती है।

मध्ययुग की यह विचारधारा वास्तव में पुरुष वर्ग के लिए घोर कलंक की बात है। पुरुषवर्ग की स्वार्थपरायणता और स्त्रियों के प्रति विपरीत दृष्टिकोण ने नारीजाति के प्रति भयंकर अत्याचार किये। उसका फल यह हुआ कि भारत सब प्रकार से गारत हो गया।

परन्तु हर्ष और गौरव की बात है कि जैनसंघ में नारी को नर के समान ही सब अधिकार प्राप्त हैं। जैनधर्म ने स्त्री को पुरुष के ही समान योग्य मान कर उसके किसी भी अधिकार को अस्वीकार नहीं किया। वह अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी बड़े से बड़े पद और गौरव को प्राप्त कर सकती है, यहाँ तक कि उसे मुक्ति प्राप्त करने का भी अधिकार है। जैनशास्त्र और जैनसंघ नारी के मार्ग में कोई रोड़ा नहीं अटकाता। वह अपनी साधनाजनित योग्यता के अनुसार सभी कुछ पाने की अधिकारिणी है। न उसे शास्त्र पढ़ने का निषेध है, न

किसी साधना का।

श्रमण भगवान् महावीर ने अपने संघ में नारी को भी वही स्थान दिया है जो पुरुष को प्राप्त है। उन के विशाल संघ में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक थी। साधु चौदह हजार थे तो साध्वियाँ छत्तीस हजार थीं। और आज भी साध्वियों की संख्या साधुओं की अपेक्षा अधिक ही है– कम नहीं।

भगवान महावीर के समकालीन गौतम बुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को स्थान नहीं दिया था। पहले तो उन्होंने स्त्रीजाति को भिक्षुणी पद के अयोग्य समझा, किन्तु बाद में अपने प्रधान शिष्य आनन्द के आग्रह से उन्हें वह पद दे दिया; अर्थात् अपने संघ में सम्मिलित कर लिया। परन्तु भगवान महावीर ने पहले से ही स्त्रियों को पुरुषों के समान भिक्षु पद की अधिकारिणी निश्चित किया था और अपने संघ में स्थान दिया था।

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव स्वामी की सुयोग्य सुपुत्रियों–ब्राह्मी और सुन्दरी महासतियों ने बाहुबली को प्रतिबोध देकर उनके अहंकार को दूर किया था। जैनों के १९ वें तीर्थङ्कर मल्लिनाथ जी स्त्रीपर्याय में ही थे।

सार यह है कि जैनसंघ में ऐसा कोई अधिकार नहीं जो पुरुषों को तो प्राप्त हो, किन्तु स्त्रियों को प्राप्त न हो। अधिकार की दृष्टि से वहाँ नर और नारी का कोई विकल्प ही नहीं है। जिसमें जितनी योग्यता हो, वह अपना उतना ही विकास कर सकता है। प्रत्येक को समान रूप से विकास करने का अधिकार है।

जैन संघ में साध्वियों अर्थात् महासतियों की बड़ी प्रतिष्ठा है। इतनी प्रतिष्ठा कि प्रातःकाल उठ कर प्रत्येक जैन श्रावक परमपावनी, कल्याणकारिणी सोलह सतियों का मंगलप्रद नाम उच्चारण करता है और उनके प्रति अपनी भक्ति और श्रद्धा के सुमन समर्पित करता है। ऐसा करना वह अपने लिए मंगलमय मानता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनसंघ में नारियों के अधिकारों का अपहरण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यह सत्य है कि पारस्परिक सम्पर्क का प्रभाव जैनों पर भी अवश्य पड़ा है, किन्तु जहाँ तक मूल जैन-सिद्धान्तों का प्रश्न है, नारी के अधिकार सुरक्षित ही रहे हैं।

विचार करना चाहिए कि वास्तव में स्त्रियों में किस चीज़ की कमी है ? उनमें कौन सी शक्ति नहीं है ? किस विषय की योग्यता का अभाव है ? व्यवहार यह सिद्ध करता है कि यदि साधन और अवसर मिले तो वे भी पुरुषों के समान प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर हो सकती हैं।

आम तौर पर यह कहा जाता है कि स्त्रियां स्वभाव से ही शक्तिहीन होती हैं। उनमें कोमलता और सुकुमारता प्रकृति ने उत्पन्न करदी है और इस कारण वे कोई भी कठिन और श्रमसाध्य कार्य करने में असमर्थ होती हैं। किन्तु इतिहास इस कथन का विरोधी है। जब-जब और जहाँ-जहाँ स्त्रियों को अवसर मिला, उन्होंने बड़े २ साहस, पराक्रम और वीरता के कार्य किये हैं। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और गढ़-मंडला की रानी दुर्गावती आदि वीरांगनाओं के नाम आज भी भारत के इतिहास में चमक रहे हैं। वे कोई साधारण श्रेणी की नारियाँ नहीं थीं। वे राज कन्याएं थीं और राजपत्नियां थीं। उनका जीवन फूलों की सेज पर व्यतीत हुआ था। अतएव उन से अधिक सुकुमारिता और कहाँ हो सकती है ? किन्तु जब अवसर आया तो उन्होंने बड़े-बड़े वीरों और सेनापतियों के भी छक्के छुड़ा दिये और अपने पुरुषत्व का अभिमान रखने वालों को भी विस्मय में डाल दिया। उन्होंने दुनिया को दिखला दिया कि सुकुमारी समझी जाने वाली नारी किस प्रकार का शौर्य दिखला सकती है और फूलों पर चलने वाली किस प्रकार हँसती-हँसती काँटों को मर्दन करती हुई कठोर पथ पर अग्रसर हो सकती है।

आज भी यूरोप के असभ्य एवं आदिनिवासी देशों की स्त्रियाँ तथा पहाड़ी स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक कार्य करती हैं। वे वीरता के सभी कार्य करती हैं। युद्ध करना, व्यापार करना, आवश्यक वस्तुओं का निर्माणकरना आदि- आदि सभी काम वहाँ की स्त्रियाँ ही करती हैं, अरब, रूस, अफ्रीका के कई प्रदेशों की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही सामर्थ्यशालिनी और सुदृढ़ शरीर वाली होती हैं। इसका कारण यही है वहाँ के पुरुषों ने उन्हें घर की चहारदीवारी में कैद नहीं कर रखा है और उन्हें प्रत्येक काम करने की स्वाधीनता प्राप्त है।

हमारे यहाँ पुरुषों ने स्त्रियों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उन्हें घरों के कारागार में कैद कर रक्खा है और इस कारण वे दुर्बल

बन गई हैं। वस्तुतः स्त्रियों को शारीरिक विकास के अवसर पुरुषों के समान ही दिये जाएँ तो कोई कारण नहीं दीखता कि वे भी पुरुषों के ही समान सुदृढ़ और बलवती न बन सकें। तिब्बत की स्त्रियाँ, जो इस देश में आया करती हैं, वे हमारे विचारों का समर्थन करती हैं। जो सामर्थ्य एक देश की नारियों में हो सकती है, जो दृढ़ता और बलवत्ता तिब्बत की स्त्रियों में पाई जा सकती है, वह भारत की नारियों में क्यों नहीं हो सकती ? उन्हें वैसा अवसर भर मिलना चाहिए।

भारत की एक नारी तारा बाई ने आधुनिक काल में स्त्रीशक्ति का प्रदर्शन किया है। वह सर्कस की स्वामिनी थी। शारीरिक बल में विख्यात प्रो० राममूर्ति से वह कम नहीं रही। वह भी अपनी छाती पर पत्थर तुड़वाती थी और लोहे की जंजीरें तोड़ती थी।

शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य बातों में भी स्त्रियाँ, पुरुषों से एकान्ततः हीन नहीं कही जा सकतीं। विदुषी सरोजिनी नायडू और विजयलक्ष्मी पण्डित जैसी आधुनिक मनस्विनी और तेजस्विनी नारियाँ बुद्धिकौशल में किसी भी पुरुष से हीन नहीं।

काव्यमीमांसाकार का कहना है कि पुरुष के समान स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। संस्कार का सम्बन्ध आत्मा के साथ है; अतएव इस विषय में स्त्री और पुरुष का कोई भेद नहीं। कतिपय राजकुमारियाँ, मंत्रीपुत्रियाँ और गणिकाएँ आदि शास्त्रों में निपुण और कवि देखी व सुनी गई * हैं।

विश्व के श्रेष्ठ कवि कालीदास कहते हैं:—

**गुणाः पूजास्थानं, गुणिषु न च लिंगं न च वयः।**

अर्थात्– गुण ही वास्तव में पूजा के स्थान हैं, लिंग और अवस्था से कोई प्रयोजन नहीं।

तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी व्यक्ति में गुण हों, उसका सत्कार होना चाहिए। व्यक्ति के सत्कार का अर्थ उसके गुणों का ही सत्कार करना है। स्त्री हो या पुरुष, छोटा हो या बड़ा, यदि उसमें सद्गुण है तो वह सत्कार और प्रतिष्ठा का पात्र है। स्त्री में सद्गुण है तो वह

---

*काव्यमीमांसा अध्याय १०

पूजनीया है और पुरुष में दुर्गुण हैं तो वह निन्दनीय है। इसी प्रकार सद्गुणविभूषित पुरुष आदरणीय और दुर्गुणी नारी निन्दनीय है। मतलब यह है कि पुरुष होने से ही कोई बड़ा और स्त्री होने से ही कोई छोटा नहीं हो जाता। गुणों की ठेकेदारी न पुरुषों ने ली है न स्त्रियों ने ही।

शास्त्र में जहाँ चार दुर्लभ बातें बतलाई हैं, वहाँ मनुष्यभव की ही दुर्लभता बतलाई गई है, नरपर्याय या नारीपर्याय का कोई जिक्र नहीं किया गया है। इस से यही अभिप्राय निकलता है कि जिस प्रकार मनुष्यभव में पुरुषपर्याय महान् है, उसी प्रकार स्त्रीपर्याय भी महान है और जो लक्ष्य पुरुषपर्याय से सिद्ध किया जा सकता है वह स्त्रीपर्याय से भी।

ऐसा होना स्वाभाविक है, जब कि नारी में ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से नर की अपेक्षा कोई कमी नहीं होती। प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ इतनी विदुषी होती थीं कि वे दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में निर्णायका तक बनाई जाती थीं। यह बात प्रसिद्ध ही है कि शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी अध्यक्षा बनाई गई थी। किन्तु बाद में अधिकारों की ऐसी कुछ छीना- झपटी शुरू हुई कि स्वार्थी लोगों ने नारी का शास्त्र पढ़ने तक का अधिकार छीन लिया। सरस्वती को, जो नारीरूप है, नमस्कार करके मना कर विद्या का अध्ययन करने वाले पुरुष ने कह दिया कि नारी को शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं है। बढ़ते- बढ़ते बात इतनी बढ़ गई कि लोग कहने लगे कि ब्राह्मी की बहिनों को ब्राह्मीलिपि पढ़ने- लिखने की भी क्या आवश्यकता है? एक घर में दो कलम चलने से घर में अमंगल का प्रवेश हो जाता है। मगर जैनशास्त्र तो सदा से ही नारी के इस अधिकर की घोषणा करते आ रहे हैं।

अगर भारतवासी अपना, अपने देश और समाज का कल्याण चाहते हैं और अपना वही उच्च पद प्राप्त करना चाहते हैं, जो प्राचीन काल में उन्हें प्राप्त था, तो उन्हें भारत की उसी प्राचीन परम्परा को अमल में लाना चाहिए, जिसमें स्त्री की मानप्रतिष्ठा थी, स्त्री किसी भी

योग्य अधिकार से वंचित नहीं थी और सुशिक्षिता एवं सुसंस्कृता थी। उस परम्परा पर चलने के लिए नारीजाति को वे समस्त सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी, जिनके द्वारा वे अपना विकास कर सकें। भारतवासियों को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि स्त्री के विकास के बिना समाज, जाति और देश का अभ्युत्थान नहीं हो सकता। नारी-जागृति के अभाव में किसी भी प्रकार की जागृति नहीं हो सकती। नारीजाति ही समाज की नींव है। जब तक यह नींव विकृत और डाँवाडोल रहेगी, उस पर स्थायी भवन का निर्माण न होगा।

यह हर्ष की बात है कि शताब्दियों की सुषुप्ति के पश्चात् अब नारी जाति जागृत हो रही है। यह भी आनन्दप्रद बात है कि भारत के नूतन शासन विधान में नर और नारी के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं रक्खा गया और दोनों को समान रूप से अपना-अपना विकास करने का अवसर प्रदान किया गया है। नारी समाज को इस अवसर से वास्तविक लाभ उठाना चाहिए। यदि इस अवसर से ठीक-ठीक लाभ उठाया गया तो वह दिन दूर नहीं, जब समाज भी समानाधिकारों को मान्य करेगा और किसी भी क्षेत्र में स्त्रियों के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाएगा।

भारत में नारी जाति के वर्त्तमान जागरण का स्रोत पश्चिमी नारी जाति है। आजकल वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण प्रत्येक देश का भूमंडल के प्रत्येक देश के साथ निकटवर्त्ती संबंध हो गया है। अतएव एक देश के आचार-विचार का दूसरे देशों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पश्चिम की सभ्यता में तड़क भड़क है और वह आपाततः रमणीय प्रतीत होती है। उसका प्रभाव इस देश पर भी पड़ रहा है। यहाँ की नारी, बिना कुछ समझे-बूझे पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुसरण कर रही है। इस विषय में हमें सावधान होना चाहिए। वस्तुतः यूरोप की स्वतंत्रता, स्वतंत्रता नहीं, उच्छृंखलता है। भारतीय नारियों को अपने सम्मुख प्राचीन आर्यसभ्यता के स्वर्णमय अतीत का आदर्श रखना चाहिए और उसी ओर प्रगति करनी चाहिए।

पुरुष जाति को भी फिर समझ लेना चाहिए कि शक्ति की

सजीव प्रतिमा रूप नारियों की प्रतिष्ठा के बिना भारत का निस्तार नहीं है। आज कल भारत का नवीन रूप में निर्माण हो रहा है, इस में स्त्री को उसका समुचित स्थान प्रदान करना चाहिए। भारत में नारीपूजा होगी तो यहाँ पुनः देवता रमण करने लगेंगे। जैनसंघ ने पहले से ही पथ प्रदर्शित कर रक्खा है। समग्र भारत को उसी पथ पर चल कर और नारी के महत्व को व्यावहारिक रूप देकर अपने अभ्युदय के पथ को पुनीत कर लेना चाहिए।
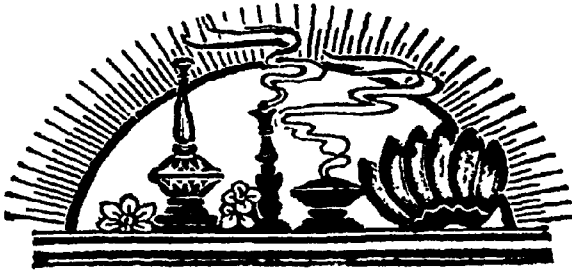
# स्त्री-शिक्षा

इतिहास के पन्ने पलटिए और देखिए कि किसी भी देश और जाति की उन्नति का कारण कौन- सी सत्ता है ? किस के द्वारा जाति उन्नति के शिखर पर पहुँचती है और किस कारण से पतन और विनाश की ओर जाती है।

अगर आप गहराई मे उतर कर विचार करेगे तो पता चलेगा कि यद्यपि देश- जाति के उत्थान और पतन के अनेक कारण हैं, किन्तु उन सब के मूल मे एक प्रधान कारण स्त्रीसमाज की उन्नति और अवनति भी अवश्य है।

एक छोटा- सा शिशु माता का दूध पीते समय संसार से सर्वथा अनभिज्ञ और अपरिचित होता है, किन्तु ज्यो- ज्यों उसकी इन्द्रियों का विकास होता जाता है और तदनुरूप चेतनाशक्ति विकास प्राप्त करती जाती है, त्यो-त्यो वह संसार स परिचित होता जाता है। उस काल में वह अपने आसपास के वातावरण मे ही संस्कार प्राप्त करता और उन्हे संचित करता रहता है। उसका हृदय और मस्तिष्क प्रत्येक प्रभाव को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उसकी ग्राहक शक्ति बड़ी ही तीव्र होती है। आगे चल कर उन्हीं संस्कारों और प्रभावा से बालक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है और उसका समग्र जीवन इन्हीं से प्रभावित होता है।

इसका अर्थ यह है कि बालक के आसपास का वायुमंडल ही उसके व्यक्तित्व के निर्माण का सांचा है। जैसा वायुमंडल जिस बालक को मिलेगा, वैसा ही उसका जीवन बन जाएगा। अतएव बालक को ऐसा वातावरण मिलना चाहिए जिस में से वह उत्तम से उत्तम प्रभाव को ग्रहण कर सके। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार का वातावरण बालक को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

पश्चिम के कई देशों में शिशुगृह की प्रणाली प्रचलित की गई है।

वहाँ शिशुओं को समय पर भेज दिया जाता है और समय पर वापिस ले आया जाता है। मालूम नहीं, वहाँ यह प्रणाली कितनी सफल हुई है; तथापि यह तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि माता का स्थान शिशुगृह की पालिकाएँ नहीं ले सकतीं। माता तो माता ही है! उसके हृदय मे अपने बालक के प्रति जितनी प्यारपूर्ण भावना निसर्ग की ओर से निर्मित होती है, वैसी किसी में भी होना संभव नहीं और मातृ-स्नेह के फलस्वरूप बालक में माता के प्रति जैसी भावना होती है वैसी किसी अन्य नारी के प्रति होना संभव नहीं और जहाँ दोनों ओर गहरा स्नेह और वात्सल्य का आकर्षण होता है, वहीं सुन्दर रूप मे भावनाओं का आदान-प्रदान हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे देश मे तो शिशु गृहों की कोई व्यवस्था भी नहीं। किसी-किसी नगर मे बालमन्दिर जैसी संस्थाओं की स्थापना अवश्य हुई है, किन्तु वे आबादी के लिहाज से नगण्य हैं और फिर वे लगभग तीन वर्ष से कम उम्र के बालकों को लेती भी नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा रह जाता है कि बालकों को किस प्रकार सुन्दर वातावरण प्राप्त हो सकता है?

इस प्रश्न का एक ही उत्तर है। यदि माता शिक्षित और उदार भावना वाली होगी तो वह अपने बालक को भी सुन्दर शिक्षा प्रदान कर सकेगी और उदार बना सकेगी। माता के सुसंस्कार युक्त व्यवहार से ही बालक सुसंस्कारी बन सकेगा। माता के सद्गुण शिशु में आप ही आप उतर आएँगे। अगर माता संस्कारवती होगी तो वह बालक को अपने दूध के साथ ही सुसंस्कारों का भी पान करा देगी। धीरे-धीरे सभी समाज के नियम और परिवार के रीति-रिवाजों से पूर्ण रूप से परिचित करा देगी। वह उसे सदाचारी, सत्यवादी और सद्विचारशील बना देगी। इस रूप में वह देश को महान् और आदर्श नागरिक प्रदान कर सकेगी, समाज को उच्च श्रेणी का सदस्य अर्पित कर सकेगी और परिवार को बहुमूल्य रत्न भेंट कर सकेगी। वह अपनी सन्तति को अनायास ही धर्म और नीति की ऐसी व्यवहारिक शिक्षा दे सकेगी, जिससे वह आगे चल कर अनीति और अधर्म के मार्ग पर न चले और प्रामाणिक रूप से अपना संसार-व्यवहार चला सके।

विचारशीला और सुशिक्षिता माता से बचपन में शिक्षण और संस्कार पाये हुए बालक जब युवावस्था को प्राप्त करके स्वतंत्र रूप में संसार में आएँगे तो उनके विचार उत्तम, उदार और साहसपूर्ण होंगे। वे अपने देश को ऊँचा उठाएँगे, समाज की प्रतिष्ठा बढ़ाएँगे और अपने कुल की कीर्त्ति में वृद्धि करेंगे और स्वयं भी उच्च कोटि का जीवन व्यतीत कर अपने इह लोक तथा परलोक को सुधारने का प्रयत्न करेंगे।

कदाचित् समस्त बालकों को ऐसा सुन्दर और पवित्र वातावरण मिले तो देश में किसी बात की कमी न रह जाय और फिर सारा संसार शान्ति की क्रीड़ास्थली बन जाए। ऐसे बालक देश की सब प्रकार की ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि की वृद्धि करेंगे।

स्पष्ट है कि जीवन के संघर्ष में प्रत्येक प्रकार की सफलता प्राप्त करने की शिक्षा माता के रूप में स्त्री ही दे सकती है, और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ऐसी उत्तम शिक्षा माता उसी अवस्था में दे सकेगी जब वह स्वयं शिक्षिता हो।

अब तक अपने स्वार्थ पोषण के लिए पुरुष वर्ग ने नारियों को शिक्षा से वंचित रक्खा है। इस पाप का प्रायश्चित्त यह होना चाहिए कि स्त्रियों को शिक्षा के लिए अच्छी से अच्छी सुविधाएँ दी जाएँ और यह समझ लिया जाय कि समाज की अगली पीढ़ी को सुन्दर या असुन्दर बनाना माता के ही हाथ में है। कहा है:—

विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः,
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।
या याश्च ग्रामदेव्यः स्युस्ताः सर्वाः प्रकृते कलाः ।
कलांशांशसमुद्भूताः, प्रति विश्वेषु योषितः ॥

(देवीभागवत)

अर्थात्—समस्त विद्याएँ और सब स्त्रियाँ देवी का ही रूप हैं। सभी ग्राम्यदेवियाँ और समस्त विश्वस्थिता स्त्रियाँ प्रकृति-माता की अंशरूपिणी हैं।

एक शिक्षिता नारी सौ शिक्षकों का काम करती है। इस तत्त्व

को समझ कर, स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करने से ही भारत का पुनरुद्धार हो सकता है। शिशु-पालन का भार माता के मस्तक पर ही होता है। अतएव पिता की अपेक्षा भी माता का शिक्षित होना अधिक आवश्यक है। किन्तु आजकल ठीक इसके विपरीत परस्पर चल रही है। अर्थात् पुरुषों की शिक्षा की ओर तो पर्याप्त ध्यान दिया जाता है, किन्तु कन्याओं की शिक्षा उतनी भी आवश्यक नहीं समझी जाती। यही कारण है कि हमारे देश का सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन उतना ऊँचा नहीं उठ पा रहा है, जितना उठना चाहिए।

यों तो जीवन की गाड़ी ठीक तरह तभी चल सकती है, जब कि माता और पिता दोनों ही भली भाँति पठित और सुसंस्कृत हों, जैसा कि गिरिधर कवि कहते हैं:—

जीवन-गाड़ी ज्ञान-धुरी, पहिये दो नर नारी।
सुख-मंजिल तय करन हित, जोरहु इन्हें सम्हारि॥
जोरहु इन्हें सम्हारि लगे ना ऊँचे नीचे।
दोनों सम जब होहिं, चलहु फिर आँखें मीचे॥
कह गिरिधर कविराय यही तुम धारो निज मन।
या विधि हों नर-नारी सफल तब निहचय जीवन॥

जीवन की यह गाड़ी ठीक रास्ते पर चल कर अपनी मंजिल तब ही तय कर सकती है, जब विद्या का प्रकाश हो। विद्या के प्रकाश के अभाव में वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकती। विद्या की प्रशंसा में कहा गया है—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसुपूजिता न हि धनं, विद्याविहीनः पशुः॥

(भर्तृहरि, २-२०)

अर्थात्—विद्या ही मनुष्य का सच्चा सौन्दर्य है, विद्या ही गुप्त

धन है। विद्या भोग, यश और सुख की दात्री है। विद्या के प्रभाव से मनुष्य गुरुओं का भी गुरु बन जाता है। विद्या विदेश में हितैषी बन्धु के समान सहायक होती है। विद्या परम देवता है। विद्यावान् मनुष्य की राजा भी पूजा करता है, धन की नहीं। जिस मनुष्य में विद्या नहीं है, वह पशु के तुल्य है।

धन के लिये लोग लालायित रहते हैं और रात-दिन श्रम करते हैं। विद्या के प्रति उतनी लालसा नहीं देखी जाती। किन्तु विद्या और धन में क्या अन्तर है, इसे देखिए:—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं।
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी ॥
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं।
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात्—कठिन श्रम करके उपार्जित किया हुआ धन किसी भी कारण को पाकर चला जाता है। उसे चोर चुरा ले जाते हैं, राजा अपहरण कर सकता है, भाई-बन्धु बाँट लेते हैं, वह जीवन के लिए एक प्रकार का बोझ है और व्यय करने से कम हो जाता है। किन्तु विद्या में इन सब में से एक भी दोष नहीं। उसे चोर चुरा नहीं सकते, राजा हरण नहीं कर सकता, भाई बटवा नहीं सकता, वह बोझ रूप भी नहीं है और सब से बड़ी विलक्षणता उसकी यह है कि ज्यों-ज्यों उसको खर्च किया जाता है, त्यों-त्यों वह घटने के बदले बढ़ती ही जाती है। इन सब कारणों से विद्या रूपी धन सभी धनों में प्रधान है। कोई भी धन इस विद्या-धन की बराबरी नहीं कर सकता। यह धन वह धन है जो मनुष्य की आत्मा को सुखदायी होता है। एक फारसी भाषा का कवि कहता है:—

पए इल्म बायद् शमा गुदास्त।
कि बेइल्म नतवां खुदा रा शनाख्त ॥

अर्थात्—विद्या का दीपक प्रज्ज्वलित करना चाहिए, क्योंकि विद्या के बिना प्रभु की प्राप्ति नहीं होती।

विद्या के द्वारा ही बुद्धि का विकास होता है, विद्या के प्रभाव से ही मनुष्य कुमार्ग से बचकर सन्मार्ग पर चलता है, विद्या अन्तर्नेत्र है, विद्या जीवन को सफल और कृतार्थ बनाने वाली है। विद्या की उपयोगिता बतलाने की अधिक आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसकी महिमा जगत में प्रसिद्ध है।

चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष, जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए विद्या की उसे अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु पुरुष के जीवन का निर्माण स्त्री के हाथ में है, अतएव स्त्री को विद्या की और भी अधिक आवश्यकता है।

स्त्री और पुरुष का कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न है। अतएव यह भी निश्चित है कि दोनों की शिक्षा में भी भिन्नता होनी चाहिए। स्त्रियों के लिए वही शिक्षा उपयोगी नहीं हो सकती जो पुरुषों के लिए होती है।

अब नगरों में स्त्री शिक्षा की ओर कुछ-कुछ ध्यान अवश्य जाने लगा है, किन्तु आजकल जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है, वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानि कर रही है। विदेशी शासकों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भारत में शिक्षा की जो प्रणाली प्रचलित की थी। वह तो पुरुष वर्ग के लिए भी हानिकारक थी तो फिर स्त्रियों के लिए और भी अधिक हानिकारक हो, इसमें क्या संदेह है। किन्तु अब देश स्वाधीन हो गया है। अतएव हमें भारतीय जीवन को सामने रखकर और भारत की संस्कृति और विचारधारा पर दृष्टि रख कर शिक्षा के संबन्ध में नये सिरे से विचार करना चाहिए।

जिन विद्वानों ने स्त्रीशिक्षा की समस्या पर विचार किया है, उनका अभिमत है कि कन्याओं को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे कि उन्हें गृहकार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करने में, बालकों का भली भाँति पालन-पोषण करने में, सगे-सम्बन्धियों के साथ सभ्यतापूर्ण व्यवहार करने में और अपने आसपास का वायुमंडल सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाने में सहायता मिल सके। कन्याओं को स्वास्थ्य रक्षा और भोजन विज्ञान की भी शिक्षा देना आवश्यक है। गृहिणी यदि भोजन विज्ञान से परिचित हो तो वह ऋतु और प्रकृति आदि का

परिज्ञान करके भोजन की ऐसी व्यवस्था कर सकती है कि उसके परिवार के सब सदस्य स्वस्थ रह सकें और रोगों का शिकार होने से बच सकें। विवेकवती गृहिणी भोजन में हेरफेर करके ही बीमार को स्वस्थ बना सकती है, स्वास्थ्य रक्षा के सिद्धांतों का परिज्ञान रखने वाली स्त्री को जरा-जरा सी बात के लिए वैद्यों या डाक्टरों की शरण नहीं लेनी पड़ती। वह स्वयं साधारण उपचार कर लेती है। अतएव प्रथम तो रोग न होने देने के लिए और कदाचित् कोई सामान्य रोग हो जाय तो उसका स्वयं उपचार कर लेने के लिए आवश्यक ज्ञान कन्याओं को दिया जाना चाहिए।

प्रायः स्त्रियाँ बालकों के मानस को न पहचानने के कारण स्वयं भी परेशान होती हैं और बालक को भी परेशान किया करती हैं। बालक के मानस को समझने वाली स्त्री बालक का बहुत सुन्दर विकास कर सकती है और उसे प्रसन्न रखकर सन्मार्ग पर चला सकती है। अतएव नारीजाति को बालमनोविज्ञान का शिक्षण अवश्य मिलना चाहिए।

नीति और धर्म की शिक्षा तो प्रत्येक के लिए अनिवार्य ही है। सभी विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अगर किसी ने नीति और धर्म की शिक्षा नहीं पाई तो उसने कुछ भी नहीं पाया। नीति और धर्म का संबन्ध जीवन के साथ इतना घनिष्ट है कि इनके अभाव में जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। अपने इस जीवन को और भविष्य के जीवन को पवित्र बनाने के लिए तथा बालकों के कोमल चित्त पर नीति और धर्म के संस्कार अंकित करने के लिए यह शिक्षा अत्यावश्यक है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि स्त्रियों की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे वे सची गृहलक्ष्मी बनकर अपनी गृहस्थी को स्वर्ग बना सकें और बालकों को अपने शुभ संस्कारों से धर्मात्मा, देशहितैषी, परोपकारी और सदाचारी बना कर उनमें देवत्व को जगा सकें। जिस देश के बालक इस प्रकार के शुभ संस्कारों और गुणों से विभूषित होंगे, जिन्हें सुसंस्कारवती माता का पथप्रदर्शन प्राप्त होगा, वे निश्चय ही देश और जाति के उत्थान में सहायक होंगे।

स्त्रीजाति की शिक्षा यदि विवेकपूर्ण प्रणाली से हो तो अविलम्ब

तो देश में नूतन जीवन का संचार हो सकता है।

दुर्भाग्य से आजकल एक नवीन विचारधारा वह चली है कि ज्ञान ज्ञान के लिए ही है। किन्तु आर्यसंस्कृति की दृष्टि से यह विचार-धारा संगत नहीं है। हमारे यहां ज्ञान का सदाचार से घनिष्ठ संबंध माना गया है। भारत के प्राचीन विचारक ज्ञान का फल सदाचार ही समझते रहे हैं और जब हम गंभीर भाव से विचार करते है तो उनका यह विचार ही उपयुक्त प्रतीत होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में सदाचार को कोई स्थान नहीं है, उसका अक्षरज्ञान किस काम का है? ज्ञान की सार्थकता तो चारित्र की उन्नति में ही है।

ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना।

अर्थात्- ज्ञान के अनुसार अगर चारित्र न हुआ तो वह निष्फल है। औषध का ज्ञान मात्र नीरोगता का जनक नहीं हो सकता, वल्कि औषध के सेवन से ही नीरोगता होती है। यही बात सर्वत्र समझनी चाहिए। कोई व्यक्ति नीतिशास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान रखता है, घंटों तक वक्तृता दे सकता है और नीति के गूढ़ तत्त्व दूसरों को समझा सकता है, किन्तु अपने निज के जीवन में नीति को प्रवेश भी नहीं होने देता तो उसका वह ज्ञान केवल जन-मन-रंजन का साधन ही है। उससे उसका जीवन उत्तम नहीं बन सकता। जो ज्ञान अभ्यास में नहीं आता, वह विष हो जाता है, 'अनभ्यासे विषं शास्त्रं,' लोक दृष्टि में ज्ञान विलासी नहीं, वल्कि कर्मशील व्यक्ति पंडित माना जाता है। सुप्रसिद्ध विचारक हर्बर्टस्पेन्सर ने लिखा है—

**'The great aim of education is not knowledge but action.'**

'कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान नहीं, वल्कि कर्म है।'

अतएव हमें यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना होगा कि शिक्षा सदाचार की जननी हो। शिक्षा की प्रणाली और पाठ्य पुस्तकों के चुनाव पर विचार करते समय इसी दृष्टिकोण को प्रधान रखना चाहिए और शील, सदाचार तथा शिष्टाचार पर सब से अधिक बल देना चाहिए। शिक्षिकाओं की नियुक्ति भी इसी विचार को समक्ष रख कर की जानी चाहिए। जिन शिक्षिकाओं के संस्कार उत्तम हों, जो सादगी और संयम से अपना जीवन निर्वाह करती हों: जिनके अन्तःकरण में धर्म के

प्रति गाढ़ी आस्था हो, वही वास्तव में शिक्षक और शिक्षिका के गुरुतर उत्तरदायित्व को वहन करने के योग्य है ।

साधारणतया देखा जाता है कि आधुनिक शिक्षाशालाओं में अक्षरज्ञान और विभिन्न विषयों के ज्ञान की ओर ही ध्यान दिया जाता है । जीवन-विकास की ओर कोई विशेष लक्ष्य नहीं दिया जाता । यही कारण है कि शिक्षितों की संख्या बढ़ जाने पर भी हमारे देश में चारित्र का विकास नहीं हो रहा है । चारित्र का विकास हुए बिना जीवन का स्तर ऊँचा नहीं उठ सकता और हमारे दुःखों और अभावों का अन्त नहीं आ सकता । अतएव शिक्षा को चारित्र की उन्नति का साधन मान कर ही शिक्षापद्धति की नियोजना की जानी चाहिए ।

सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि माता-पिता को सदाचार की शिक्षा के लिए शाला के भरोसे नहीं रहना चाहिए । उन्हें प्रथम तो अपना निज का जीवन सादगीमय और संयमपूर्ण बनाना चाहिए । जिससे बालक और बालिकाएं उनके जीवन व्यवहार से ही पाठ सीख सकें और फिर समय-समय पर उन्हें सदाचार के सिद्धान्तों का बोध भी देते रहना चाहिए । जीवन में सादगी का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । जहाँ सादगी नहीं है और विलासिता है, वहाँ जीवन संयत नहीं बन सकता । विलासिता जीवन को नष्ट कर देती है और सादगी से विचारों में पवित्रता आती है । विलासिता अथवा फैशनपरस्ती भ्रष्टाचार का आह्वान करती है ।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि माता-पिता और विशेषतया माताएं छोटी-छोटी बच्चियों को फैशन से रहना सिखलाती हैं, किन्तु आगे चल कर वही फैशन भूत बन कर उनके सिर पर सवार हो जाता है और उनसे अकरणीय कार्य करवाता है । फैशन में डूबी हुई स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी या घर की रानी बन कर रहना नहीं चाहतीं, वे तितली बन कर बाहर उड़ना चाहती है और इस प्रयास में वे दुष्ट शिकारियों के फंदे में फँस जाती हैं । इस प्रकार उनका जीवन भी मिट्टी में मिल जाता है और उनके कुल की प्रतिष्ठा पर भी पानी फिर जाता है । ऐसी स्त्रियों की सन्तति अच्छी हो ही कैसे सकती है ? वे

अपनी सन्तान के समक्ष भी गलत आदर्श उपस्थित करती हैं और उन के भी जीवन का सत्यानाश कर देती हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि बालकों और बालिकाओं की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए। किन्तु यह विचार कल्याणकारी नहीं है। अभी तक इस विषय में जो प्रयोग किये गये हैं, उनके परिणाम पर विचार करने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि सहशिक्षण की योजना लाभदायक नहीं। नवयुवकों और नवयुवतियों का निरन्तर सम्पर्क अनेक अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करता है। प्रतिवर्ष अनेक आत्महत्याएं इस सहशिक्षण की ही देन है। अतएव नैतिक दृष्टि से सहशिक्षण की पद्धति सर्वथा अनुपयुक्त, हानिकारक और अमंगलमयी है।

शैक्षणिक दृष्टिकोण से भी सहशिक्षा का विचार ठीक नहीं जंचता यह तो निस्सन्देह है कि स्त्री और पुरुष का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् है और पृथक्-पृथक् क्षेत्र में ही उन्हें अपनी जीवनयात्रा तय करनी है। पारिवारिक दृष्टि से उनके उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में, अगर शिक्षा का उद्देश्य सफलता पूर्वक जीवन की यात्रा तय करना और अपने उत्तरदायित्वों का समीचीन रूप में निर्वाह करना है, तो स्त्री और पुरुष की शिक्षा में भी विभिन्नता होना चाहिए। जो विषय पुरुषों के लिए उपयोगी हो सकते है, वे स्त्री के लिए अनुपयोगी भी हो सकते है और और जो विषय स्त्री के लिए उपयोगी और अत्यावश्यक हैं, वे पुरुष के लिए अनुपयोगी हो सकते है। यदि दोनों का साथ साथ शिक्षण होता है तो इस विषय विभाग पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। उदाहरणार्थ-उद्योग-धंधे को ही लीजिए। जो उद्योग धंधा पुरुष को सिखलाया जायगा, क्या वही स्त्री के लिए उपयोगी हो सकेगा? और जो स्त्री के लिए उपयुक्त है वह क्या पुरुष के लिए भी उपयुक्त होगा? नहीं! ऐसी स्थिति में नीति और शिक्षा दोनों ही दृष्टियों से यही उचित है कि दोनों की शिक्षा अलग-अलगहो।

आज भी पुरुष का कार्य क्षेत्र घर से बाहर और स्त्री का कार्य क्षेत्र घर के भीतर समझा जाता है। पारिवारिक दृष्टि से कर्त्तव्य का

यह विभाजन एकान्ततः अनुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि स्त्री का संसार घर की चहार-दीवारियों में ही समाप्त हो जाता है। घर स्त्री का प्रधान कार्यक्षेत्र ही है और उससे अवकाश पाकर वह बाहर के संसार के साथ भी अपना सम्पर्क स्थापित कर सकती है।

धनोपार्जन करने का उत्तरदायित्व पुरुष का और उसका सुचारूरूप में व्यय करना स्त्री का काम है। यह व्यवस्था साधारण स्थिति में सुविधा जनक है किन्तु कभी-कभी इसका परिणाम बड़ा दुःखप्रद होता है। स्त्री में धनोपार्जन की क्षमता नहीं होने से वह परनिर्भर हो जाती है। किन्तु दैवयोग से उसके परिवार में कोई धनोपार्जन करने वाला पुरुष न रह जाय तो वह बड़ी ही कठिनाई में पड़ जाती है। आज समाज में ऐसी सैकड़ों-हजारों विधवाएँ मिलेंगी, जो दाने-दाने के लिए मुहताज रहती हैं। उनके जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं भी ठीक तरह पूरी नहीं हो पातीं। वे अन्न और वस्त्र भी नहीं पातीं। इसका प्रधान कारण यही है कि उन्हें अर्थोपार्जन की शिक्षा नहीं मिली है। अतएव स्त्री को धनोपार्जन की शिक्षा देनी अनुचित नहीं कही जा सकती, इससे अनेक लाभ होंगे। प्रथम तो, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, अवसर आने पर स्त्री अपने जीवन का प्रतिष्ठापूर्वक निर्वाह कर सकेगी और किसी के आगे उसे दीनतापूर्वक हाथ नहीं पसारना पड़ेगा और न आर्थिक कष्ट भुगतना पड़ेगा। दूसरे, वह अपने पति या कुटुम्बी जनों का हाथ बँटा सकेगी। तीसरे, उसमें स्वालम्बन की क्षमता होगी तो उसका जीवन तेजोहीन, दैन्यग्रस्त और बुझा हुआ नहीं होगा। चौथे, वह अपनी सन्तान को, विशेषतया अपनी कन्या को भी इस दृष्टि से आत्मनिर्भर बना सकेगी। अतएव धनोपार्जन करना पुरुष का ही कार्य है, इस विचार का परित्याग कर देना चाहिए।

यहाँ स्त्री की शिक्षा के लिए कतिपय विषयों का उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह न समझा जाय कि अन्य विषयों की शिक्षा स्त्रीजाति के लिए वर्जित है। वस्तुतः साहित्य, कला और विज्ञान का कोई भी विषय ऐसा नहीं जो स्त्री के लिए अनुपयुक्त कहा जा सके

किन्तु उल्लिखित विषयों का ज्ञान उन्हें अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

सारे कथन का सार यह है कि स्त्रियों को शिक्षा अवश्य देनी चाहिए, किन्तु वह पुरुषों के ही समान न होकर ऐसी हो जो उन्हें उत्तम गृहिणी और श्रेष्ठ माता बना सके। उनके जीवन में सादगी और सदाचार ला सके और वे परिवार, समाज और देश के लिए वरदायिनी शक्ति बन सके। जिनसे उनके अन्तःकरण में धर्मभाव की जागृति हो सके, और वे अपने और दूसरों के जीवन को कल्याणमय बना सकें।

भारत का नारीसमाज जब इस प्रकार की सुशिक्षा से विभूषित होगा तो उस की रौनक ही बदल जाएगी और भारत फिर अपनी खोई हुई महत्ता और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकेगा।
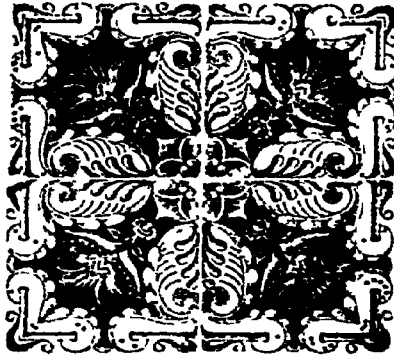
# सत्य

धर्म के कई अंग हैं। शास्त्रों मे धर्म का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है और धर्म के विविध लक्षण बतलाये गये है; किन्तु उन सब में सत्य को प्रधानता दी गई है। यहाँ तक कहा गया है कि 'धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः' अर्थात् सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित (रहा हुआ) है। हमारे यहाँ प्रश्नव्याकरण सूत्र मे एक बड़ा ही सुन्दर वाक्य आया है—

तं सच्चं भगवं।

अर्थात—सत्य भगवान् है।

महात्मा गांधी, जो इस युग के अहिंसा के अवतार कहलाते है, सत्य की प्रशंसा करते हुए यही बात यों कहते हैं—

**I worship god as truth only. I have not yet found him, but I am seeking after him,**

अर्थात—मैं परमेश्वर का पूजन सत्य के रूप मे ही करता हूं। मुझे अभी तक उसकी प्राप्ति तो नहीं हुई, किन्तु मैं उसकी खोज में लगा हूँ।

वास्तव में सत्य महान है और उसकी महिमा का कहीं अन्त नहीं है। शास्त्र में कितने गंभीर भाव से सत्य का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है, जरा सुनिये:—

**'तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतरं सरय-नहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ।'**

(प्रश्नव्याकरण, २-२४)

अर्थ—सत्य लोक मे सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्र मंडल से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमंडल से भी अधिक देदीप्यमान है। वह

शरद्‌कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल है और गंधमादन पर्वत से भी अधिक सौरभसम्पन्न है।

जिस सत्य की इतनी अधिक महिमा वर्णित की गई है, उसका पालन करने से क्या लाभ होता है, इस संबंध में बतलाया गया है:—

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सास कारणं परमं ।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धीइ सोवाणं ॥

(धर्म संग्रह, अ० २–श्लो–२६–टीका)

अर्थात्—सत्य यश का मूल है, सत्य विश्वास का कारण है। सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य सिद्धि-मुक्ति का सोपान है।

सत्य सर्व सम्मत धर्म है। यों तो संसार में सैकड़ों मत और पंथ प्रचलित है और उनकी मान्यताएं परस्पर विरोधी हैं और उन विरोधी मान्यताओं को आगे करके एक पथ के अनुयायी दूसरे पंथ वालों से लड़ते-झगड़ते है; कभी-कभी रक्त की धाराएँ तक बहा देते हैं, किन्तु सत्य के विषय में सभी एकमत हो जाते है। संसार में कोई ऐसा मत या पंथ नहीं है, जिसने सत्य की महिमा को स्वीकार न किया हो, और सत्य को सर्वोपरि धर्म न माना हो। इस कथन की पुष्टि में यहाँ विश्व के प्रधान-प्रधान धर्मों के कुछ उल्लेख दिये जाते हैं। वैदिक धर्म को पहले लीजिए। ऋग्वेद में लिखा है:—

'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी यस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्य' यतरहृ जीयस्तत् सोमोवति हन्त्यासत् ।'

(ऋग्वेद, ७–१०४–१२)

अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष जानता है कि सत्य और असत्य का विरोध है। सत्य को शक्ति प्राप्त होती है और असत्य का नाश होता है। उपनिषद् में कहा है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

(मुण्डकोपनिषद्, ३–१)

अर्थात्—ब्रह्मात्मा की प्राप्ति सत्य, तप, शुद्ध ज्ञान तथा ब्रह्म-

चर्य से ही होती है ।

सुप्रसिद्ध मानवधर्म शास्त्र के प्रणेता मनु ने सत्य को ही मन शुद्धि का कारण बतलाया है:—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥

(मनुस्मृति, ५-१०६)

अर्थात्—शरीर के अंगों की शुद्धि जल से होती है । मन की शुद्धि सत्य से होती है । आत्मा की शुद्धि विद्या और तपश्चरण से होती है और बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है ।

वेद उपनिषद् और स्मृति के पश्चात् पुराणों पर दृष्टि डाली जाय तो वहाँ भी सत्य की महिमा चमकती दिखाई देती है । महाभारत में बड़े ही उत्तम शब्दों में सत्य की महिमा का वर्णन किया गया है । यथा:—

अश्वमेधसहस्रञ्च, सत्यञ्च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि, सत्यमेव विशिष्यते ॥
सर्ववेदाधिगमनं, सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र ! कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं पापमनृतादिह विद्यते ॥

(महाभारत आ० उ० ६६-३१-३३)

सत्यं सत्सु सदा धर्मः, सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत्, सत्यं हि परमा गतिः ॥

(महाभारत शान्तिपर्व, १६०-४)

साधारण तौर पर लोग आन्तरिक धर्म की तो उपेक्षा करते हैं और क्रियाकाण्ड को महत्त्व देते हैं । यज्ञ-पाठ कर लिया, तोते की तरह वेद के पाठों का उच्चारण कर लिया और तीर्थयात्रा कर आये तो समझ लिया कि बस, अब कुछ भी करना शेष नहीं रह गया ! अब हमारे

समान धर्मनिष्ठ और कौन है? किन्तु महाभारतकार कुछ और ही कहते हैं। उनका कहना है:—

'यदि तराजू के एक पलड़े पर हजार अश्वमेध यज्ञ रख दिये जाएं और दूसरे पलड़े पर सत्य रक्खा जाय तो अश्वमेध वाले पलड़े की अपेक्षा सत्य का पलड़ा भारी रहेगा। तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य एक नहीं, एक सौ भी नहीं, एक हजार अश्वमेध यज्ञ करता है किन्तु सत्य का पालन नहीं करता और दूसरा मनुष्य एक भी अश्वमेध यज्ञ नहीं करता किन्तु सत्य का पालन करता है, सत्य भाषण करता है, सत्य व्यवहार करता है, तो वह हजार यज्ञ करने वाले की अपेक्षा भी अधिक धर्मनिष्ठ है।'

आन्तरिक धर्म और बाह्य क्रियाकाण्ड में कितना अन्तर है, यह तथ्य इस कथन से स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

समग्र वेदों का पाठ और समस्त तीर्थों का स्नान, सत्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं होता।

सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और सत्य से उत्तम कोई गुण नहीं है। असत्य के समान कोई भी तीव्र पाप नहीं है।

सज्जन पुरुष सत्य को ही उत्तम धर्म मानते हैं; क्योंकि सत्य ही सनातन धर्म है। अतएव सत्य के सामने सदा सिर झुकाना चाहिए। सत्य ही परम गति है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है:—

**यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।**

(१-४-१४)

अर्थात्—जो निश्चय रूप से धर्म है, वह सत्य ही है इसीलिए सत्य बोलने वाले के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह धर्म की बात करता है। और धर्म की बात कहने वाले को सत्य बोलने वाला कहते हैं। इसलिए यह दोनों एक समान हैं।

सिक्खों के धर्म शास्त्र में कहा है:—

**कहे नानक जिन सच तजिया,**

कूड़े लागे उनी जन्म जूए हारिया ॥

(रामकली मोह् ३, अनन्द)

नानक गुरु कहते हैं कि जिन लोगों ने सत्य को त्याग कर झूठ की शरणली, उन्हों ने मानों अपना जन्म जुए में हरा दिया।

मुस्लिम शास्त्र कुरान की सूरत बकर के रुकू ५ में लिखा है—

व ला तलबिसुलहक्का बिल्बातले व तकमतुल हक्का ।

अर्थात्—सत्य को अनृत से मत छिपाओ। सत्य को प्रकट कर दो। सत्य सदा पराक्रमशाली और प्रचण्ड शक्तिमान होता है। झूठ उसके सामने टिक नहीं सकता। जैसे सूर्य का उदय होने पर तिमिर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के सामने असत्य गायब हो जाता है। सत्य के प्रबल बल को सुन्दर ढंग से प्रकट करते हुए हजरत मुहम्मद ने अपनी हदीस में लिखा है कि यदि सत्य का चित्र बनाया जाय तो वह सिंह का होगा और झूठ का चित्र लोमड़ी का होगा!

सत्य सनातन है, शाश्वत है, त्रिकाल अबाधित है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसके विपरीत असत्य क्षणिक है, अस्थायी है, वह सदा टिक नहीं सकता। शीघ्र ही असत्य का भंडाफोड़ हो जाता है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए ईसाइयों की धर्म पुस्तक इंजील में लिखा है:—

**The lip of truth shall be established for ever but a lying tougne is but for a moment.**

**(Proverlis 12-19.)**

अर्थात्—सत्य की जिह्वा सदा अटल रहेगी, किन्तु झूठ की जिह्वा केवल क्षण भर के लिए होगी।

गांधी जी तो शासन ही सत्य का मानते थे। उन्होंने लिखा है:—

**I am devoted to none, but truth and I owe no discipline to any body but truth. God is truth.**

अर्थात्—मैं सत्य के अतिरिक्त किसी की पूजा नहीं करता और मैं सत्य के सिवाय किसी का शासन नहीं मानता। सत्य ही भगवान् है।

जिस सत्य की महिमा को अखिल ब्रह्माण्ड एक स्वर से स्वीकार कर रहा है और जिसका प्रभाव बुद्धि और तर्क से भी अगोचर है, उस सत्य के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है ? एक कवि कहता है:—

गिरे वज्र सिर पर मही डोल जावे ।
अभी सामने काल भी दौड़ आवे ॥
जले सिन्धु बरसे हलाहल शशी भी ।
सतावे हमें सर्वदा बेकसी भी ॥
न फिर भी कभी सत्य का साथ छोड़ो ।
न नाता कभी झूठ के संग जोड़ो ॥

शेख सादी ने कहा है:—

रास्ती मूजिब रज़ाए खुदास्त ।
कस न दीदम कि गुम शुद् अज राहे रास्त ॥

अर्थात्—सत्य ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है । मैंने सत्य के मार्ग पर चलने वाले को कभी पथभ्रष्ट होते नहीं देखा ।

यह एक सचाई है कि जितने भी आत्मकल्याण के साधन हैं, वे सब सत्य में ही निहित हैं। सत्य को धारण कर लेने का जो शुभ परिणाम होता है, वही सब एकत्रित हुए साधनों का होता है । इसी अभिप्राय को जैन शास्त्र में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है:—

'जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंत जोगा जवा य विज्जा य जंभका य अत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य, सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं ।'

(प्रश्न व्याकरण, २-२४)

भावार्थ—इस लोक में जितने भी मंत्र योग जप विद्याएं जृम्भक अर्थ शास्त्र, शिक्षाएं और आगम हैं वे सभी सत्य पर आश्रित हैं। इन सब का मूल आधार सत्य है ।

यही भाव वैदिक सम्प्रदाय में भी प्रकट किया गया है ।

सत्यं वेदेषु जागर्त्ति, फलं सत्ये परं स्मृतम् ।

तपो धर्मो दमश्चैव, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि, सत्यं यज्ञास्तथा विधिः ।
व्रतचर्या तथा सत्यमोंकारः सत्यमेव च ॥

(महाभारत शान्तिपर्व, १६७-७१-७२)

अर्थात्—सत्य का प्रकाश वेदों मे है। सत्य अति महान् गुण कहा गया है। तप, धर्म और इन्द्रिय निग्रह की प्रतिष्ठा सत्य से ही है। सत्य ही वेद और वेदांग है। सत्य ही यज्ञ और उसकी विधि है। सत्य ही व्रत है और सत्य ही ओंकार है।

संसारी जीव की अनादि काल से चल रही इस विराट यात्रा का चरम लक्ष्य मुक्ति है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी साधनाएं तपस्या, यम, नियम, व्रत, उपवास आदि किये जाते है। किन्तु वही लक्ष्य सत्य व्रत को धारण करने से प्राप्त हो जाता है। शास्त्र में कहा है:—

सच्चमेव समभिजाणाहि ।
सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ ॥

(आचारांग, ३-३-११६)

अर्थात्- सत्य का ही सेवन करो। सत्य की आराधना करने वाला मेधावी पुरुष मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि शास्त्र में अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के पालन करने का आदेश दिया गया है। यदि अकेले सत्य के सेवन से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, तो फिर शेष चार महाव्रतों का पालन करने की क्या आवश्यकता है? इस आशंका का समाधान यह है कि यहाँ सत्य के व्यापक रूप का चिन्तन किया गया है तो सभी महाव्रत उसी में अन्तर्गत हो जाते हैं। क्योंकि सत्य के अभाव मे किसी भी महाव्रत का पालन नहीं हो सकता और सत्य के सद्भाव मे ही महाव्रतों का पालन होता है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाँचों महाव्रत सत्य-स्वरूप ही हैं। अहिंसा भी सत्य है, सत्य तो सत्य है ही, अचौर्य, ब्रह्म-

चर्य और अपरिग्रह भी सत्य है और सत्य होने के कारण ही आचरणीय है। जो सत्य, नहीं वह आचरणीय भी नहीं हो सकता।

सत्य के आधार पर ही प्रकृति के सब कार्य हो रहे हैं। यदि यह सत्य न हो कि निश्चित समय पर सूर्योदय होगा, निश्चित समय पर ऋतुपरिवर्तन होगा और निश्चित समय पर विविध वनस्पतियाँ और धान्य उत्पन्न होंगे, निश्चित समय पर बालक का जन्म होगा आदि; तो संसार की सारी क्रियाएँ स्थगित हो जाएँ और भारी गड़बड़ फैल जाय! इसीलिए कहा गया है:—

सत्येन सूर्यस्तपति, सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
(महाभारत आश्व, पर्व ११०-३०)

अर्थात्- सत्य के आधार पर ही सूर्य तप रहा है, सत्य से ही अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। सत्य से ही वायु चलती है और सत्य के अन्तर्गत ही समस्त सत्ताएँ प्रतिष्ठित हैं।

जिस सत्य की ऐसी अमित महिमा है, जिस बात के आधार पर यह विश्व स्थित है और जिस सत्य के बिना संसार का क्षण भर भी काम नहीं चल सकता, उसका स्वरूप क्या है, यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। किन्तु सत्य इतना विराट है कि उसका परिपूर्ण स्वरूप हमारी कल्पना में नहीं आ सकता। जो लोग आग्रहशील हैं, जिन्हें अपनी बात, अपना सम्प्रदाय, अपना पंथ या धर्म ही प्रिय है, वे भी सत्य के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ सकते। सर्वतोभावेन सत्य की ही उपासना करना जिन्हें प्रिय है, जो सत्य के पावन चरणों में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को उद्यत हैं और जो सत्य के अतिरिक्त और किसी की उपासना करने को उद्यत नहीं हैं, वही सत्य की झांकी पा सकते हैं। सत्य का आसन इतना ऊँचा है कि सभी मत और पन्थ उससे नीचे रह जाते हैं। सत्य से ही कल्याण होता है। और सत्य के सेवन से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह सत्य को ही सर्वोपरि समझे और उसकी ही उपासना करने के लिए उद्यत हो।

मन और वाणी की यथार्थता ही सत्य कहलाती है। जो बात

जैसी देखी, सुनी या अनुभव की है, उसे उसी रूप में कह देना सत्य है। भाव और भापा की सरलता से ही सत्य की अभिव्यक्ति होती है। जो भाव और भापा सत है, सत्पुरुषों द्वारा अनुमोदित और प्रशंसित है, सत् पुरुप जिसका आचरण और आदर करते हैं, वही सत्य है।

सत्य प्राकृतिक धर्म है। मनुष्य कुसंगति में न पड़ा हो, उसके मन में किसी प्रकार का द्वेप, अहंकार दुराग्रह आदि विकार न हो तो वह सत्य भापण और सत्य-आचरण की ओर ही झुकेगा। यही नहीं, असत्य इतना कुत्सित है कि असत्य का सेवन करने वाले की आत्मा उसे वार वार धिक्कार देती है। असत्य की परिभापा वतलाते हुए कहा गया है:—

असदभिधामनृतम् ।

(तत्त्वार्थ सूत्र)

अर्थात्:—असत् का प्रयोग करना अनृत या असत्य कहलाता है जो वात मिथ्या अर्थात् अयथार्थ है, वह तो असत्य है ही, किन्तु जिस वात से, जिस विचार से अथवा जिस कार्य से दूसरे को पीड़ा उत्पन्न होती हो, जिसमें किसी के हृदय को चोट पहूंचती हो, जिससे किसी का अकल्याण होता हो ऐसी भापा भले ही वह यथार्थ हो, असत्य की ही कोटि में आती है। इसका अभिप्राय यह है कि अयथार्थ भापा का प्रयोग जैसे वर्जित है, उसी प्रकार परपीड़ा जनक यथार्थ भापा का प्रयोग भी वर्जित है इसीलिए शास्त्र में ऐसी भापा के परित्याग करने का आदेश दिया गया है। कहा है:—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा ।
वाहियं वावि रोगि त्ति, तेणं चोर त्ति नो वए

काने को काना, नपुसंक को नपुसंक-हींजड़ा, व्याधिग्रस्त को रोगी और चोर को चोर नहीं कहना चाहिए। ऐसा कहना यथार्थ होने पर भी सत् नहीं है, क्योंकि इससे दूसरे को पीड़ा होती है। और भी कहा है:—

तहेव फरुसा भासा, गुरु--भूओवघाइणी ।
सच्चा मोसा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥

अर्थात्—जो मनुष्य पूर्ण रूप से सत्य का सेवक है, वह कठोर भाषा का प्रयोग न करे। जिस भाषा से जीवों का घात होता हो ऐसी भाषा का भी प्रयोग न करे चाहे वह यथार्थ हो अथवा अयथार्थ हो! सत्य-सेवी ऐसी भाषा का व्यवहार नहीं कर सकता जिससे पाप का आगमन होता हो।

जैन शास्त्र में असत्य-भाषा के संबन्ध में यहाँ तक कहा गया है:—

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए॥

मान लीजिए, किसी पुरुष ने नाटक आदि में अभिनय करने के उद्देश्य से स्त्री का वेष धारण कर लिया है, तो उस पुरुष को स्त्री कहना तथा मूर्त्ति असत्य है। 'तथामूर्त्ति असत्य का भी प्रयोग न करे। जब ऐसे असत्य का सेवन करने से भी पाप लगता है, तो साक्षात मिथ्या भाषण करने से पाप क्यों नहीं लगेगा?

तात्पर्य यह है कि केवल मिथ्या ही असत्य नहीं है किन्तु पीड़ा उपजाने वाला, अनर्थ उत्पन्न करने वाला, संदेहयुक्त और अकल्याणकारी क्रोध, अहंकार और लोभ-लालच से प्रेरित होकर बोला जाने वाला, कर्कश-कठोर, वचन भी असत्य है। अतएव जो पुरुष सत्य का आचरण ही करना चाहता है, उसे समझ बूझ कर हित, मित और पथ्य वचन ही बोलने चाहिएं।

असत्य भाषण करने से भयानक हानियाँ होती हैं। मिथ्या भाषण करने वाला अपने इह लोक को तो बिगाड़ता ही है, परलोक को भी बिगाड़ लेता है। असत्य के दुष्परिणाम बतलाते हुए कहा है:—

इह लोगे चिअ जीवा, जीहाछेअं वहं च बंधं च।
अजसं धणनासं वा, पावंति अलिअ वयणाओ॥

(धर्म संग्रह, २-२६ टीका)

अर्थात्—असत्य भाषण के फलस्वरूप प्राणी इसी जन्म में जिह्वाछेद, वध और बन्ध आदि के दुःख भोगते हैं। झूठ बोलने वाला अपयश का पात्र बनता है और उसके

धन का विनाश हो जाता है ।

जैन शास्त्रों में साधुओं के लिए मृषावाद का पूर्ण रूप से त्याग अनिवार्य बतलाया गया है । किन्तु साधारण जन, जो साधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो पाये हैं, पूर्ण रूप से सत्य का अनुसरण नहीं कर सकते । कभी क्रोध के आवेश में आकर, कभी हंसी-मजाक में या कभी लोभ से प्रेरित होकर असत्य भाषण कर बैठते हैं । यदि कोई गृहस्थ होता हुआ भी पूरी तरह असत्य का त्याग कर दे तो उसके लिए ऐसा करना अत्यन्त श्रेयस्कर है, परन्तु लोकव्यवहार में ऐसे अनेक अवसर आ जाते हैं जब कि सत्य-पथ से किंचित् अंशों में उसे च्युत हो जाना पड़ता है । बालक बार-बार पैसा मांगता है और पिता उसे देना नहीं चाहता । तब वह कह देता है–'जाओ, खेलो, अभी मेरे पास पैसा नहीं है !' पैसा होते हुए भी न होने की बात कहना असत्य ही है; फिर भी ऐसे असत्य से बचना गृहस्थ के लिए कठिन है । अतएव गृहस्थ को सत्य-भाषण की उतनी ही मर्यादा से प्रतिज्ञा लेनी चाहिए, जितनी का वह भली भाँति निर्वाह कर सके । इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए भगवान् ने स्थूलमृषावाद अर्थात मोटे असत्य का परित्याग करना ही अनिवार्य बतलाया है । स्थूल असत्य के पांच मुख्य भेद किये गये हैं:—

(१) **कन्या सम्बन्धी**—कन्या के विषय में असत्य भाषण करना कन्यालीक कहलाता है । यहाँ कन्या का अभिप्राय केवल कन्या ही नहीं है कन्या शब्द तो उपलक्षण मात्र है । अतः समस्त स्त्रीजाति पुरुष बालक तथा द्विपद मात्र का ग्रहण होता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य जाति या किसी भी द्विपद प्राणी के विषय में मिथ्या भाषण करना निषिद्ध है । कन्या शब्द का प्रयोग उसकी मुख्यता प्रकट करने के लिए किया गया है । मान लीजिए, किसी कन्या की किसी के साथ सगाई हो रही हो या हो चुकी हो । कोई चुगलखोर ईर्षा-द्वेष या लोभ-लालच से प्रेरित होकर उसके संबन्ध में असत्य भाषण करे और सगाई संबन्ध छूट जाय तो कितना अनर्थ होता है ? दो परिवारों में तो वैमनस्य हो ही जाता है । जाति-बिरादरी में भी कलह उत्पन्न हो जाता है और कन्या का सगाई संबन्ध होना कठिन हो जाता है । अतएव

कन्या संबन्धी असत्य अत्यन्त अनर्थकारी है। यही प्रकट करने के लिए यहाँ कन्या शब्द को ग्रहण किया गया है। किन्तु वर के संबन्ध में तथा अन्य द्विपद प्राणियों के विषय में असत्य भाषण करना भी हानिकारक ही है। अतः यहाँ उन सब का ग्रहण होता है।

(२) गवालीकः—गौ के विषय में मिथ्या भाषण करना गवालीक कहा जाता है। जैसे कन्या शब्द से मनुष्य मात्र का और समस्त दो पैर वाले प्राणियों का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ गो शब्द से पशु जाति-चौपाये-मात्र का ग्रहण होता है।

जैसे समस्त मनुष्यों में कन्या प्रधान है, उसी प्रकार समस्त पशुओं में गाय प्रधान मानी जाती है। इसी कारण यहां गो शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु जिस प्रकार गाय के संबन्ध में असत्य बोलने से हानि होती है, उसी प्रकार अन्य पशुओं के संबन्ध में बोलने से भी। अतएव गृहस्थ श्रावक को किसी भी पशु के विषय में असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।

(३) भौमालीक—भूमि सम्बन्धी मिथ्या भाषण को भौमालीक कहते है। यहाँ भूमि शब्द से समस्त अपद वस्तुओं का-जड़ वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है। अतः श्रावक को भूमि तथा उसमें उत्पन्न होने वाले पदार्थों, अर्थात् वृक्ष, वनस्पति, अन्न, रत्न, विविध प्रकार की धातु तथा मकान आदि के विषय में झूठ न बोलना चाहिए।

(४) न्यासापहार—न्यास का अर्थ है धरोहर या अमानत। धरोहर का अपहरण करने के लिए किया जाने वाला मिथ्या भाषण अथवा धरोहर बिना रक्खे ही माँगने के लिये किया जाने वाला भाषण न्यासापहार-अलीक कहलाता है। जिस प्रकार धरोहर को हड़प जाना पाप है, उसी प्रकार बिना धरोहर रक्खे माँगना भी पाप है। मनुस्मृति में भी दोनों को ही पाप में गिना है। कहा है:—

यो निक्षेपं नार्पयति, यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ, दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥

अर्थात्—जो रक्खी हुई अमानत को न देवे और जो बिना

रक्खे ही माँगे, वे दोनों चोर की तरह दण्डनीय हैं और उन दोनों को समान दण्ड मिलना चाहिए।

सच्चा श्रावक न किसी की अमानत को हजम करने का प्रयत्न करेगा और न बिना रक्खे किसी से माँगेगा ही। वह इस स्थूल असत्य का कदापि सेवन नहीं करेगा।

(५) कूट साक्षी—अपने लाभ के उद्देश्य से, अपने प्रिय जनों के लाभ के उद्देश्य से अथवा किसी को हानि पहुँचाने के अभिप्राय से किसी न्यायालय या पंचायत के समक्ष झूठी गवाही देना कूट साक्षी कहलाता है। श्रावक के लिए यह भी त्याज्य है।

इस प्रकार ये पाँच प्रकार के स्थूल मृषावाद श्रावक के लिए अग्राह्य-अनाचरणीय हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो सभी प्रकार का स्थूल मृषावाद इन पाँच भेदों में समाविष्ट हो जाता है। क्योंकि जब मनुष्य जाति, पशुजाति, भूमि और उससे सबद्ध पदार्थों के विषय में तथा अमानत और साक्षी के विषय में असत्य का आचरण करना निषिद्ध है तो शेष रह ही कौन-सी वस्तु जाती है? कई लोग स्वार्थवश कह देते हैं कि व्यापार के संबन्ध में असत्य भाषण करने की शास्त्र मनाई नहीं करता, किन्तु यह उनका भ्रम या विपर्यास ही है। व्यापार में धन-धान्य का ग्रहण होता है, जो भूमि से सम्बन्ध रखने के कारण भौमालीक में आ जाते हैं।

कई लोगों का ख्याल बन गया है कि व्यापार में असत्य भाषण किये बिना काम नहीं चल सकता। किन्तु यह उनकी भयानक भूल है। इसी भूल के परिणाम-स्वरूप आज भारत में सर्वत्र और विशेष रूप से व्यापारिक क्षेत्र में असत्य का बोलबाला हो रहा है। अपनी धार्मिकता का दावा करने वाला देश आज अधर्म के गहरे गड्हे में जा गिरा है। पश्चिमी देशों के व्यापारियों पर जितना विश्वास किया जा सकता है, उतना भी विश्वास आज इस देश के निवासियों को इस देश के व्यापारियों पर नहीं है। यही क्यों, यहाँ का एक व्यापारी भी यूरोप के व्यापारी पर विश्वास कर सकता है, परन्तु अपने देश के व्यापारी पर नहीं करता। वास्तव में यह बड़ी ही दयनीय और दुःखप्रद बात

है। व्यापारी बात-बात मे झूठ बोलता है और बात-बात में झूठा व्यवहार करता है। एक वस्तु का दाम तीन रुपये बतलाता है और फिर बारह आने मे देने को तैयार हो जाता है। उत्तम वस्तु में खराब वस्तु मिला कर बेच देने में संकोच नहीं करता। इस प्रकार आज भारत का व्यापार झूठ और कपट का ही धंधा बन गया है और व्यापारी की बात पर कोई भी विश्वास करने को तैयार नहीं होता।

किसी युग में व्यापारी महाजन कहलाते थे और उनकी बड़ी साख थी। वे भूल कर भी असत्य भाषण नहीं करते थे। इसी कारण सर्वत्र उन पर विश्वास किया जाता था। किन्तु आज का व्यापारी सत्य की दृष्टि से एकदम दिवालिया हो गया है और इस कारण पैसे की दृष्टि से भी दिवालिया बनता जा रहा है।

यूरोप मे, सुनते है, किसी चीज का मोल-तोल करने की आवश्यकता ही नहीं होती। वहाँ प्रत्येक चीज पर समुचित कीमत की चिट लगी रहती है। ग्राहक आते है, चीज पसन्द करते हैं और कीमत देख कर चुपचाप चुका कर ले जाते है। वहाँ न कीमत मे धोखा होगा और न चीज मे धोखा होगा। मगर खेद है कि इस देश का सत्य की दृष्टि से घोर अधःपतन हो गया है।

जो व्यापारी असत्य की भ्रमणा से निकल जाएँगे और सचाई के साथ व्यापार-व्यवहार करने लगेंगे, उन्हे किसी प्रकार का घाटा नहीं रह सकता। उनकी सचाई और प्रामाणिकता की ग्राहकों पर ऐसी छाप लगेगी कि वे अल्प श्रम से, अल्प समय में, बिना असत्य का आश्रय लिये ही, अपना व्यापार चला सकेंगे और लोग निःशंक होकर उनके पास भागे भागे आएँगे।

जो श्रावक स्थूल असत्य का त्याग करते है, उन्हे किसी प्रकार की कोई परेशानी या असुविधा नहीं होती। उनकी सत्यवादिता की कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है। कोई उनकी बात पर अविश्वस नहीं करता। उनका वचन आदरणीय होता है। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को सत्य का ही यथासंभव आचरण करना चाहिए।

सत्य का आचरण करने वाले गृहस्थ को निम्नलिखित पाँच

अतिचारों अर्थात दोषों से बचना चाहिए:—

(१)—बिना सोचे-समझे किसी पर दोषारोपण न करे ।

(२)—एकान्त में बैठे हुए लोग किसी गुप्त विषय पर विचार कर रहे हों तो उनके विषय में अनुमान कर लेना कि यह लोग देश-द्रोह, राजविरोध, विद्रोह आदि की तैयारी कर रहे हैं; और दूसरों से ऐसा कह देना ।

यद्यपि पहले अतिचार मे मिथ्या दोषारोपण की बात आ चुकी है और दूसरे अतिचार मे भी लगभग वही बात आई है, किन्तु दोनों में अन्तर है। दूसरे अतिचार में एकांत में बैठे या खड़े देखकर दोषारोपण करने की बात है, जब कि पहले में यों ही दोषारोपण करने की ।

(३)—अपनी स्त्री की गुप्त बात को प्रकट कर देना। स्त्री ने विश्वास कर के कोई बात पति से कह दी हो तो वह यथार्थ होने पर भी अनर्थ का कारण होने से पति उसे प्रकट न करे

(४)—जान बूझ कर अनजान में झूठा उपदेश देना या दूसरे से ऐसा उपदेश देने के लिए कहना।

(५)—झूठे लेख लिखना। जाली हस्ताक्षर बनाना । दस्तावेज बनाना झूठे समाचार प्रकाशित करना आदि ।

इन समस्त प्रकार के मृषावादो से बचकर जो सत्य का अनुसरण करेगा, उसका जीवन धन्य होगा।

—:०:—
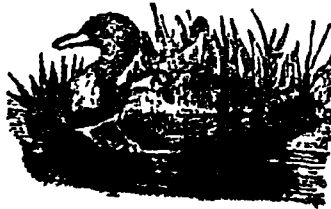
# मनोनिग्रह

मटर का एक बीज भूमि में बो दिया जाता है। उस छोटे से बीज से मटर का पौधा अंकुरित होता है। पौदे में सैकड़ो फलियाँ लगती है और एक एक फली से अनेक अनेक दाने पड़ जाते हैं। इसी प्रकार हमारी एक छोटी सी अशुभ या शुभ भावना हजारों अशुभ या शुभ फल उत्पन्न करती है। शास्त्र का विधान है कि जीव एक समय-कालके सूक्ष्मतम भाग में ही अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का बंध कर लेता है। भावना अशुभ हुई तो अनन्तानन्त अशुभ परमाणुओं का और यदि शुभ हुई तो शुभ परमाणुओं का वन्ध होता है। और इस अशुभ या शुभ भावना की उत्पत्ति का स्थान हमारा मन है।

जब तक हमारा मन अत्यन्त मलिन भावनाओं से भरा है, भांति भांति की कामनाओं से व्याकुल रहता है, क्षुद्र से क्षुद्र घटना हमारे अन्दर क्रोध का संचार कर देती है, पर्याप्त से भी अधिक सामग्री होने पर भी सन्तोष नहीं होता—लोभ वना ही रहता है, बात बात में अभि-मान की लहर उठती है, विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, जाति, कुल और प्रभुत्व के मद मे चूर रहते हैं, मोह के अंधकार में ही भटकते रहते है, थोड़ी सी भी पराई उन्नति को देख कर या सुन कर ईर्षा से जल उठते हैं, दूसरो के अच्छे से अच्छे कार्यों मे भी दोष निकालते हैं, बात बात मे झूठ और कपट का आश्रय लेते है तब तक समझना चाहिये कि हमारी अशुभ भावनाओं का विषवृक्ष फल फूल रहा है। जब तक ऐसी अवस्था है तब तक हमारे कल्याण की कोई आशा नहीं हो सकती।

अपनी अशुभ भावनाओ को शुभ रूप मे परिणत करने और फिर उन्हें विशुद्ध रूप में लाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। वास्तव मे साधना के जितने भी अंग है व्रत, उपवास, तपश्चरण, यम, नियम, इन्द्रियनिग्रह आदि की जो साधना है, उसका प्रधान उद्देश्य मन का निग्रह करना ही है। कहा भी है—

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ॥

अर्थात्—जिसका मन वशीभूत हो गया है, उसे नियमों और यमों का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिस उद्देश्य से यम नियम का पालन किया जाता है, वह उद्देश्य पूर्ण हो चुका है और अब उसे साधना की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। और यदि मन अशुभ और अप्रशस्त विचारों का शिकार हो रहा है, मन यदि बुरे विचारों की दुर्गन्ध से सड रहा है तो भी यम नियम व्यर्थ है। जब मन अपावन होगा तो ऊपर की साधना कोई शुभ फल नहीं दे सकेगी। तात्पर्य यह है कि मन को वश में करना ही मुख्य बात है। मनोनिग्रह ही समग्र साधना का प्राण है। शरीर ने कोई काम कर भी लिया और मन उस के साथ न हुआ तो उस काम का करना न करने के समान है। कहा है—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥
(ब्रह्मविन्दु उप० १-२०)

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है, वह बन्धन में डालता है और जो विषयों से विमुख हो जाता है, वह मोक्ष का कारण होता है। इसी लिए कहा गया है—

जपो न मुक्त्यै न तपो द्विभेदं ।
न संयमो नापि दमो न मौनम् ।
न साधनाद्यं पवनादिकस्य ।
किं त्वेकमन्तः करणं सुदान्तम् ॥

अर्थात्—न जाप जपने से मोक्ष मिल सकता है, न दो प्रकार की तपस्या करने से। न संयम मोक्ष दे सकता है, न इन्द्रियदमन और न

मौन ही। पवनादिक की साधना अर्थात् योग की साधना से भी मोक्ष मिल नहीं सकता है। मोक्ष का असली कारण तो मनोनिग्रह ही है। जिसने अपने मन को मार लिया उस ने अपने जन्म मरण को ही मार लिया समझना चाहिए।

असल बात यह है कि बेचारा शरीर मन का चलाया चलता है। वचन भी मन से ही प्रेरणा पाकर कार्य करता है। दोनों मन के अनुचर हैं। अतएव शारीरिक और वाचनिक साधना का अपने आप में कोई मूल्य नहीं; मूल्य तो मानसिक साधना का ही है। मन सध जायेगा तो वचन और तन भी सध जाएंगे; और मन न सधा तो इन को सधने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि वचन और तन के व्यापार के बिना ही, केवल मन की प्रवृत्ति से जीव सातवें नरक तक की सामग्री जुटा लेता है! कहा भी है:-

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत मे मनोयोग को इतना बलशाली बतलाया गया है कि वह आधे क्षण मे सातवें नरक में, आधे क्षण में मोक्ष में पहुंचा देता है।

यह कथन अनायास ही राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का स्मरण करा देता है। एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहा था। मार्ग में श्रेणिक ने राजर्षि को ध्यान मे मग्न देखा, फिर भगवान् की सेवा मे पहुंच कर उस ने प्रश्न किया- भगवन्! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र प्रगाढ़ ध्यान में लीन हैं। अगर वे इस समय शरीर त्याग करें तो किस गति में जाएं

भगवान् ने उत्तर दिया- सातवें नरक मे।

श्रेणिक चकित रह गया। उसने पूछा—भगवन! ऐसे उत्कृष्ट ध्यानी, योगी सातवे नरक मे क्यों जाएंगे?

भगवान ने कहा-अब उन के मन की भावना बदल गई है। इस समय काल करें तो सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग-सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हों। श्रेणिक फिर चक्कर में पड़ गया। उसने विनम्रभाव से कहा-प्रभो! अभी अभी वह अधमाधम नरक में जाने योग्य थे और अभी अभी उत्तमोत्तम

स्वर्ग में जाने योग्य हो गये, क्षण भर में इतना भारी परिवर्तन कैसे हो गया ? आखिर इस परिवर्तन का क्या कारण ?

राजा यह प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुन्दुभी बज उठी। राजा ने फिर पूछा— भगवन् ! यह देवदुन्दुभी कहां और क्यों बजी ? भगवान् ने फर्माया प्रसन्नचन्द्र ऋषि केवल ज्ञानी हो गये है !

भगवान् की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक हत बुद्धि सा रह गया। उसने निवेदन किया, प्रभो ! मै अज्ञानी हूँ । इस मर्म को समझ नहीं सका। अनुग्रह करके समझाइए।

तब भगवान् ने फर्माया--प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे उनके अन्त: करण में विरक्ति भावना उत्पन्न हुई और वे अपने बालक को अपने कार्यकर्ताओं के भरोसे छोड़ कर दीक्षित हो गए, उन्होंने गंभीर और उत्कट भावना से संयम ग्रहण किया, किन्तु निमित्त पाकर उनकी भावना दूषित हो गई ।

भगवान् आगे बोले— तुम्हारी सेना के आगे आगे दो आदमी चल रहे थे। उन्होंने राजर्षि को देखा। उनमें से एक ने कहा-अहो ! यह महात्मा कितने त्यागी और वैरागी हैं, देखो कैसे निश्चल ध्यान मे मग्न हैं।

दूसरे ने कहा-रहने भी दो ! मैं इन्हे खूब जानता हूं। इनके समान पापी शायद ही कोई हो !

पहले मनुष्य के पूछने पर दूसरे ने स्पष्टीकरण किया-यह महात्मा अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे छोड़ कर साधु बने हैं। अब कर्मचारियों की नीयत बिगड़ गई है और वे परस्पर मिल कर उस बालक की हत्या करने का षड्यन्त्र रच रहे है। उस बालक के मर जाने पर यह निपूते हो जाएंगे और मर कर नरक में जाएंगे ।

दोनों मनुष्यों का वार्त्तालाप प्रसन्नचन्द्र के कानों में पड़ गया। उनकी वैराग्यभावना बदल गई। सोचने लगे-दुष्ट और कृतघ्न कर्मचारी मेरे बालक की हत्या करना चाहते है। मैं उन्हें अपनी करनी का मजा चखाऊंगा। मैं निर्बल नहीं हो गया हूँ। दुष्टों को चुन-चुन कर कुचल दूंगा। ये भी क्या स्मरण रक्खेंगे।

इस प्रकार विचार कर प्रसन्नचन्द्र मन ही मन युद्ध करने लगे और अपने शत्रुओं का संहार करने लगे। जब वे शत्रुओं के संहार में तन्मय थे, उसी समय तुमने पूछा कि वे इस समय शरीर त्याग करें तो किस गति में जाएं? उस समय तुम उन्हें आत्मध्यान में मग्न समझ रहे थे और मैं उन्हें शत्रुसंहार में मग्न देख रहा था।

हाँ, तो क्रोध के आवेश में उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुंचा। उन्हें विचार आया, मेरे मस्तक पर केश नहीं हैं। और यह विचार आते ही उन्हें सुध आ गई कि मैं तो जगत् के जंजाल को जलाञ्जलि देकर त्यागी बन चुका हूं। मैं पूर्ण रूप से हिंसा का परित्याग कर चुका हूं। फिर यह प्रपंच कैसा? यह विचार आते ही उनके मन की भावना फिर परिवर्त्तित हो गई और क्रमशः उच्च उच्चतर भूमिका का स्पर्श करती हुई चरम सीमा पर जा पहुँची।

इस उदाहरण से मन की प्रबलता और चंचलता सहज ही समझ में आ सकती है। कहाँ सातवाँ नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और कहाँ केवल ज्ञान! किन्तु मन का ऐसा महान् प्रभाव है कि वह तत्काल मनुष्य को वहाँ तक पहुँचा देता है।

वस्तुतः मन ही पापों का मूल है। अगर मन मे पाप है तो मनुष्य पापी है और मन में पाप नहीं तो निष्पाप है। कहा है:—

मनसैव कृतं पापं, न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता, तेनैवालिङ्गिता सुता॥

पाप शरीरकृत नहीं, मनकृत ही होता है। जिस शरीर से रमणी का आलिङ्गन किया जाता है, उसी शरीर से पुत्री का भी आलिङ्गन किया जाता है। किन्तु दोनों क्रियाओं में कितना अन्तर है! एक में मलीन वासना का प्राधान्य है और दूसरी में निर्मल वात्सल्य का। यही कारण है कि दोनों के परिणाम में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। यह अन्तर केवल मन की भावना के कारण ही होता है।

मन का यह स्वभाव है कि जैसी उसकी भावनाएं होंगी, वैसा ही रूप वह धारण कर लेता है। सुन्दरदास जी कहते हैं;—

जो मन नारी की ओर निहारत तो मन होत है ताही को रूपा।

जो मन काहू से क्रोध करे तब क्रोधमयी हो जाय औ रूपा ॥
जो मन माया ही माया रटे नित मन बूड़त माया के कूपा ।
'सुन्दर' जो मन ब्रह्म विचारत तो मन होत है ब्रह्म सरूपा ॥

जीवन को उच्च, पवित्र, समतामय और सात्विक बनाने के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है किन्तु इन्द्रियों का नायक तो मन ही है। जब तक मन वश में न हो, इन्द्रियाँ वश में नहीं आ सकतीं। और एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियाँ अनायास ही वश में हो जाती हैं। अतएव आत्मविजय में सर्वप्रथम मन की विजय का स्थान है। शास्त्र में कहा है:—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

(उत्तराध्ययन, २३-३६)

अर्थात्—एक (मन) को जीत लेने पर पाँच (इन्द्रियों) को जीत लिया जाता है और पाँच को जीत लेने पर दस (मन, पाँचों इन्द्रियाँ और चार कषाय) जीत लिये जाते हैं। इन दस को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

तन से की जाने वाली क्रिया में अगर मन साथ नहीं है, शरीर मशीन की भाँति क्रिया कर रहा है और मन छैला की तरह इधर-उधर भटक रहा है तो वह क्रिया निर्जीव है, उस क्रिया से आत्मा का परम कल्याण नहीं हो सकता। अतएव साधक को सर्वप्रथम यही प्रयत्न करना चाहिए कि उसका मन वशीभूत बने। चित्त जितने अंश में आत्मा में स्थिर रहता है, उतना ही वह निगृहीत समझा जाता है। परन्तु मन पर विजय प्राप्त करना कोई साधारण बात नहीं है। भगवान् ने भी फर्माया है:—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥

(उत्तराध्ययन, २३-५८)

अर्थात्—मन बड़ा साहसी और उद्दण्ड है वह दुष्ट घोड़े के

समान इधर उधर दौड़ता है । मैं उसको धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत अश्व के समान सम्यक् प्रकार से निगृहीत करता हूं ।

मन की चपलता और बलवत्ता को अन्य धर्मशास्त्रों ने भी स्वीकार किया है । भगवद्गीता में कहा है:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्जुन, श्री कृष्ण से कहते हैं—यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है । बड़ा ही बलवान् और दृढ़ है । मुझे तो ऐसा लगता है कि उसको वश में करना वायु को वश में करने के समान अत्यन्त दुष्कर है ।

इसके उत्तर में श्री कृष्ण कहते हैं:—

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में आने वाला है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास से अर्थात् बार-बार प्रयत्न करने से और वैराग्य से वश में हो जाता है ।

गीताकार अभ्यास और वैराग्य को मनोनिग्रह का कारण बतलाते है । हमारे यहाँ मनोनिग्रह के साधन इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

स्वाध्याययोगैश्चरणं क्रियासु—,
व्यापारणैर्द्वादश भावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति—
फलोपयोगैश्च मनो निरुध्यात् ॥

अर्थात्—स्वाध्याय योग मे लगाकर, क्रियाओं में संलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं में जोड़ कर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलके चिन्तनमें लगा कर बुद्धिमान् पुरुष मन का निरोध करने का प्रयत्न करे ।

आशय यह है कि मन का स्वभाव किसी न किसी प्रकार का

चिन्तन करना है। वह क्षण भर के लिए भी खाली नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में मन को यदि विचार करने से रोकने की चेष्टा की गई तो वह चेष्टा व्यर्थ हो जायेगी। अतएव उसे स्वाध्याय आदि क्रियाओं में ही फंसाए रहना चाहिए। इन प्रशस्त क्रियाओं में फंसा रहेगा तो विषय वासना की ओर जाने का अवकाश उसे नहीं मिलेगा। इस उपाय से वह धीरे- धीरे सध जायगा और विषयों की ओर से विरक्त हो जायगा फिर आत्मा में स्थिर होना कठिन नहीं रह जायगा। इस प्रकार मन को वशीभूत करने के लिए स्वाध्याय, भावना, बाह्य क्रिया आदि का प्रयोग करना चाहिए।

मन को वश में किये बिना आत्मा की साधना नहीं हो सकती अतएव मनोनिग्रह की आवश्यकता पर जोर देते हुए महोपनिषद् में कहा है:—

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य, दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य, जयेदादौ स्वकं मनः ॥
(महोपनिषद् ५-७५)

अर्थात्— हाथ से हाथ भींच कर, दांतों से दांतों को पीस कर और शरीर के अंगों पर अंगों से आक्रमण कर के भी, सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिए। आशय यह है कि जिस किसी भी उपाय से संभव हो अपने मन को जीतो।

इसी ग्रन्थ में लिखा है कि समुद्र को पी जाना सरल है। पर्वत को खण्ड- खण्ड कर देना आसान है और आग के अंगारों को भक्षण कर लेना भी कठिन नहीं है। किन्तु मन को वशीभूत कर लेना कठिन है।

इस कथन का आशय यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मन का निग्रह करना संभव ही नहीं है। ऐसा होता तो निग्रह करने के उपायों का शास्त्रों में वर्णन ही न किया जाता। प्राचीन काल के अनेक महात्माओं ने अपने मन का निग्रह किया है और शास्त्रोक्त उपायों का अवलम्बन करने से आज भी उस का निग्रह हो सकता है। चाहिये साधना! इसीलिए तो मुनीजनों को शान्त, एकान्त स्थान में रह कर स्वाध्याय और ध्यान आदि का विधान किया है। इस विधान के अनुकूल प्रवृत्ति

करने से मनोनिग्रह अवश्य हो सकता है। जो अपने मन को जीत लेता है। वह सारे संसार को जीत लेता है। कहा भी है:—

जितं जगत् केन ?
मनो ही येन ।

अर्थात्— जगत् को किसने जीता ? उत्तर है– जिस ने अपने मन को जीता। वश में किया हुआ मन परम मित्र होता है और स्वतन्त्र मन घोर शत्रु होता है। महात्मा बुद्ध कहते हैं:—

दिसो दिसं यं तं कयिए वेरी वपन वेरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तम् पापियो न ततो करे ॥
न तं माता-पिता कयिए अञ्ञे वापि च जातका ।
सम्भा पणिहितं चित्तम् सेय्यसो न ततो करे ॥
(धम्मपद ३–१०–११)

अर्थात—द्वेपी द्वेप करने वाले के साथ और वैरी वैरी के साथ जो कुछ करता है। उससे भी अधिक हानि, उच्छृंखल (वश में न किया हुआ) मन करता है। माता–पिता या सजातीय जन किसी का जो हित करते हैं, उससे भी कहीं अधिक हित वश में किया हुआ मन करता है।

वास्तव में बुद्ध के कथनानुसार वशीभूत हुआ मन सब प्रकार के सुख और शान्ति का दातार होता है। मन के निगृहीत हुए विना अन्य साधन व्यर्थ जाते हैं। कहा भी है –

जंगल में जाए कहा, पान- फल खाए कहा ।
बार के बढ़ाए कहा अंग रह्यो नंगा है ॥
भोग को वहाए कहा जोग को जगाए कहा ।
तन को तपाए कहा वस्त्र गेरू रंगा है ॥
द्वारिका को धाए कहा छाप को लगाये कहा ।
मूंड को मुंडाए कहा छार लायो अंगा है ॥

जीवा ! जगमांहि ऐसे भेख धरे होत कहा ।
होत मन शुद्ध तब गेहि मांहि गंगा है ॥

रामकृष्ण परम हंस लिखते है:—

It is the mind that makes one wise or ignorant, bound or emancipated. One is holy because of his mind, another is wicked because of his mind. It is indeed the mind that is the cause of virtue and he whose mind is always fixed on God, requires for his guidance no other devotion and no other spiritual exercise. So long as the mind is unsteady and fickle, it availeth nothing even if a man has got a good guru and reads holy scriptures. As a mirror overlaid with dust and dirt does not reflect the face, so a heart filled with impurities can not reflect God, When the heart becomes pure the objact is gained

अर्थात्– मन ही मनुष्य को सुबुद्धि या कुबुद्धि बनाता है। वही बन्ध और मोक्ष का कारण बनता है। एक व्यक्ति अपने मन की अवस्था के कारण ही सज्जन कहलाता है और दूसरा दुष्ट। वस्तुतः मन ही सद्-गुणों का हेतु होता है। जिस का मन प्रभु की ओर लगा हुआ होता है, उसे न किसी और तपस्या की आवश्यकता है और न अन्य साधना की। जब तक मन चंचल है और स्थिर नहीं है, तब तक मनुष्य को कोई उत्तम फल प्राप्त नहीं हो सकता, चाहे उसे उत्तम गुरु मिला हुआ हो और वह धर्मशास्त्रों का अध्ययन भी करता हो। जिस प्रकार मिट्टी और राख से ढंके हुए दर्पण में मुख नहीं देखा जा सकता, उसी प्रकार अपवित्रता से भरे हुए मन में परमात्मा का प्रकाश नहीं हो सकता। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तभी लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

मन का निग्रह करने में एक कठिनाई यह है कि मन धृष्ट है। धृष्ट होने के कारण उसका निग्रह कर लेने पर भी वह थकता नहीं।

आत्मा से बाहर निकलने के उस ने अनेक मार्ग बना रक्खे हैं। जब कोई पुरुष एक मार्ग बंद करता है तो वह दूसरे मार्ग से बाहर निकल जाता है।

मन में विचित्र मोहिनी शक्ति है। जो साधक उसे नियंत्रण में रखना चाहते हैं, उन्हें भी वह मोहित कर लेता है। ऐसी स्थिति में जो लोग मन की ओर से सर्वथा असावधान हैं और मन को अपने अधीन न रख कर स्वयं उस के अधीन हो जाते हैं। उनका तो कहना ही क्या है! वे तो मन के क्रीत दास बनकर, उस के संकेत के अनुसार चल कर अपना घोर अनिष्ट करते है।

मन पारे की तरह चपल है। जैसे पारा एक जगह स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार योगियों के अतिरिक्त साधारण पुरुषों का मन भी स्थिर नहीं रहता। जैसा कि गीता में उल्लेख है, मन का वेग वायु से भी अत्यन्त तीव्र होता है। एक क्षण मे यहां है तो दूसरे ही क्षण में न मालूम किस लोक में चला जाता है।

जैनआगम में मन को दुष्ट अश्व की जो उपमा दी गई है, उस का अभिप्राय यह है कि जैसे दुष्ट अश्व अपने आरोही के नियन्त्रण से बाहर हो जाता है और ज्यों ज्यों उस की लगाम खींची जाती है त्यों त्यों वह कुपथ की ओर अधिकाधिक अग्रसर होता है। एक उर्दू का कवि कहता है:—

> अस्प* हो आज़ाद सरपट कैद होता है सवार।
> अस्प हो मुतलिकइनां† हैरान होता है सवार॥
> इन्द्रियों के घोड़े छूटे बाग डोरी तोड़ कर।
> वह मरा वह गिर पड़ा असवार सिर मुंह फोड़ कर॥
> जाने मन‡ आज़ाद करना चाहते हो अस्प को।
> कर रहे आज़ाद क्यों हो आस्तीं** के सांप को॥

तो यह सत्य है कि वश में न आया हुआ मन अपने स्वामी को दुष्ट घोड़े की तरह संकट में डालता है। किन्तु जैसे अत्यन्त कुशल

*अश्व-घोड़ा। †स्वतन्त्र। ‡ प्यारे। **कुर्त्ते की बांह में छिपे हुए।

अश्वारोही दुष्ट से दुष्ट अश्व को भी आखिर वश में कर ही लेता है, उसी प्रकार प्रबल पुरुषार्थ करने वाला पुरुष भी मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार अनियंत्रित मन भी साधना के द्वारा अन्ततः वशीभूत हो ही जाता है।

तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक साधना करने वालों को सतत अभ्यास के द्वारा मन की गति का सूक्ष्म और सावधानी सहित अवलोकन करते हुए मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। साधक को समझ रखना चाहिए कि मन की दौड़ का कोई ठिकाना नहीं है। उस की चपलता असाधारण है। जैसा कि कहा गया है।

कबहू मन गगना चढ़े, कबहूं गिरे पताल।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जावै चाल ॥
जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़।
सहज ही हीरा पाइए, जो मन आवे ठौर ॥
मन के तो बहु रंग हैं, छिन छिन बदले सोय।
एक रंग में जो रहे, ऐसा विरला कोय ॥

मुसलमानों में मक्के की हज्ज अर्थात्—यात्रा का बड़ा महत्त्व माना गया है परन्तु शेख सादी कहते हैं:—

दिल बदस्त आवर कि हज्जे अकबर अस्त।
अज़ हज़ारा काबा यक दिल बेहतर अस्त ॥

अर्थात- अपने चित्त को वश में कर। क्योंकि यही एक महान् हज्ज है। अपने चित्त पर विजय प्राप्त करना हज़ार हज्जों से बेहतर है।

मन का निग्रह कैसे किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया गया है कि धर्मशिक्षा के द्वारा मन सम्यक् प्रकार से वश में होता है। किन्तु वह धर्मशिक्षा क्या है? जैन शास्त्र कहते हैं कि मन को समाधि में स्थिर करने से एकाग्रता आती है। मन की एकाग्रता के बिना सच्ची शांति नहीं मिल सकती। सभी मनुष्य रात्रि में निद्रा लेते हैं। एक रात्रि भी यदि जागते-जागते व्यतीत की जाय तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। निद्रा लेना एक प्रकार की मन की एकाग्रता है यद्यपि वह विकृत है। जो

व्यक्ति चंचलता त्याग कर थोड़ी देर के लिए भी निद्रा लेकर विकृतमानसिक एकाग्रता प्राप्त करता है, वह शरीर को स्वस्थ रखता है। इस तरह मन की विकारमयी एकाग्रता से भी जब शान्ति और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, तब सम्यक् प्रकार से मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होगा, यह सहज ही समझा जा सकता है।

धर्मशिक्षा का अर्थ है-धर्माचार या संयम का अभ्यास। संयम के अभ्यास में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है और मन की एकाग्रता के लिए ध्यान अत्यन्त उपयोगी है। ध्यान चार प्रकार का है। उन में से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही शुभ और कल्याण कर है। जो भाग्यशाली मनुष्य ध्यान का अभ्यास कर लेता है, वह निश्चित रूप से कल्याण का भाजन बन जाता है। किन्तु ध्यान में भी मन को लगाना सरल बात नहीं है। ध्यानावस्थ स्थिति प्राप्त करने के पूर्व भी कई प्रकार के अभ्यासों की आवश्यकता होती है प्रथम तो मन को विषय -विकार से विमुख करके भगवद्भक्ति में लगाना चाहिये, क्योंकि मन एक ही ओर लग सकता है। कबीर जी कहते हैं:—

कबीरा मन तो एक है, भावे तहां लगाय।
भावे हरि की भक्ति कर, भावे विषय कमाय॥

दूसरे आहार शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। राजस और तामस आहार करने से मन स्थिर नहीं रह सकता। अतएव मानसिक समाधी प्राप्त करने के अभिलाषी साधक को अपने आहार के संबन्धमें सदैव सावधान रहना चाहिए। कहा है—

जैसा अन्न जल खाइए, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिए, तैसी वानी होय॥

तीसरा उपाय चिन्तन है। बारह भावनाएं भाने से और ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करने से भी मन पर नियन्त्रण होता है। कहा है:—

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहुं ठहराय।
सत्त नाम बांधे विना, जित भावे तित जाय॥

चौथे मन की खोटी गति का विरोध करना चाहिए। कहा है—

मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक ॥

पाचवें, मन की गति का विरोध करने पर भी कदाचित् वह आत्मा से वाहर विपयों की ओर चला जाय तो उसे घेर कर लौटा लेना चाहिए। जेसा कि कहा है:—

मन मनसा को मार कर, घट ही मांही फेर ।
जब ही चले पीठ दे, आंकस दे दे फेर ॥

छठे, मन में मैत्री भावना और परमात्मप्रीति का विकास करना चाहिए। ऐसा करने से भी वह स्थिर होता है। कहा है:—

मन– पंछी तब लग उड़े, विषय– वासना मांहि ।
प्रेम– वाज की झपट में, जब लग आवे नाहिं ।

सातवें, गुणी जनों को देखकर प्रमोद भाव उत्पन्न होना चाहिए और उन के गुणों के प्रति अनुराग होना चाहिए । यह प्रमोद भावना अभ्यास की सातवीं साधना है ।

आठवें, करुण भावना होनी चाहिए। अर्थात् दीन दुखी को देख कर उन का दुख दूर करने की भावना उत्पन्न होनी चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न करना चाहिए।

नौवें, उपेक्षा बुद्धि जगाने का अभ्यास करना चाहिए । प्राय: मनुष्य को ऐसे लोगों के संसर्ग में भी आना पड़ता है जो भले नहीं होते। किन्तु उन के प्रति घृणा न करके उपेक्षा की वृत्ति ही रखनी चाहिए।

इन साधनों का अभ्यास करते रहने से और अपने मन की गति का निरन्तर निरीक्षण करते रहने से मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिए कि मन कितना ही चपल, धृष्ट, बलवान् और उद्दण्ड क्यों न हो, आख़िर वह आत्मा की ही एक शक्ति है। वह आत्मा का स्वामी नहीं, आत्मा ही उसका स्वामी है। अतएव आत्मा उसे अपने नियंत्रण में अवश्य ला सकती है आत्मा द्वारा प्रदत्त शक्ति को

पाकर ही वह बलवान् बना है तो आत्मा उसे अपने अधीन अवश्य कर सकता है। इस प्रकार मनोनिग्रह को अशक्य कार्य न समझते हुए जो साधना करेगा वह निश्चय ही सफल होगा। मनोनिग्रह में सफलता प्राप्त कर लेना ही समस्त साधनाओं का लक्ष्य होना चाहिए और जो इस लक्ष्य को समक्ष रख कर साधनाएँ करता है वह अक्षय कल्याण का भागी होता है।
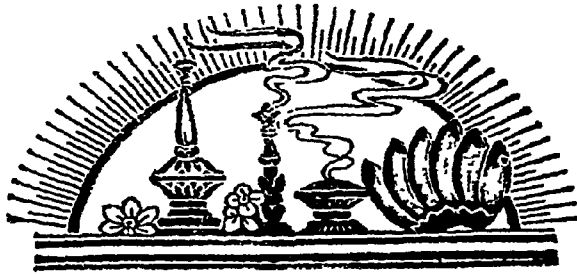
# सुख और उसकी प्राप्ति

क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी और क्या क्षुद्र से क्षुद्र कीट-पतंग सभी सुख के अभिलाषी हैं। सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी सुख के लिये ही दौड़ धूप कर रहा है। प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक प्रयास एक मात्र सुख के लिए ही होता है। दुःख सभी को अनिष्ट है और सभी उससे बचना चाहते हैं।

फिर भी आश्चर्य की बात है कि इस विराट सृष्टि में शायद ही कोई अपने आपको सुखी अनुभव करता हो! समस्त संसार ज्वर से पीड़ित पुरुष की भांति एकान्त दुःख से घिरा हुआ है। सब अपने को दुःखमय स्थिति में अनुभव करते हैं। किसी को दरिद्रता का दुख सता रहा है। किसी को पुत्र का अभाव पीड़ा पहुँचा रहा है। किसी को रोग बेचैन कर रहा है। किसी को पारिवारिक जनों का दुर्व्यवहार विकल कर रहा है, किसी को आत्मीय जन के रुग्ण होने से अशान्ति है, किसी के पास मकाननहीं है, किसी को व्यापार में घाटा लग गया है, किसी का अपमान हो गया है, किसी के पास आजीविका का साधन नहीं है। किसी को कन्या का विवाह करना है। किसी को किसी से बदला लेना है, किसी का पड़ौसी अधिक धनवान् होगया है, किसी को इष्ट का वियोग हो गया है, किसी को अनिष्ट का संयोग हो गया है। इस प्रकार जिस ओर नजर फेरो उसी ओर दुःख, शोक, चिन्ता, व्याकुलता, व्याधि और अशान्ति का ही दौरदौरा है। किसी से भी पूछ देखो, वह दस चिन्ताएं आप के सामने रख देगा! इससे स्पष्ट हो जाता है कि सधन निर्धन, स्वामी, सेवक आदि कोई भी तो यहाँ सुखी नहीं है?

विवेकशील पुरुष के अन्तःकरण में सहज ही जिज्ञासा जागती है कि किस कारण यह स्थिति है? जब कि प्राणी मात्र सुख ही चाहता है और सुख के लिए ही प्रयत्न शील है, तो फिर सुख मिलता क्यों नहीं है?

ज्ञानी जनों का कहना है कि सुख की इच्छा करने मात्र से सुख

नहीं मिल सकता। सुख को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम यह समझने की आवश्यकता है कि वास्तविक सुख क्या है ? और उस की प्राप्ति के साधन क्या हैं ? यह न समझने के कारण ही संसारी जीव सुखाभिलाषी होने पर भी सुखी नहीं होते। संस्कृत का एक कवि सांसारिक सुख के संबंध में चेतावनी देते हुए कहता है:—

दुःखाङ्गारकतीव्रः, संसारोऽयं महानसो गहनः ।
इह विषयामृतलालस—मानस मार्जार ! मा निपत ॥

अर्थात्—यह संसार दुःख रूपी अंगारों से धधकता हुआ एक विकट रसोईघर है। हे मन रूपी मार्जार ! तू विषय रूपी अमृत की लालसा में फंस कर उसमें मत कूद पड़ना ।

इस चेतावनी में बहुत कुछ तथ्य है। संसारी जीव सुख प्राप्ति की अभिलाषा से प्रेरित होकर ऐसी प्रवृत्ति करते हैं जो उनकी अभिलाषा पर पानी फेर देती है। वे सुख के सच्चे स्वरूप को समझते नहीं और सुखाभास में ही सुख की कल्पना कर लेते हैं । सच्चा सुख तो आत्मा का गुण है। वह विषयाश्रित नहीं, आत्माश्रित है। जो सुख किसी भी पर पदार्थ के निमित्त से होता है, वह सच्चा सुख नहीं हो सकता। ऐसा सुख न परिपूर्ण होगा, न स्थायी होगा। क्यों कि परपदार्थ का संयोग कुछ ही समय तक रह सकता है, उसके बाद उसका वियोग हो जाता है। अतएव वास्तविक सुख वही है जो बिना किसी के संयोग से, केवल आत्मा से ही हो ।

परपदार्थ का आशय यहाँ बाहर के पौद्गलिक पदार्थ ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु सातावेदनीय कर्म भी समझना चाहिए । वह भी एक प्रकार से परकीय वस्तु है, क्योंकि वह आत्मस्वरूप नहीं है । सातावेदनीय जनित सुख सच्चा सुख नहीं है, क्यों कि वह भी एक पराश्रित और अस्थायी है। साता का उदय अभी है और थोड़ी देर पश्चात् नहीं भी रह सकता संसारी प्राणियों को साता के पश्चात् असाता और असाता के पश्चात् साता का उदय होता ही रहता है । सच्चा सुख तो सातावेदनीय और असातावेदनीय-दोनों के नष्ट हो जाने पर ही आत्मानन्द के रूप में प्रादुर्भूत होता है ।

आत्मिक सुख या सच्चा सुख वही है जो बाह्य या आन्तरिक किसी भी पदार्थ पर निर्भर न हो, जो काल से सीमित न हो और परिमाण से भी सीमित न हो, अर्थात् जो अक्षय और अनन्त हो और साथ ही जो भविष्य के दुःख का कारण न बने।

किन्तु संसारी जीवों ने जिस सुख को सुख समझ रक्खा है, वह परपदार्थावलम्बी है, सान्त है, परिमित है और दुःखों का बीज रूप है। वह पारमार्थिक दृष्टि से सुख ही नहीं है। इस प्रकार सुख का सम्यक् स्वरूप जाने बिना उसे प्राप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह सफल नहीं होता। यही कारण है कि सुख के अभिलाषी होने पर भी संसारी प्राणी सुख से वंचित ही रहते हैं।

जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न काल में राजा बन जाता है, और अपनी स्थिति पर फूला नहीं समाता। किन्तु ज्यों ही कुछ क्षणों के पश्चात् जागृत होता है, उस सुख का कहीं नामनिशान भी नहीं पाता। क्योंकि वह वास्तविक नहीं, भ्रम मात्र था। इसी प्रकार संसारी जीव धन वैभव पाकर स्वप्न- काल के राजा की भाँति अपने आपको सुखी समझता है। किन्तु जब उसी संसारी प्राणी पर कभी संकट या आपत्ति-विपत्ति आ जाती है, तब धन उसका प्रतिकार करने में असमर्थ सिद्ध होता है। बड़े-बड़े धन कुबेर जब रोग का शिकार होते हैं और अन्तस्ताप से दग्ध होते हैं, उस समय धन को पानी की तरह बहा कर भी, क्षण भर के लिए भी चैन नहीं पाते। तब धन की निस्सारता का पता चलता है! धन सुख का कारण होता तो धनियों को किसी प्रकार का कष्ट ही नहीं होना चाहिए था। वे धन के द्वारा ही समस्त संकटों को परास्त करके सुख-मय जीवन व्यतीत कर सकते थे। किन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। धनी भी इष्ट वियोग, अनिष्टयोग, रोग और मृत्यु के भाजन बन कर दीन, दरिद्र और पामर प्राणियों की तरह बिलबिलाते हुए शोक, संताप और मौत के ग्रास बनते हैं।

धन-सम्पत्ति वास्तव में सुख का नहीं, दुःख का ही कारण है। धन का उपार्जन करने में नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। कष्ट सहन करने पर भी अधिकांश तो धनोपार्जन कर ही नहीं पाते;

कदाचित् किसी ने उपार्जन कर लिया तो उसे उसकी रक्षा की चिन्ता सताने लगती है। कहीं चोर और डाकू धन का हरण न कर ले जाएँ। कुटुम्बी जन अपना अधिकार न जतलाने लगें। व्यापार में घाटा न पड़ जाए, इत्यादि चिन्ताएँ सदैव धनी के सिर पर भूत की तरह सवार रहने लगती हैं। इस प्रकार धन क्या आया चिन्ताओं का पिण्ड आ गया। वह आया तो नाना प्रकार की आशंकाएँ, भीतियाँ और चिन्ताएँ ले आया। चौबेजी छब्बे बनने चले तो दुबे ही रह गए। निर्धन धनवान् बन कर सुखी बनने चला था मगर अपनी निश्चिन्तता के सुख को भी गंवा बैठा !

इतना ही हो कर रह जाता तो भी गनीमत थी। किन्तु धन का दुष्परिणाम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। धन समय और कारण पाकर चला जाता है और धनवान् की छाती पर सांप लोटने लगता है। वह संताप के विषम विष मे मूर्छित सा हो जाता है और दुःख से ग्रस्त हो जाता है।

कुछ लोग अपने शरीर की स्वस्थता और सुन्दरता को देख कर फूले नहीं समाते। किन्तु अकस्मात् बीमारी का एक दौर आता है और उसके सुख की कल्पना हवा में उड़ जाती है। संसार में अगणित रोग हैं और कहा भी गया है:—

शरीरं व्याधिमन्दिरम्।

अर्थात्—यह शरीर रोगों का घर है ! कौन जाने कब कौन-सा रोग आकर मनुष्य को घेर लेता है। उस समय-संसार का समस्त उत्तमोत्तम वैभव उसके लिऐ निरर्थक हो जाता है। वह वेदना से छटपटाता हुआ कराहता है और रोग उसके स्वास्थ्य और सौन्दर्य के अभिमान का उपहास करता हुआ प्रतीत होता है।

यह जीव परिवार में सुख की कल्पना करता है। जिसे पुत्र प्राप्त नहीं वह पुत्र के लिए तरसता, देवी-देवताओं के आगे मस्तक रगड़ता और गंडा-तावीज पहनता है। जिसे पुत्र की प्राप्ति हो चुकी है, वह पौत्र की अभिलाषा करता है। इस प्रकार परिवारहीन पुरुष परिवार की वृद्धि में सुख मानता है, किन्तु ज्यों-ज्यों परिवार की वृद्धि होती है, त्यों

त्यों दुःख की भी वृद्धि होती है। चिन्ताओं की भी वृद्धि होती है, व्याकुलता की भी वृद्धि होती है। अन्त में वह सोचने लगता है कि यह तो मृगतृष्णा मात्र थी। इस परिवार के कारागार में अवरुद्ध होने की अपेक्षा तो मैं एकाकी अवस्था में ही मस्त और प्रसन्न था।

सांसारिक सुख के अन्यान्य साधनों का भी यही हाल है। ज्यों-ज्यों उन साधनों का संचय किया जाता है। त्यों-त्यों सुख के स्थान पर दुःख का ही संचय होता जाता है। ठीक ही कहा है:—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अर्थ—भोगों में रोगों का भय होता है, कुल में अपमान का, धन में राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में बुढ़ापे का, शास्त्र में वादविवाद का, गुणों मे दुर्जनों का और शरीर मेमृत्यु का भय समाया रहता है। इस प्रकार संसार की सभी वस्तुएं भय से युक्त हैं— कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसे प कर मनुष्य निर्भय हो सके। हाँ, केवल वैराग्य ही निर्भयता देने वाला है। जिसका चित्त वैराग्य से विभूषित हो गया होगा, उसे संसार मे किसी से भी भय नही हो सकता, जो मनुष्य संसार के प्रत्येक पदार्थ को आत्मा से भिन्न समझेगा और उनके संयोग-वियोग में हर्ष विषाद क अनुभव नहीं करेगा सदा समभाव की ही सुधा के सुखद प्रवाह में बहता रहेगा, उसे कौन दुःख पहुँचा सकता है? किसमें सामर्थ्य है जो उसके सुख के स्रोत को-जो उसके अन्तरतर से ही फूटता है, खण्डित कर सके? वास्तव मे वैराग्य-वान् व्यक्ति ही सुखी हो सकता है, क्योंकि वही निर्भय रह सकता है।

स्पष्ट है कि जब संसार के सभी पदार्थ भययुक्त और दुःख मय हैं तो उनसे सुख की आशा किस प्रकार की जा सकती है?

एक और विचार से भी सांसारिक सुख की परीक्षा करें। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति में असन्तुष्ट है और अपनी परिस्थिति से विलक्षण परिस्थिति में ही सुख की संभावना करता है।

जो मनुष्य अकेला है। वह अपने अकेलेपन में सुख न मानकर परिवार में सुख की कल्पना करता है और बहुत परिवार वाला व्यक्ति परिवार की परेशानियों से तंग होकर एकाकीपन में सुख-शान्ति की कल्पना करता है। निर्धन धनवानों को देख कर ईर्षा करता है। धनवान् बनने की स्पृहा करता है और धनिकों को सुखी समझता है। और धनवान् अपने धन के नष्ट न होने की चिन्ता में रात दिन व्याकुल रह कर निर्धनों की निश्चिन्तता की कामना करता है। वह कहता है-मैं तो धन का पहरेदार हूं; रात दिन धन की चिन्ता व्याकुल बनाए रखती है और इन निर्धनों को देखो, दिन भर श्रम करके रात को मस्ती की नींद सोते हैं। न अदालती झंझट, न लेन-देन की परेशानी। न रात को चोरों का भय। कितने भाग्यवान् है ये लोग! प्रजा राजा को सुखी-अत्यन्त सुखी समझती है, किन्तु राजा के पास जाकर पूछो कि उसे कितना सुख है? अपने पीछे लगी रहने वाली सैकड़ों उपाधियों से वह चिन्ता के सागर में डूबता-उतराता रहता है। इस प्रकार रंक राजा बनना चाहता है और राजा रंक के सौभाग्य को स्पृहणीय समझता है।

इस प्रकार जब संसार की तरफ दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि कोई भी अपनी स्थिति में सन्तुष्ट नहीं है। सभी अपनी से भिन्न स्थिति के लिए लालायित रहते हैं और उसमें सुख मानते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य को जब वह अभिलाषित अवस्था प्राप्त हो जाती है तो भी वह सुख का अनुभव नहीं कर पाता। रंक की मस्ती पर निछावर होने वाला राजा दैवयोग से रंक बन जाता है तो उसे वही विचार आने लगते हैं जो रंक को आया करते हैं! सधन व्यक्ति निधन बन जाता है तो उसके दुःख का पार नहीं रहता। निर्धन सधन बन जाता है तब भी उसे चैन नहीं। वह फिर एक नवीन स्थिति की अभिलाषा करने लगता है। इस प्रकार संसारी जीव कभी किसी भी परिस्थिति में सन्तोष नहीं पाता और जहाँ सन्तोष नहीं, वहाँ सुख तो आकाशकुसुमवत् ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख की कल्पना करता है; मगर इच्छाएँ उसे सदैव धोखा देती रहती हैं!

वह एक इच्छा की पूर्ति के लिए अपने प्राप्त सुख का भी परित्याग कर देता है और समझता है कि इस सुख का त्याग करके इच्छा की पूर्ति होने पर अधिक सुखी हो जाऊँगा ; किन्तु वह इच्छा पूरी हुई या न हुई कि और चार इच्छाएँ राक्षसी की भाँति जाग उठीं। इस प्रकार जैसे आकाश में चमकने वाले चन्द्रमा को पकड़ लेने की बालक की चेष्टा असफल होती है, उसी प्रकार इच्छाओं को पूर्ण करके सुख पाने की मनुष्य की चेष्टा भी अन्त में विफल ही होती है। कितनी सुन्दर बात कही है:—

भुक्त्वा ऽप्यनन्तशो भोगान्, देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति साम्प्रतम् ?

अर्थात्:—यह मनुष्य अनन्त-अनन्त वार स्वर्गलोक में जन्म ग्रहण कर चुका है और स्वर्ग के इच्छानुसार भोग भोग चुका है। फिर भी इसे तृप्ति नहीं हुई, इसकी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई तो क्या अब इस लोक के सुखों से यह तृप्त हो सकेगा ? कहाँ स्वर्ग के महान् सुख और कहाँ इस मर्त्य लोक के क्षुद्र और तुच्छ सुख ! समुद्र का सारा पानी पीकर भी जिसकी तृषा शान्त नहीं हो सकती, वह घास की नौक के पानी से क्या तृप्त हो सकेगी ? वस्तुतः इच्छाओं की पूर्ति कदापि संभव नहीं है। अतएव इच्छा पूर्ति में सुख समझना भ्रम मात्र है।

सच्चे सुख का मार्ग इच्छाओं को जीत लेना है। जिसने अपनी इच्छाओं को जीत लिया और राग-द्वेष को अन्तःकरण से हटा दिया, वह अवश्य सुख का भाजन बनता है। भगवान् ने फर्माया है:—

कामे कमाही कामियं खु दुःक्खं।

इस छोटे से वाक्य में अनन्त काल से उलझी हुई विकट और जटिल समस्या का बड़ा ही सुन्दर समाधान है। इसमें उत्तम रसायन भरा है। भगवान् फर्माते हैं—कामनाओं को जीत ले, दुख दूर हो जाएगा।

मनुष्य जब तक राग द्वेष के चक्कर में पड़ा है और कामनाओं का क्रीत हो रहा है, तब तक वह नहीं समझता कि संसार के जितने भी पदार्थ हैं उन में से कोई या सब मिल कर भी मनुष्य को दुःख

और संकट से नहीं बचा सकते। जिनको वह अपना समझता है, वे सब स्वार्थ के साथी हैं। अन्त समय में या विपत्ति के अवसर पर वे काम नहीं आते। अतएव उनके संयोग से सुख-प्राप्ति की आशा रखना भयंकर भूल है। कहा है:—

प्रीतम जान लियो जग मांहि ।
अपने सुख से ही जग बांध्यो कोउ काहू को नाहिं ॥
सुख में आन बहुत मिल बैठत, रहत चहूँ दिस घेरे ।
विपत पड़े सब ही संग छोड़त, कोउ न आवत नेरे ॥
घर की नार बहुत हित जासौं, रहत सदा संग लागी ।
जब ही हंस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कर भागी ॥
इह विध को व्यवहार बन्यो है, जासों नेह लगायो ।
अन्त बार 'नानक' बिन हरिजी, कोऊ काम न आयो ॥

(ग्रन्थ साहिब)

इस्लाम धर्म का शास्त्र कुरान भी यही सन्देश देता है:—

'वालमू अन्नमा अमवालुकुम् वा औलादुकुम फितना तुन ।

(कुरान, सूत्र अवफाल, ३-६)

अर्थात्—ऐ मनुष्यो! समझ रक्खो कि तुम्हारा धन-माल और तुम्हारी सन्तान उपद्रव का हेतु है।

सुन्दर कवि ने इस संबन्ध में बड़ी स्पष्ट भाषा में कह डाला है:—

वैरी घर मांहि तेरे जानत सनेही मेरे ।
दारा सुत वित्त तेरो खोसी खोसी खाएंगे ॥
और हू कुटुम्ब लोग लुए चहों बाहर ही सों, ।
मीठी मीठी बात कर तोसों लिपटाएंगे ॥
संकट पड़ेगो जब कोऊ नहीं तेरो तब ।
अन्त ही कठिन वाकी बेलर उठ जाएंगे ॥

सुन्दर कहत तातें झूठ ही प्रपंच सब ।
सुपने की नाईं सब देखत बिलाएंगे ॥

भगवान् फरमाते हैं:—

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परम दुक्खिया ।
पियरो वि तहापुत्ते, बंधूरायं तवं चरे ॥ ॥१५॥
तओ तेणज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तिन्ने नरा रायं, हट्ठ तुट्ठ मलंकिया ॥ ॥१६॥

(उत्तराध्ययन, अ० १८-१५, १६)

अर्थात्—पुत्र, मरे हुए पिता को परम दुःखी होकर घर से निकाल देते हैं, और इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर ।

तदनन्तर उस मृत पुरुष के द्वारा उपार्जन किए हुए द्रव्य और उसकी सर्व प्रकार से सुरक्षित की हुई स्त्रियों का अन्य पुरुष, जो कि हृष्ट-पुष्ट और विभूषित हैं, उपभोग करते हैं । ॥१५॥ ॥१६॥

इस प्रकार संसार की किसी भी वस्तु में सुख नहीं । यह तो रेत के लड्डू हैं। वाहर से मन को मोहने वाले हैं, किन्तु सार उनमें कुछ भी नहीं है। अतएव संसारी जीव जिस सुख को सुख मानता है, वह वास्तव में सुख ही नहीं है। वह तो सुखाभास है । दुःख का कारण होने से उसे दुःख ही कहना चाहिए। सांसारिक सुखों के सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है:—

**A man that depends on the riches and the honours of this World for getting God and the welfare of his soul, is like a little child that holds a fair apple in the hand of agreeable exterior promising goodness but that within is rotten and full of worms**

अर्थात— जो मनुष्य परमात्मा और आत्म कल्याण को भुला कर सांसारिक वैभव और मान— मर्यादा का पीछा करता है, उसको उस

बच्चे की उपमा दी जा सकती है, जिसके हाथ में एक सुन्दर सेव है, जो बाहर से तो बड़ा मनोमोहक है, किन्तु अन्दर से सड़ा, गला और कीड़ों से भरा हुआ है ।

कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और अपने ही दांतों से निकलने वाले रुधिर का आस्वादन करके सुख का अनुभव करता है। खुजली रोग वाले को शरीर खुजलाते समय सुख का आभास होता है। किन्तु कुछ ही क्षणों के पश्चात उसे वास्तविकता का परिज्ञान होता है । जब शरीर में जलन होती है तो वह समझता है कि उसने अपना सारा शरीर छील डाला।

इन उदाहरणों में जैसे दुःख को सुख मानने की भ्रांति स्पष्ट प्रतीत होती है। वही भ्रान्ति इन्द्रियजन्य सुख को सुख मानने वालों को हो रही है ।

इस विवेचन से सहज ही इस प्रश्न का समाधान हो सकता है कि सब संसारी जीव सुख के लिए प्रयत्नशील होने पर भी सुख क्यों नहीं पाते हैं? वास्तव में जो न सुख के वास्तविक स्वरूप को ही समझता है, और न सुख के पथ का अनुसरण ही करता है, वह सच्चे सुख को कैसे प्राप्त कर सकता है? उसके दुर्भाग्य में तो विडम्बना ही लिखी है ? वह तो अनादि काल से दुःखों की भट्टी में ही पच रहा है और तब तक पचता ही रहेगा, जब तक अपना मार्ग नहीं बदल लेता। वीतराग भगवान् ने सुख का जो मार्ग प्रदर्शित किया है, वही एक मात्र सुख का सच्चा मार्ग है और उसी पर चल कर मनुष्य सुखी हो सकता है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सुख आत्मा का ही गुण है। गुण सदैव गुणी में रहता है। अतएव सच्चा सुख भी आत्मा में ही रहा हुआ है। बाह्य पदार्थों में खोजने से वह मिल नहीं सकता। वह सुख इन्द्रियों के द्वारा न भोग्य है और न गम्य ही है। वह तो गूँगे का गुड़ है, केवल अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है। जैन शास्त्रों में उसकी प्राप्ति का क्रम इस प्रकार दर्शाया गया है:-

जया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे,
तया चयइ संजोग सब्भिंतर बाहिरं ॥

× × × ×

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिंगच्छइ नीरओ॥
जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥

(दसवैकालिक, ४,१७-२५)

अर्थात्:—जीव जब देवता और मनुष्य संबंधी समस्त काम भोगों से विरक्त हो जाता है तब बाह्य और आन्तरिक-सभी संयोग को त्याग देता है। माता-पिता, पुत्र, पत्नी, धन-सम्पति, महल, मकान आदि बाहर के पदार्थों का संयोग बाह्यसंयोग कहलाता है और राग, द्वेप आदि का संयोग आभ्यन्तर संयोग कहलाता है। जब बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है तो पूर्ण संयमी बन जाता है, संवरधर्म का अनुष्ठान करता है, कर्म रज को दूर कर देता है और सर्वत्रगामी ज्ञान दर्शन को—अर्थात केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है तत्पश्चात् मन वचन काय के योगों का निरोध करके आत्मा शैलेशी अवस्था सुमेरु के समान अकम्प दशा-को प्राप्त करता है और तब अशेप कर्मों के क्षय करके निष्कर्म होकर सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है और जब सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है तो लोक के अग्रभाग परविराजमान हो जाता है और शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार सच्चा सुख मुक्त अवस्था प्राप्त करने में ही है। मुक्त अवस्था प्राप्त करने के लिए जैन शास्त्रों में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र और तप, यह चार साधन बतलाए हैं:—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं॥

अर्थात्:—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग् चारित्र और तप यह चारों मिल कर मोक्ष के मार्ग हैं। इस मार्ग की आराधना करके जीव सुगति प्राप्त करते हैं।

अभिप्राय यह है कि आत्मा जैसे जैसेपर-पदार्थों से अपनी ममता हटाता जाएगा और अपने स्वरूप में निष्ठ होता जाएगा, वैसे ही वैसे

वह सच्चे सुख को प्राप्त करता जएगा। अतएव संसार के भोगोपभोग के पदार्थों का संग्रह करने में सुख नहीं, बल्कि उनका परित्याग कर देने में ही सुख है। इस प्रकार सच्चे सुख का उपाय उससे बिलकुल विपरीत है, जिसे जगत् के जीव आज काम में लारहे हैं। यही कारण है कि सुख की अभिलाषा करने पर भी उन्हें सुख नहीं मिलता है। आत्मा में सुख का असीम सागर लहरा रहा है, किन्तु उस ओर दृष्टि ही नहीं जाती और भोगोपभोगों में, जो दुःख के भण्डार हैं, सुख की कल्पना की जाती है। मनुष्य समझता है दुनियां की वस्तुएँ ही उसे सुखी बना सकती हैं? किन्तु ज्ञानी जन कहते हैं:—

अकिञ्चनस्यदान्तस्य, शान्तस्य समचेतसः।
सदा सन्तुष्टमनसः, सर्वाः सुखमया दिशः ॥

अर्थात्— जिसके पास एक कानी कौड़ी भी नहीं है, उसने यदि अपनी कामनाओं को वशीभूत कर लिया है वह शान्ति में मग्न रहता है और प्रत्येक अवसर पर समभाव को ही सुरक्षित रखता है और उसके मन में सन्तोष का शीतल झरना बह रहा है, तो सारा संसार उसके लिए सुखमय है। एक महान् विद्वान् ने सुख दुःख का स्वरूप इन शब्दों में बतलाया है:—

किमिह परसौख्यं? निःस्पृहत्वं यदेतत्।
किमथ परमदुःखं ? सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगा सदाये।
विदधति जिनधर्मं ते नरा पुण्य वन्तः ॥

अर्थात्— उत्कृष्ट सुख क्या है? निस्पृहता-इच्छानिरोध। और परम दुःख क्या है? इच्छाओं का होना। इस तथ्य को समझ कर जो पुरुष वीतराग-प्ररूपित धर्म का आचरण करते हैं और पर पदार्थों का परित्याग कर देते हैं, वही पुण्य शाली है।

# काम की बातें

(१) जैसे रक्त से रक्त नहीं धुल सकता उसी प्रकार पापकर्मो से पापकर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती। जो जीव पाप से पाप को धोना चाहते है उन्हें शास्त्रकार बाल जीव कहते हैं।

(२) कठोर से कठोर परीषह और घोर से घोर उपसर्ग आने पर भी जो अपने पथ से और अपने पद से च्युत नहीं होते और दृढ़तापूर्वक समस्त विरोधी शक्तियों के साथ जूझते हैं उन्हे धीर कहते हैं। धीरता मानवता की रीढ़ की हड्डी है और सफलता की जननी है।

(३) कर्मों के क्षय का एक मात्र यही उपाय है कि सत्पथ पर प्रगाढ़ आस्था रख कर, विवेक के आलोक मे, निष्पाप और निष्काम भाव से संयम का आचरण करते रहो। कामनाएँ धर्मक्रिया को निष्फल बना देती हैं। क्षण भर के लिए भी उन्हे अपने अन्तःकरण मे अपना साम्राज्य न स्थापित करने दो।

(४) पूर्वकृत कर्मों का क्षय होते रहने पर भी यदि नवीन कर्मों का आस्रव होता रहे तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव नवीन कर्मों का बन्ध भी रोकना आवश्यक है। इसी हेतु से वीतराग देव ने संवर और निर्जरा को मोक्ष का कारण बतलाया है।

(५) जैसे कछुवा अपने ग्रीवा आदि अंगों को, विपद् की संभावना होने पर अपने शरीर में छिपा लेता है, उन अंगो को निर्व्यापार बना लेता है। इसी प्रकार सत्-असत् का विवेक रखने वाले बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह पापरूप असत् व्यापारों को अध्यात्म भावना का सेवन करके अर्थात् सम्यक् धर्मध्यान आदि की आसेवना कर के विलीन कर दे। उत्तम भावना जीवन-उत्थान की भूमिका है।

(६) अशुभ भावनाओं से बचने के लिए, अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि मन में धर्मभावनाएँ उदित की जाएँ। धर्मभावनाएँ उदित होने से पापभावनाएँ स्वतः विलीन हो जाती हैं।

(७) सामान्यतया स्वर्ग में रहने वाले देवों को सुखी समझा जाता है किन्तु परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उन का सुख भी दुःखरूप ही है। भोग कितना ही उत्तम क्यों न हो, रोग ही होता है।

(८) जिस प्रकार ज्वर से ग्रस्त पुरुष संताप का अनुभव करता है, उसी प्रकार संसारी जीव घोर शारीरिक और मानसिक संताप भोगता है।

(९) मनुष्यता तुम्हारे सौभाग्य का सब से बड़ा वरदान है। जिस मनुष्यता के लाभ के लिए अनन्त प्राणी तरस रहे हैं, स्वर्ग का राजा इन्द्र भी जिस के लिए लालायित रहता है, वह तुम्हें दैवयोग से प्राप्त है ऐसी स्थिति मे इसे वृथा गँवा देना विवेकशीलता नहीं है। विवेकवान् व्यक्ति इस बहुमूल्य अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

(१०) इस बात को भलीभाँति समझलो कि मानव-देह की अनमोल निधि तुम्हें प्रचुरतर पुण्य के योग से मिल पाई है, यदि तुम प्रमाद में पड़े रहे और उस का सदुपयोग न किया तो पुनः उस का प्राप्त होना कठिन है। समय बीत जाने पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा और फिर पश्चात्ताप करने से भी बिगड़ी बात नहीं बनेगी।

(११) हमारे समस्त धर्माचरण की नींव श्रद्धा है। जिसे धर्मश्रद्धा प्राप्त है, वह भाग्यशाली है। ज्ञान के भंडार का स्वामी कदाचित् रह जाय, पर सम्यक् श्रद्धाशील अवश्य तिर जाता है।

(१२) संसार का परित्यग कर के मुनिधर्म अंगीकार करने की योग्यता जिन में जागृत नहीं हुई है, गृहस्थ में रहते हुए विधिवत गृहस्थधर्म का पालन तो कर ही सकते हैं। गृहस्थधर्म का पालन करने से त्याग की वृत्ति बढ़ती है और मुक्ति शनैः शनैः समीप आती जाती है।

(१३) मनुष्य अपने ऋद्धि-वैभव का कितना ही अभिमान क्यों न करे, परन्तु वास्तव में उस की बुद्धि की परिधि अत्यन्त परिमित है। उस की इन्द्रियां, जिन पर वह इतराता है, न कुछ के बराबर जान पाती हैं। इन्द्रियां जितना जानती हैं, उस से बहुत अधिक भाग ऐसा है जिसे वे नहीं जान सकतीं। मनुष्य समग्र वस्तुतत्त्व को जान लेने का दम क्यों

भरता है ? वास्तव मे मनुष्य की बुद्धि और उस का ज्ञान अत्यन्त सीमित है ।

(१४) मनुष्य इतना गर्वीला वन जाता है कि वह अपनी अक्षमता को अस्वीकार करने के वदले एक क्षुद्र जल-कण को ही सागर कहने लगता है और उस कण के अतिरिक्त असीम जल राशि के अस्तित्व से इन्कार कर देता है। यह ज्ञान का अभिमान और उन्माद है तथा उस के अज्ञान का परिचायक है ।

(१५) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होने के कारण हे अन्धवत् पुरुष'सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए आगम पर श्रद्धा ला और हे अल्पज्ञ पुरुष के दर्शन पर श्रद्धा करने वाले! अपने कदाग्रह को त्याग और सर्वज्ञ के उपदेश पर विश्वास कर। जो जीव मोहनीय कर्म के प्रवल उदय से सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट आगम पर श्रद्धा नहीं करते वे पथभ्रष्ट होकर दुःख पाते हैं।

(१६) मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरे की स्थिति में सुख समझता है। वह सोचता है कि अमुक व्यक्ति के पास भोग-विलास की इतनी सामग्री है तो वह निश्चय ही सुखी होगा। ऐसा सोच कर वह वैसा वनने की इच्छा करता है । कदाचित वन जाता है तो फिर सोचता है कि अरे यहां भी सुख नहीं है ! वे वस्तुएँ और हैं यदि उन्हें प्राप्त कर लूं तो सुखी होऊँ। कदाचित् वे भी मिल गई हों तो फिर भी यही अनुभव करता है कि अरे, सुख तो यहां भी नहीं है यहां भी वही की वही जलन है । इस प्रकार वह सुख की खोज ही खोज में रह जाता है और सुख की परछाई भी नहीं देख पाता ! वह सुख को पाए भी तो कैसे क्यों कि जगत् की वस्तुओ में सुख है ही नहीं।

(१७) जहां अभाव का अनुभव होता है, वहां उस की पूर्ति की इच्छा होती है, कदाचित प्रयत्न सफल हुआ और अभाव की पूर्ति हो गई तो एक अभाव की पूर्त्ति अनेक अभावों को उत्पन्न कर देती है । लड़का नहीं है, लड़के का अभाव दुःख देता है। अव कहीं लड़का हो गया तो उस के पालन पोपन और शिक्षण आदि के लिए धन चाहिए ! विवाह करना होगा, उसके लिए वहुत सामान चाहिए ! इस प्रकार एक अभाव

दूर हुआ तो अनेक नवीन अभाव पैदा हो गए। इस प्रकार अभावों को पूर्ण करने में ही मानवजीवन पूर्ण हो जाता है परन्तु अभावों की पूर्णता नहीं होती। इस प्रकार अभाव इस उत्तमोत्तम जीवन को बेकार बना देते हैं। जिस जीवन से भगवान् मिल सकते हैं; वह कल्पित अभावों की पूर्त्ति में ही बीत जाता है, फिर भी अभाव ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं। इससे बड़ी हानि और क्या होगी? समय गया, जीवन गया, यत्न विफल हो गया और फिर भी अभाव न मिटे। हे बुद्धिमान्! तेरी जिस भावना से अभावों की सृष्टि होती है, उस भावना को ही खत्म क्यों नहीं कर देता? न होगा बांस न बजेगी बांसुरी!

(१८) मनुष्य नित्य नयी योजनाएँ बनाता रहता है और मौत अचानक आकर उन पर पानी फेर देती है! एक बड़े धनिक पुरुष ने अपने धन को सत्कार्य में लगाने की कई योजनाएँ बनाईं, पर कर कुछ न पाये। अचानक मौत ने धर दबाया। अतएव किसी भी शुभ कार्य को कल पर मत छोड़ो। शीघ्र से शीघ्र कर डालो। समय बड़े तीव्र वेग से भागा जा रहा है और हृदय की धड़कन किसी भी क्षण बंद हो सकती है!

(१९) हिंसक पशु की अपेक्षा भी मनुष्य पशु अधिक भयंकर होता है। पशु में विशेष विवेक नहीं पर मनुष्य में विवेक है। मनुष्य होकर जब वह अपने विवेक को पशुता के अभ्युदय में लगाता है, तब उस से संसार का जितना अनिष्ट होता है, उतना अनिष्ट पशु नहीं कर सकता।

(२०) जो कुछ क्रियाएँ बाहर होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं वे पहले मन में होती हैं। युद्धक्षेत्र में लड़ा जाने वाला महायुद्ध अकस्मात नहीं आ टपकता। उस का बहुत पहले मन-क्षेत्र मे निर्माण होता है, उस के बाद वह बाहर आता है। बाहर की क्रियाएँ मन का ही विकास तथा प्रकाश हैं।

(२१) यदि कोई अपनी छाया को पकड़ना चाहे तो वह सफल-मनोरथ न होगा; क्योंकि उस का पीछा करने से वह और आगे बढ़ती जायेगी। परन्तु यदि सूर्य की ओर मुँह करके कोई दौड़ने लगे तो छाया

उस के पीछे दौड़ने लग जाती है। इसी प्रकार संसार की सुख समृद्धि के पीछे दौड़ने पर वह आगे आगे भागती जाती है हाथ नहीं आती। पर यदि मनुष्य उस की ओर पीठ देकर भगवान की ओर दौड़ता है तो सभी सुख उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं। अतएव संसार की ओर पीठ फेर लेने में ही कल्याण है।

(२२) सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने में जितना प्रयत्न होगा उतनी ही असुविधाएँ होंगी ।

(२३) प्रथम यह विचार होना चाहिए कि हमारा असली कर्त्तव्य क्या है ? इस प्रकार पहले लक्ष्य स्थिर कर लेने से ही सफलता मिल सकती है। लक्ष्यहीन पुरुष व्यर्थ ही भटकता है।

(२४) विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम और उज्ज्वल प्रेम जब होगा, भगवान् में ही होगा और ऐसा होने पर सारा ममत्व, सब ओर से सिमट कर एक मात्र भगवान् में ही लग जाएगा।

(२५) जब परमात्मा के प्रति प्रेम होने लगता है, तब दूसरी समस्त वस्तुओं से प्रेम हटने लगता है, यह निश्चित नियम है और सच्चा प्रेम हो जाने पर तो प्रेमी सब की सुधि ही भूल जाता है। वह प्रेम ही कहता है, प्रेम ही सुनता है, प्रेम ही देखता है और चारो ओर प्रेम ही प्रेम का अनुभव करता है।

(२६) प्रेम की कोई सीमा नहीं है। वह सब ओर से असीम है।

(२७) प्रेम का जीवन प्रतिक्षण बढ़ते रहने में ही है। क्षण-क्षण बढ़ना उस का स्वरूप है। जो नहीं बढ़ता वह प्रेम सजीव नहीं है।

(२८) सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जाने पर अपने प्रेमी के लिए मन और बुद्धि को अर्पण नहीं करना पड़ता, वह तो स्वतः समर्पित हो जाते हैं। यह प्रेम की स्वाभाविक शक्ति है।

(२९) प्रेम अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। वह सहज में नहीं मिलता और जिसे मिल जाता है उस के समान भाग्यशाली कोई नहीं।

(३०) जहां अपनी कुछ भी चाह है, वहां सहज प्रेम नहीं है।

(३१) प्रेम का स्वभाव अनोखा है। उससे त्याग ही त्याग,

देना ही देना है। जहां देने के बदले लेने की भावना होगी, वहां प्रेम नहीं, मोह है।

(३२) दूसरे के सुख के लिए अपने सुख के त्याग का भाव पवित्र भाव है। यही पवित्र भाव अपने सच्चे सुख का हेतु होता है।

(३३) प्रेम का विकास और तुच्छ स्वार्थ बुद्धि का विनाश यह दोनों साथ-साथ होते है। जहां स्वार्थ है, वहां सच्चा प्रेम नहीं होता।

(३४) जब तक स्वार्थ का त्याग नहीं है। तब तक भगवान् के प्रति प्रेम भी नहीं है। स्वार्थों की भारी गठरी लादने वाला भगवान् के निकट पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।

(३५) भगवान् में प्रेम होने से त्याग होता है, त्याग से चित्त में पवित्रता आती है। पवित्रता से मन में शान्ति का स्रोत बहता है।

(३६) जितनी-जितनी विषय-भोगों से प्रीति हटती जाएगी, उतनी ही उतनी जीवन में पवित्रता आती जाएगी। भोगों की प्रीति चित्त में मलीनता उत्पन्न करती है।

(३७) परमात्मा की प्रीति कहां से प्रारंभ होती है? जहां से स्वार्थसाधन की वृत्ति का त्याग होता है। स्वार्थ और प्रेम दोनों तभी एक साथ रह सकते है जब अंधकार और प्रकाश साथ-साथ रहने लगें।

(३८) सभी प्रकार का सहन (तितिक्षा) प्रेम में ही है।

(३९) यह सत्य है कि प्रेम का वास्तविक और पूर्ण विकास भगवत्-प्रेम में ही है, किन्तु जहां कहीं भी इस का आंशिक विकास देखा जाता है, वहां त्याग का भाव अवश्य होता है। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों में धर्म का प्रेम था। उन्होने धर्म के लिये हंसते-हंसते प्राणों का बलिदान कर दिया। सतीत्व के प्रति प्रीति होने के कारण अनेक आर्य-रमणियों ने आहुति दे दी।

(४०) प्रेम होने पर त्याग करने मे ही आनन्द की उपलब्धि होती है। प्रेमी दान को ही परम लाभ समझता है।

(४१) प्रेम में पावनता है और सात्विकता का सौरभ है, क्योंकि छल, कपट, दगाबाजी और बेईमानी आदि की दुर्गन्ध तो

स्वार्थ की गंदगी मे ही पनपती है ।

(४२) वास्तविक प्रेम में पाप नहीं रह सकता । पाप होते है कामना से और प्रेम में कामना नहीं होती । जहां कामना नहीं वहां पाप का सामना भी नहीं ।

(४३) हम चाहते तो हैं कि हमें प्रेम प्राप्त हो जाए, परन्तु विषय वासना छोड़ना नहीं चाहते । इस का प्रधान कारण विषयों में सुख की भ्रान्ति ही है । इस भ्रान्ति ने संसार मे सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है ।

(४४) भगवत्प्रेम की एक बड़ी भारी विशिष्टता यह है कि वह मनुष्य को आनन्दमय बना देता है । भगवत्प्रेमी जहां कहीं और जिस किसी भी दशा में रहेगा, आनन्दमग्न हीं रहेगा, उस के आगे, पीछे, अगल-बगल, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का वातावरण बना रहेगा ।

(४५) जिस दिन मनुष्य सब भूतों मे अपने आप को तथा अपने मे सब भूतों को स्थित देखता है, उस दिन उसकी सत्ता विराट रूप ग्रहण कर लेती है । उस दिन उसके समस्त भय और संकोच उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे अग्नि के सद्भाव में शीत ।

(४६) प्रेम का पथ धधकती हुई आग की ज्वालाओं से आकीर्ण देख कर ही लोग वापिस भाग जाते हैं किन्तु जो वीर पुरुष उस पर अग्रसर हो जाते है, वे अपूर्व और अद्भुत आनन्द का उपभोग करते हैं, उन्हीं को सच्ची शान्ति का अनुभव होता है ।

(४७) सच्चे सन्त तो वह चन्दन है जो प्रत्येक को अपनी सुरभि से आह्लादित करते हैं । काटने वाला, छीलने वाला और घिसने वाला सभी चन्दन से आनन्द प्राप्त करते हैं । सच्चे सन्त भी सब के लिये सुखदायी होते हैं । उन से किसी को हानि हो ही नहीं सकती । जैसे अमृत में कटुकता नहीं हो सकती, उसी प्रकार सन्त मे किसी को कष्ट पहुँचाने की वृत्ति नहीं हो सकती ।

(४८) सन्त कदाचित् किसी पर क्रोध करता है तो उस का वह क्रोध भी सात्त्विक ही होता है । सात्त्विक होने के कारण वह हानिकर

नहीं, कल्याणकर ही होता है, क्योंकि उसकी जड़ स्वार्थ में नहीं, हित-कामना मे ही है।

(४६) वे महापुरुप धन्य हैं जो बुराई के बदले भी भलाई करते हैं। वे भी सत्यपुरुप हैं जो बुराई करने वाले की बदले में बुराई तो नहीं करते, किन्तु भला भी नही करते। ऐसे पुरुप भी संसार में थोड़े ही होते हैं, क्योंकि किसी के द्वारा की हुई बुराई को शान्ति से सह लेना भी आसान काम नहीं है।

(५०) दूध में खटाई का थोड़ा सा अंश सम्मिलित हो जाने से वह फट जाता है और स्वयं खटाई बन जाता है। इसी प्रकार तपस्या और त्याग आदि में जब कपाय का अंग मिल जाता है तो उन में भी खटाई पैदा हो जाती है।

(५१) वर्तमान को ही न देखो, भव्य भविष्य की ओर भी दृष्टि रक्खो। जो कर्म आज कर रहे हो, उस का फल भविष्य मे अवश्य मिलने वाला है। उस से छुटकारा नहीं पा सकते।

(५२) अपने दुःख के लिये किसी पर द्वेप न करो और सुख के लिए राग न करो। अन्यथा राग-द्वेष के वश होकर अधिक पाप-कर्म उपार्जन करोगे। परमार्थ को समझो कि अपने सुख-दुःख के कारण तुम स्वयं ही हो। सुख दुःख का पौधा तुम्हारे अन्तःकरण में उगता है, इस से भी तो यही प्रतीत होता है कि सुख-दुःख का बीज तुम्हारे अन्दर ही है, जहां बीज होगा, वहीं पौधा उगेगा, दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। उन पर राग-द्वेप कर के अपनी स्थिति और अधिक क्यों बिगाड़ते हो ?

(५३) आयु कर्म समाप्त होने पर कोई किसी को बचा नहीं सकता। आप अपनी आयु दूसरे को दे सके तो उसे बचा सकते हैं, पर आयु का आदान-प्रदान करना असंभव है। अतएव दीर्घ जीवन की अभिलापा करने की अपेक्षा, जीवन के जितने भी क्षण प्राप्त है उन का सदुपयोग करने में ही अधिक कुशलता है।

(५४) हे जीव! तू उदास, अनमना, दीन और दुःखी मत हो, जो दुःख तू ने पहले उत्पन्न किया है, वह चिन्ता करने से मिट नहीं

सकता, चाहे पाताल में घुस जा, जंगल में छिप जा, किसी गुफा में प्रवेश कर जा या समुद्र में चला जा, अथवा आत्मघात ही क्यों न कर ले, परन्तु पूर्व जन्म मे उपार्जित किये हुए कर्म के फल से बच नहीं सकता।

(५५) बुढ़ापा आने पर जब इन्द्रियां शिथिल पड़ जाएंगी, शरीर कार्य-क्षम नहीं रहेगा, आयु का अन्त निकट आ जाएगा, तब संसार का कोई भी प्राणी और कोई भी पदार्थ शरण नहीं दे सकेगा। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे बालक भी समझ सकता है।

(५६) फटा हुआ काग़ज़ गोंद से चिपक जाता है, फूटा हुआ घड़ा राल आदि द्रव्यों से जुड़ जाता है, किन्तु जीवन टूट जाने पर अर्थात् आयु का अन्त आ जाने पर उसे जोड़ने वाली वस्तु संसार मे नहीं है। मृत शरीर भी पुनः जीवित नहीं हो सकता।

(५७) जब तुम जानते हो कि मृत्यु ध्रुव है, अटल है और जीवन अल्पकालीन है, तो प्रमाद का परित्याग कर के धर्म की आराधना क्यों नहीं करते ?

(५८) अभिमान के शिखर पर आरूढ़ पुरुष दूसरों को क्षुद्र देखता है, किन्तु उसे नहीं मालूम कि दूसरे उसे क्षुद्रतर समझते हैं। अभिमान अकृत्य करवाता है, न भाषण करने योग्य भाषा का प्रयोग करवाता है और आत्मविकास में घोर प्रतिबन्ध उपस्थित करता है। वह आत्मोत्थान का सब से प्रबल शत्रु है !

(५९) संयम सच्ची सजीवनी बूटी है। वह अमरत्व प्रदान करने वाली अलौकिक शक्ति है। संयम से परलोक तो सुन्दर बनता ही है, इहलोक भी निराकुलता के आनन्द से परिपूर्ण बन जाता है।

(६०) मृत्यु से भयभीत होने के बदले मनुष्य को ऐसा यत्न करना चाहिए कि जिस से जन्म न लेना पड़े, क्योंकि जन्म लेने पर मृत्यु अनिवार्य है। उस से भयभीत होकर भी कोई बचा नहीं, बच सकता भी नहीं और बचेगा भी नहीं।

(६१) मनुष्य आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना मित्र है। वह स्वयं अपने सुख दुःख का जनक है। संसार की कोई भी शक्ति उस के बीच हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(६२) पुण्य और पाप की जननी मनुष्य की मनोवृत्ति है। प्रशस्त मनोवृत्ति कल्याणकारिणी और अप्रशस्त अकल्याणकारिणी है। अगर यह बात तुम समझते हो तो चित्त में अप्रशस्त वृत्तियां क्यों उत्पन्न होने देते हो? अप्रशस्त मनोवृत्ति जब उत्पन्न हो तो उसे उसी क्षण निकाल कर बाहर कर दो। धीरे-धीरे उस से पिण्ड ही छूट जाएगा।

(६३) मनुष्य अपने मुंह से अपनी प्रशंसा कर के प्रतिष्ठा नहीं पाता। वह समझता है कि मैं अपनी उत्तमता प्रकट कर रहा हूँ, किन्तु समझदार सुनने वाले उसे अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार दूसरों के अवगुणों की निन्दा करने वाला स्वयं अपने अवगुणों को प्रकट करता है। वह अपनी निन्दक मनोवृत्ति को और अवगुणग्राहिता को तो प्रकट करता ही है।

(६४) अपूर्ण मनुष्य से भूल का हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु उसे स्वीकार न करना और छिपाने की चेष्टा करना हानिकारक है। शास्त्र का विधान है कि भूल का गोपन न किया जाय, उसे स्पष्टरूप में गुरुजन के समक्ष रख दिया जाये। ऐसा करना पवित्रता का लक्षण है और उत्थान का उपाय है। गंदगी को दबा कर रखने से वह सड़ती है और आसमान के वायुमण्डल को भी विषाक्त बना देती है। यही बात भूल के संबन्ध में समझनी चाहिए।

(६५) मनुष्य अपने अन्तःकरण के विचारों से ही देवता और अन्तःकरण के विचारों से ही राक्षस बनता है। आप के हृदय में करुणा की लहरें उठती हैं, दया का झरना बहता है, समता की सुधा भरी है और परोपकार, सहानुभूति और संवेदना का स्रोत उमड़ रहा है तो निःसन्देह आप देवता हैं और जो ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, मोह-ममता, निर्दयता, लोभ-लालच मे फंसे हुए हैं, तो कैसे कहा जाए कि आप राक्षस नहीं हैं?

(६६) मानव-जीवन पाकर जिस ने संयम की आराधना की, उस ने जीवन को सफल बना लिया। वह अलौकिक प्रकाश को प्राप्त करेगा। उसके जीवन मे कभी न बुझने वाली ज्योति जगेगी और वह अनन्त-अनन्त काल के लिए कृतार्थ हो जावेगा।

---

# आस्तिक-नास्तिक

भारत वर्ष में दो प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएं बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं। एक विचारधारा मानती है कि आत्मा सनातन-नित्य है। आत्मा का कभी विनाश नहीं हो सकता। यह सत्य है कि वर्त्तमान जीवन अल्पकाल पर्यन्त ही रहता है, किन्तु इस जीवन की समाप्ति के साथ आत्मा की समाप्ति नहीं हो जाती। यह जीवन तो आत्मा की एक अवस्था मात्र है और आत्मा एक अवस्था को त्याग कर दूसरी अवस्था को अंगीकार करता है। वह अनादि काल से जन्म ग्रहण करके उन्हें त्यागता आ रहा है और जब तक अपनी विशुद्ध स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, उस के जन्म-मरण का क्रम चलता ही रहेगा। इन समस्त अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी आत्मा अपने स्वरूप से ज्यों का त्यों रहता है। न उस का विनाश है, न उत्पाद है। मनुष्य मर कर पशु हो जाता है और पशु मर कर देव हो जाता है। इस का अर्थ यह नहीं कि आत्मा मर गया या नया उत्पन्न हो गया है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि आत्मा ने एक अवस्था त्याग दी है और दूसरी नवीन अवस्था प्राप्त की है। अर्थात् अवस्थाएं बदलती हैं, परन्तु अवस्थावान् नहीं बदलता। बल्कि यों कहना चाहिए कि अवस्थावान् कायम रहता है, इसी कारण अवस्थाएं बदलती रहती हैं। विभिन्न अवस्थाओं में कायम रहने वाला कोई एक पदार्थ न हो तो अवस्थाएं बदलें किस की? अतएव अवस्थाओं के परिवर्तन से ही यह साबित होता है कि अवस्थावान् कायम है।

इस प्रकार जब आत्मा नित्य है और जन्म-मरण करता है तो परलोक का होना भी स्वाभाविक है। आत्मा का एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था में जाना अर्थात् एक देह त्याग कर नवीन देह को धारण करना ही परलोकगमन कहलाता है।

सब आत्माओं का परलोक एक सरीखा नहीं होता। कोई देव-रूप में जन्म लेकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करता है, कोई नरकयोनि की अत्यन्त भीषण और दुस्सह यातनाएं भोगता है। कोई मनुष्य हो कर उत्तम से उत्तम भोगोपभोग प्राप्त करता है, शरीर से स्वस्थ होता है, सुन्दर होता है, सुखी होता है और कोई दीन, दरिद्र, जन्मांध, रुग्ण और जीवन के अन्तिम सांस तक दुःख ही दुःख भोगने वाला होता है। कितनेक जीव पशु-पक्षी के रूप में जन्म लेते हैं। उन्हें कैसे कैसे कष्ट भुगतने पड़ते हैं। यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तो इन सब प्राणियों की स्थिति में इतना अन्तर क्यों होता है? आत्मा तो सब का समान है, फिर भी उनकी स्थिति में जो महान् अन्तर देखा जाता है उस का कोई कारण तो होना चाहिए। बिना कारण कोई कार्य नहीं होता, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

तो इन सब विभिन्न अवस्थाओं का और सुख-दुःख का जो कारण है, वही पुण्य-पाप कहलाता है। सांसारिक सुखों का कारण पुण्य है और दुःखों का कारण पाप है।

इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले आस्तिक कहलाते हैं। इस से विपरीत विचार-श्रद्धान रखने वाले नास्तिक हैं। कहा भी है:—

लोकायता वदन्त्येवं, नास्ति देवो न निर्वृत्तिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते, न फलं पुण्य-पापयोः॥
पञ्चभूतात्मकं वस्तु, प्रत्यक्षं च प्रमाणकम्।
नास्तिकानां मते नान्यदात्माऽमुत्र शुभाशुभम्॥

अर्थात् नास्तिकों की यह मान्यता है कि न कोई परमात्मा है न मुक्ति है, न धर्म है न अधर्म है और न पुण्य-पाप का फल ही भोगना पड़ता है। यह समस्त विश्व पांच भूतों में ही समाविष्ट है, अर्थात् पृथ्वी, पानी, आग, वायु और आकाश इन पांच पदार्थों के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। न अनुमान प्रमाण है और न आगम ही। हमें प्रत्यक्ष से जितना मालूम हो, उस पर विश्वास किया जा सकता है, शेष बातें अप्रामाणिक हैं। परलोक में जाने वाली कोई आत्मा नहीं है।

इस प्रकार जब परलोक का अभाव मान लिया, पुण्य-पाप और धर्म तथा अधर्म को भी अस्वीकार कर दिया तो उस के परिणामस्वरूप उन की निम्नलिखित मान्यताएं हमारे सामने आई—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः? ॥

जब तक जीए सुख में जीए। जीवन के मजे लूटने के लिए पैसा न हो तो ऋण ले कर घी पीए। यह देह तो भस्म हो जाएगा, फिर आना कैसा ? मतलब यह है कि परलोक तो है ही नहीं कि जिस में जा कर ऋण चुकाना पड़े और बार-बार जिंदगी भी मिलने वाली नहीं है। अतएव जिस प्रकार भी सभव हो और जितना भी संभव हो, सुख भोग लेना ही बुद्धिमत्ता है। जीवन का मजा ले लेने मे ही कल्याण है। यही नहीं, नास्तिक तो यहां तक कहते हैं:—

इह लोकं सुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धियः ।
हित्वा हस्तगतं ग्रासं, ते लिहन्ति पदांगुलिम् ॥

अर्थात् जो उलटी खोपड़ी के लोग इस लोक के सुख को छोड़ कर तपस्या करते हैं, वे अपने हाथ के कौर को छोड़ कर पैर की उंगलियां चाटते हैं ।

तप, त्याग और सयम का उपहास करते हुए वे लोग यहां तक कहने मे भी संकोच नहीं करते कि—

अशक्तस्तु भवेत्साधुः, कुरूपा च पतिव्रता ।
व्याधितो देवभक्तश्च, निर्धनाः ब्रह्मचारिणः ॥

अर्थात् जो कमाई करके उदरपूर्त्ति करने मे असमर्थ है वह साधु बने। जो स्त्री कुरूप है और जिसे कोई पुरुष पसन्द ही नहीं करता वह भले ही पतिव्रता हो। जो बीमार है वह देवता की भक्ति करे और निर्धन होने के कारण जिसे स्त्री नहीं मिलती वह भले ब्रह्मचारी बने।

आशय यह है कि आत्मा के अभाव मे संयम, सदाचार और धर्माचरण आदि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। नास्तिक का

कथन है कि न तो किसी ने आत्मा को देखा है, न परमात्मा को और न परलोक ही दिखाई देता है। वह कहता है कि सांसारिक सुख तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं और परलोक के सुखों का कुछ पता नहीं है। ऐसी स्थिति में प्राप्त सुखों का त्याग करके कल्पित सुखों की आशा क्यों की जाय ?

जो पुरुष कामभोगों में गृद्ध हैं, आसक्त हैं, जो विषय-वासनाओं को त्यागने में अशक्त हैं; जिसकी इन्द्रियां इतनी उच्छृंखल हो रही हैं कि वे यम-नियम के नियंत्रण में नहीं आ सकती, वह इन्द्रियों का अनुचर बन कर परलोक-संबन्धी सुखों की परोक्षता का बहाना करता है। वही ऐसा कहता है कि परलोक के अविश्वसनीय सुखों के भरोसे रह कर इस लोक के सुखों से वंचित होने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

वस्तुतः यह विचारधारा भ्रान्तियुक्त है। परलोक को न देखने मात्र से उस पर सन्देह करना या उसे अस्वीकार कर देना उचित नहीं है। संसार में प्रतिदिन सहस्त्रों व्यापार भविष्यकाल की आशा पर होते हैं। कृषिकार पहले घर में रक्खे हुए सब को धान के खेत की मिट्टी में मिला देता है वह केवल भविष्य की आशा पर निर्भर रह कर ही ऐसा करता है। यदि किसान नास्तिक का अनुसरण कर के, भविष्य की उपेक्षा करता हुआ धान को खेत में न फैंके और सोचने लगे कि भविष्य की फसल किस ने देखी है ? कौन जाने फसल आयेगी या नहीं ? क्या पता है कि मै तब तक जीवित रहूंगा या नहीं ? तो फिर घर में रक्खे हुए धान को खेत मे क्यों फैंकूं ? अभी उस का उपयोग क्यों न कर लूं ? तो सोचिए कि आगे चल कर उस किसान की क्या दशा होगी ? प्रायः अन्न की समाप्ति हो जाने के पश्चात् उस का जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? इतना ही नहीं, शेष मनुष्यों की उदरपूर्ति की व्यवस्था कैसे होगी ?

वणिक् पहले घर की पूंजी लगा कर भविष्य के लाभ के लिए व्यापार करता है। नास्तिक की विचारधारा को मान्य किया जाय तो भविष्य में होने वाले अनिश्चित लाभ की आशा से वर्त्तमान में प्राप्त धन का व्यय क्यों किया जाय ?

इसी प्रकार अन्यान्य लौकिक कार्य भी यदि स्थगित हो जाएं तो संसार की क्या अवस्था होगी ? यह एक विचारणीय विषय है।

नास्तिक आत्मा और परमात्मा में विश्वास न रख कर सांसारिक विषय-भोगों में ही सुख मानने लगता है। वह नहीं जानता कि सच्चा सुख तो आत्मज्ञान में ही है। आत्मा ही परमानन्द का स्रोत है, किन्तु उस की ओर से वह विमुख रहता है। नास्तिक की यह तर्कहीन दुर्मान्यता उसे आत्मानन्द से ही वंचित नहीं रखती, किन्तु शारीरिक सुख से भी वञ्चित कर देती है। विषयासक्ति के कारण वह अपने शरीर का भी सत्यानाश कर लेता है। फलस्वरूप वह विविध प्रकार की शारीरिक व्याधियों का शिकार बन जाता है। जब वह रुग्ण हो कर शरीर को क्षीण एवं दुर्बल बना डालता है तो असह्य दुःख भोगता है। उस समय उसे अपनी भूल का पता लगता है।

जब जीवन की सन्ध्या आ जाती है और मौत चील की भांति सिर पर मंडराने लगती है तब एक ओर तो शारीरिक कष्ट उसे बेचैन बनाता है और दूसरी ओर परलोक का भय बेचैन बनाता है। वह अपने किये हुये कर्मों का विचार कर के और उन के अनिष्ट और व्यथाजनक परिणाम को सोच कर भयभीत हो जाता है, तड़फने लगता है और घोर पश्चात्ताप करने लगता है। फिर उसे काम-भोगों की असारता सूझ पड़ती है। इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं:-

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो, कत्थवि केलीइ नत्थि जह सारो।
इंदियविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ।

(भक्तपरीक्षा, गा० १४४)

अर्थात्—बहुत कुछ खोज करने पर भी जैसे कदली (केले में कहीं भी सार नहीं मिलता, इसी प्रकार इन्द्रियविषयों में भी तत्त्वज्ञों ने खूब खोज कर के भी कहीं सुख नहीं देखा है।

और भी कहा है:-

जह किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥

(उत्तराध्ययन, १६-१७)

अर्थात—जैसे किंपाक फलों का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता ।

नास्तिकता को धर्मशास्त्र तो निन्दित कहते ही है, विचारशील आधुनिक विद्वान् भी उसकी भर्त्सना करते है । पश्चिमी विद्वान् बेकन (Bacon) कहता है:-

They, that deny a God, destroy man's nobility, for clearly man is of kin to the beasts by his body and if he be not of kin to God by his spirits he is a base and ignoble creature

अर्थात्–जो लोग नास्तिक हैं वे मनुष्य की अच्छाई का नाश करते हैं, क्योंकि शारीरिक दृष्टि से तो मनुष्य पशुओं से सम्बन्धित है, और यदि उस की आत्मा परमात्मा से विमुख है तो वह बड़ा दुष्ट और निन्दित प्राणी बन जाता है ।

संसार विचित्रताओं का घर है । यहां घोर से घोर पापी भी हैं और उच्च से उच्च श्रेणी के धर्मनिष्ठ एवं पुण्यात्मा पुरुष भी हैं । कहीं दुराचार की तीव्र दुर्गन्ध मौजूद है तो कहीं सदाचार का सौरभ महक रहा है । कहीं अज्ञान का घना अन्धकार छाया हुआ है तो कहीं ज्ञान का उज्ज्वलतर प्रकाश चमक रहा है । कहीं कुत्सित वासनाओं की कालिमा व्याप्त है तो कहीं तप और त्याग की शुभ्रता दीप्त हो रही है । इन परस्पर विरोधी दो तत्त्वों में से जिसे जो चुनना होता है वह चुन लेता है । नास्तिक पाप, दुराचार, अज्ञान, वासना और कालिमा अपने लिए चुनता है और आस्थाशील आस्तिक इन से विपरीत चुनाव करता है । नास्तिक की दृष्टि अधोगामिनी होती है, और आस्तिक की ऊर्ध्वगामिनी होती है । नास्तिक कृष्णपक्षी है, आस्तिक शुक्लपक्षी है । नास्तिक की दृष्टि क्षुद्र और संकुचित होती है, आस्तिक विशाल और विस्तीर्ण दृष्टि वाला होता है, नास्तिक निम्न कोटि के पशु के समान होता है । सुन्दर कवि ने ठीक ही कहा है:-

देखत को नर दीखत है पर लक्षण तो पशु के सब ही हैं,<br>
बोलत चालत खावत पीवत सोवत जागत भी तो सही हैं ।

प्रात गये रजनी फिर आवत 'सुन्दर' यों नित भार वही है,
और तो लक्षण आय मिले सब एक उन्हें सिर सींग नहीं है।

मुस्लिम शास्त्र कुरान की सूरत इब्राहीम के रुकु १ आयत ३ और ४ मे लिखा है—"उन नास्तिकों की बड़ी दुर्दशा होगी जो सांसारिक विषयासक्ति को परलोक से विशिष्ट समझते हैं और परमात्म-मार्ग से परे रह कर उस में दोष निकालते हैं। ऐसे लोग घोर पथभ्रष्ट जीव हैं।"

आस्तिक केवल वर्त्तमान का ही विचार नहीं करता, अपितु भविष्य को भी सन्मुख रख कर अपने कर्तव्य का निर्णय करता है। नास्तिक अपने आप को जड़ शरीरपिण्ड मात्र ही अनुभव करता है, जब कि आस्तिक अपनी ज्ञानमूर्त्ति चेतना की अनुभूति का आनन्द लेता है। नास्तिक के अन्तःकरण में भोग की प्रबल तरंगें उठती रहती हैं, अतएव वह सदा क्षुब्ध रहता है। आस्तिक का अन्तःकरण प्रशान्त और गंभीर सागर के समान क्षोभहीन होता है। नास्तिक जगत् का दूषण और आस्तिक संसार का भूषण है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। नास्तिकता से प्रेरित हो कर मनुष्य खोटी क्रिया कर बैठता है, जिस से न केवल उस की अपनी हानि होती है, प्रत्युत वह संसार के लिए भी दुःखों का कारण बनता है। आत्मज्ञान के द्वारा ही मनुष्य पाप और पुण्य का रहस्य जानता है। नास्तिक आत्मा में विश्वास न रखने के कारण पाप और पुण्य के भेद से अनभिज्ञ रहता है और पाप के प्रवाह में वह कर अपने जीवन का नाश करता है। जैन शास्त्र कहता है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

(दशवैकालिक, ४-११)

अर्थात्—ज्ञानी पुरुषों के वचनों को सुन कर आत्मा कल्याण का मार्ग जानता है और सुन कर ही पाप के मार्ग को जानता है। दोनों मार्ग सुन कर ही जाने जाते हैं। साधक का कर्त्तव्य है कि वह दोनों मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो उस का आचरण करे।

आस्तिक आत्मा के रहस्य को समझ कर सद्गुणों को धारण करता है। उस का हृदय शुभ और मंगलमय विचारों का निधान होता है। जैसे कि—

(१) आस्तिक पर का अहित करने वाले विचारों का परित्याग करता है और पर-हितैषी बनता है। कभी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता।

(२) असत्य का त्याग कर सत्य का आचरण करता है।

(३) परस्वापहरण का त्याग करता है और किसी का हक नहीं छीनता।

(४) काम-विकार से परे रहता है। इन्द्रियविजयी बनता है।

(५) क्रोध का त्याग करता है। क्रोध आ भी जाय उसे जीत लेता है।

(६) परापवाद का त्याग करता है। किसी की निन्दा-चुगली नहीं करता।

(७) मिथ्या साक्षी देने का त्याग करता है। झूठी गवाही कदापि नहीं देता।

(८) अश्लील विनोद, गंदी हँसी, मजाक नहीं करता।

(९) मादक वस्तुओं का, मदिरा, भांग, चरस आदि का त्याग करता है।

(१०) जूआ खेल कर अपने समय और सम्पत्ति का नाश नहीं करता।

(११) सदाचार में ठेस पहुँचाने वाले सिनेमा आदि से बचता रहता है।

(१२) मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण से दूर रहता है।

(१३) क्रूर और कठोर भावनाओं को कदापि अपने अन्तःकरण में प्रवेश नहीं होने देता। करुणा और मैत्री की भावनाओं से ही हृदय को पवित्र बनाए रखता है।

(१४) संयमधर्म को विनम्रता के साथ धारण करता है।

(१५) निरन्तर नवीन ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

और जो बात उस की बुद्धि में नहीं आती, उस पर सर्वज्ञ और वीतराग प्रभु के वचन के अनुसार श्रद्धा रखता है।

इस के विपरीत नास्तिक का आचार-विचार और व्यवहार अति दूषित होता है। गीता में लिखा है–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः, क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्चन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च, प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा, एतावदिति निश्चिताः ।११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आसुरीं योनिमापन्ना, मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय!, ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

(गीता अ० १६)

अर्थात्—श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–हे अर्जुन! आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कर्त्तव्य काय में प्रवृत्त होना और अकर्त्तव्य कर्म से निवृत्त होना नहीं जानते, इसलिए उन में न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य ही है। मिथ्या ज्ञान के अवलम्बन से जिन का स्वभाव नष्ट हो गया है और जिन की बुद्धि मन्द हो गई है। ऐसे वे सब का अपकार करने वाले, क्रूर कर्मी मनुष्य केवल जगत

का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते है और वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हो कर किसी भी प्रकार पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले कर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण कर के भ्रष्ट आचार से युक्त होकर प्रवृत्ति करते हैं । वे मरण-पर्यन्त बनी रहने वाली चिन्ताओं से घिरे रहते हैं । विषयभोगों में तत्पर रहते है और ऐसा मानते है कि 'बस, इतना मात्र ही आनन्द है । वे आशा-तृष्णा की सैकड़ों फांसियो से बँधे हुए होते हैं । काम-क्रोध में परायण रहते है । विषयभोगों की पूर्त्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं । अतएव वे अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले अज्ञानी जन मोह के जाल में फंस कर और भोग-विलास में आसक्त होकर घोर अपवित्र नरक में पड़ते हैं । हे अर्जुन ! ऐसे मूढ़ जन जन्म-जन्मान्तर में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं और परमात्मा की शरण न पा कर और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ।

परलोक को न मानने वाला पुरुप हिंसक बन जाता है और क्रूरता के किसी भी कार्य से परहेज नहीं करता । किन्तु उस का पतन वहीं समाप्त नहीं हो जाता; क्यों कि –

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।

अर्थात् विवेक से भ्रष्ट लोगों का सैकड़ों प्रकार से पतन होता है । इस उक्ति के अनुसार नास्तिक गिरता ही चला जाता है और असत्य भाषण, मायाचार, पिशुनता, शठता आदि अनेक दुर्गुणों का पात्र बन कर अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने लगता है, इन सब दुर्गुणों और अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण से उस की आत्मा कलुषित से कलुषिततर बनती जाती है और इस कारण वह अपने अनिष्ट को अनिष्ट नहीं समझता, बल्कि अनिष्ट में ही इष्ट की कल्पना कर लेता है ।

एक रोगी अपने आप को रोगी समझता हो, तब तो वह चिकित्सा का पात्र हो सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से यदि वह अपने को रोगी ही न समझे या रोग को ही स्वस्थता समझ बैठे तो उस का उपचार कैसे हो सकता है ? नास्तिक अपनी करतूतों को कल्याणकारी समझने लगता है । इसी कारण वह उन से विमुख होना नहीं चाहता

और तव विमुख होने का प्रयत्न तो करेगा कैसे ? इस दुरवस्था को शास्त्र इस प्रकार कहता है—

कायसा वयसा मत्तो, वित्ते गिद्धे इत्थिसु ।
दुहओ मल संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥

(उत्तराध्ययन, ५, ७)

अर्थात्—वह नास्तिक काम से और वचन से गर्वयुक्त होकर धन में तथा स्त्रियों मे आसक्त हो कर राग-द्वेष के द्वारा कर्म-मल का सचय करता है. जिस प्रकार शिशुनाग कीडा मिट्टी से लिपटा रहता है ।

जहां आसक्ति है वहां लोलुपता है, राग है और द्वेष भी है । राग और द्वेष साथी है । एक वस्तु के प्रति राग होगा तो उस की विरोधी वस्तुओं के प्रति द्वेष का भाव अवश्यभावी है । अतएव नास्तिक को एक उर्दू कवि का कथन ध्यान मे लेना चाहिए ।

तेरी न यह जमीन है, तेरा न आसमान ।
तेरा न घर-वार न तेरा यह [1]जिस्मो जान ॥
कोई तेरा [2]रफीक़ न साथी न मिहरवान ।
न यह हाथी न यह घोड़े न यह साज सामान ॥
यह [3]उल्फतें कि साथ तेरे आठ पहर हैं ।
यह उल्फतें नहीं हैं मेरी जान [4]क़हर हैं ॥
जितने यह शरीर दीखते हैं जादू के शहर हैं ।
जितनी मिठाइयॉ हैं मेरी जां यह ज़हर हैं ॥
यह सारे ही हैं जाल तेरी जान का वबाल ।
फंसियो खुदा के वास्ते इन में न देखभाल ॥

सचमुच इस कविता में कठोर सत्य का स्पष्ट प्रतिविम्ब झलक रहा है । जो इस सत्य को हृदयंगम कर लेगा, उस का वेड़ा पार हो

१ शरीर तथा प्राण । २ मित्र । ३ प्रीति । ४ विपत् ।

जाएगा। वह नास्तिकता के भयानक पाश से दूर रह कर अपने कल्याण का मार्ग ग्रहण करेगा।

फारसी के एक कवि का कथन भी स्मरण रखने योग्य है—

अज़् हरचि नार वास्त वरी दीदहा ववन्द।

वज़् हरचि नापसन्द वुवद दस्त वाज़् दार॥

अर्थात्—जो वात अनुचित हो उस पर दृष्टि भी न डाल और जो कुछ अयोग्य हो उस से दूर रहो।

ऐसा आचरण करने से विवेक वुद्धि जागृत होगी, इष्ट अनिष्ट का ज्ञान होगा और आत्मा के प्रति प्रीति वढ़ेगी।

आस्तिकता का मूल प्रगाढ़ श्रद्धा में है। देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाला पुरुष ही आस्तिक हो सकता है। इस संवन्ध मे नास्तिक की ओर से वड़ी से वड़ी युक्ति यही उपस्थित की जा सकती है कि आखिरकार श्रद्धा किस पर रक्खी जाय? संसार में अनेक परस्पर विरोधी मत और पन्थ हैं। नाना प्रकार के असंख्य देव-देवियां है और गुरु तो गलियों में भटकते फिरते है। जिस ने चाहा, सिर पर जटा का भार लाद लिया, शरीर में भस्म लपेट ली, या गेरुआ रंग के कपड़े पहन लिये! वही साधु वन गया! ऐसी दशा मे जव तक अपने विवेक को तिलांजलि न दे दी जाय, तव तक श्रद्धा किस प्रकार की जाय?

इस कथन पर ज़रा गंभीरता से विचार करें। नास्तिक एक ओर समझता है कि हम अपने विवेक से काम ले रहे हैं और दूसरी ओर वह सच्चे और झूठे देव, गुरु और धर्म की परीक्षा करने की वुद्धि से इन्कार करता है! एक तरफ अपने विवेक का अभिमान और दूसरी तरफ विवेक के अभाव की अस्वीकृति! वास्तव में यह कथन वड़ा अटपटा और ऊटपटॉग है!

एक वात और है। संसार के देवों, धर्मों और गुरुओ को परस्पर विरोधी देख कर नास्तिक किसी पर श्रद्धा नहीं करते; किन्तु आश्चर्य की वात है कि वह अपने सिद्धान्त पर श्रद्धा भी करते हैं। क्या उस के मत का दूसरे मतों के साथ विरोधी नहीं है? परस्पर विरोध मतों में

उस का मत अन्तर्गत नहीं है ? फिर नास्तिक अपने मत पर श्रद्धा क्यों करता है ? क्या उस ने अपने विवेक से, तर्क की कसौटी पर अपने मत को कस लिया है ? यदि ऐसा है तो उसे मानना चाहिए कि मनुष्य अपने विवेक के द्वारा परस्पर विरोधी मतों, देवों और गुरुओं में से किसी का चुनाव कर सकता है। जब चुनाव कर सकता है तो उस की यह दलील अपने आप खंडित हो जाती है कि जब तक विवेक को तिलांजलि न दी जाय, तब तक श्रद्धा कैसे की जा सकती है !

किस मत में सचाई है और किस मत के देव, गुरु और शास्त्र सच्चे हैं, यह एक लम्बी चर्चा है। इस चर्चा के विस्तार में जाना संभव नहीं है। अतएव संक्षेप में उन की कसौटी को बतला देना ही पर्याप्त होगा। उस कसौटी पर कस कर मनुष्य देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की स्वयं परीक्षा कर के देख ले। कसौटी यह है–

(१) सच्चा देव वही है जिस की आत्मा पूर्णरूपेण निर्मल, निर्विकार हो गई हो। जिस ने आत्मा के समस्त दोषों को दूर कर के शुद्ध दशा प्राप्त कर ली हो। जो मोह और अज्ञान से सर्वथा अतीत हो चुका हो, अर्थात् वीतराग और सर्वज्ञ हो गया हो।

इस कसौटी पर जब हम देव की परीक्षा करने चलेंगे तो जो देव स्त्री के वश में हैं वे मोहग्रस्त होने के कारण देव की कोटि में नहीं आ सकेंगे। क्योंकि उन्हें वीतराग नहीं कहा जा सकता। इस के अतिरिक्त जो देव त्रिशूल, सुदर्शन चक्र आदि को धारण किये हैं, वे भी शस्त्रधारक होने से वीतराग नहीं हो सकते। उन्हें या तो किसी से भय है या किसी को जीतना शेष है। अन्यथा उन्हों ने शस्त्र ही क्यों पकड़ा है ? इसी प्रकार जिन के वचन प्रमाण से बाधित हैं, पूर्वापर-विरुद्ध हैं, हिंसा के प्रतिपादक हैं और सत्य के समस्त दृष्टिकोणों को स्पर्श नहीं करते, वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इस कसौटी पर सच्चे देव और कुदेव की परीक्षा की जा सकती है।

इसी प्रकार धर्म की सत्यता की भी परीक्षा की जा सकती है सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष के द्वारा जो उपदिष्ट हो, जो अहिंसा संयम और तप का विधान करने वाला हो, जिस में सदाचार का समर्थन किया

गया हो दया और करुणा का विधान किया गया हो, और जिस मे सत्य, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह आदि को उपादेय बतलाया गया हो, वही सच्चा धर्म है।

बाह्य वेष के कारण कोई मनुष्य गुरु पद का अधिकारी नहीं होता। किन्तु जिस ने पूर्ण संयम का पालन करने की प्रतिज्ञा ली है और जो उस प्रतिज्ञा पर अटल है, जो पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करता है, जो स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन आदि प्रशस्त व्यापारो में तल्लीन रहता है, यतना-सावधानी से चलता, बोलता, आहार लेता है, जो समस्त क्रियाओं में जीवहिंसा न-हो जाने का ध्यान रखता है और यथायोग्य तपश्चर्या करके इन्द्रियों और मन को जीतने के लिए जूझता रहता है, जगत् के जीवों पर अनुग्रह कर के उन्हें अपने धर्म का सन्मार्ग बतलाता है, जिस की वाणी से अमृत झरता है, जिस के अन्तःकरण में दिव्य भावनाओं की ज्योति जगती रहती है, वही सच्चे गुरुपद का अधिकारी है।

इसी प्रकार जो शास्त्र आप्तप्रणीत हो, युक्ति से बाधित न हो सकता हो, प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध न हो, कुमार्ग का नाशक हो और जो प्राणी मात्र के लिए हितकारक हो, जिस में हिंसा आदि पापों का विरोध और मध्यस्थभाव का समर्थन हो, वही सच्चा शास्त्र है।

इन कसौटीयों पर कस कर परीक्षा की जाय और जो देव, धर्म, गुरु, और शास्त्र उन पर खरा उतरे उसे ही सच्चा मान लिया जाय। इस के पश्चात् उस पर अटल श्रद्धान कर के उस के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर निश्शंक भाव से चलना चाहिये। यही आस्तिकता का स्वरूप है। ऐसे श्रद्धाशील और विवेकशाली साधन अवश्य स्व-पर कल्याण करने में समर्थ होते है।

# सदाचार

सदाचार मानव जीवन का वह सौरभ है, जिस के अभाव में मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं रह जाता, वह उत्तम से उत्तम जीवन पाना भी न पाने के समान हो जाता है और मनुष्य पद-पद पर लांछित, अपमानित और घृणित बन जाता है। इस के विपरीत सदाचार के सौरभ से समन्वित मनुष्य गुलाब के फूल की तरह सर्वत्र सदाचार का भाजन बनता है, सब का प्रिय बन जाता है और अपने जीवन को सफल बना लेता है।

सच पूछो तो मनुष्यता का दूसरा नाम ही सदाचार है, क्योंकि मनुष्य के योग्य उत्तम कर्त्तव्य करने वाला ही वास्तव मे मनुष्य है, मनुष्य की आकृति पा लेने मात्र से ही कोई मनुष्य नहीं बन जाता। शरीर की आकृति का कोई मूल्य नहीं है। वह चाहे मनुष्य की हो या किसी अन्य प्रकार की, आकृति तो आकृति ही है। मनुष्य की सी आकृति तो बन्दर भी पा जाता है, किन्तु उसे मनुष्य नहीं कह सकते। मनुष्य तो वही है जो मनुष्योचित व्यवहार करता है।

जैसे तलवार की क़ीमत म्यान से नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य जीवन की क़ीमत मनुष्यशरीर से नहीं है। जैसे किसी आभूषण की कीमत उसकी पेटी या डिबिया से नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य की क़ीमत उसके शरीर के खोखे से नहीं है। तलवार का मूल्य उस के पानी से है, आभूषण का मूल्य उस की अपनी अच्छाइयों पर निर्भर है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर की उत्तमता उस के सदाचार से है।

मनुष्य का शरीर सुन्दर है, किन्तु उस मे सदाचार नहीं है, तो उस की सुन्दरता व्यर्थ है। मनुष्य के पास वैभव है, संसार की और सभी वस्तुएँ है, किन्तु सदाचार नहीं है तो समझ लीजिए कि उस के पास कुछ भी नहीं है।

कहावत है—'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना:' अर्थात् हाथी के पैर में सभी पैरों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार सदाचार में सभी सद्‌गुणों का, सब प्रकार की पवित्रताओं और अच्छाइयों का समावेश हो जाता है। सदाचार उन अच्छाइयों का वाचक है जिन की मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिए आवश्यकता होती है।

सदाचार के बिना जैसे धन-सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान का भी कोई मूल्य नहीं। कोई मनुष्य कितना ही बड़ा ज्ञानी, शास्त्रों का पारंगत विद्वान् और बृहस्पति का अवतार ही क्यों न हो, सदाचार के अभाव मे मूर्ख ही समझा जाता है। एक कवि ने कहा है:-

मतिमान हुए धृतिमान हुए गुणवान् हुए वहु खा गुरु लातें,
इतिहास भूगोल खगोल पढ़े नित न्याय रसायन में कटीं रातें।
रस पिंगल भूषण भावभरी गुण सीख गुणी कविता करी घातें,
यदि मित्र; चरित्र न चारु हुआ धिक्कार है सब चतुराई की बातें॥

जिस प्रकार भौतिक औषधि भौतिक शरीर की व्याधियों का संहार करती है, उसी प्रकार सदाचार आत्मिक विकारो का संहार करता है। यही कारण है कि शास्त्रों में आचरण की महिमा मुक्त कंठ से गाई गई है। संसार के सभी मत, पंथ, सम्प्रदाय और समाज सदाचार का समर्थन करते हैं, उस पर जोर देते हैं और जीवन में उसे बहुमूल्य समझते हैं। वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु उस ज्ञान का फल चारित्र है। जिस ज्ञान से चारित्र की प्राप्ति न हो वह ज्ञान निष्फल है। ज्ञान की सार्थकता चारित्र के लाभ में ही निहित है। संसार में जितने भी महापुरुष हो चुके हैं वे चारित्र की उत्तमता की बदौलत ही महापुरुष माने गये है और भविष्य में जो महापुरुष होंगे, चारित्र के महान् प्रभाव से होंगे। इसीलिए जैनशास्त्र में कहा है—

**अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वता ।**
**एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥**

(सूयगडांग, २-३-२०)

अर्थात्– जो जिनेश्वर पहले हो चुके हैं और जो भविष्य में होंगे वे सब सुव्रती अर्थात् सदाचारी थे । वे सुव्रती होने से जिनेश्वर हुए और होंगे । वे सभी सद्‌गुणों का उपदेश देते रहे, क्योंकि वे काश्यप भगवान् (महावीर स्वामी) के धर्म का आचरण करते थे ।

सम्यक् चारित्र या सदाचार के अभाव में ज्ञान भार रूप है । **'ज्ञानं भारः क्रियां विना ।'** यही नहीं, वल्कि सदाचार के अभाव में कभी-कभी ज्ञान अनर्थ का कारण वन जाता है । उस से बहुत सारी ऐसी बुराइयां उत्पन्न हो जाती हैं जो ज्ञान के अभाव मे नहीं उत्पन्न हो सकतीं ।

उस वृक्ष से क्या लाभ है जो फल नहीं देता ? इसी प्रकार उस ज्ञान से क्या लाभ है जो सदाचार का विकास और पोषण नहीं करता । जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमल विकसित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर सदाचाररूपी कमल का विकास होना चाहिए । सदाचार का कमल खिला देने में ही ज्ञान की सार्थकता है । ऐसा नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान न हो, मिथ्या ज्ञान है । कहा भी है–

**सत्यं तपो ज्ञानमहिंसता च,**
**विद्वत्प्रणामञ्च सुशीलता च ।**
**एतानि यो धारयते स विद्वान्,**
**न केवलं यः पठते स विद्वान् ॥**

सच्चा विद्वान् वह नहीं है जो संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के, विविध विषयों के, शास्त्रों को कंठस्थ कर चुका हो, जिस ने आदि से अन्त तक व्याकरण के सूत्रों को घोंट कर पी लिया हो, जो बड़ी-बड़ी सभाओं में शास्त्रार्थ कर के अपने प्रतिवादियों को अभिभूत और परास्त कर सकता हो और जो वाल की खाल निकाल कर

अपनी दार्शनिक योग्यता का सिक्का जमा सकता हो, सच्चा विद्वान् वह है जिसके जीवन में सत्य ताने-बाने की तरह बुन गया हो, जो शक्ति के अनुसार तपश्चरण करता हो, जो ज्ञानवान् हो और किसी भी प्राणी को अपने व्यवहार से कष्ट न पहुँचाता हो। जो सच्चा विद्वान् होगा वह दूसरे विद्वानों का आदर करेगा, उन के समक्ष नम्रता धारण करेगा और उन्हें नमस्कार करेगा। वह सदाचार की मूर्त्ति होगा। सदाचार के इन गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा विद्वान् कहलाता है।

कोरे शब्दज्ञान से और भाषाओं के पाण्डित्य से आत्मा का कल्याण नहीं होता। आत्मा का कल्याण तो सदाचार से ही हो सकता है। ज्ञान का फल वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकाश में ला देना है। ज्ञान हमें बतलाता है कि यह वस्तु त्यागने योग्य है, यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है और यह वस्तु उपेक्षणीय है। मगर त्याज्य वस्तु को त्यागना, उपादेय वस्तु का उपादान करना, उपेक्षणीय वस्तु पर उपेक्षा करना तो आचार से ही संबन्ध रखता है। यह हितकर और यह अहितकर है, इतने ज्ञान मात्र से ही तो हित नहीं हो सकता और न अहित से बचा जा सकता है। हितकर कार्य करने से और अहितकर कार्यों से बचने से ही हित हो सकता है।

आंख से देख लिया कि यह सर्प है, मगर उस से बचने का प्रयत्न न किया तो देखना क्या काम आया ? अमुक औषध से अमुक रोग का शमन होता है, इतने ज्ञान मात्र से आरोग्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान के साथ आचरण की भी आवश्यकता है। ज्ञान के अभाव में भलाई-बुराई का भान नहीं हो सकता, इसीलिये ज्ञान की भी आवश्यकता है अवश्य, परन्तु भलाई का आचरण न करने पर तो उस के जान लेने से भी कोई लाभ नहीं होता। अतएव ज्ञान के साथ चारित्र भी होना ही चाहिए। अपनी मंज़िल तक पहुंचने के लिए मार्ग का ज्ञान होना अवश्यक है, किन्तु मार्ग को जान लेने मात्र से ही तो मञ्जिल तक नहीं पहुँच सकते। वहां तक पहुँचने के लिए तो उस मार्ग पर चलना पड़ेगा। शास्त्र में कहा है—

इहमेगे उ मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥६॥
भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥१०॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥११॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६)

अर्थात् कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि पाप का परित्याग न कर के भी केवल सन्मार्ग को समझ लेने से ही सब दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। ऐसे लोग पढ़ते तो हैं मगर करते कुछ भी नहीं और केवल बन्ध और मोक्ष की बातें बघारते रहते हैं। ऐसे लोग अपने वचन के वीर्य से ही, अर्थात् अपनी वाचनिक शक्ति से ही अपने आप को आश्वासन दे लेते हैं। किन्तु नाना प्रकार की भाषाएं उन का त्राण नहीं कर सकतीं और विद्याओं एवं शास्त्रों से भी उन की रक्षा नहीं हो सकती। वे लोग अपने पापकर्मों से अन्त में विषाद ही पायेंगे। वास्तव में वे बाल-अज्ञानी हैं किन्तु अपने आप को पण्डित मानते हैं।

जो ज्ञानवान् तो है किन्तु अपने ज्ञान को आचरण में प्रयुक्त नहीं करता और समझ लेता है कि ज्ञान से हमारा कल्याण हो जायगा, उसकी यहां खरी-खरी किन्तु यथार्थ आलोचना की गई है। इस के तथ्य को समझ कर ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने ज्ञान का सदाचार में प्रयोग करे और सदाचार का अनुष्ठान करके अपने जीवन को कृतार्थ करे।

वस्तुतः सर्वत्र सदाचार की महिमा गाई गई है। हो सकता है कि सदाचार की ऊपरी मर्यादाओं में विभिन्न देशवासियों, जातियों और विभिन्न कालों में कुछ विभिन्नता दृष्टिगोचर हो, और यह भी संभव है कि एक देश में जो सदाचार समझा जाता है वह दूसरे देश में सदाचार न समझा जाए, फिर भी उस देश, उस जाति और उस काल

के लोग तो इसे भी सदाचार समझ कर ही प्रश्रय देते है और इस रूप मे सदाचार का सन्मान सर्वत्र अक्षुण्ण ही कहा जायेगा। एक पश्चिमी विद्वान् विनथौरप (Winthrop) ने कहा है—

The noblest contribution which any man can make for the benefit of posterity, is that of a good character. The richest bequest which any man can leave to the youth of his native land, is that of a shining spotless character.

अर्थात् सब से उत्तम वस्तु, जो कोई मनुष्य अपनी सन्तान के लाभ के लिये प्रदान कर सकता है, वह सदाचार है। सब से बहुमूल्य सम्पत्ति, जो कोई मनुष्य अपनी मातृभूमि के नवयुवकों के लिए छोड़ सकता है, वह शुभ्र तथा उज्ज्वल शुद्धाचरण ही है।

मनु जी ने सदाचार की महान् महिमा का वर्णन करते हुए कहा है–**'आचारः प्रथमो धर्मः'** अर्थात् सदाचार ही पहला अथवा श्रेष्ठ धर्म है। फिर उन्होंने लिखा है—

**आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।**
**आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥**
**दुराचारो हि पुरुषो, लोके भवति निन्दितः।**
**दुःखभागी च सततं, व्याधितोऽल्पायुरेव च॥**

(मनुस्मृति ४, १५६-७)

अर्थात् सदाचार से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। जो स्वयं सदाचारी होगा उस की सन्तान भी सदाचारी होगी, अतएव इच्छित होगी। आचार से ही अक्षय धन की प्राप्ति होती है तथा अलक्षण से उत्पन्न होने वाले अरिष्ट को भी आचार नष्ट कर देता है। इस के विपरीत, खोटा आचरण करने वाला पुरुष, निन्दित, दुःखों का भाजन, सदा रोगों से पीड़ित और थोड़ी अवस्था वाला होता है। अतएव दुराचार का त्याग करके सदाचार में ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। महाभारत में भी बतलाया है—

अप्यदृष्टं श्रवादेव, पुरुषं धर्मचारिणम् ।
भूतिकर्माणि कुर्वाणं, तं जनाः कुर्वते प्रियम् ॥
ये नास्तिका निष्क्रियाश्च, गुरुशास्त्राभिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते, भवन्ति गतायुषः ॥
तस्मात्कुर्यादिहाचारं, यदिच्छेद् भूतिमात्मनः ।
अपि पापशरीरस्य, आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

(अ० १०४, श्लो० १०-११-८)

अर्थात् जो पुरुष धर्म के अनुसार अपना जीवन व्यवहार चलाता है, उसे जिन लोगों ने देखा नहीं है, वे भी उस की धर्मपरायणता की प्रशंसा सुन कर उसे प्रिय समझने लगते हैं, किन्तु जो लोग नास्तिक हैं, क्रिया-हीन है, गुरु और शास्त्रों की वाणी का उल्लंघन करते हैं, जो अधर्मी और दुराचारी हैं, वे गतायु होते हैं । इसलिए यदि पुरुष अपने हित की अभिलाषा करे तो सदाचार का ही सेवन करे । सदाचार की ऐसी महिमा है कि वह पापयुक्त शरीर का भी कुलक्षण दूर कर देता है ।

सदाचार का क्षेत्र बहुत व्यापक है । सदाचार जहां व्यक्ति के लिए कल्याणकर है, वहां जातियों के लिए भी अत्यावश्यक है । वही जातियां संसार में उन्नति की ओर अग्रसर होती है, जिन का सदाचार उत्तम कोटि का होता है । कहना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति के लिए सदाचार उतना ही आवश्यक है जितना किसी भी पौधे के लिए जल आवश्यक होता है । जल के अभाव में पौधा खड़ा नहीं रह सकता, पनप नहीं सकता, और सफल नहीं हो सकता. इसी प्रकार सदाचार के बिना कोई भी व्यक्ति और समाज पनप नहीं सकता, हरा-भरा नहीं रह सकता और सफलता नहीं पा सकता ।

सदाचार के सिद्धान्त प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समाज के लिए लागू होते हैं । यद्यपि यह सत्य है कि वर्ण आदि के भेद से सदाचार के सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उन सब का सत्य एक ही है । चाहे कोई पठन-पाठन आदि करता हो चाहे सैनिक कर्त्तव्य बजाता हो, चाहे व्यापार करता हो या दफ्तर में काम

करता हो, वैद्यक करता हो या वकालत करता हो, जूते बना कर बेचता हो या सड़कें साफ करता हो. प्रत्येक के लिए सदाचार की मर्यादाएँ हैं और जो उन मर्यादाओं के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं, वे सदाचारी ही कहे जाएँगे। इसी प्रकार जो संसारत्यागी है वह यदि अपने कर्त्तव्य का भली भान्ति पालन करता है तो वह सदाचारी है और जो त्यागी नहीं गृहस्थ है, वह भी यदि अपने गृहस्थी जीवन की मर्यादा मे चलता है तो वह भी सदाचारी ही है। जैसे साधु जीवन का सदाचार अपना महत्त्व रखता है, उसी प्रकार गृहस्थ जीवन का सदाचार भी अपना महत्त्व रखता है।

अपने पारिवारिक जनों की सुख-सुविधा में अपनी सुख-सुविधा समझना, उनके प्रति जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया है उसे कर्त्तव्य समझ कर पालन करना, कुल की प्रशस्त मर्यादाओं की रक्षा करना, अपनी पत्नी या पति के प्रति वफादार होकर रहना, परस्त्रियों को या परपुरुषों को माता, पिता या भाई बहिन के समान समझ कर देशतः ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना, दुर्व्यसनों से दूर रहना, सन्तति के रूप में देश को उत्तम से उत्तम नागरिक समर्पित करने की चेष्टा करना, गृहस्थ के योग तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान, शील, तप और पवित्र भावना का आचरण करना, न्याय-नीति का अनुसरण करते हुए अपनी आजीविका करना झूठ-कपट का आश्रय न लेना, पर का उत्कर्ष देख कर ईर्षा न करना, किसी की निन्दा-चुगली न करना, अपने वचन का पालन करना, असभ्य और कठोर भाषा का प्रयोग न करना, विश्वासघात न करना, क्रोध आदि कषायों को जीतने का प्रयत्न करना, गृहागत अतिथि का यथोचित सत्कार करना, माता पिता आदि गुरुजनों के प्रति विनयभाव रखना, उन की शुश्रूषा करना, अपने भाई आदि की सन्तान पर अपनी ही सन्तान के समान वात्सल्य भाव रखना, धार्मिक कृत्यों में प्रमाद न करना आदि-आदि गृहस्थ का सदाचार है। इस सदाचार का पालन करने वाले गृहस्थ भी सुशील और सुव्रती कहलाते है।

आशय यह है कि जो मनुष्य जिस किसी भी कोटि में हो, वह

अपनी कोटि के अनुकूल सदाचार का पालन कर के अपने जीवन को पवित्र बना सकता है।

भारतवर्ष किसी समय अपने उच्च कोटि के सदाचार के लिए विख्यात था। समग्र संसार इस विषय मे उस का लोहा मानता था। विदेशों से आने वाले यात्री मुक्त कंठ से भारतवासियों के उच्च आचार की प्रशंसा किया करते थे। भारत के प्राचीन इतिहास में असंख्य नर-नारियों के उज्ज्वल चरित्र के नमूने हमें मिलते हैं। एक शरण में आये हुए की रक्षा करने के लिए अपने शरीर का बलिदान कर देना और अपने राज्यों की परवाह न कर के प्रबल शत्रु के साथ भी जूझना क्या साधारण चरित्रवत्ता का द्योतक है? राजा मेघरथ और राजा चेटक आदि की बोधप्रद गाथाएँ कभी भुलाई नहीं जा सकतीं? भारतीय साहित्य में सदाचार के एक से एक उत्तम उदाहरण हैं और वे इतने प्रचुर परिमाण मे हैं कि उन के नाम गिनना तो दूर रहा, संख्या का निर्धारण करना भी सरल नहीं है।

भारत के इस अतिशय उज्ज्वल अतीत के प्रकाश मे जब हम उसके वर्तमान को देखते हैं तो घोर विषाद, निराशा और खेद होता है। आज भारत का चारित्र गिर गया है और इतना गिर गया है कि अनार्य कहलाने वाले देशों का भी वह मुकाबिला नहीं कर सकता। पिछले दिनों जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो अप्रामाणिकता और अनैतिकता दिखलाई है, उसे देख कर किस सत्तपुरुष का हृदय परितप्त नहीं होगा? बड़े-बड़े व्यापारी सेठों ने भी चोर-बाजारी की, और शासन के उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित लोगों ने रिश्वत ले-लेकर देश को कलंकित किया। प्रवाह आज भी चल रहा है और देश की उन्नति रुक गई है। देश के स्वाधीन होने पर आशा की जानी चाहिए थी कि उस के चारित्र का विकास होगा, किन्तु इस आशा पर पानी फिर गया है।

जिस समय भारत में सदाचार का प्राधान्य था, उस समय की अवस्था को एक उर्दू कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है–

वह भी कभी था वक़्त कि अपनो में प्यार था।
भाई पै भाई बाप पै बेटा [1]निसार था॥
छोटों को था बड़ों की बुज़ुर्गी का [2]एहतराम।
छोटों पै थीं बड़ों की निगाहें [3]करम [4]मदाम॥
हक छीनना किसी का समझते थे पाप वह।
करते थे अपनी ग़ल्तियों पर पश्चात्ताप वह॥
पत्नी पति के [5]रंजो अलम में शरीक थी।
अरधंगी बनी थी असल में पत्नी ही ठीक थी॥
दुश्मन की दुश्मनी में भी था [6]जज़बाए प्यार।
इज़्जत थी [7]इन्कसार था और आपस का [8]एतबार॥

किन्तु आज क्या स्थिति है? यह भी कवि के ही शब्दों में सुन लीजिए–

जीने का अब मज़ा नहीं हिन्दोस्तान में।
बूढ़े में [9]उन्स है न मुहब्बत जवान में॥
भाई से भाई मां से बेटा उलझ रहा।
इक दूसरे को दुश्मने जां है समझ रहा॥
शौहर से बीवी, बीवी से शौहर है बदग़ुमान।
है बाप का बना हुआ बेटा [10]अदुए जान॥
वह जां [11]निसारियो की [12]रवायात मिट गई।
वह सुलह और आश्ती की हिकायात मिट गई।
हैं ढंग यां पै मेहरो मुहब्बत के और ही।
बिगड़े हुए हैं हिन्द के लोगों के तौर ही॥

---

१ कुर्बान। २ आदर। ३ कृपादृष्टि। ४ सदैव। ५ दुःखशोक। ६ प्रेमभाव ७ विनय। ८ विश्वास। ९ प्रेम। १० शत्रु। ११ बलि। १२ कहानियां।

यह है आज की स्थिति का सही चित्रण। भारतवासियों को शीघ्र सावधान होना चाहिए और सदाचारसम्बन्धी उस महत्ता को पुनः प्राप्त करना चाहिए जो किसी काल में उन्हें प्राप्त थी। स्मरण रखना चाहिए कि जो लोग सदाचार की उपेक्षा कर के केवल प्रकृति और प्रकृति के वशीभूत हो कर कुपथ में चल रहे हैं, जिन्होंने इस संसार के मोह में फंस कर नैतिकता और धार्मिकता का आश्रय ग्रहण नहीं किया है, जो पाप में लिप्त रहते हैं, उन की स्वाभाविक पवित्रता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। वह भय, क्लेश और ग्लानि से सदैव शंकित और भयभीत रहते हैं। किन्तु सदाचारी पुरुष की आत्मा में असीम बल आ जाता है। वह कभी भयभीत नहीं होता। क्योंकि भय पापाचरण का ही परिणाम होता है। सदाचारी पुरुष पाप की परछाँई से भी दूर रहता है और दुराचारी पुरुष अपनी पाप भावना को चरितार्थ करने के लिए सर्वदा यत्नशील रहते हैं। वे इसी विचार में व्यस्त रहते हैं कि कुप्रवृत्तियां किस प्रकार तीव्रतर बनें और भोग-विलास किस उपाय से प्राप्त हो ? उन्हें यह विचार एक क्षण के लिए भी नहीं आता कि पाप से किस प्रकार परित्राण पाएंगे ? पापाचरण के कारण उन की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् कुबुद्धि आकर उन से कहती है—पाप से डरना डरपोक का काम है तथा धर्म और अधर्म, परलोक और मोक्ष का विचार करना निरर्थक है। स्वार्थसाधन करना ही सुख का साधन है।

किन्तु संसार के समस्त सत्पुरुषों ने कहा है और प्रत्येक विचार-शील व्यक्ति स्वयं भी अनुभव कर सकता है कि वास्तविक शान्ति सदाचार से ही प्राप्त होती है। अतएव हे भव्य जीवो ! शील और सदाचार से विभूषित हो कर अपना अन्तिम दिन आने से पूर्व ही पाप और दुराचार के लिए पश्चात्ताप कर लो और पवित्र बन जाओ। विविध कुतर्कों द्वारा अपने को धोखा देने की चेष्टा न करो। विस्मरण न करो कि एक दिन अवश्य मृत्यु होगी और परलोक में जाना पड़ेगा, हृदय को सरल और सदाचार से परिपूर्ण किये विना वहां कैसे सुखी हो सकोगे ?

प्रायः लोग कहा करते हैं— कलियुग के प्रभाव से मनुष्य दुःख के अधीन हो रहे हैं। कलियुग उन्हें सुख की सांस नहीं लेने देता। किन्तु

ऐसा कहना और समझना उन की भूल है। सदाचारी पुरुष पर कलियुग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। सदाचार का जाज्वल्यमान प्रभाव कलियुग के प्रभाव को अपने निकट नहीं आने देता। गोस्वामी तुलसी-दास ने कहा है–

> सत्य वचन मानस विमल, कपट रहित कर लूति।
> तुलसी रघुवर सेवकहिं, सकहि न कलियुग जीति॥

अगर तुम्हारी वाणी मे सत्य है, मन मे निर्मलता है, तुम्हारी क्रियाएँ कपट रहित हैं और तुम भगवान् की भक्ति करने में तत्पर रहते हो तो कलियुग भी तुम्हें जीत नहीं सकता। तुम्हारे सामने उसे ही परास्त होना पड़ेगा।

अतएव सदाचार की शरण ग्रहण करो और चारु चरित्र को धारण करके कल्याण के पथ पर चलते चलो। याद रक्खो स्वेच्छाचारी पापी लोग यहाँ से जितना दुराचार का भार लेकर कूच करते हैं, उतनी ही अधिक व्यथाजनक अधोगति मे जाते है और उसी परिमाण मे पर-लोक मे अपने पापो का उपयुक्त दण्ड भोगते हैं। दुराचारी पुरुष शोक से व्याकुल और रोग से कातर हो कर दुःखों एवं विपदाओं से ग्रस्त होते है। वे स्वयं अपने पतन को निमंत्रित करते है।

सदाचारी पुरुष सरल हृदय की प्रेरणा से शुभ मार्ग पर चलता रहता है। उसे किसी प्रकार की ठोकर नहीं लगती। वह कभी पाप के गढ़े में नहीं गिरता। वह न केवल आप ही ऊंचा उठता है, किन्तु अपने संसर्ग में आने वाले दूसरे लोगों को भी ऊँचा उठाता है। उस के सदाचार की महक आसपास के वायुमण्डल को भी महका देती है। वह जिस देश और जाति में रहता है, उसे भी पवित्रता की प्रेरणा देता है और उस की प्रतिष्ठा एवं गौरव में वृद्धि करता है।

दीर्घकालीन वासनाओं से प्रभावित होने के कारण मनुष्य की वृत्तियाँ कुपथ की ओर चली जाती हैं। ऐसी स्थिति में अपने सदाचार की रक्षा करने के लिए अत्यन्त सावधान और जागृत रहने की आवश्यकता होती है। सदाचार को प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के

लिए भगवान् महावीर ने बहुत ही सुन्दर तरीका हमें बतलाया है। कहा है—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंधं कुज्जा॥

अर्थात्—प्रत्येक विचारशील और जीवन-शुद्धि की साधना करने वाले पुरुष को यह सोचना चाहिए कि दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं? मुझे अपने आप में क्या दोष दिखाई देते हैं? क्या मैं उन दोषों का परित्याग नहीं कर रहा हूं? इस प्रकार सम्यक् रूप से अपने दोषों को देखने वाला साधक भविष्य में ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिस से उस के शील और संयम में बाधा पहुंचे।

जो पुरुष सदाचार के मंगलमय मन्दिर में दृढ़तापूर्वक प्रवेश करते हैं और अपने आप को पवित्र बनाते हैं, उन्हें जिस उत्तम फल की प्राप्ति होती है, उस का दिग्दर्शन शास्त्र में इस प्रकार कराया गया है—

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥

(सूत्रकृताग, १५-५)

अर्थात्—जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नाव के समान है। वह आत्मा, नौका की तरह, संसार रूप समुद्र के तट पर पहुँच कर सभी दुःखों से मुक्त हो जाती है।

स्मरण रखना चाहिए कि नौका स्वयं तो पार होती ही है, वह उन्हें भी पार पहुँचा देती है जो उस का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष स्वयं भी दुःखों से मुक्त होते हैं और आश्रय लेने वाले दूसरों को भी दुःखों से मुक्त कर देते हैं।

वही नौका सकुशल पार पहुंचाती है जिस में छिद्र न हों।

छिद्रों वाली नाव न स्वयं पार लग सकती है, न दूसरों को लगा सकती है। वह तो अतल जल में डूबने के लिये ही है। इसी प्रकार जिस के जीवन में अवगुणों या बुराइयों के छिद्र होंगे वे न स्वयं संसार सागर के पार पहुंचेंगे, न दूसरों को पहुंचा सकेंगे। वे स्वयं डूबेंगे और दूसरों को भी डुबोएंगे। जीवन के अवगुण, नौका के छेद के ही सदृश होते हैं। दम्भ, काम, क्रोध. लोभ, असत्य, अहंकार, द्वेष, द्रोह, हिंसा, अपवित्रता, ममता, विलासिता, मान-बड़ाई की इच्छा, नेता बनने की इच्छा, धनासक्ति आदि दोष जीवन-नौका के छिद्र हैं। इन छिद्रों के रहते संसार-सागर से पार उतरना कठिन है।

भव्य जीवो ! स्मरण रक्खो कि सदाचार ही संसार में सार है, अतएव वही सत्पुरुषों के हृदय का हार होना चाहिए। जो उसे अपने हृदय का हार बनायेंगे, वे भव-पारावार के पार पहुँचेंगे और अक्षय आनन्द के अधिकारी होंगे।

# सँभलो !

इस विराट् सृष्टि में जीव नाना गतियों और योनियों में भ्रमण कर रहा है। विभिन्न योनियों में भ्रमण करते-करते जब अनन्तानन्त पुण्य का उदय होता है तब कहीं मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। मनुष्य भव पा लेने पर भी बहुत से मनुष्य म्लेच्छ, पापाचारी और असंस्कृत होते हैं। उन का मनुष्य होना न होने के समान है और कभी-कभी तो उन का मनुष्य होना न होने की अपेक्षा भी अधिक हानिकारक हो जाता है। वे मनुष्य हो कर उलटा पापों का भार बढा लेते है और फिर अधिक अधोगति के अतिथि बनते है।

इस प्रकार मनुष्यगति मिल जाने पर भी यदि सुसंस्कारी कुल न मिला, विवेकबुद्धि न मिली, सत्पुरुषो की संगति प्राप्त न हुई, जीवन को पावन और उच्च बनाने की सामग्री न मिली, धर्मश्रवण करने का अवसर न मिला और धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न न हुई तो मानव जीवन पाना भी निष्फल हो जाता है।

जिन मनुष्यो को महान पुण्ययोग से यह सब सामग्री मिल गई है, वे कितने भाग्यवान हैं। सचमुच उन के समान और कोई भाग्यशाली नहीं है। मगर उन के भाग्यशाली होने का अर्थ यह है कि उन्होंने पूर्वकाल मे जो प्रबल पुण्य उपार्जन किया था, उस का फल उन्हे प्राप्त हुआ है। अर्थात् वे पूर्वकृत सुकृत का फल भोग रहे हैं। उन का भूत काल बहुत उज्ज्वल रहा है। उन के भाग्यशाली होने का अर्थ यह नहीं है कि उन का भविष्य भी भूतकाल की भांति उज्ज्वल ही होगा।

अलबत्ता भूतकालीन पुण्य के योग्य से उन्हे अपने भविष्य को समुज्ज्वल बनाने का सर्वोत्तम अवसर मिला है। पशुओं को, पक्षियों को, कीड़ो को, मकोड़ो को, नारकियो को, अनार्य असभ्य और

असंस्कृत मनुष्यों को, यहाँ तक कि स्वर्ग के देवताओं को जो सुन्दर योग प्राप्त नहीं होता, वह योग पूर्वोक्त सामग्री पाने वाले मनुष्यों को प्राप्त हुआ है। इस सामग्री के सदुपयोग पर ही उन के भविष्य की उज्ज्वलता निर्भर है और इस का दुरुपयोग करने पर भविष्य अन्धकारमय बन सकता है।

जो पुण्यशील पुरुष अपने भविष्य को कल्याणमय बनाने का प्रयत्न करते है, वे अपने उदय में आये हुए पुण्य से लाभ उठाते है। वे उस कमाऊ पूत के समान हैं जो अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त हुई सम्पत्ति का यथोचित विनियोग कर के उस से नवीन सम्पत्ति का उपार्जन करते हैं। इस के विपरीत, जो लोग पूर्व पुण्य का उपभोग तो करते है अर्थात् पुण्ययोग से मिली हुई सम्पत्ति, स्वस्थता आदि से आनन्द भोगते है, किन्तु नवीन पुण्य का संचय नहीं करते, वे उस उड़ाऊ पूत के समान हैं जो अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई सम्पत्ति को आमोद-प्रमोद में व्यय कर डालते हैं और नवीन कुछ भी उपार्जन नहीं करते।

कुछ लोग तीसरी श्रेणी के भी होते हैं। जैसे कोई-कोई मनुष्य अपने बाप दादा से प्राप्त हुई सम्पत्ति में से उतना ही व्यय करते हैं, जितना नवीन उपार्जन करते हैं वे उस पूंजी को न घटने देते हैं और न बढ़ाते ही है। जो लोग पूर्वपुण्य के उदय के फल को भोगते हुए उतना ही नवीन पुण्य भी उपार्जन कर लेते है, वे इस तीसरी श्रेणी मे गिने जाते हैं।

अगर आप से यह प्रश्न किया जाय कि इन तीन प्रकार के मनुष्यों मे से आप अपने पुत्र को किस श्रेणी में देखना पसन्द करेंगे? तो आप बिना सोचे-विचारे झटपट कह देंगे कि हमे प्रथम श्रेणी का पुत्र पसन्द है। फिर यदि आप से यह प्रश्न किया जाय कि आप स्वयं किस कोटि मे रहना पसन्द करते है? तो आप सोचेंगे और अपने को भी प्रथम कोटि में ही रखना पसन्द करेंगे। ठीक है, धनसम्पत्ति की वृद्धि किसे अच्छी नहीं लगती?

मगर बात धन-सम्पत्ति रूप पूंजी के विषय में सोची जाती है।

वहाँ पुण्यरूप पूंजी के विषय में क्यों नहीं सोची जाती ? जैसे सम्पत्ति को बढ़ाने वाला पुरुष ही सपूत कहलाता है, उसी प्रकार अपने पुण्य की वृद्धि करने वाले को ही आप सपूत क्यों नहीं समझते ? और जो नवीन पुण्य का संचय नहीं कर रहा है, इसे उड़ाऊ और दिवालिया क्यों नहीं समझते ? वह भी तो अपनी पुरानी पूंजी को उड़ा रहा है और नवीन कुछ भी नहीं कमा रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में पुण्यात्मा वह है जो अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाता है, जो अपनी पूर्वोपार्जित पूंजी को जितना भोगता है, उस से भी अधिक नवीन पुण्य का उपार्जन करता है। पुराने पुण्य को भोगने वाला तो भूत का ही पुण्यात्मा है, भविष्य का नहीं, किन्तु जो शुभ आचरण कर रहे हैं, वे आज कैसी ही विपत्ति में क्यों न हों, भविष्य के पुण्यात्मा हैं। उन का भविष्य मंगलमय है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को विचार करना चाहिए कि उसे बहुत उत्तम और अनुकूल सुयोग मिला है। यदि एक वार यह अवसर हाथ से चला गया अर्थात् पूर्वकृत पुण्य को भोग कर समाप्त कर दिया और नवीन पुण्य का तथा धर्म का संचय न किया तो अनन्त काल तक फिर संसार में भ्रमण करना पड़ेगा और नरक-निगोद की तथा तिर्यञ्च गति की दुस्सह और भीषण यातनाएँ भुगतनी पड़ेंगी। एक बार मनुष्यभव समाप्त हो जाने के बाद दूसरी बार मिलना अत्यन्त कठिन है। जो लोग इस स्वर्ण अवसर को यों ही गँवा देते हैं, उन की मूढ़ता की कोई तुलना नहीं हो सकती। जो यह सोचते हैं कि अभी संसार के भोग-विलास भोग लें, बुढ़ापा आने पर धर्म की साधना कर लेंगे, वे अपनी आत्मा को धोखा दे रहे हैं। ऐसे जीवों को सावधान करने के निमित्त शास्त्रकार कहते हैं—

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हू वणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरवि जीवियं॥

(सूत्रकृतांग, अ० २-१-१)

हे मनुष्यो ! समझो ! जीवन की विनश्वरता को समझो, इस शरीर की असारता को समझो, धर्म के स्वरूप को समझो और आत्मकल्याण के सच्चे उपायों को समझो । यह भी समझो कि मृत्यु के पश्चात् बोधि दुर्लभ है—बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सकती है । बीती राते लौट कर नहीं आतीं । 'यदतीतपतीतमेव तत्' जो गया सो गया । हाथ मे छूटा तीर फिर हाथ में आना कठिन है । दोबारा मानवजीवन का मिल जाना सरल नहीं है । आयु क्षण-क्षण में क्षीण होती जा रही है । यदि यह आयु समाप्त हो गई और अधर्म का आचरण न किया तो मानव-जन्म के लक्ष्य की सिद्धि होना अत्यन्त कठिन है ! क्यों कि जो मनुष्य धर्माचरण से भ्रष्ट होते हैं, उन्हें अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है ।

अनेक प्राणी अचानक ही जीवन त्याग कर चल देते हैं । जो मनुष्य जीवन की क्षणविनश्वरता को भली भान्ति जानता है; वह इस सचाई का प्रत्यक्ष में अनुभव भी कर रहा है, फिर भी आश्चर्य है कि वह इस पर विचार नहीं करता । महाभारत में उल्लेख आता है कि एक यक्ष ने युधिष्ठिर से कई प्रश्न किये थे । उन में एक प्रश्न यह भी था यि संसार में सब से बड़ी आश्चर्यजनक बात क्या है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था, मनुष्य अपने बन्धुओं, मित्रों तथा अन्य जीवो को शरीर त्याग कर मृत्यु मे जाते देखते हैं, फिर भी अपने आप को वे अमर-सा समझ कर व्यवहार करते हैं ! उन्हें अपनी मृत्यु का ध्यान नहीं आता !

मनुष्य अपने वर्त्तमान को देखता है किन्तु भविष्य के संबन्ध में नितान्त उपेक्षा की वृत्ति से काम लेता है । कदाचित् भविष्य की ओर देखता भी है तो इस दृष्टि से कि जैसे उसे सदैव जीवित रहना है ! मानों उस के सामने कभी मरने का अवसर ही उपस्थित न होगा ! वह अनेक प्रकार की कल्पनाओं के जाल मे फंस कर अपनी वास्तविकता को भूल जाता है और 'मै' तथा 'मेरी' के संकल्प-विकल्पों में पड़ा रहता है । कठिनाई यह है कि उन संकल्प-विकल्पों का कभी भी अन्त नहीं आता कदाचित पुण्योदय से एक संकल्प पूर्ण हो जता है तो अन्य अनेक नवीन संकल्प उत्पन्न होकर उसे चुनौती देते हैं ! इस प्रकार संकल्पों की अनवस्था जीवन को कभी चिन्ताहीन नहीं होने देती ।

इधर मनुष्य संकल्पों की संतुष्टि में रात-दिन निरत रहता है और उधर रात और दिन रूपी चोर उस के बहुमूल्य जीवन - धन का अपहरण करते है। वे प्रतिपल आयु का कुछ भाग हर लेते हैं। इस प्रकार एक ओर मनुष्य अन्धा होकर संकल्पों की पूर्त्ति में जुटा रहता है और दूसरी ओर काल की अपहरणक्रिया निरन्तर चलती रहती है। परिणामतः परिमित आयु का तो अन्त आ जाता है, किन्तु अपरिमित संकल्पों की समाप्ति नहीं होने पाती। अन्त में मनुष्य अपने अधूरे संकल्पों को साथ लेकर परलोक की महायात्रा के लिए प्रस्थान कर देता है।

मृत्यु को इस बात की परवाह नहीं कि तेरे संकल्प पूरे हो चुके हैं या नहीं! वह तो आती है और प्राणों का हरण करके तत्काल चल देती है! ऐसी स्थिति में दीर्घदर्शी मनुष्य अपने जीवन को यों ही नहीं यापन करते। केवल विचारहीन मनुष्य ही अपने जीवन को नष्ट करते हैं। मुस्लिम ग्रंथ में कहा है:-

मनजन्ता इनलऽयाम लस्सामाह फहुवा मजनून।

अर्थात जिस व्यक्ति ने यह विचार किया कि काल उसे सदैव जीवित रक्खेगा, वह पागल है।

मनुष्य अपनी वर्षगांठ कितने हर्ष के साथ मनाता है। उत्तम पोशाक पहनता है, मित्रों और स्नेही जनों को आमंत्रित कर के आमोद-प्रमोद करता है, दावत देता है और फूला नहीं समाता। परन्तु क्या वह समझता है कि उस के जीवन की गिनती के वर्षों में से एक वर्ष क्षीण हो गया है? इसी लिए एक उर्दू कवि कहता है—

दिल से ताक़त बदन से [1]कस जाता है,
आता नहीं फिर कर जो [2]नफस जाता है।
हुई जब सालगिरह तो उकदा यह खुला,
यां और [3]गिरह से एक बरस जाता है॥

---

१. शक्ति। २. श्वास। ३. गांठ।

ईसाई धर्म की पुस्तक इंजील में एक जगह आया है–

All is vanity. All go unto one place, all are of the dust, and all turn to dust again.

—Eeles, 3-18

अर्थात् यह सब भ्रम मात्र है। सभी प्राणी लौट जाते हैं। सभी मिट्टी के खिलौने है और अन्ततः मिट्टी मे ही मिल जाते हैं।

सिक्खशास्त्र भी कहता है–

कूड़ राजा कूड़ परजा, कूड़ सब संसार।
कूड़ मंडप कूड़ [1]माड़ी, कूड़ बैसनहार॥
कूड़ [2]सुइना कूड़ रूपा, कूड़ पहननहार।
कूड़ काया कूड़ [3]कप्पड़, कूड़ रूप अपार॥
कूड़ मियां कूड़ बीबी ? होए ख्वार।
कूड़ कूड़े नेह लग्गा, विसरिआ करतार॥
किस नाल कीचे दोस्ती, सब जगत चल्लनहार।
कूड़ मिट्ठा कूड़ माखिओ, कूड़े डोबे पूर।
नानक बखाने बेन्ती, तुझ बाझ कूड़ो कूड़॥

आशय यह है कि जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब नाशवान् है, ध्रुव नहीं–सत्य नहीं है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि संसार के सभी धर्मशास्त्र संसार की नश्वरता को प्रकट करते हैं। इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। वास्तव मे यह विषय ही ऐसा है कि इस में मतभेद की गुंजाइश ही नहीं है।

ऐसी स्थिति में जैनशास्त्र में ठीक ही कहा गया है कि दुर्लभ मनुष्यभव को पा कर जो आत्मकल्याण के कार्य मे प्रमाद करते हैं, वे सत्पुरुष नहीं हैं—

---

१. महल। २. स्वर्ण। ३. कपड़ा।

तं तह दुल्लह लंभं, विज्जुतया चंचलं माणुसत्तं ।
उद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥

(आवश्यक अ० १)

अत्यन्त दुर्लभ एवं बिजली के सदृश चंचल इस मानवभव को प्राप्त कर के प्रमाद मे व्यतीत करने वाले लोग का पुरुष है, अधम हैं, सत्पुरुषों में उन की गणना नहीं की जा सकती ।

महात्मा बुद्ध ने भी प्रमाद की निन्दा और अप्रमाद की सराहना की है—

अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो ।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा ॥

(धम्मपद, २-१०)

अर्थात अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवों में श्रेष्ठ हो गया । लोग अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं और प्रमाद को गर्हित समझते हैं ।

जो पुरुष प्रमाद से रहित है, वह भलीभांति समझता है कि संसार का कोई भी पदार्थ आत्मा के साथ परलोक जाने वाला नहीं । आत्मा जब परलोक से आया था तो किसी भी पदार्थ—धन, सम्पत्ति, महल, मकान, परिवार आदि को, न साथ लाया था और न साथ ले जाएगा । कहा है—

छोड़ना होगा तुम्हें इक रोज तख्तो ताज को ।
छोड़ना होगा तुम्हें इक रोज अपने राज को ॥
छोड़ना होगा तुम्हें इक रोज घर और बार को ।
छोड़ना होगा तुम्हें [1]दिलदार और [2]अगयार को ॥
छोड़ना होगा तुम्हें मां बाप और औलाद को ।
छोड़ना होगा तुम्हें सब बेटी व दामाद को ॥

---

१. प्रिय-स्वजन । २. पराये ।

छोड़ना होगा तुम्हें हर पेशा न हर काम को।
छोड़ना होगा तुम्हें हर काम के अंजाम को ॥
छोड़ना होगा तुम्हें [1]आलम जवानी एक दिन।
छोड़ना होगा तुम्हें यह जिस्मे [2]फ़ानी एक दिन ॥
छोड़ना है हर इक चीज़ को तो छोड़ दे।
छोड़ने से पेश्तर [3]मुजतर तअल्लुक तोड़ दे ॥

संसार मे अनेक मनुष्य ऐसे है जो धन को सर्वशक्ति सम्पन्न समझ बैठे हैं। धन के ग़रूर मे वे पागल-से हो रहे है। वे सोचते हैं कि धन से क्या नहीं हो सकता? हमारे पास पर्याप्त सम्पत्ति है तो रोग उत्पन्न होने पर हजारों वैद्य-डाक्टर बुलाये जा सकते हैं। बहुमूल्य से बहुमूल्य औषध खरीदी जा सकती है। फिर भय किस बात का है? ऐसा सोचने वालों की मनोदशा अत्यन्त दयनीय है। वे भ्रम में पड़े हैं। उन के इस भ्रम को भंग करने के लिए ही शास्त्र में कहा है—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

अर्थात् प्रमादी पुरुष की धन भी रक्षा नहीं कर सकता। जब मनुष्य की अन्तिम घड़ी आती है तो लाखों के मोल के मोतियों की माला भी फाँसी का फंदा बन जाता है। अक्षय धन से परिपूर्ण कोष भी कुछ काम नहीं आते।

लाभकारी नहिं कुछ होता है, मित्र! मृत्यु के वेला।
राजपाट सब छोड़ चला जाता है जीव अकेला ॥

धन मृत्यु से रक्षा करने वाला होता तो धनी मनुष्य कभी मरते ही नहीं, वे अपने धन से या तो मृत्यु को ही टाल देते या नूतन जीवन खरीद लेते! किन्तु ऐसा कहीं देखा गया है? अनादि काल से लेकर अब तक अनन्त चक्रवर्त्ती राजा तथा अपरिमित निधियों के स्वामी और असीम ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष इस धरातल पर आये हैं, किन्तु उन में

---

१. युवावस्था। २ नश्वर देह। ३. यह कवि की उपाधि है।

से आज एक भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता ! धन उस की रक्षा करने मे समर्थ नहीं हो सका। वह ज्यों का त्यों पड़ा रहा और उस का स्वामी असहाय, विवश और लाचार होकर चला गया; यह अवस्था प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, फिर भी विचारहीन मनुष्य धन का आश्रय लेना चाहता है। उसे समझना चाहिए कि मृत्यु घूंस लेकर टल नहीं सकती, जीवन को छोड़ नहीं सकती !

इस लोक का धन परलोक में काम नहीं आता, यही नहीं किन्तु अवसर पड़ने पर वह इस लोक में भी सहायक नहीं होता। जब पूर्वकृत अशुभ कर्मों का बल शारीरिक एवं मानसिक कष्ट के रूप में भोगना पड़ता है, तब धन उन कष्टों का प्रतिकार करने में सर्वथा असमर्थ बन जाता है। कभी-कभी वेदना ऐसा विकटरूप धारण कर लेती है कि लाखों करोड़ों रुपया लुटा देने पर भी उस का उपशमन नहीं होता। इसी प्रकार विरुद्ध आचरण करने वाले मित्रों तथा स्वजनों के निमित्त से जो मानसिक पीड़ा होती है, उस का प्रतिकार धन से होना संभव नहीं। अतएव शास्त्र का यह कथन यथार्थ ही है कि वित्त (धन) के द्वारा मनुष्य न इस लोक में शरण पा सकता है न परलोक मे ही। अतएव मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि संसार के पदार्थों से प्रेम बढ़ाने में कुछ भी लाभ नहीं है। अगर लाभ है तो उन्हे त्यागने मे ही है। जो पुरुष जितनी मात्रा में उन का त्याग करेगा उसे उतनी ही मात्रा में लाभ होगा। किसी भी सांसारिक पदार्थ मे स्थायी सम्पर्क की आशा रखना दुराशा मात्र है।

जो बात धन के संबंध में है, वही स्वजन-परिजन के भी संबंध में समझ लेनी चाहिए। जैसे धन से रक्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वजन भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकते। देवी-देवता, मंत्र-तंत्र, सेना आदि कोई भी शक्ति जीव की रक्षा करने मे समर्थ नहीं है। अतएव मनुष्य का एक मात्र यही प्रथम कर्त्तव्य है कि वह प्राप्त हुए मनुष्यजन्म का पूरा-पूरा लाभ उठा कर आत्मकल्याण करे। प्रकृति से मनुष्य को असीम शक्तियां प्राप्त हैं, जिन की सहायता से वह ऊंचे से ऊंचा उठ सकता है। यहां तक कि परमात्मा का पद भी पा सकता है।

पहला बल उसे बुद्धि का प्राप्त है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य विद्या और विवेक प्राप्त कर सकता है और शास्त्रों का अध्ययन कर के, प्रशस्त मार्ग को ग्रहण कर के; अपने उद्देश्य को सफल बना सकता है। बुद्धिबल के द्वारा वह दूसरे जीवों का भी उपकार कर सकता है। जिन महात्माओं ने अपनी शुद्ध बुद्धि की सहायता से सूत्रों और अन्य उपयोगी धर्मग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं या कल्याणकारी ग्रन्थों का निर्माण किया है, उन्होंने संसार का कितना उपकार किया है? जो अपने ज्ञान की अनमोल निधियां छोड़ गए हैं, वे सदा काल के लिए मनुष्य जाति को वरदान दे गए हैं। इस प्रकार बुद्धि का बल यदि भलाई तथा स्वपरकल्याण में प्रयुक्त किया जाय तो मनुष्य के लिये वह अत्यन्त सुखप्रद हो सकता है। बुद्धि के बिना मनुष्य पशु के समान है। बुद्धिमत्ता ही मनुष्य की विशेषता है और यह विशेषता जिस में नहीं वह पशु से कैसे उत्तम कहा जा सकता है? एक संस्कृत के कवि कहते है—

**यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्?**
**लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणं किं करिष्यति? ॥**

अर्थात् जिस मनुष्य में अपनी निज की बुद्धि नहीं है, शास्त्र उस की क्या सहायता कर सकता है? नेत्रहीन मनुष्य के लिए दर्पण किस काम का?

इंजील में कहा है—Wisdom is the principal thing, therefore get wisdom.

(Prov. 4-7)

अर्थात् बुद्धि ही महत्त्वयुक्त वस्तु है, इस लिये बुद्धि को ही प्राप्त करो। बुद्धि जैसी परमोपयोगी शक्ति को जो दूसरों के अपकार के लिए प्रयोग में लाते हैं, वे महापाप के भागी होते हैं। अतएव अपनी बुद्धि को सदा ही इस प्रकार काम में लाना चाहिए, जिस से अपना भी हित हो और पर का भी हित हो।

अपने कल्याण के लिए मनुष्य को दूसरा बल चरित्र का मिला है। जिन भाग्यशाली पुरुषों के पास पवित्र आचरण का बल है, वे देश

की सच्ची सम्पत्ति होते हैं। वे दूसरों के पथप्रदर्शक बनते है। उन का जीवन औरों के लिए अनुकरणीय होता है। पवित्र आचरण ऐसा बल है जो आत्मा को बलवान् बनाता है और आत्मबल वाला पुरुष ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सफलताएं प्राप्त कर सकता है। वास्तव मे समस्त साधनाओं का लक्ष्य आत्मिक बल की प्राप्ति ही है। अपना ही आत्मिक बल मनुष्य के लिए सहायक होता है। आत्मिक बल किसी से बँटवारा करके नहीं लिया जा सकता, धन दे कर भी नहीं खरीदा जा सकता और याचना कर के भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह केवल उच्च चरित्र के द्वारा ही सुलभ होता है।

जिन पारिवारिक जनों अथवा अन्य संबन्धियो के लिए मनुष्य दुष्कर्म करके अपनी आत्मा का हनन करता है, वे अन्तकाल में कुछ भी सहायता नहीं कर सकते, किन्तु सुचरित्रजनित आत्मबल ही सहायक हो सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से मनुष्य को चेतावनी देते हुए फरमाया है—

जहेह सीहो व मिअं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति॥

(उत्तरा० १३, २२)

अर्थात् जैसे सिंह, हिरन को पकड़ कर उस का अन्त कर डालता है, उसी प्रकार निश्चित रूप से मृत्यु आयु पूर्ण होने पर मनुष्य को परलोक में ले जाती है। उस समय उस मनुष्य की माता, उस का पिता अथवा भ्राता या और कोई भी संबन्धी उस के दुःख मे भागीदार नहीं होता।

अनेक लोग चोरी करके, धोखा दे कर, झूठ बोल कर या ऐसा ही कोई अन्य अधर्म एवं अनीति का कार्य करके धन का उपार्जन करते हैं और कहते हैं कि हम अपने परिवार के पालन-पोषण के निमित्त ऐसा करते हैं, किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि ऐसे पापकर्मों

का फल भी पाप करने वाले मनुष्य को ही स्वयं भोगना पड़ता है। शास्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है कि—

कत्तारमेव अणुयाइ कम्मं।

अर्थात् कर्म अपने कर्त्ता का ही अनुगमन करता है।

मनुष्य जिन के हेतु पाप-कर्म करता है, वे उस के कर्मों का फल भोगने में हिस्सा नहीं ले सकते। उस के द्वारा उपार्जित धन में तो वे हिस्सा बँटा लते हैं, किन्तु पाप में हिस्सा नहीं बँटाते। अतएव कुशल पुरुष को कर्म करते समय उस के फल का भी अवश्य विचार कर लेना चाहिए। जब कोई मनुष्य चोरी आदि अवैध कृत्य कर के धन प्राप्त करता है और पकड़ा जाता है तो इस लोक में भी उस अकेले को ही कारावास के कष्ट भोगने पड़ते हैं, उस अकेले को ही घृणित और अपमानित होना पड़ता है। इसी प्रकार परलोक में भी प्रत्येक मनुष्य को अपने कृत्यों का फल आप ही भोगना पड़ता है।

इस कथन का आशय कोई यह न समझ ले कि मनुष्य अपने माता, पिता आदि कुटुम्बी जनों का पालन-पोषण ही न करे। जिसने जो उत्तरदायित्व अपने सिर पर ग्रहण किया है, उसे प्रामाणिकता के साथ निभाना उस का कर्त्तव्य है। जो गृहस्थाश्रम में रहता हुआ गृहस्थ के कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह कर्त्तव्यच्युत है! मेरे कहने का आशय यह है कि मनुष्य को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि परिवार के लिए किये हुए पापों का फल परिवार में बँट जाएगा। ऐसा सोच कर उसे पाप में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। साथ ही चाहे परिवार के लिए और चाहे अपने स्वयं के लिए कोई कार्य करे परन्तु उस के फल पर दृष्टि अवश्य रक्खे। फल का विचार करने वाला पुरुष पापकर्म करने से अवश्य हिचकेगा, कम से कम उसे उत्साहपूर्वक तो नहीं करेगा!

भव्य पुरुषो! शास्त्रो के इन विधानो की ओर दृष्टि दो। संभलो, तुम्हारी आयु का जो भाग अब तक व्यतीत हो चुका है वह यदि पाप में बीता है तो उस के लिए पश्चात्ताप करो और भविष्य के लिए

भद्र भावनाओं से अपने चित्त को विभूषित करो। जीवन को स्थायी समझने की भूल न करो और अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-पुण्य का संचय कर लो। वही तुम्हारी सच्ची पूंजी होगी। उसी के सहारे पर लोक में आनन्द प्राप्त कर सकोगे।

# विनीतता

"नायाधम्मकहा" नामक सूत्र में जैनधर्म और वैदिकधर्म के मूल का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जैनधर्म विनयमूलक धर्म है और वैदिकधर्म शौचमूलक धर्म है। इस का अर्थ यह है कि वैदिक धर्म में सफाई और बाह्य शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है, जब कि जैन धर्म में विनय पर अधिक ज़ोर दिया गया है। यहां हमें इस गहराई में नहीं जाना है कि आत्मा के वास्तविक और शाश्वतिक कल्याण के लिए शौचमूलक धर्म अधिक उपयुक्त हो सकता है अथवा विनयमूलकधर्म ? प्रातःकाल और सायंकाल मल-मल कर स्नान करने से, दूसरे मनुष्य के स्पर्श से, यहां तक कि परछाई से भी, परहेज़ करने से और चौका-चूल्हे की कट्टर मर्यादाओं का पालन करने से आत्मा पवित्र होती है या विनय से विभूषित होने से आत्मा शुद्ध होती है ? इन प्रश्नों के उत्तर विचारशील व्यक्तियों के विवेक के हवाले कर के हम यहां यही बतलाना चाहते हैं कि जैनधर्म विनयमूलक धर्म है। जैनशास्त्र स्पष्ट कहते है—

धम्मस्स विणओ मूलं।

अर्थात् धर्म का मूल विनय है।

जैसे मूल अर्थात जड़ के बिना वृक्ष नहीं टिकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म की स्थिति नहीं होती। जैसे मूल के द्वारा ही सम्पूर्ण वृक्ष को पोषण मिलता है, उसी प्रकार विनय के द्वारा ही धर्म का पोषण होता है। जैसे मूल के विकृत और कमज़ोर होने पर वृक्ष भी कमज़ोर पड़ जाता है, उसी प्रकार विनय के दूषित होने पर धर्म भी दूषित हो जाता है। जैसे मूल वृक्ष का प्राण और एक मात्र आश्रय है, उसी प्रकार विनय, धर्म का प्राण है और एक मात्र सहारा है। जैसे मूल

हरा-भरा है तो वृक्ष भी हरा-भरा रह सकता है; उसी प्रकार विनय यदि जीवित रूप में है तो धर्म भी जीवित रूप में क़ायम रह सकता है।

जैन शास्त्रों मे विनय को अत्यन्त विराटरूप प्रदान किया गया है। यहां तक कि साधन के प्रत्येक आचार-विचार को विनय के ही अन्तर्गत बतलाया गया है। इस का अभिप्राय यह है कि विनय के बिना कोई आचार-विचार नहीं टिक सकता।

यों तो सभी सद्गुण उत्तम ही हैं, किन्तु विनय सभी सद्गुणों का भूषण है। विनय के होने पर ही अन्य सद्गुणों में चार चांद लग जाते हैं। विनय से अन्य अनेक सद्गुण चमकते है। सद्गुण विद्यमान हों किन्तु विनय न हो तो वे सद्गुण प्रकाश में नहीं आते। जैसे शरीर के सभी अंगोपांग सुन्दर हों किन्तु नाक कटी हुई हो तो सारी सुन्दरता पर पानी फिर जाता है, उसी प्रकार विनय के बिना सभी सद्गुणों पर पानी फिर जाता है।

विनय से व्यक्ति सर्वत्र सन्मान का भाजन होता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए विनय की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जिस में विनय का सद्गुण है वह सब के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, सब का प्रीतिपात्र बनता है और सद्गुणों को ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार क्या लौकिक दृष्टि से और क्या लोकोत्तर दृष्टि से सभी दृष्टियों से विनय एक महान् गुण है और यही कारण है कि संसार के सभी धर्मशास्त्र विनय की महिमा का गान करते हैं। जैन-शास्त्र दशवैकालिक का कथन है—

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खे।
जेण किर्त्ति सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥

अर्थात् विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उस का सर्वोत्तम रस है। विनय से कीर्त्ति होती है, पूर्णतः प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ होता हैं। विनय के महत्त्व को प्रकट करते हुए और भी कहा है—

विणओ सासणमूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो?॥

(हारिभद्रीय आवश्यनिरुक्ति, १२-१६)

अर्थात् विनय जिनशासन का मूल है। विनीत पुरुष ही संयमवान होता है। जो विनय से हीन है उस में धर्म कहां? तप कहां?

जैनेतर ग्रन्थों में भी विनय की महत्ता प्रकट की गई हैं। भगवद्गीता में लिखा है—

**निर्ममो निरहंकारः सः शान्तिमधिगच्छति।**

अर्थात् समता और अहंकार से रहित पुरुष ही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

सिक्खशास्त्र मे भी विनीतता के संबन्ध में लिखा है—

**आपस को जो जाने नीचा।**
**सोई गनियै सब तें ऊंचा॥**

(सुखमणि)

कुरान में लिखा है—'हे जीव! तू संसार में अहंकारयुक्त हो कर न रह, क्योंकि खुदा अहंकारियों को अच्छा नहीं समझता।'

(सूरत लुकमान, २-१५)

मुहम्मद साहब ने अपनी एक हदीस में लिखा है—

**मन या हरमुर्रिफको या हर मुल खैरे कुल्लिही।**

अर्थात जिस ने विनय को अपनाया उस ने समस्त भलाइयों को अपनाया है।

ईसाई धर्मशास्त्र इंजील, ल्यूक १४-११ में कहा है-'जो अहंकारी होगा वह अनादृत किया जायेगा और जो नम्रता धारण करेगा, उस का मान होगा।'

एक पश्चिमी विद्वान् कहता है-'यह अहंकार ही था जिस के कारण देवता भी राक्षस बनाये गये और यह नम्रता का ही गुण है कि जो मनुष्यों को देवता बना देता है।'

पाश्चात्य पण्डित Boileam कहता है—There is but one road to lead us to God,-Humility, all other ways would only lead astray, even were they fenced in with all other virtues.

अर्थ—एक ही मार्ग है जो हमें ईश्वर तक पहुँचाता है और वह है विनीतता। अन्य सभी मार्ग चाहे वे दूसरे समस्त गुणों से युक्त हों, हमें पथभ्रष्ट कर देंगे।

देखा जाता है कि जिन वृक्षों की शाखाएं आकाश की ओर जाती हैं, वे चाहे कितनी ही ऊंची उठ जाएं, मनुष्य के लिए छाया प्रदान नहीं कर सकतीं। वही वृक्ष अपनी छाया से सुख और आराम पहुँचाने वाले होते हैं जिन की शाखाएं नीचे की ओर झुकी होती हैं। इसी प्रकार जो भाग्यशाली पुरुष विद्या, ज्ञान आदि गुणों से ऊंचे उठ गये होते हैं, किन्तु साथ ही विनय को धारण करते हैं, वही संसार को शान्ति प्रदान करते हैं और वही जनसमाज के पथप्रदर्शक होते हैं।

महात्मा आगस्टाइन से एक बार पूछा गया कि धर्म का सर्व-प्रथम लक्षण क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया—'धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और किंबहुना सभी लक्षण विनय में ही निहित है।'

विनय एक ऐसा गुण है, जिस को धारण कर के मनुष्य जितना झुकता है, उतना ही प्रतिष्ठित होता है। जो वृक्ष ऊंचे उठ जाते हैं और आंधी के आने पर झुकते नहीं—नम्र नहीं होते, वे वायु के कोप के पात्र बन कर उखड़ जाते हैं और नीचे गिर जाते हैं, किन्तु आंधी आने पर झुक जाने वाली घास को प्रबल से प्रबल अन्धड़ भी नहीं उखाड़ सकता। नम्रता धारण करके वह आत्मरक्षा कर लेती है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में नम्रता का गुण नहीं है, जो विनयहीन हो कर अहंभाव से अकड़ा रहता है, वह अन्ततः अनेक कष्ट उठाता है।

देखो, जल का स्वभाव नीचे की ओर जाने का है, किन्तु जब फव्वारे के द्वारा वह ऊँचा उठता है। तो उसे धड़ाम से पृथिवी पर गिरना पड़ता है। इसी बात को एक कवि यों कहता है—

सिर उठाकर गिर पड़ा फव्वारा आखिर सिर के बल।
झुक के चलना चाहिए यहाँ सिर उठाना है मना॥

मनुष्य को समझना चाहिए यह विश्व अत्यन्त विशाल है। यहाँ एक से एक बढ़-कर सम्पत्तिशाली, यशस्वी और प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद हैं। फिर वह किस बिरते पर अभिमान करता है? इस बात का विचार न करते हुए जो अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता, आखिर उस की दुर्गति ही होती है। इस संबंध एक कवि ने बकरे का दृष्टान्त दर्शाया है। बकरा सदा 'मैं-मैं, करता है अर्थात् मदयुक्त-अहंकारमय वाणी का उच्चारण करता है। परिणाम यह होता है कि उसे कसाई की छुरी के नीचे आना पड़ता है। कवि ने इस प्रकार लिखा है–

फखर बकरे ने किया मेरे सिवा कोई नहीं।
मैं ही मैं हूँ इस जहाँ में दूसरा कोई नहीं॥
जब न छोड़ी 'मैं मैं, बे [1]माया ओ असबाब ने।
फेर दी गरदन पै तंग आके छुरी जल्लाद ने॥
गोश्त हड्डी और चमड़ा जो था [2]जिस्मे ज़ार में।
कुछ पका, कुछ बिक गया कुछ फिक गया बज़ार में॥
अब रहीं आंतें फकत 'मैं मैं, सुनाने के लिए।
ले गया [3]नद्दाफ उन्हें धुनकी बनाने के लिए॥
तांत पर पड़ने लगीं चोटें तो घबराने लगी।
मैं के बदले तू ही तू की फिर [4]सदा आने लगी॥

तात्पर्य यह है कि जो अहंकार और ग़रूर मे चूर होता है उस की अन्त में बड़ी दुर्दशा होती है। इस के विपरीत जो विनयवान् है, वह सदैव सुखी रहता है। उस पर किसी को ईर्षा, द्वेष और अप्रीति नहीं होती। उसे किसी के द्रोह का पात्र नहीं बनना पड़ता। कोई उस की हानि एवं प्रतिष्ठा की क्षति नहीं करना चाहता। वह सब का प्रिय होता है। भगवान महावीर कहते हैं–

---

१. तुच्छ। २. शरीर। ३. धुनिया। ४. ध्वनि –शब्द।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स च। ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से ऽ भिगच्छइ ॥
(दशवैकालिक, ६-२-२१)

अर्थात् अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति प्राप्त होती है। जिस ने इन दो बातों को समझ लिया है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

कितने स्पष्ट, सुन्दर और सरल शब्दों मे विनयधर्म की विशिष्टता प्रकाशित की गई है। एक और स्थान पर वीर महाप्रभु ने इस गुण की महत्ता इस प्रकार प्रकाशित की है—

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाण जगई जहा ॥
(उत्तरा० १-४५)

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष विनय का माहात्म्य समझ कर विनम्र बनता है। विनम्र बनने से उस की कीर्त्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का उसी प्रकार आधाररूप होता है, जैसे समस्त भूतों के लिए पृथ्वी।

शास्त्रों मे विनयधर्म का इतना जो महत्त्व गाया गया है, उस पर हमें गंभीर भाव से विचार करना चाहिए। आखिर विनय में ऐसी क्या विशेषता है कि जिस से उसे इतना महत्त्व देना उचित समझा गया? इस प्रश्न का उत्तर यह है—

विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः ।
विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मतेः ॥

अर्थात् विनय मुक्ति का कारण है और विनय ही सब प्रकार की श्री का कारण है। विनय ही प्रीति का कारण है और विनय ही बुद्धि का कारण है। आशय यह है कि विनय से आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार का लाभ होता है। यही नहीं बल्कि—

विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं विना ।
सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन विना कुतः ? ॥

अर्थात् जिस मनुष्य के जीवन में विनय का अभाव है, उस के सभी व्रत विनष्ट हो जाते हैं। जैसे पानी के अभाव में कमल नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार विनय के बिना कोई व्रत और नियम नहीं ठहर सकता।

इन सब उक्तियों से विनय का महत्त्व समझ में आ सकता है और यह भी समझा जा सकता है कि विनय को धर्म का मूल क्यों कहा है? एक जैनाचार्य ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से यह बात समझाई है। उन के द्वारा योजित क्रम वास्तव में ज्ञातव्य है–

विनयफलं शुश्रूषा, ? शुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरति - विंरतिफलं चास्रवनिरोधः॥
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम्॥
योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः॥

विनय से किस प्रकार आत्मा का क्रमशः उत्थान होता है और उस उत्थान का विराम कहाँ होता है, यही बात यहाँ दिखलाई गई है। आचार्य कहते हैं – जिस साधक के हृदय में विनय का भाव होगा वह अपने गुरु की शुश्रूषा-सेवा करेगा और आज्ञापालन करने से उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी। ज्ञान से चारित्र का लाभ होगा और चारित्र के लाभ से आस्रव रुक जाएगा, अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन नहीं होगा— संवर होगा। संवर के फलस्वरूप तपोबल की प्राप्ति होती है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है, अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। निर्जरा होने पर आत्मा को अकर्मी दशा प्राप्त होती है और अकर्मदशा प्राप्त होने पर आत्मा अयोगी बन जाता है। अयोगी बन जाने पर अर्थात् मन, वाणी और शरीर के समस्त व्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भवपरम्परा-जन्ममरण के चक्र की समाप्ति हो जाती है और भवपरम्परा की समाप्ति होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार समस्त कल्याण विनय से ही प्राप्त होते हैं।

इतने विवेचन से स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिए कि विनय में कितनी बड़ी करामात है। समस्त गुण और समस्त आत्मोन्नति एक मात्र विनय पर ही अवलम्बित है।

विनय से व्यक्ति का ही उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता, अपितु वंश का उत्कर्ष भी सिद्ध होता है **'विनयो वंशमाख्याति'** अर्थात् विनय को देख कर वंश का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यक्ति यदि विनीत और नम्र है तो वह कुलीन समझा जाता है और यदि अविनीत है और उद्दंड है तो अकुलीन - नीचे कुल का समझा जताा है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को, जो अपने वंश को बदनाम नहीं करना चाहता, विनयपूर्ण व्यवहार ही करना चाहिए। उसे ख्याल रखना चाहिए कि मेरे अविनय भरे कार्य, विचार या शब्द से मेरी ही हीनता प्रकट नहीं होगी, किन्तु मेरे कुल की भी हीनता प्रकट होगी। अतएव मुझे अपने कुल को, अपने किसी भी व्यवहार से, कलंकित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार का विचार रखते हुए विनययुक्त व्यवहार करने वाले में निम्न लिखित गुण पाये जाएंगे-

१—नम्रता-स्वभाव मे नम्रता होना, अर्थात् जो अपने से गुणों में बड़े हैं, विशिष्ट ज्ञानी, संयमी तथा सम्यग्दृष्टि हैं, उन के सामने विनीत भाव से रहना। क्योंकि नम्र पुरुष ही उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है। कबीर जी कहते है-

सब को निवें है आपको, पर को निवें न कोय।
धर तराज़ू तोलिये, निवें सो भारी होय॥

उर्दू भाषा में एक कवि ने कहा है-

दाना उगता है कहता [1]जबाने हाल से।
खाकसारी [2]जिसने की [3]अदना से [4]आला हो गया॥

२—अचपलता-अपने से बड़ों के समक्ष चंचलता प्रदर्शित न करना। जब वे कभी भाषण कर रहे हों तो इधर-उधर न ताकना

१-जिह्वा। २-नम्रता। ३-अपना। ४-उत्कृष्ट।

और बीच-बीच में न बोलना। शरीर से भी चंचलता प्रकट न करना।

३—निष्कपटता—किसी प्रकार का छल-कपट न करना।

४—व्यर्थ खेल–तमाशे आदि की बातो में प्रवृत्त न होना।

५—कलह या क्लेश उत्पन्न न करना, बल्कि कोई कलह कर रहा हो तो उसे मधुर वचनो द्वारा समझा कर वातावरण को विशुद्ध और शान्त बनाने का उद्योग करना।

६—मान-अभिमान से दूर रहना। अपने पास किसी भी प्रकार का बल क्यो न हो, उस के लिए अहंकार न करना। गंभीरता दिखलाना

७—अपने गुणों की बड़ाई न करना और पराये की निन्दा न करना। ऐसा करने वाला अपने बड़प्पन को मिट्टी में मिला देता है।

८—लज्जाशील होना। निर्लज्जतापूर्वक हंसी - दिल्लगी न करना। निर्लज्जतासूचक शब्दों का व्यवहार न करना, शरीर से चेष्टा न करना।

९—अपने मन पर और इन्द्रियो पर अंकुश रखना।

इस के विपरीत अविनीत पुरुप का स्वभाव ऐसा होता है—

१—सदा क्रोधी होना। तुच्छ बातों पर क्रोध कर बैठना। अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी ने कुछ कह दिया या कोई काम कर डाला तो आँखें लाल हो जाना। मुख से बड़बड़ाना और मार पीट करने पर उतारू हो जाना।

२—देश, जाति, परिवार, कुल तथा संघ या किसी भी संगठन में विवाद उत्पन्न करने वाली अथवा संघर्ष उत्पन्न करने वाली, फूट डालने वाली या अशान्ति उत्पन्न करने वाली बात कह देना। या ऐसा प्रयत्न करना जिस से लड़ाई - झगड़ा खड़ा हो, विपमता बढ़े।

३—मित्रद्रोही होना। जिस के साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया हो, उस के प्रति किसी स्वार्थ या क्रोध आदि के कारण विरुद्ध व्यवहार करना, मैत्री संबंध को तोड़ देना, विश्वासघात करना।

४—अपने शास्त्रीय ज्ञान का अभिमान करना, विद्या का अहंकार करना, यह समझना कि मेरा पाण्डित्य असाधारण है, कोई मेरी समता नहीं कर सकता। मेरे सामने सब तुच्छ और नगण्य है।

५—अपने गुरुओं तथा अन्य महाजनों की साधारण भूलों का स्थान - स्थान पर वर्णन करना।

६—अपने दोषों का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालना। अपनी भूलों और अपने अवगुणों को छुपाना। अपने आप को निर्दोष साबित करने की चेष्टा करना और दूसरों को दोषी ठहराने का प्रयत्न करना।

७—अपने मित्रों तथा हितैषी जनों पर चिढ़ना, कुढ़ना और बात - बात में कोप करना और कटुक शब्दों का प्रयोग करना।

८—अपने प्रिय से प्रिय जन की भी परोक्ष में निन्दा करना। सामने आने पर प्रशंसा करना किन्तु पीठ पीछे बुराई करना।

९—व्यर्थ बोलना। अप्रिय भाषा का प्रयोग करना। अपने मुख से अपनी बड़ाई करना। जो गुण अपने में नहीं हैं, उन का भी होना प्रकट करना।

१०—अपने शिक्षक, गुरु, मित्र तथा स्वदेशीय और स्वजातीय बन्धु के साथ भी द्रोह करने से न चूकना।

११—अपनी योग्यता, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और अपने चारित्र, धन जन आदि किसी भी विशेषता का मद करना। अपने आप को दूसरों से उत्कृष्ट समझना और प्रकट करना।

१२—विषयभोगों की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहना, निरन्तर विषय - सेवन की ही अभिलाषा रखना और भोग-विलास को ही जीवन का लक्ष्य समझना। इन्द्रियों को स्वच्छन्दता दे देना। उन पर नियंत्रण रखने का तनिक भी प्रयत्न न करना।

१३—अपने मन को नियंत्रित न करना। उसे जहाँ-तहाँ जाने देना। गंदे विचारों में रमण करने देना।

१४—स्पष्ट बात न कहना। कोई कुछ पूछे तो गोलमोल उत्तर देना, यह और इन से मिलते-जुलते अन्य लक्षण जिस में पाये जाते हैं, वह अविनीत कहलाता है। अविनीत के इन लक्षणों को ध्यान में लेकर त्यागना चाहिए और उन सद्गुणों को प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए, जिन का उल्लेख पहले किया गया है।

विनय के संबंध में शास्त्रों ने एक और रूप दर्शाया है। उस का

भी यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। वह रूप इस प्रकार है—

१—**ज्ञानविनय**-ज्ञान का माहात्म्य समझ कर उसे नम्रतापूर्वक ग्रहण करने का उद्योग करना, ज्ञान के प्रति आदर का भाव रखना ज्ञान के साधनों का सम्मान करना और जो अपने से विशिष्ट ज्ञानी है, उन का यथोचित आदर-सत्कार करना, उन्हें अपने से बड़ा समझना उन की सेवा भक्ति करना, यथोचित प्रशंसा करना।

२—**दर्शनविनय**-सम्यग्दृष्टि जनों का यथायोग्य सत्कार सन्मान करना, यथोचित सेव -भक्ति करके उन्हे प्रसन्न करना।

३—**चारित्रविनय**-चारित्रनिष्ठ महापुरुषों का विनय करना। यत्न पूवक सेवा शुश्रूषा करना। उन्हे साता पहुँचाने की सदैव भावना रखना। चारित्र के प्रति आदर का भाव रखते हुए उसे कल्याणकारी समझना।

४—**मनविनय**-मन में विनय का भाव रखना। दया की भावना से मन को परिपूर्ण रखना और राग-द्वेष से चित्त को कलुषित न होने देने की चेष्टा करना। जिस से मन विकारयुक्त बनने की संभावना हो ऐसे वातावरण से अलग रहना।

५—**वचनविनय**-अप्रिय, कटुक, कठोर और मिथ्या वचनों का प्रयोग न करते हुए हित, मित और मधुर वचन ही बोलना। निरर्थक भाषण न करना।

६—**कायविनय**-शरीर से कोई खोटी क्रिया न करना।

७—**लोकव्यवहारविनय**-अपने गुरुओं तथा गुणाधिक पुरुषों की आज्ञा का पालन करना। उपकार करना और उपकार करने वाले का उपकार मानना, उस के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना। दूसरे की चिन्ता दूर करने का उपाय करना। सभी को प्रिय लगने वाली प्रवृत्ति करना।

सात प्रकार के इस विनय का स्वरूप यहां संक्षेप में ही उल्लिखित किया गया है, फिर भी उस मे विनय के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। बुद्धिमान और आत्महितैषी पुरुषों का कर्तव्य है कि वे

विनय के स्वरूप को, महत्त्व को और फल को सम्यक् प्रकार से समझ कर उस का आचरण करें।

विनय का आचरण न करने में मनुष्य की कुछ दुर्बलताएं बाधक होती हैं। उन में से एक दुर्बलता है-अपने गुणों को प्रकाशित करने की मनोवृत्ति। मनुष्य जब अपने को गुणवान मानता है और दूसरे उस के गुण की प्रशंसा नहीं करते अथवा उन के द्वारा की हुई प्रशंसा से उस की तृप्ति नहीं होती, तब वह आप ही अपनी प्रशसा करने लगता है। इस प्रकार प्रथम तो प्रशंसा की भूख उसे 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' बनने को प्रेरित करती है और दूसरे अहकार के कारण भी मनुष्य अपनी प्रशंसा करने लगता है। आत्मप्रशसा का कारण कुछ भी हो, किन्तु वह विनय का घात करने वाली है। कहा भी है—

यदि सन्ति गुणाः पुंसां, विकसन्त्येव ते स्वयम्।
न हि कस्तूरिकाऽऽमोदः, शपथेन प्रतीयते ॥

अर्थात्-अगर किसी पुरुष में गुण है तो वे स्वयमेव विकसित हो जाते हैं। वाणी से गुण के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं होती। कस्तूरी में गन्ध है, इस बात का विश्वास दिलाने के लिये शपथ खाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आप ही आप चारों दिशाओं में फैल जाती है और लोग स्वयं ही उस की सुगन्ध से परिचित हो जाते हैं। फारसी का एक कवि कहता है कि—

मुश्क आनस्त कि खुद बबोयद।
न आंकि अत्तार बगोयद ॥

अर्थात्-सुगन्ध वह है जो अपने आप फैले, न कि जिस का वर्णन अत्तार-गांधी करे।

जैसे सुगन्ध छिपी नहीं रहती, उसी प्रकार सद्गुण भी छिपे नहीं रहते। सद्गुणों में भी एक प्रकार का सौरभ है जो अनायास ही सब जगह प्रसारित हो जाता है। वास्तव में गुणों को प्रकाशित करने के लिए विज्ञापन की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है

कि सद्गुणों से विभूषित उत्तम पुरुष कदापि अपने गुणों का वर्णन नहीं करते, फिर भी गुणज्ञ पुरुष उन के चरणों में लोटते हैं।

सद्गुण प्राप्त करने का एक बड़ा लाभ यही है कि मनुष्य में विनम्रता आ जाती है। वह अपनी लघुता को भलीभांति जानने लगता है और इसी कारण वह अपनी लघुता या हीनता को ही प्रकट करता है। इसीलिए कबीर जी कहते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो मन खोजा अपना, मुझ से बुरा न कोय॥

वास्तव में उत्तम पुरुषों का अपनी लघुता का प्रदर्शन करना ही उनकी महत्ता का प्रदर्शक है।

विनीतता न आने देने वाली दूसरी दुर्बलता अहंकार है, जिस के संबन्ध में पहले कहा जा चुका है। अहंकार और विनय का प्रत्यक्ष विरोध है! अतएव विनीतवृत्ति धारण करने वाले को अहंकार का चित्त में प्रवेश ही नहीं होने देना चाहिए।

जो भव्य प्राणी अपनी दुर्बलताओं को त्याग कर विनम्र बनेंगे, वे निश्चय ही इस लोक में प्रशंसा के और परलोक में कल्याण के भाजन बनेंगे।

# ज्ञानी और अज्ञानी

दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो संसार में दो ही प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी। ज्ञानी वे हैं जो विचार और विवेक से युक्त हैं और जिन्हों ने अपने कल्याण का मार्ग खोज निकाला है और उसी मार्ग पर यथाशक्ति चलने का श्रद्धान रखते और प्रयत्न करते हैं। अज्ञानी पुरुष इन से विपरीत होते हैं। जिन्हें आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं है, पुण्य-पाप और उन के फलस्वरूप होने वाले परभव पर विश्वास नहीं है, जो आत्मा को भी इस शरीर के साथ नष्ट हुआ समझते हैं।

यहां जो कुछ कहा गया है, उस पर विचार करने से पता चलेगा कि ज्ञानी और अज्ञानी की व्याख्या का आधार किसी व्यक्ति की विद्वत्ता या अविद्वत्ता नहीं है। कोई व्यक्ति बड़ा पण्डित हो, मोटे-मोटे पोथों को कण्ठस्थ कर चुका हो, विविध शास्त्रों में प्रवीण हो, वक्तृता दे सकता हो और शास्त्रार्थ की कला में कुशल हो, फिर भी यदि उसे आत्मा की शाश्वत सत्ता पर विश्वास नहीं है, तत्त्व पर श्रद्धा नहीं है, हृदय में विवेक नहीं है, कल्याणपथ पर चलता नहीं और चलना चाहता भी नहीं है, तो वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी की ही श्रेणी में गिना जायगा। इस के विरुद्ध जिस ने पाण्डित्य प्राप्त नहीं किया है, किन्तु जो विवेकवान् है, सहज विवेक से जिस का अन्तःकरण विभूषित है, जो वीतराग की वाणी पर अचल श्रद्धान रखता है, अर्थात् जिस की दृष्टि सम्यक् हो चुकी है, वह ज्ञानी की ही कोटि में समाविष्ट होगा।

इस प्रकार ज्ञानी वह है जिसे विशुद्ध सम्यग्दृष्टि प्राप्त है और अज्ञानी वह है जिस की दृष्टि मिथ्या बनी हुई हो। सम्यक्त्व के बिना

विपुल ज्ञान भी अज्ञान है और सम्यक्त्व की विधानता में अल्प ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर जीव को सहज ही ऐसा विवेक प्राप्त हो जाता है, जिस के कारण वह विषयभोगों से विरक्त हो जाता है। संभव है कि वह उन का त्याग करने में समर्थ न हो, फिर भी वह अन्तःकरण से उन में लिप्त नहीं होता। वह भोगों को भोगता हुआ भी उन में अनासक्त रहता है।

कहा जा सकता है कि यदि सम्यग्दृष्टि भोगों को हेय समझता है तो उन का त्याग क्यों नही कर देता? और भोगों को हेय समझते हुए भी उन का सेवन किस प्रकार करता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्मोदय के कारण वह चरित्र का अनुष्ठान नही कर सकता, किन्तु उस का विवेक जागृत है, अतएव सत्य-असत्य को और हेय उपादेय को समझता अवश्य है। कोई क़ैदी कारागार में रहता है और कारागार के नियमों के अनुसार वर्त्ताव करता है, वहां का रूखा-सूखा और स्वादहीन भोजन करता है। तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह अन्तर से ऐसा करता है? नहीं, कारागार में रहता हुआ भी वह चाहता यही है कि कौन-सा वह शुभ अवसर आये कि मैं इस से बाहर निकलूं। वहां का भोजन-पान रुचिकर न होने पर भी विवश होकर उसे खाना पड़ता है। कारागार के प्रति उस की हेय बुद्धि है, किन्तु जब तक सजा की अवधि पूर्ण नहीं होती, तब तक उसे वहां रहना ही पड़ता है। यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय मे समझनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि संसार के कारागार से बाहर निकलने की अभिलाषा रखता है, उसे यहां के भोग-विलास रुचिकर नहीं होते। उन के प्रति वह हेय बुद्धि ही रखता है, किन्तु जब तक कर्मों की स्थिति-अवधि पूर्ण नहीं होती, तब तक वह विवश है। वह उन्हें त्याग नहीं सकता। और जब कर्मों की अवधि पूर्ण हो जाती है, तब वह विषय-भोगों से सर्वथा विरक्त हो जाता है।

अज्ञानी जीव विषय-भोगों को उपादेय समझता है और किसी कारण से चाहे उन्हें भोग न सके, फिर भी भोगने की अभिलाषा

रखता है, उन मे आसक्ति रखता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की बाहर की चेष्टाएं एक सी दिखाई देने पर भी उन की भावनाओं में बहुत अन्तर होता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान प्राप्ति करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु अज्ञानी जीव कर्मों के भार से लदे हुए जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहते हैं और इधर-उधर धक्के खाते हैं। जैनशास्त्र कहता है—

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे॥

(उत्तराध्ययन, ५-३)

अर्थात्—अज्ञानी पुरुषों का अकाममरण बार-बार होता है और ज्ञानी पुरुषों का सकाममरण उत्कृष्ट एक बार होता है।

अज्ञानी और ज्ञानी पुरुष की मृत्यु मे उतना ही भेद होता है जितना उन के जीवन में होता है। ज्ञानी पुरुष जीवन की कला को जानता है और मृत्यु कला में भी निपुण होता है। अज्ञानी न तो अपने जीवन को कलापूर्ण बना पाता है, न अपनी मृत्यु को ही। अतएव अज्ञानियों का जीवन तो मृत्यु का कारण होता है और उन की मृत्यु नवीन जन्म का कारण बनती है। इस प्रकार उन के जन्म-मरण का चक्कर अनन्त काल तक चलता रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने जीवन को मृत्युञ्जय-मृत्यु का नाशक बना लेते हैं और मृत्यु को जन्म का नाशक बना लेते हैं। इस प्रकार उन के जन्म-मरण की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है। वे इस भीषण चक्र से बाहर निकल जाते हैं।

अज्ञानी को किञ्चित् भी विवेक नहीं होता। वह मृत्यु का अवसर आने पर अत्यन्त दुःखी होता है। सोचने लगता है—'हाय, मै अपनी अत्यन्त कष्टपूर्वक उपार्जन की हुई सुख-सामग्री से विलग हो रहा हूँ। मेरे अतिशय प्रिय पारिवारिक जन बिछुड़ रहे हैं। अब आगे न जाने क्या होगा? मेरी अभिलाषाएं अधूरी ही रह गई। मेरे मंसूबे मिट्टी में मिल गए।

इस प्रकार खेद, पश्चात्ताप, दुःख, शोक और विकलता से

ग्रस्त हो कर अज्ञानी मरण-शरण होता है और इसी कारण उसे फिर संसार में जन्म-मरण ग्रहण करना पड़ता है। जब तक मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं होता, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह का भी अन्त नहीं आ सकता।

इस के विपरीत ज्ञानी पुरुष जानता है कि मृत्यु कोई अद्भुत वस्तु नहीं है। वह तो जीव की एक नैसर्गिक और साधारण क्रिया है। जैसे पुराना वस्त्र उतार कर फैंक दिया जाता है और नवीन वस्त्र धारण किया जाता है और ऐसा करने में दुःख और शोक का कोई कारण नहीं समझा जाता, इसी प्रकार पुराने जराजीर्ण शरीर को त्याग देने में शोक या खेद की क्या बात है ? गीता में भी कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
-न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(अ० २–२२)

जैसे—मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों का त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है।

इस प्रकार विचार कर के ज्ञानी जन मृत्यु की भयंकरता को जीत लेते हैं। मृत्यु का अवसर आने पर किंचित् भी भय, दुःख का सन्ताप नहीं होता। जैसे किसी शूरवीर राजा पर जब कोई दूसरा राजा चढ़ाई करता है, तो वह चढ़ाई के समाचार सुनते ही तत्काल अपनी सेना सजाकर शत्रु को परास्त करने के लिए तैयार हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष काल-रूप शत्रु का आगमन जान कर तत्काल सावधान हो जाते हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप की सेना सजा कर तैयार हो जाते हैं। वे मृत्यु से तनिक भी भयभीत न होते हुए कहते हैं—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द ।
मरने ही ते पाइए, पूरण परमानन्द ॥

निर्भयता ज्ञानियों का प्रथम लक्षण है किन्तु निर्भयता तभी आती है जब निष्पापता धारण की जाय । जो अपने जीवन में पाप ही पाप करता रहा और जिस ने कभी परलोक के सम्बन्ध मे विचार नहीं किया वह मृत्यु के समय निर्भय नहीं रह सकता । उस के लिए परलोक अत्यन्त भीषण है । वह मृत्यु की कल्पना मात्र से कॉपने लगता है । मगर जिन्हो ने जीवन में पाप का आचरण नहीं किया बल्कि शुद्ध आचरण किया है, संयममय और तपस्यामय जीवन यापन किया है, उन्हे परलोक भयंकर प्रतीत नहीं होता । वे परलोक की यात्रा करना प्रकाश से प्रकाश की ओर ही जाना मानते हैं, जब कि पापी जन समझते हैं कि वे घोर अन्धकार मे डूब रहे है । यही कारण है कि अज्ञानी मृत्यु को महान् अमंगल और ज्ञानी महान् मंगल मानते है । ज्ञानी ही मृत्यु को महोत्सव के रूप में परिणाम कर लेते हैं । वे कहते है–

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥

अर्थात्–हे आत्मन् ! तू ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का स्वामी है, फिर तुझे इस सैकड़ों कीड़ों से भरे हुए, जर्जरित देह रूपी पिंजरे के भंग होने पर क्यों भय रहना चाहिए ? इस पिंजरे के भंग हो जाने पर भी तेरा ज्ञानरूपी शरीर तो सदैव अक्षुण्ण रहने वाला है । एक क्या सैकड़ों मृत्युएँ भी उस का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं ।

इस प्रकार परमार्थ दृष्टि से विचार कर के ज्ञानी पुरुष मृत्यु के आने पर रोते-चिल्लाते नहीं, शोक का अंकुर भी हृदय में उगने देते नहीं किन्तु मित्र की भाँति उस का स्वागत करते हैं । उन्हें मृत्यु के समय संताप नहीं होता, अपितु वे समभाव के शान्त सरोवर में ही अवगाहन करते रहते हैं । उन के लिए जीवन और मरण समान है । न उन्हें जीवित रहने का लोभ होता है, न मरने की चिन्ता होती है ।

जैसे एक कृषिकार खेत के पकने पर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार कदाचित् ज्ञानी पुरुष के मन में भी अपना जीवनरूपी खेत पक जाने पर एक प्रकार का उल्लास होता है ऐसा इसी कारण होता है कि उस ने अपना जीवन विचारपूर्वक पापों से दूर रह कर व्यतीत किया है।

ज्ञानी पुरुष अत्यन्त संयत और शान्त भाव से मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार होता है। जब वह समझ लेता है कि अब मृत्यु अनिवार्य और सन्निकट है तब वह परमात्मा के पद्-पद्मों में पूर्णरूप से समर्पित हो जाता है। अपने समस्त सचेतन और अचेतन परिग्रह से अपना संबंध विच्छिन्न कर लेता है, यहाँ तक कि अपने शरीर के भी ममत्व का परित्याग कर देता है। पूर्णरूप से हल्का हो कर वह आत्मा के अजर-अमर-अविनाशी स्वरूप का विचार करता है, अपने चिदानन्द में लीन हो जाता है। वह सोचता है कि न जाने किस-किस दिशा से आये हुए अनन्त परमाणुओं के समूह से बना हुआ यह शरीर प्रलय के पथ पर जा रहा है। पुद्गलों का स्वभाव ही ऐसा है। भगवान् ने जीवन को अनित्य और अशाश्वत कहा है, सो मेरी मृत्यु उस कथन का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तव में वीतराग की वाणी कदापि अन्यथा नहीं हो सकती है।

शरीर पुद्गलमय और आत्मा चेतनामय है। शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है। शरीर नाशवान् है, आत्मा अविनश्वर है। आत्मा शरीर नहीं है और शरीर आत्मा नहीं है। मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ। शरीर के नष्ट होने पर भी मेरी कोई हानि नहीं है।

इस शरीर को माता-पिता अपना पुत्र कहते हैं, भाई-बहिन अपना भाई कहते हैं, मामा अपना भानेज कहते है, पत्नी अपना पति कहती है और मैं इसे अपना कहता हूँ। आखिर यह मिट्टी का पुतला किस-किस का है? परमार्थ की दृष्टि से देखें तो किसी का भी नहीं है। किसी का होता तो उस की आज्ञा में चलता। मेरा होता तो मेरी आज्ञा में चलता। परन्तु वह तो किसी की आज्ञा में नहीं चलता। कौन चाहता है कि वह बूढ़ा हो जाय? कौन चाहता है कि बुढ़ापे में आंख,

कान, नाक, आदि की शक्ति क्षीण हो जाय ? किसने अभिलाषा की है कि कमर झुक जाय और गर्दन काँपने लगे ? दाँतों का गिर जाना और मुंह का पोपला हो जाना किस को पसंद है ? फिर यह सब हो रहा है। इस के अतिरिक्त जो वस्तु जिसकी होती है वह उससे कभी अलग नहीं हो सकती। जो अलग हो जाती वह उसकी नहीं है। यह मेरा होता तो त्रिकाल मे भी मुझ से न्यारा न होता। अतएव जब यह शरीर मेरा है ही नहीं तो इस के लिए मैं क्यो चिन्ता या विषाद करूं ? इसे जाना है तो जाय और रहना है तो भले रहे।

इस प्रकार के पारमार्थिक विचार से ज्ञानी जन शरीर से अपनी ममता हटा लेते हैं और फिर शान्ति तथा निराकुलता के साथ उस का परित्याग कर देते हैं।

ज्ञानी पुरुष अपने मन को तथा अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से अपने नियंत्रण में ले लेते हैं। वे मन की मौज पर नहीं चलते और इन्द्रियों को अपनी दासी बना लेते हैं। मनरूपी घोड़े की लगाम को अपने हाथों में थाम कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाते हैं। मन उन पर सवार नहीं हो पाता, वे स्वयं उस पर सवार रहते हैं। इसी प्रकार वाणी का प्रयोग भी वे विवेकपूर्वक ही करते हैं। वे कभी आवेश में आकर यद्वा तद्वा नहीं बोलते। इसी लिए वीर प्रभु ने ज्ञानी जनों के व्यवहार के संबन्ध में कहा है—

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचिंदियाणि य।
पावकं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं॥

(सू० प्र० श्रु० अ० ८, गा० १७)

ज्ञानी जन हाथों और पैरों की वृथा हलन-चलन क्रिया को, मन की चपलता को और विषयों की ओर जाती हुई पांचों इन्द्रियों को तथा पापोत्पादक विचार को और भाषासंबन्धी समस्त दोषों को रोक लेते हैं।

इस प्रकार ज्ञानवान् अपने मन, वचन और काय के अनिष्ट व्यापारों को रोक कर अपनी आत्मा का गोपन करते हैं। वे इन्द्रियों

और मन का दमन करने वाले तथा आस्रवरूपी कर्मस्रोत को बन्द करने वाले होते हैं। किन्तु अज्ञानी पुरुष का इस ओर लक्ष्य ही नहीं जाता। वह मन की तरंगों में बहता रहता है, इन्द्रियों के संकेत पर नाचता फिरता है और विषय-वासना के पाश में फंसा रहता है। उस की इन्द्रियां और उस का मन उसे बन्दर की तरह नचाते हैं। नाचने में ही अज्ञानी को मजा आता है।

अज्ञानी का एक बड़ा अवगुण यह है कि वह अपने को बड़ा ज्ञानी समझता है। वह जानता थोड़ा है किन्तु दावा बहुत बड़ा करता है। वह समझता है कि जो कुछ मैं जानता हूँ, बस वही बोध की पराकाष्ठा है, वही सब कुछ है। जिसे मै नहीं जानता वह कुछ भी नहीं है। अज्ञानी की यह भ्रान्ति उस की दयनीय दशा की द्योतक है। वह बेचारा इतना अज्ञान है कि अपनी अज्ञानता को भी नहीं जान पाता और जो अपनी अज्ञानता से ही अनभिज्ञ है, वह उसे दूर करने की चेष्टा भी कैसे करेगा ?

अज्ञानी की दृष्टि भूत और भविष्य से हट कर केवल क्षुद्र वर्त्तमान तक ही सीमित रहती है। भविष्य मे कुछ भी हो, वह वर्त्तमान के लाभ को ही अपने समक्ष रखता है। वह भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं करता, मानों भविष्य के साथ उस का कोई सरोकार ही नहीं है। इसी कारण वह अपने भविष्य को सुधारने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। अपना सुधार वही व्यक्ति कर सकता है जिसे अपनी त्रुटियों और दोषों का भान हो। नम्रतापूर्वक अपने अज्ञान की स्वीकृति से मनुष्य आगे बढ़ता है और धीरे-धीरे ज्ञानी भी बन सकता है। किन्तु जो अपने अज्ञान से ही अनभिज्ञ है अथवा अपने अज्ञान को स्वीकार ही नहीं करता, वह तो अज्ञान के अन्धकार में ही डूबा रहता है। वह अनेक प्रकार के दुःखो का शिकार बनता है।

मनुष्य में अनुकरण करने की वृत्ति स्वाभाविक है। बालक अनुकरण के द्वारा ही अधिकांश व्यवहारों को सीखता है और बड़ी आयु के पुरुष भी दूसरों का अनुकरण करते रहते हैं। किन्तु खेद की बात यह है कि लोग अच्छाइयों का अनुकरण तो बहुत कम करते हैं

और बुराइयों का अनुकरण करने को सदा तैयार रहते है। अधिकांश लोग असत् अनुकरण की ओर ही झुकते देखे जाते हैं। मनुष्य की अज्ञानता का यह भी लक्षण है। अलवत्ता कोई कोई विरल व्यक्ति है जो अपनी बुद्धि से सत्-असत् का विवेक करके सत् का अनुकरण करते हैं और असत् का परित्याग कर देते है। अज्ञानी जन असत् को ही अपना लक्ष्य बनाते है। असत् अंधेरे का ही दूसरा नाम है। अतएव वे अंधेरे में ही ठोकरे खाते है।

ज्ञानी और अज्ञानी के वचनों में भी पूर्व और पश्चिम का सा अन्तर होता है। ज्ञानी व्यर्थ नहीं बोलता, कष्टकर भाषा नहीं बोलता, सत्य से विपरीत नहीं बोलता और हंसी-मजाक मे भी अनर्थकारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करता, जब कि अज्ञानी व्यर्थ बकवाद करता है, दूसरों के मर्म को बेधने वाले वाक्यबाण छोड़ता है, हास-परिहास मे भी दूसरों का जी दुखाता है, मिथ्या और छलकपट से परिपूर्ण वचन बोलता है और डींग हांकता है। ज्ञानी जो कुछ कहता है। सोच समझ कर कहता है और जब कह देता है तो दृढ़तापूर्वक उस पर स्थिर रहता है। अज्ञानी अपनी बात से बदलते देर नहीं करता। वह अपने वचनों का आप ही कोई मोल नहीं समझता। नीतिकार कहते हैं—

**सद्भिस्तु लीलया प्रोक्तं, शिलालिखितमन्तरम् ।**
**असद्भिः शपथेनापि, जले लिखितमन्तरम् ॥**

अर्थात्—सज्जन पुरुष की खिलवाड़ मे कही हुई बात भी पत्थर की लकीर होती है और दुर्जनों की शपथ खाकर कही गई बात भी पानी की लकीर होती है। पानी में खींची हुई लकीर कितनी देर ठहरती है ? इधर खींची नहीं कि उधर मिटी नहीं। इसी प्रकार असत्य पुरुष कोई बात कहते है और वे तत्काल ही मुकर भी जाते हैं।

ज्ञानी जन अपने सत्संकल्प और अपने लक्ष्य से कदापि विचलित नहीं होते। संसार की समग्र आसुरी शक्ति मिल कर भी ज्ञानी को उस के दिव्य विचारों से विचलित नहीं कर सकती। किसी भी प्रकार

का उपसर्ग और परीषह क्यों न आ जाय, वे अपने विचारों का और अपने पथ का परित्याग नहीं करते। किन्तु अज्ञानी लोग तनिक सी असुविधा या विपत्ति आते ही व्याकुल हो उठते हैं और अपने मार्ग को छोड़ बैठते हैं।

ज्ञानी संसारिक पदार्थों के आने और जाने पर हर्ष और विषाद से अभिभूत नहीं होते! वह उन की परवाह नहीं करते, किन्तु अज्ञानी का स्वभाव इससे विपरीत होता है। वे तनिक सा लाभ होने पर फूल उठते है और थोड़ी सी हानि होने पर हाहाकार करने लगते हैं। इस अन्तर को संस्कृत भाषा के एक विद्वान् ने इस प्रकार कहा है—

उत्तमः क्लेशविक्षोभं, सोढुं शक्तो न हीतरः।
मणिरेव महाशाणघर्षणं, न मृदः कणम्॥

अर्थात् उत्तम पुरुष दुःख और क्षोभ को सहने में समर्थ होता है, अधम मनुष्य नहीं। मणि ही शाण (खराद) के घर्षण को सहन कर सकता है, मिट्टी का ढेला नहीं। और—

नन्दन्ति मन्दा श्रियमाप्य नित्यं,
परं विषीदन्ति विपद् - गृहीताः।
विवेकदृष्टया चरतां नराणां,
श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित्॥

अर्थात् विवेकहीन लोग धन-सम्पत्ति पाकर फूले नहीं समाते और जब विपत्ति आ जाती है तो अत्यन्त दुःखी होते हैं। किन्तु विवेक बुद्धि को सामने रख कर व्यवहार करने वाले पुरुषों के लिए न धन कोई चीज है और न विपत्ति ही। वे तो प्रत्येक परिस्थिति में सागरवरगंभीराः अर्थात महासमुद्र की भांति गंभीर ही बने रहते हैं।

मुहम्मद साहब ने सज्जन और दुर्जन अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी का भेद सुन्दर भाषा में समझाया है। वह अपनी एक हदीस में कहते हैं—'हे लोगो मैं तुम को बतलाऊँ कि तुम में से भला कौन है और बुरा कौन है? यह शब्द उन्हों ने तीन बार कहे। लोगों ने बड़ी नम्रता के साथ कहा- फरमाइए।

मुहम्मद बोले—सज्जन पुरुष तुम में वह है, जिससे भलाई की आशा की जा सकती है और जिस के विषय में यह निश्चय हो कि वह कुकृत्य नहीं करेगा और दुर्जन वह पुरुष है जिससे न तो भलाई की आशा हो और न यह निश्चय हो कि वह अनिष्ट नहीं करेगा।

एक और स्थल पर उन्हों ने कहा है–विवेकवान् सज्जन पुरुष मरने के पश्चात् इस संसार और सांसारिक आपदाओं से मुक्त हो जाता है, और अविवेकी जन के मरने से इस संसार के भले पुरुष, नगर वृक्ष तथा पशु-पक्षी सुख पाते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी का भेद बतलाते हुए कुरान में कहा है कि नेत्रहीन और नेत्रवान् सम नहीं हो सकते, जैसे प्रकाश और अंधकार तुल्य नहीं हो सकते। ज्ञानी नेत्रवान् है, अज्ञानी नेत्रहीन है।

ज्ञानी का स्वभाव फूल के समान होता है और अज्ञानी का स्वभाव कांटे के सदृश होता है। फूल और कांटे की तुलना करते हुए एक कवि ने कहा है—

हैं जन्म लेते जगह में वे एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता।
रात में उन पर चमकता चांद भी,
एक सी ही चांदनी है डालता॥
मेह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवाएं हैं वहीं।
पर सदा ही है दिखाता यह हमें,
ढंग उन के एक से होते नहीं॥
चुभ के कांटा तो किसी की उंगलियां,
फाड़ देता है किसी का वर वसन।
प्यार-डूबी तितलियों के पर कतर,
भ्रमर का है बींध देता श्याम तन।

फूल लेकर तितलियों को गोद में,<br>
भ्रमर को अपना अनूठा रस पिला।<br>
निज सुगंधों और निराले रंग से,<br>
है सदा देता कली जी की खिला।<br>
है खटकता एक सब की आंख में,<br>
दूसरा है सोहता सिर सीस पर।<br>
किस तरह हालात उन को दें बदल,<br>
जो किसी में जन्म से ही हो कसर॥

फूल और कांटे के रूप मे ज्ञानी और अज्ञानी—सज्जन और दुर्जन की तुलना कितनी सुन्दर है। दोनों एक सी परिस्थितियों में रहते हुए भी स्वभाव से कितने भिन्न होते है। एक का काम है—दूसरे को कष्ट पहुँचाना और दूसरे का स्वभाव है—आनन्द प्रदान करना। दोनों की आकृति में कोई अन्तर नहीं होता। कान, नाक, आंख आदि अंगोपांग दोनों के समान होते है, किन्तु स्वभाव में महान् अन्तर होता है। स्वभाव का यह अन्तर दोनों के भविष्य मे भी महान् अन्तर उत्पन्न कर देता है।

ज्ञानी पुरुप गुणग्राही होते हैं। वे प्रत्येक वस्तु मे से गुणग्रहण कर लेते है। किन्तु अविवेकी पुरुप दोपदर्शी वन कर सव मे से अशुभ बाते ही ग्रहण करते है।

अज्ञान अर्थात् विवेकहीनता से मनुष्य पतन की ओर जाता है और विवेकशीलता उत्थान का निमित्त बनती है। अज्ञान से पतन और ज्ञान से अभ्युदय होता है, इस में लेश मात्र भी संशय नहीं हो सकता। संसार के सभी शास्त्र ज्ञान की महिमा का बखान करते हैं। ज्ञान संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका है—

संसारसागरं घोरं, तर्तुमिच्छति यो नरः।<br>
ज्ञान-नावं समासाद्य, पारं याति सुखेन सः॥

भारत के विभिन्न दार्शनिकों ने मुक्ति के अनेक साधन बतलाये हैं। किन्तु यहां बतलाया गया है कि सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग ज्ञान है जो मनुष्य इस घोर संसार-सागर को सुखपूर्वक तैर जाना चाहता है, उसे ज्ञानरूपी नौका का सहारा लेना चाहिए। और भी कहा है—

ज्ञानाद्विदन्ति खलु कृत्यमकृत्यजातम् ।
ज्ञानाच्चरित्रममलं च समाचरन्ति ॥
ज्ञानाच्च भव्यभविनः शिवमाप्नुवन्ति ।
ज्ञानं हि मूलमतुलं एकलश्रियां तत् ।

अर्थात्-कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक ज्ञान से ही होता है, ज्ञान से ही निर्मल चारित्र का पालन हो सकता है। ज्ञान के अभाव से घोर से घोर तपश्चरण भी और कठोर से कठोर कायक्लेश भी सम्यक्-चरित्र की श्रेणी में नहीं आ सकता. क्योंकि वह मुक्ति का नहीं वरन् संसार का ही कारण होता है। अतएव भव्य जीव ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार क्या लौकिक और लोकोत्तर, सभी सम्पत्तियां प्राप्त करने का असाधारण कारण ज्ञान ही है।

वास्तव में ज्ञान के समान पावन और बहुमूल्य वस्तु इस संसार में दूसरी नहीं है। ज्ञान की महिमा इतनी अद्भुत है कि उस का वर्णन करना असंभव है। इस एक ही उक्ति से ज्ञान की महत्ता का अनुमान लग सकता है:—

अज्ञानो क्षपयेत् कर्म, यज्जन्मशतकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्तमुहूर्तके ॥

अर्थात्-अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों को नाना प्रकार के कष्ट सहन कर के और तपस्या कर के सैकड़ों करोड़ों जन्मो में खपा पाता है, ज्ञानी पुरुष तीन गुप्तियों से युक्त हो कर मन, वचन, काय के व्यापारों का निरोध करके अन्तमुहूर्त्त में ही खपा डालता है। कहाँ सैकडों, करोड़ों

जन्म और कहाँ अन्तमुहूर्त्त। इतना महान् अन्तर ज्ञान के प्रभाव से ही तो है।

हे भव्य पुरुषो! अगर लौकिक और लोकोत्तर कल्याण चाहते हो तो ज्ञानी बनो, अज्ञानियों को ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करो। यही सिद्धि प्राप्त करने का राजमार्ग है।

# संयम

प्राय: लोग कहते हैं कि अब युग बदल गया है। कलिकाल अपना अनिष्ट प्रभाव लेकर आ पहुँचा है। अतएव लोगों की मनोवृत्ति बदल गई है। अर्थवादिता की लहर प्रबलरूप से आ रही है। जिधर देखो उधर ही लोग पैसे के लिए हाय-हाय कर रहे हैं। न नीति-अनीति का विचार करते हैं और न पाप-पुण्य की परवाह करते हैं। किसी भी उपाय से क्यों न हो उन्हें पैसा चाहिए। पैसा मिल गया तो समझ लेते है कि परमात्मा मिल गया। धर्म-कर्म कुछ नहीं है, पैसा सब कुछ है।

ऐश्वर्य और भोग-विलास के साधनों की भी धूम मची हुई है। नित्य नये फैशनों का आविष्कार होता है। शृंगार की भावना बढ़ती चली जा रही है। लोग फैशन के पीछे पागल हो रहे है। सादगी आज असभ्यता का चिह्न समझी जाती है।

लोग कहते हैं, ऐसी परिस्थिति में यह कैसे संभव हो सकता है कि कोई धनोपार्जन के साधनों का तथा भोगोपभोग और विलास की सामग्री का त्याग कर दे, अर्थात् स्वेच्छा से उन्हें लात मार दे और शरीर के अन्तर्गत प्राण रहते हुए इन्द्रियों के विषयों से उदासीन होकर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करे।

निस्सन्देह इस कथन मे, कुछ अंशों मे सचाई है। परिस्थिति ऐसी ही है और समय अपना प्रभाव दिखलाता ही है। समय के प्रभाव से अनेक प्रकार के व्यसनों का प्रसार हो जाता है और लोग आँख मींच कर उनके वश मे हो जाते हैं और अपने अनमोल जीवन को निरर्थक बना लेते हैं। वे कभी नहीं सोचते कि हमें मनुष्यभव किस प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए प्राप्त हुआ है? इस जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए? और उस लक्ष्य को सम्पन्न करने के लिए किन साधनों का उपयोग करना चाहिए?

प्राय: लोग आजकल कुछ तो समय के प्रभाव से और कुछ पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से विलासिता और भौतिकता की लहर में बहते चले जा रहे हैं और भोग-विलास के जीवन में ही आनन्द का अनुभव कर रहे है। भारतवर्ष की पुरातन संस्कृति और विचारधारा की ओर उन का लक्ष्य नहीं जा रहा। कुछ लोग उस की अपेक्षा करते है तो कुछ लोग उसे हेय समझते हैं। उन्हे नहीं मालूम कि वास्तविक आनन्द क्या है? और वह किस उपाय से प्राप्त हो सकता है? उन्हें यह भी पता नहीं कि आध्यात्मिक भावना का परित्याग कर के कोरी भौतिकता का आश्रय लेने का परिणाम व्यक्ति के लिए और समाज के लिए क्या अनर्थकारी हो सकता है? आध्यात्मिक भावना जीवन को संयमपूर्ण, सात्त्विक और पवित्र बनाती है और जब व्यक्ति का जीवन ऐसा उत्तम बन जाता है तो सामाजिक जीवन आप ही उच्च श्रेणी का हो जाता है। इस के विपरीत भोगविलास की भावना मनुष्य को स्वार्थलम्पट, अनियंत्रित और असात्त्विक बनाती है। इस से सामाजिक जीवन भी दुर्गन्धमय बन जाता है।

आज समाजसुधार और देश-उत्थान के लिए अनेक आन्दोलन चल रहे है। सैकड़ों उपदेशक अपनी प्रभावपूर्ण भाषा में लोगों को समाजसुधार की आवश्यकता और उपयोगिता समझाते है। देशोत्थान के लिए शासकों और प्रजाजनों की ओर से भांति-भांति की योजनाएँ उपस्थित की जा रही हैं। मगर जब हम इन सब के संबंध में विचार करते है और देखते हैं कि इन आन्दोलनों और योजनाओं के फलस्वरूप समाज और देश कितना आगे बढ़ा है और ऊंचा चढ़ा है? तो घोर निराशा का ही सामना करना पड़ता है। अनेक आन्दोलनो के पश्चात भी समाज जहाँ का तहाँ है और देश की परिस्थिति भी वहीं है। उसमे किसी प्रकार का सुधार नहीं हो रहा है। यही नहीं सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो यह भी मालूम होने लगता है कि हमारे सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय चरित्र का स्तर उत्तरोत्तर नीचा होता जा रहा है जो दोष पहले नहीं थे वह अब उत्पन्न होते जा रहे है और पुरातन दोष या तो बढ़ रहे हैं या नवीन रूप ग्रहन कर रहे है या ज्यों के त्यों बने हुए हैं।

विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है ? ज्यों ज्यों औपधोपचार किया जा रहा है त्यों त्यों बीमारी बढ़ती क्यों जा रही है ? समाचारपत्रों की चिल्लाहट, सरकार के कानून और उपदेशकों की वक्तृताएं क्यों बेकार हो रही हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि— कल्पना कीजिए एक बगीचा सूख रहा है। माली उसे हरा-भरा करने की अभिलाषा रख कर वृक्षों की डालियों और पत्तों पर पानी छिड़कता है। वृक्षों की जड़ों में पानी नहीं देता तो क्या माली सफलमनोरथ हो सकेगा ? नहीं। मूल जब तक हरा-भरा न हो, तब तक फूल में नूतन प्राणों का संचार न होगा, वृक्ष की शाखाएँ और पत्ते हरे-भरे नहीं हो सकते। इसी प्रकार समाज और राष्ट्र का मूल व्यक्ति है। जब तक व्यक्ति का जीवन ऊँचा नहीं उठता, समाज और राष्ट्र भी ऊँचे नहीं उठ सकते। व्यक्ति के जीवन के ऊँचे उठने का अर्थ है—उस का संयममय हो जाना। उस में रही हुई स्वार्थ भावना का गल जाना, देश और समाज के हितों का उतना ही ध्यान रखना जितना कि अपने हितों का ध्यान रक्खा जाता है, प्रामाणिकता और नैतिकता का होना आदि। और यह सब बातें व्यक्ति के जीवन में तभी आ सकती है जब उस में धार्मिक और आध्यात्मिक भावना हो। जब तक भौतिक सुखों की प्रबल कामना है, भोगविलासों के प्रति अत्यन्त आसक्ति है और परलोक का विचार नहीं आ रहा है, तब तक व्यक्ति का सुधार नहीं हो सकता और व्यक्ति का सुधार हुए बिना समाज और राष्ट्र का स्तर ऊँचा नहीं उठ सकता। आज लोग समाजसुधार की बातें बनाते हैं और देश की उन्नति के लिए व्याख्यान देते है, परन्तु व्यक्ति को विस्मरण करके। उन के सामने व्यक्ति (आत्मा) उपेक्षणीय और नगण्य हैं और समाज ही सब कुछ है। यह भ्रमपूर्ण विचारधारा ही आज की दुर्दशा का मुख्य कारण है।

प्राचीन काल के तत्त्ववेत्ता और परमार्थद्रष्टा जगत् का जो स्वरूप हमें बता गये हैं, वह ऐसा नहीं है कि हमारी समझ में न आ सके। उस का बहुत-सा अंश तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं और उस की सत्यता का अनुभव भी करते हैं। फिर भी व्यक्तिगत संयम की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। क्या हम प्रत्यक्ष नहीं देखते कि लाखों, करोड़ों की

सम्पत्ति के स्वामी. बड़े-बड़े राजा और धनपति अन्त में खाली हाथ चले जाते है। वह सम्पत्ति उन के कुछ भी काम नहीं आती। फिर उस के लिए संयम से गिरना कहाँ तक उचित है? उन्हें अकिंचन हो कर जाते देख कर विलासिता में रमण करने वाले सावधान नहीं होते और अज्ञानवश धन-संचय एवं भोग-विलास में ही अपना जीवन नष्ट कर देते है। उन्हे याद नहीं आता कि—

मेरो देह मेरो गेह मेरो परिवार सब,
मेरो धन-माल मैं तो बहुविधि भारो हूँ।
मेरे सब सेवक हुकम कोऊ मेटे नाहिं,
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ।
मेरो वंश ऊँचो मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तो जग उजियारो हूँ।
सुन्दर कहत मेरो मेरो कर जाने शठ,
ऐसो नहीं जाने मैं तो काल को ही चारो हूँ॥

संयममय जीवन व्यतीत करने के लिए उच्च भावना की आवश्यकता है। अनासक्तिभाव जब तक नहीं आता तब तक संयम का विकास नहीं होता। इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर फरमाते हैं—

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

(उत्तराध्ययन २५, २७)

जैसे कमल जल में उत्पन्न हो कर भी जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार कामभोगों में जो आसक्त नहीं होता उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

एक और स्थान पर भगवान् ने फरमाया है—

भावेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ सो विणासं।

रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गा वहिए व णागे ॥
(उत्तराध्ययन, ३२, ८७)

अर्थात्-कामगुणों में आसक्त होकर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जैसे पकड़ा जाता है और संग्राम में मारा जाता है, इसी प्रकार विषयों में तीव्र गृद्धि रखने वाला आत्मा असमय में ही विनाश को प्राप्त होता है।

यह ठीक है कि संसार के अधिकांश मनुष्य विवेकहीनता तथा विचारशून्यता से ही अपने जीवन की अमूल्य घड़ियाँ व्यर्थ गंवा रहे हैं, किन्तु उन के अन्दर से ही ऐसे भी वीर निकल आते हैं जो भोगविलास तथा सांसारिक प्रलोभनों को विषवत् समझ कर उन्हें लात मार देते हैं और घोषणा करते हैं-

मर्द वह हैं जो ज़माने को बदल देते हैं।

इस संसार में अनादि काल से दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। एक आसुरी शक्ति कहलाती है और दूसरी दैवी शक्ति कहलाती है। हम उसे विभावपरिणति और स्वभावपरिणति कह सकते हैं। जो लोग सांसारिक सफलताओं के लिए सदा यत्नशील रहते हैं और संसार में धनोपार्जन, सम्मानप्राप्ति और पद के अभिलाषी होते हैं वे इस प्रयास में आत्मा को सर्वथा भुला बैठते हैं। उन की इच्छाएँ, उन की आकांक्षाएँ, उन की अभिलाषाएं और उन की कामनाएं सब की सब जागतिक पदार्थों की प्राप्ति तक ही सीमित होती हैं। उन के समस्त प्रयास इन्हीं वस्तुओं के लिए होते हैं। इन से आगे उन की दृष्टि जाती ही नहीं है। ऐसे पुरुषों के भावों को वैदिक ग्रन्थ गीता में इस प्रकार प्रकट किया है—

आशापाशशतैर्बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
अनेकचित्तभ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गीता १६, १२-१६)

अर्थात्–सैकड़ों अभिलाषाओं की फांसियों में बंधे हुए, काम और क्रोध में परायण लोग कामभोगों की पूर्ति के लिए धन आदि बहुत से पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं—मैं ने आज यह पा लिया है और अब मैं इस मनोरथ को पूर्ण करूंगा। इतना धन तो मैंने कमा लिया है, अब इतना और कमाऊंगा। वह शत्रु तो मेरे द्वारा मारा जा चुका है, अब दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा। मैं ऐश्वर्य से सम्पन्न हूँ। मुझे उत्तमोत्तम भोग प्राप्त है। मैं सिद्धियों का स्वामी हूं। मेरे बल की समता कौन कर सकता है। मैं सुखी हूं। इस प्रकार अनेक तरह से भ्रमित हुए चित्त वाले अज्ञानी जन मोहरूपी जाल में फंस कर एवं कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हो कर घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं।

ऐसे दयनीय प्राणियों को करुणामूर्ति भगवान् महावीर ने सावधान करते हुए कहा है—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए,
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए॥

(उत्तराध्ययन, १०-२)

जैसे कुश के अग्र-भाग पर लटकता हुआ ओस का बिन्दु अल्प समय तक रहता है, किसी भी समय उस का पतन हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। अतएव क्षण भर भी प्रमाद न करो।

कोई कोई भाग्यशाली जीव, वीर महाप्रभु के इस आंख खोल देने वाले नाद को सुन कर अपने मन तथा आत्मा की कलाएं जागृत करते हैं। कभी वे कूप-मण्डूक के समान थे। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं था कि इन भौतिक पदार्थों के सुख से परे कोई और सुख भी है जो चिरस्थायी होता है और जिस की तुलना मे सांसारिक सुख तुच्छ है, किन्तु जब उन्होंने भगवान् के आदेश को सुना तो सचेत हो गए और आसुरी प्रकृति से अलग हो कर दैवी प्रकृति के स्वामी बन गए। ऐसे वीर, धीर और संयमी पुरुष ही जीवन-रहस्य को समझ पाते है। आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं। संसारसंबन्धी मोह का त्याग कर आत्मा के साथ नेह लगाते है। उन के चित्त का तार अविच्छिन्न रूप से प्रभु के साथ जुड़ा रहता है। वे दुनियादारी की झंझटों से अपना नाता तोड़ लेते हैं। उन का चित्त निर्मल, भावना पावन विचार शुद्ध और क्रियाएं निष्कपट होती हैं। वे मोह से रहित और विकारों से विहीन हो जाते हैं। उन के हृदयों मे प्राणी मात्र के प्रति अपार करुणा और प्रेम की भावना होती है। प्रत्येक प्राणी उन का आत्मीय है और प्रत्येक प्राणी के वे आत्मीय हैं। उन की दृष्टि अत्यन्त विशाल हो जाती है। वे समझ लेते हैं कि इस विश्व में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं कि जिस के साथ उन का नाता न हो चुका हो। एक-एक जीव के साथ अनन्त-अनन्त बार सब प्रकार के संबन्ध हो चुके हैं। मोरी (नाली) मे बिलबिलाने वाले कीट भी किसी जन्म में हमारे भाई थे। तो फिर इस जन्म के और दूसरे जन्म के रिश्तेदार और कुटुम्बी में क्या अन्तर है? इस प्रकार की विशाल और उदार वृत्ति जाग जाने के कारण उन का स्नेहभाव सब प्राणियों पर समान हो जाता है। वे सब के कल्याण के इच्छुक होते है।

ऐसी भावना जिन के अन्तःकरण मे जागृत हो जाती है तो यह संभव ही नहीं कि उन के द्वारा किसी प्राणी का अनिष्ट हो। वचन और काया से अनिष्ट करना तो दूर रहा, वे मन से भी किसी का अनिष्ट चिन्तन नहीं करते। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर ही सयम का विकास होता है। जब संयम का विकास हो जाता है तो उस का

पालन करने के लिए वे अगणित परीषह सहन करके भी उस से च्युत नहीं होते। अपने कर्मों का क्षय करने के लिए वे घोर तपोमय जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पुरुषों में दैवी प्रकृति का प्राधान्य होता है।

जो मनुष्य आसुरी शक्ति के अधीन होता है, उन की भावनाएँ क्रूर और कृत्य निन्दित होते हैं। वे अपनी तो हानि करते ही हैं, किन्तु समाज, देश और राष्ट्र का भी अनिष्ट करते हैं। वे अपना इष्ट करने वाले का भी अनिष्ट करने से नहीं चूकते, जब कि दैवी सम्पद् वाले अपने अनिष्टकारी का भी इष्ट करते हैं।

दैवी शक्ति से अलंकृत महात्मा जनों की प्रायः यही विशेषता होती है कि उन के हृदयस्थल में वैर, विरोध, राग, द्वेष या वैमनस्य क्षण भर के लिए भी स्थान नहीं पाते। इस कारण उन के चित्त में विक्षेप नहीं होता। वे समभावी और समदर्शी होते हैं। किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में वे शान्ति और धैर्य का त्याग नहीं करते, भर्तृ-हरि जी ने ठीक ही कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात् धीर पुरुषों की चाहे निन्दा हो या स्तुति, धन उन के चरणों में आवे या चला जावे, उन की मृत्यु आज ही आ जाय या युग-पर्यन्त जीवन बना रहे, वे किसी भी अवस्था में धर्म और न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।

वास्तव में मनुष्य कहलाने के अधिकारी वे संयमी पुरुष ही हैं जो कृत-अकृत, धर्म-अधर्म और न्याय-अन्याय का विचार करते हैं और दूसरों के सुख-दुःख को एवं हानि-लाभ को अपने ही सुख-दुःख और हानि-लाभ के समान समझते हैं। जो अन्यायकारी बलवान् से भी नहीं डरते हैं किन्तु निर्बल धर्मात्मा का भी सम्मान करते हैं। और जो अपनी समस्त शक्ति लगाकर धर्मात्माओं की सेवा करते हैं और धर्म

तथा कर्त्तव्य का पालन करते हैं चाहे कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, भले प्राण भी चले जाएं, परन्तु सन्मार्ग से एक पग भी इधर-उधर न हों।

आसुरी शक्ति के दास विवेकहीन होते हैं और दैवी शक्ति के स्वामी विवेक से विभूषित होते हैं। अपने उत्तम विवेक के कारण वे जगत् में सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य प्राणी बन जाते हैं। सेवा और उपकार उन का उच्च कर्त्तव्य होता है और सहानुभूति उन का धर्म होता है। एक उर्दू कवि ने कहा है—

सच्च तो है इन्सां उन्हीं का नाम है।
रहम खाना जिन का [1]दायम काम है॥
जान पर अपने ही दुःख लेते हैं वह।
कब [2]अजिय्यत और को देते हैं वह॥

इस के विपरीत जो मनुष्य असंयत हैं, वे विवेक-बुद्धि के अभाव से पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं और जन्म-मरण के चक्र में ही पड़े रहते हैं। पराई हानि करना उन के लिए सुखप्रद होता है और ऐसा करके वे इतने प्रसन्न होते हैं कि मानों उन्हें राज्य मिल गया हो। संस्कृत के एक विद्वान कहते हैं—

दुर्जनस्य स्वभावोऽयं, परकार्यविनाशकः।
कथं वा कार्यमायाति, मूषको वस्त्रभक्षणात्॥

अर्थात् दूसरे के कामों को बिगाड़ना दुर्जन का स्वभाव ही होता है। चूहा वस्त्रों को अकारण ही काट कर बेकार कर देता है। वस्त्र को काटने से न चूहे का पेट ही भरता है और न जिह्वा को मिठास का ही अनुभव होना संभव है। फिर भी जैसे वह स्वभाव से प्रेरित हो कर कपड़े को चिन्दी-चिन्दी कर देता है, उसी प्रकार दुष्ट पुरुष वृथा ही दूसरों के काम बिगाड़ कर प्रसन्न होता है।

विवेकशील संयमी और विवेकहीन असंयमी पुरुष के विचारों में

---

१-सदा। २-कष्ट, पीड़ा।

बड़ा अन्तर होता है। अज्ञानी पुरुष के सब प्रयत्न केवल अपने भरण-पोषण तक ही सीमित होते हैं, परन्तु ज्ञानशील संयमी का जीवन परहित और परोपकार में ही लगता है। दुःख और कष्ट के आने पर उन की स्थिति में बड़ा अन्तर हो जाता है। कहा है—

भलो बुरो जो आत है, काट लेत हैं दोय।
ज्ञानी हंस कर काटते, अज्ञानी काटे रोय ॥

पहले जो कर्म बाँधे हैं, उन्हें भोगना ही पड़ता है। ज्ञानी और संयमी या अज्ञानी और असंयमी, कोई भी कर्म-फल के भोग से बच नहीं सकता। किन्तु दोनों के फल भोगने के तरीके अलग-अलग होते हैं। ज्ञानी पुरुष कर्मों का भोग भोगते समय समभाव रखता है। शुभ कर्म का उदय आने पर वह हर्ष नहीं मानता और अशुभ कर्म का अनिष्ट फल भोगते समय विषाद का अनुभव नहीं करता। इस मध्यस्थ भावना के कारण ज्ञानी नवीन कर्मों के बन्ध से बच जाता है। परन्तु असंयमी-अज्ञानी पुरुष अशुभ कर्म का उदय होने पर हाय-हाय करता है, आर्त्तध्यान करता है और शुभ कर्म का उदय आने पर हर्ष की तरंगो पर नाचने लगता है। इस प्रकार की भावना के कारण वह जितने कर्मों का फल भोगता है उन से भी ज्यादा का नवीन बन्ध कर लेता है। परिणाम यह होता है कि कर्म-भार से हल्का होने के बदले भारी ही होता चला जाता है। संयत पुरुष अपने कर्मों का ऋण चुकाता ज्यादा है और नवीन कम ग्रहण करता है।

संयमी आत्मा उदार बन जाती है और असंयमी की आत्मा संकीर्ण होती है। संकीर्णता ही अनेक प्रपंचों, आडम्बरों तथा अनिष्टों के मूल मे काम करती है। संकीर्ण विचार वाला व्यक्ति अपने तुच्छ से लाभ के लिये दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। उस की बुद्धि स्वार्थ मे डूबी होने के कारण उसे ठीक मार्ग नहीं दरसाती, तथापि वह अपने आप को बुद्धिमान् समझता है। वह न अपने मे भूल देखता और न अपनी भूल को स्वीकार करता ही है। ऐसी स्थिति मे भूल को सुधारने की चेष्टा करने की तो कल्पना कैसे की

जा सकती है। ऐसा संकीर्ण दृष्टिकोण वाला व्यक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र की दैवी शक्तियों से सदा शून्य रहता है।

एक विद्वान् ने कहा है कि साधारण मानव-जीवन की विचित्रता यह है कि मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्तियों से अनभिज्ञ रहता है। सामान्य मनुष्य बाहर के पदार्थों को देखता है, पर अपने भीतर की शक्तियों को नहीं देखता। यह त्रुटि मूढ़ और अज्ञानी कहलाने वाले व्यक्तियों में ही पाई जाती हो और विद्वान् कहलाने वाले अनेक व्यक्तियों में न पाई जाती हो, ऐसा नहीं है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी इस त्रुटि से बचे नहीं हैं। वे पुद्गल का विश्लेषण करते हैं और उस की सूक्ष्म शक्तियों की खोज में दत्तचित्त रहते हैं, मगर उन्हें अपने आप को समझने की चिन्ता नहीं, अपनी शक्तियों को देखने का अवकाश नहीं। इस विराट बाह्य जगत् को अपनी बुद्धि में भर लेना चाहते हैं, पर अपने भीतर की शक्तियों को पहचानना नहीं चाहते।

जगत् में आज जो अशान्ति, अव्यवस्था, भय की भावना आदि दिखाई दे रही है, उस का मूल कारण अपने आप को न समझना ही है। जो अपने अन्दर विद्यमान शक्तियों को समझ लेगा, उस का मार्ग दूसरा बन जाएगा। वह वीतराग भगवान् द्वारा प्रतिपादित और अनेक सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित तथा आचारित संयम के पथ पर चलने में विलम्ब न करेगा। जब तक मनुष्य को आत्मिक शक्तियों का यथार्थ बोध प्राप्त नहीं होता और वह संयम के अनूठे आनन्द का आस्वादन नहीं कर लेता, तभी तक ही वह बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न होने वाले सुख की अभिलाषा करता है, उसी को अपने जीवन का ध्येय मानता है। संयम का अद्भुत और अनुभूतिगम्य आनन्द पा जाने के पश्चात् इन्द्रियजन्य सुख एकदम नीरस और निस्सार प्रतीत होने लगते हैं।

जिन महात्माओं ने संयम को ग्रहण कर के उस के अलौकिक आनन्द का आस्वादन किया है, उन के उद्गार जानने योग्य हैं। तब उन से पता चलता है कि उन का जीवन कितना निश्चिन्त, कितना मस्ती वाला और कैसी निराकुलता से पूर्ण होता है। एक महात्मा कहते हैं-

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी,
निश्चिन्तसुखसाध्यभैक्षमशनं शय्या श्मशाने वने।
मित्रामित्रसमानताजिनपतेश्चिन्ताथ शून्यालये,
स्वात्मानन्दमदप्रमोदमुदितो योगी सुखं तिष्ठति ॥

सैकड़ों जगह फटी-टूटी लंगोटी कमर में अटकी हुई है, गुदड़ी ओढ़ने को है और वह भी लँगोटी की ही तरह जर्जर है। विना किसी चिन्ता के, भिक्षा से अनायास मिल जाने वाला आहार ही भोजन है। मन मे आया तो श्मशान में शय्या जमा ली और इच्छा हुई तो वन में पड़ रहे। मित्र और शत्रु सब एक बराबर है। किसी सुनसान स्थान में वैठकर जिनेन्द्र देव का ध्यान करने में मस्त हैं। कभी-कभी अपनी आत्मा के आनन्द में मग्न हो रहे है और आत्मानन्द के अपूर्व रस का आस्वादन कर रहे हैं। यह है संयमी पुरुषों का जीवन! ऐसे जीवन में आकुलता-व्याकुलता के लिए अवकाश कहाँ? चिन्ता और परेशानियों का प्रवेश कहाँ?-दुनिया की झंझटों से वास्ता क्या? शोक और दुःख की वात ही क्या? यहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। मस्ती है। चिन्ता-हीनता है। इस सुख की समानता कौन कर सकता है?

संयममय जीवन यापन करने वाले एक श्रमण अपनी निर्भयता का और श्रमण-अवस्था के आनन्द का कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं। सुनिए—

न च राजभयं न च चोरभयं,
न च वृत्तिभयं न वियोगभयम्।
इह लोकसुखं परलोकहितम्,
श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥

अहा! यह श्रमणत्व अर्थात् साधुत्व कितना अधिक रमणीय है। श्रमण बन जाने पर न तो राजा का भय रह जाता है, न चोरों का भय रह जाता है। जिन के पास परिग्रह है, उन्हें चोरों और डाकुओं का डर

लगा रहता है, अकिंचन को चोरों का क्या भय? जिन के कुटुम्ब-परिवार है, उन्हे रात-दिन आजीविका की चिन्ता लगी रहती है, किन्तु साधुओं को इस की क्या चिन्ता? भिक्षा माँग कर पेट का भाड़ा चुकाना है। भिक्षा मिल गई तो ठीक, अन्यथा तपस्या करके रह गए तो और भी ठीक, कर्मों की निर्जरा का ही लाभ मिल गया। संसारी प्राणियों को वियोग का भय लगा रहता है। कहीं धन आदि इष्ट वस्तुओं का वियोग न हो जाय अथवा आत्मीय जनों से न बिछुड़ना पड़े, इस प्रकार का भय उन्हे सदैव सताता रहता है। किन्तु जिन्हों ने संसार के समस्त पदार्थों का स्वेच्छा से ही त्याग कर दिया है, जिन का किसी पर ममत्व ही नहीं रह गया है, यहां तक कि जो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानते, उन्हें वियोग का क्या भय? वे इस तरफ से एकदम निर्भय है।

साधुपन में यह सब इस लोक के सुख भी कम नहीं हैं; जिस पर साधुत्व तो परलोक में भी परम हितकारी है। इन सब सुखों को देखते हुए यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि श्रमणत्व वास्तव में बड़ा ही रमणीय है।

कितने आश्चर्य और शोक का विषय है कि मनुष्य संसार के क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये तो अनेक कष्ट सहन करता है, परन्तु वास्तविक तथा शाश्वत आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये कुछ भी परिश्रम नहीं करता, और तो और, स्वाध्याय, सत्संग, भजन और नामसंकीर्तन सरीखे सुखसाध्य उपाय भी नहीं करता।

प्रायः मनुष्य कहता है कि धर्मसाधन के लिए समय नहीं मिलता किन्तु समय के अभाव की बात केवल बहाना मात्र है। मनुष्य अपने नित्य के कार्यों तथा अपनी दिनचर्या मे लगने वाले समय का हिसाब रक्खे तो विदित होगा कि आत्मकल्याण के लिये पर्याप्त समय निकल सकता है। खेद की बात है कि जिस कार्य से सच्चे सुख और वास्तविक शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है, उस के लिये चौबीस घंटों मे से तनिक भी समय न निकाला जाय और जिन क्रियाओ का परिणाम दुःख तथा आवागमन के चक्कर में घूमना है, उन में अपना सारा

समय लगा दिया जाय। हे जीव ! याद रख, जिन संबन्धियों से प्रेम कर के तू आत्मकल्याण को भुला रहा है, वे अन्त में काम नहीं आयेंगे। भगवान् ने चेतावनी दे दी है—

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

(उत्तराध्ययन, १८, १४)

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन, यह सभी जीते जी के साथी है। मरने पर इन में से कोई भी साथ नहीं चलता।

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणन्ति मन्नई।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥

(सूयगडांग, २-३-१६)

अर्थात्—अज्ञानी पुरुष धन, पशु और जाति वालों को अपने लिये शरणभूत मानता है और समझता है कि यह मेरे हैं और मैं इन का हूं। किन्तु वस्तुतः इन में से कोई भी त्राण या शरण रूप नहीं है।

यह एक ऐसा सत्य है जिस का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समय अनुभव कर सकता है। अतएव सच्चे कल्याण की कामना करने वाले को संयम का पालन करना चाहिये। संयम ही इस लोक और परलोक में आनन्दप्रद होता है। ऐसा दृढ़ विश्वास रख कर जो संयमपरायण बनेगा, वह अक्षय शान्ति और अनन्त आनन्द का भागी होगा।

# अपरिग्रह

मोक्षमार्ग की साधना करके आत्मकल्याण करने की अभिलाषा रखने वाले साधक के लिये पांच महाव्रतों का विधान किया गया है। अपने अपने स्थान पर पांचों ही महाव्रत अति उत्तम है। जीवन के उत्थान और श्रेय के लिये पांचो का ही पालन करना आवश्यक और उपयोगी है। जैसे शरीर मे पांचों इन्द्रियों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है और नहीं कह सकते कि अमुक इन्द्रिय लाभप्रद एवं सुखदायक है, और अमुक नहीं। इसी प्रकार महाव्रतों मे से किसी को अधिक सुखप्रद और किसी को कम सुखप्रद नहीं कहा जा सकता। पांचों मे से किसी एक के भी अभाव में संयम की साधना परिपूर्ण नहीं हो सकती। वह लंगड़ी होगी और इष्ट प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकेगी।

इस प्रकार पांचों व्रत समान रूप से उपादेय होने पर भी आज यहां उन में से एक अपरिग्रह का कुछ विवेचन किया जाता है—

आज संसार में सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है। मनुष्य मनुष्य का सहायक और रक्षक होने के बदले भक्षक बना हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाने और हड़पने की योजनाएं बना रहा है, तैयारी कर रहा है और ऐसा करने में ही अपना कल्याण समझता है। एक मनुष्य दूसरे की वस्तु को हथियाने की घात में लगा है। एक ओर सहस्रों प्राणी भूख से बिलबिला रहे हैं और अन्न के अभाव में तड़प-तड़प कर प्राण त्याग रहे हैं और दूसरी ओर धनी व्यापारी अन्न का अनावश्यक संचय करके बैठे है। वे राह देख रहे है कि अन्न की और अधिक कमी पड़ जाए तो अपने संचय को बाहर निकाले और तिजोरियां भर लें। एक ओर बालकों और महिलाओं को अपनी लज्जा बचाने के लिये फटा चीथड़ा भी मयस्सर नहीं हो रहा है और दूसरी ओर धनाढ्य लोग मोटरों मे घूमते और

नरम गद्दियों पर शयन करते हैं। उन के यहां वस्त्रों से पेटियां भरी पड़ी हैं। अन्न अनाप-शनाप विगाड़ा जा रहा है और सड़ने के लिये मोरियों में फैंका जा रहा है।

दिल दहलाने वाली इस विपमता को दूर करने के लिये कई देश साम्यवाद का प्रचार और प्रसार करने की धुन में हैं। वे इस उपाय से दुःखी समाज को सुखी वनाना चाहते हैं, किन्तु इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वे दूसरे देशों को दवा कर अपने अधीन वनाना चाहते हैं। इस प्रकार कहीं पूंजीवाद का वोलवाला है तो कहीं साम्यवाद के नारे लगाये जा रहे हैं। जगत् की अशान्ति को दूर करने के लिए नाना प्रकार के वाद जन्म ले रहे हैं।

विचारपूर्वक इन सव वादों का अध्ययन करने से पता लगता है कि सव वादों का सूत्रधार और प्रमुख नेता एक ही है और वह है—परिग्रह। इस को नाम कुछ भी दे दीजिए, जैसे धनसंचय, सम्पत्ति, ममत्व, मोह, लोभ, लालसा, तृष्णा, आसक्ति इत्यादि। किन्तु इन सव का आधार वही परिग्रह है।

भगवान् महावीर ने मनुष्यों की प्रकृति को भलीभांति समझा था और परिग्रह के दुष्परिणामों की जांच कर ली थी। इसी कारण उन्होंने फरमाया कि जहां और चार व्रत जीवन-साफल्य के लिये आवश्यक है, वहां परिग्रह का परित्याग करना भी अनिवार्य है। भगवान् फरमाते हैं—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होई तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

(उत्तराध्ययन, ३२, ८)

अर्थात्–जिस के मोह नहीं है उस का दुःख नष्ट हो गया। जिस के तृष्णा नहीं है, उस के मोह का नाश हो गया। जिस के लोभ नहीं है उस के तृष्णा भी नहीं रही और जिस के पास कुछ नहीं है,

उस का लोभ नष्ट हो गया। और भी कहा है—

> कसिणं पि जो इमं लोगं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
> तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥
>
> (उत्तराध्ययन, ८-१६)

अर्थात्-धन, धान्य, सोना, चांदी आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य को दे दिया जाय, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। यह संसारी आत्मा स्वभावतः ही असन्तोषशील है।

इस तत्त्व को समझ कर जब तक सन्तोषवृत्ति नहीं ग्रहण की जाती और परिग्रहत्याग के व्रत का पालन नहीं किया जाता, तब तक जगत् में कदापि शान्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। यदि मानव-जाति वीर भगवान् के इस कथन को मान्य कर के चलती तो आज जो स्पर्द्धा और वैमनस्य मनुष्य-मनुष्य के, जाति-जाति के, देश-देश के बीच दिखाई पड़ता है और जिस के कारण अशान्ति ही अशान्ति का प्रसार हो रहा है, उस का कहीं चिह्न भी दिखाई न देता।

एक समय था जब मनुष्य को अपने खान-पान, पहरान आदि की चिन्ता नहीं थी। उस के जीवन की सभी आवश्यकताएं बिना किसी कष्ट और क्लेश के पूरी हो जाती थीं। इस का कारण यह था कि उस समय के मनुष्यों की आवश्यकताएं, आज की भांति असीम नहीं थीं। थोड़े में निर्वाह हो जाता था और जीवन के लिए अनिवार्य सामग्री से अधिक की किसी को अभिलाषा नहीं थी। शृंगार, विलास और संचय करना उन्होंने सीखा ही नहीं था। अतएव किसी को परिग्रह का विचार ही नहीं आता था। जब परिग्रह का विचार नहीं आता था तो स्पर्द्धा उत्पन्न होने का कोई अवसर ही नहीं था। किन्तु मानव जाति के लिए वह बड़ी दुर्भाग्य की घड़ी थी जब मनुष्य के मन में परिग्रह की दुर्भावना समाई। परिग्रह की इस दुर्भावना ने संग्रहवृत्ति का बीज अंकुरित किया। तब मनुष्य ने सोचा—कुछ न कुछ सामग्री पास में संचित भी रहनी चाहिए, जो भविष्य में काम आ सके।

जब कोई भावना एक मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होती है तो उस का प्रतिबिम्ब अन्य पुरुषों के हृदय-पटल पर भी अंकित हो जाता है। इस नियम के अनुसार और समय के प्रभाव से अन्य व्यक्तियों के हृदयों मे भी संग्रहवृत्ति जागी। जब संग्रहवृत्ति एक बार जाग उठी तो वह जाग कर ही नहीं रह गई, बल्कि दिनोदिन बढ़ती ही चली गई। ज्यों-ज्यों वह बढ़ती गई, मनुष्य की अभिलाषाओं के साथ उस के दुःखों की भी वृद्धि होती चली गई।

जब बहुत से लोगों ने जीवनोपयोगी सामग्री संचित कर के रख ली तो कई लोग उन वस्तुओं का अभाव अनुभव करने लगे, क्योंकि वह वास्तव मे उन्हीं का भाग था जो संग्रहवृत्ति वालो ने दबा कर रख लिया था। परिणाम यह हुआ कि लोगों के सामने बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई। मनुष्य की अभिलाषाओं के साथ उस की आवश्यकताएं बढ़ती चली गई और दूसरे लोग उसी परिमाण मे उन वस्तुओं से वंचित रहने लगे। धीरे धीरे आज हत्याकाण्डों और महायुद्धो के रूप मे हमारे सामने जो घोर अनर्थकारी परिणाम आया है, उस के संबन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

आज मनुष्य की हवस इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि उस का कहीं ओर-छोर ही नहीं दिखाई देता। आज आप की आवश्यकताएं आप का विशाल देश भी पूर्ण नहीं कर सकता। उन्हे पूर्ण करने के लिए संसार के कोने-कोने से वस्तुएं मंगवानीं पड़ती है, फिर भी क्या वे पूरी हो जाती हैं? नहीं, एक आवश्यकता पूरी हुई या नहीं कि उस की जगह दस आवश्यकताएं नवीन उत्पन्न हो जाती हैं।

कभी आप सोचते हैं कि जिन्हे आप आवश्यकता मान रहे हैं, वह वास्तव मे आवश्यकता है या नहीं? जिस वस्तु को आप आवश्यक समझते है वह क्या आप के जीवन के लिए अनिवार्य है? उस के बिना आप की जिन्दगी नहीं चल सकती। अगर वह वस्तु आप को प्राप्त न हो तो आप का कौन-सा कार्य रुक जायेगा? अगर ऐसी कोई बात नहीं है। उस वस्तु के बिना आप का कोई काम नहीं रुकता या बिगड़ता और उस के बिना आप का जीवन भलीभांति चल सकता

है तो आप को समझ लेना चाहिए कि आप की आवश्यकता नहीं है। आप का दिल दग़ाबाज़ है जो आप को अनावश्यक वस्तु भी आवश्यक बतला रहा है।

अगर आप किसी भी वस्तु की अभिलाषा करते समय ऐसा विचार कर लिया करें तो आप को बहुत लाभ हो। आध्यात्मिक लाभ तो होगा ही, सांसारिक और गार्हस्थिक दृष्टि से भी आप लाभ में रहेंगे। आप व्यर्थ व्यय करने से बच जाएंगे और इस के फलस्वरूप अधिक धन कमाने की झंझटों से भी अवकाश पा जाएंगे। जीवन में सादगी और संयम का प्रवेश होगा और शान्ति का अनुभव होने लगेगा। सन्तोषवृत्ति आप के अन्तःकरण में जागृत होगी और आप सैकड़ों परेशानियों से अनायास ही छुटकारा पा लेंगे।

यहां के प्राचीन पुरुष बड़े ही सादे ढंग से अपना जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने परिग्रह को कभी वह रूप नहीं दिया था जो आज दृष्टिगोचर हो रहा है। उन की जीवनदृष्टि यह थी—

सन्तोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धाना-मितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात्-सन्तोषरूपी अमृत को पा कर जो तृप्त हो गए हैं और इस कारण जिन का चित्त शान्त हो गया है, उन्हें जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख धन के लोभ में पड़ कर इधर-उधर दौड़ धूप मचाने वालों के भाग्य में कहां?

सन्तोषरूपी धन अनुपम धन है। संसार का कोई भी धन उस के समान आनन्दप्रद नहीं हो सकता। कबीर जी ने कहा है—

गोधन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

वास्तव में तृष्णापूर्त्ति से मनुष्य की तृप्ति न कभी हुई है और न हो सकती है। संग्रहवृत्ति धारण करने से और अपरिग्रह के नियम का उल्लंघन करने से लालसा बढ़ती ही जाती है, जैसा कि सुन्दर कवि ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये,
शत होये हज़ारन लाख मंगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख,
पृथ्वी-पति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज्य करो,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेगी।
सुन्दर एक सन्तोष विना,
शठ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

ऐसी है परिग्रह की तृष्णा की आग। इसी कारण भारत के सभी धर्मों ने परिग्रह को त्याज्य कहा है। हिन्दू धर्म में भी परिग्रह को आत्मकल्याण का बाधक बतलाया है। जैन धर्म तो अपने आचारधर्म में अपरिग्रहव्रत को प्रधानता देता ही है। भगवान् महावीर ने कहा है-

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ।
(सूत्रकृतांग, १-१-२)

अर्थात्-जो मनुष्य सचित्त या अचित्त, थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है, अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दुःख से छुटकारा नहीं पाता।

वास्तव में धन-दौलत आदि से आत्मा का कुछ भी तो कल्याण नहीं होता। फिर भी मनुष्य न जाने क्यों माया के पीछे मतवाला हो रहा है। जानता है कि खाली हाथ जाना है, सिर्फ पुण्य-पाप साथ जाने वाले हैं, फिर भी आंखे बन्द करके धन आदि परिग्रह के लिए अठारहों पापों का सेवन करने मे हिचकता नहीं है। आज तक के ऋषियों, मुनियों और तत्त्वद्रष्टाओं ने इस संबन्ध मे न जाने कितनी खरी-खरी बातें सुनाई है, मगर माया मे मुग्ध मनुष्य उन सब को

अनसुनी कर देता है और माया के पीछे अपनी काया को भी संकट मे डाल देता है। सुन्दरदास कहते है—

माया जोरि नर राखत जतन करि,
कहत है एक दिन मेरे काम आये है।
तोहे तो मरत कछु वार नाहीं लागे शठ,
देखत ही देखत बबूला सो विलाए है।
धन तो यों ही रहे चलत न कौड़ी गहे,
रीते हाथ आयो जैसे तैसे रोते जाए है।
कर ले सुकृत यह विरिया न आवे फिर,
सुन्दर कहत फेर पाछे पछताए है॥

कबीर जी कितना कठोर सत्य प्रकट करते है—

कौड़ी कौड़ी जोड़ के, जोड़े लाख करोड़।
चलती वार न कछु मिल्यो, लई लंगोटी तोड़।

इस प्रकार अनुचित परिग्रह मानव-जाति के लिए सभी दृष्टियों से अभिशाप रूप ही है। परिग्रह की बदौलत मनुष्य सुख पाना चाहता है परन्तु उसे न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक मे ही। परिग्रह अपने आप मे ही पाप है। परिग्रह के वश मे पड़ा हुआ प्राणी परिग्रहसंग्रह का पाप करके ही नहीं रुक जाता, वरन् वह आगे भी भयंकर पाप बढ़ाता है। वह नये-नये अत्याचारों को जन्म देता है, उस से करोड़ों मनुष्यों की स्वाधीनता लुटती है। उन को पशुओं की मौत मरना पड़ता है। यह परिग्रह बुद्धिजनित क्रूरता ही है कि मनुष्य अपने सजातीय भाइयों-मनुष्यो को शीत से ठिठुरते और मरते देखता है, किन्तु पेट्रियों मे पड़े-पडे सड़ने वाले कपड़ों को निकाल कर उन ग़रीबों को नहीं दे सकता। एक व्यक्ति के पास इतनी अधिक भूमि है कि वह उसे जोत नहीं सकता और वह फालतू पड़ी रहती है और कुछ लोगों के पास भूमि का इतना खंड भी नहीं कि वे पेट पालने योग्य

अन्न भी उपजा सके, कई लोगों के पास इतना अधिक धन है कि उन्हें उसे सम्भालने में कठिनता होती है, किन्तु दूसरी ओर अनेकों लोग पैसे-पैसे के लिए कष्ट पाते हैं। इस प्रकार की विषमतापूर्ण परिस्थिति के कारण ही उपद्रव तथा उत्पात होते हैं। इन उपद्रवों को शान्त करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि लोग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को समझें और उन आवश्यकताओं से अधिक सामग्री का संचय न करें, जिस से प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति से वंचित न रहे।

मनुष्य को समझना चहिये कि आखिर तृष्णा की पूर्त्ति तो कभी होती नहीं, फिर धन आदि का अनावश्यक संचय करने से क्या लाभ है ? कितना ही संचय क्यों न कर लिया जाये, तृष्णा तो घटेगी नहीं, बल्कि उलटी और भी बढ़ेगी। शास्त्र में कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं॥

(उत्तराध्ययन, ८, १७)

अर्थात्—ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यो-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ लोभ का कारण है। कपिल ब्राह्मण राजा से दो माशा सोना पाने की इच्छा से घर से निकला। दैवयोग से उसे चोर समझ पहरेदारों ने पकड़ लिया और राजा के सामने पेश किया। कपिल ने राजा के सामने अपनी दरिद्रता का चित्र खींचा और राजा को विश्वास हो गया कि यह चोर नहीं है। राजा को कपिल की दरिद्रता देख दया आ गई। उस ने कहा—अच्छा, जो चाहिए सो मांग लो।

इच्छानुसार पाने की कल्पना जागृत होते ही कपिल का मन मचल गया। वह दो माशा सोना पाने की इच्छा से आधी रात को घर से निकला था, परन्तु अब तो उस की इच्छाएं विराट रूप धारण करने लगीं। वह सोचने लगा—दो माशे से क्या होगा ? दो सेर सोना मांग लूं। मगर इतने से भी तृप्ति होती न दिखाई दी तो क्रमशः आधा राज्य मांगने को उद्यत हो गया। फिर लालसा बढ़ी तो

राजा का सारा राज्य मांगने की इच्छा करने लगा।

इस प्रकार अपनी लालसाओं का असीम रूप देख कर कपिल के मन मे ज्ञान जागा। उस ने सोचा–कहां दो माशा सोना और कहां करोड़ो की सम्पत्ति और राज्य। उस पर भी यह मन तृप्त नहीं होता। अच्छी धात है, इसे तृप्त करने का उपाय त्याग है। त्याग कर के ही इसे तृप्त करूंगा। यह सोच कर कपिल गृहत्याग कर सीधे वन की ओर चल दिये। राजा ने कहा—क्यों, विना मांगे कहां चल दिये? कपिल ने कहा—मुझे जो चाहिये था, वह सब मिल गया। अब किसी भी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं रही।

सच है, मनुष्य के मन मे जब निस्पृहता आती है तो उसे मानो विश्व की समस्त सम्पदा प्राप्त हो जाती है। वह समझ लेता है—

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

(उत्तराध्ययन, १४-३९)

अर्थात्–यदि सारा संसार और सारे संसार का धन तेरा हो जाय, तो भी वह तेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगा। और उस से भी तेरी रक्षा न होगी।

स्थिति यही है, सत्य यही है, और इस में रंच मात्र भी सन्देह नहीं कि परिग्रह से कभी किसी को तृप्ति नहीं हो सकती। परिग्रह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता। फिर भी आश्चर्य है कि बुद्धिमान् कहलाने वाला मनुष्य भी ईंधन दे-दे कर आग को बुझाने की बाल-चेष्टा कर रहा है और नाना प्रकार का पापाचार करके अपनी लालसाओं को सन्तुष्ट करने की कोशिश कर रहा है।

विश्व में होने वाले पापों, प्रपंचों तथा अत्याचारों का मूल खोजा जाय तो विदित होगा कि उन सब का मूल कारण परिग्रह ही है। वैज्ञानिकों का कथन है कि जीवनोपयोगी समस्त आवश्यक पदार्थ प्रकृति इस परिमाण मे उत्पन्न करती है कि जिस से सब की आवश्यकता की पूर्त्ति हो जाय। ऐसा होते हुए भी संसार मे अनेक व्यक्ति

नंगे और भूखे फिर रहे है। इस का कारण केवल संग्रहवुद्धि या परिग्रह ही है। अतीत काल मे जितने भी युद्ध लडे गये हैं, उन की तह मे ज़र, जन और जमीन (कनक, कामिनी और भूमि) ही थे।

परिग्रह के लिये मनुष्य हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, शील भंग करता है और कोई भी छोटा बड़ा पाप नहीं जो न करता हो। खेद है कि इस परिग्रहवुद्धि ने संसार को घोर अशान्ति का अड्डा बना दिया है। जरा कल्पना कीजिए उस विश्व की, जिस में सन्तोप की प्रधानता हो और अनुचित लालसाएं अपना सिर न उठा सकती हों। वह विश्व कितना शान्तिमय और सुखमय होगा।

शास्त्र ने परिग्रह को दुःख का कारण कहा है और हमारा अनुभव भी हमें यही बतलाता है, फिर भी न जाने लोग किस बुद्धि से प्रेरित हो कर परिग्रह को ही सुख का एक मात्र साधन समझते हैं। मनुष्य भयंकर यातनाओं को सह कर भी और ग़रीबों का शोपण कर के भी धनवान बनना चाहता है। आज सारे संसार को सुख का भंडार धन में ही दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु धनप्राप्ति में जिस सुख का आभास प्राणियों को होता है, वह ठीक उसी प्रकार का है जैसे मृगतृष्णा मे मृग को जल का आभास होता है। ऐसी अवस्था में धन के पीछे भागने और मरने वाले लोगो से प्रश्न किया जा सकता है कि—हे धनलिप्सु मनुष्यो! बताओ कि संसार मे धन से किस मनुष्य को तृप्ति, शान्ति और निराकुलता मिली है? कौन धन के द्वारा सुखी हुआ है? क्या कोई ऐसा उदाहरण बता सकते हो जिस में धन पाकर मनुष्य वास्तविक और स्थायी सुख प्राप्त कर सका हो? भूतकाल को देखो और वर्त्तमान का भी अवलोकन करो और बताओ कि कौन परिग्रही सुख प्राप्त कर सका? महान् विजयी सिकन्दर मृत्यु के समय अपनी समस्त सम्पत्ति को एकत्रित करके उस पर अश्रुपात करता और कहता है कि क्या इस अपार सम्पत्ति मे से एक कौड़ी भी मेरे साथ जाने वाली नही है? हाय, इसी सम्पत्ति के लिये मैंने युद्ध किये, न मालूम कितनी माताओं को पुत्रविहीन बनाया। कितनी सौभाग्यवतियो का सुहाग छीना। अनेक देशो को लूटा और अन्त

से यह धन मेरा साथ नहीं दे रहा है।

सिकन्दर का अन्तिम आदेश यह था कि मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखना, ताकि लोग देख लें कि मेरे हाथ खाली हैं और लोग सोच सकें कि जो मूर्खता सिकन्दर ने की वह हम न करें।

सिकन्दर को अपनी सम्पत्ति के संबन्ध मे जो अनुभव हुआ था क्या आप उस से विपरीत अनुभव करने की आशा रखते हैं? क्या आप यह सोचते है कि आप अपनी सम्पत्ति को साथ ले जायेंगे? अजी, साथ ले जाने की बात तो दूर रही, इस जन्म में भी आप उस से सच्चा सुख नहीं पा सकते। धन आप के जीवन को निरन्तर चिन्तामय और व्याकुल बनाये रखता है। एक पश्चिमी विद्वान् रेनोल्ड्स (Renolds) ने कहा है—

Less coin, less care.

अर्थात्–जितना कम धन होगा उतनी ही कम चिन्ता होगी।

प्रसिद्ध विचारक सुकरात कहते हैं—

He is the richest who is emptent with the least.

अर्थात्–वह पुरुष सब से बड़ा सम्पत्तिशाली है जो थोड़ी से थोड़ी पूञ्जी से सन्तुष्ट रहता है।

विश्वविख्यात कवि शैक्सपियर का कथन है—

Golp is worse poison to men's sonls tham any mortal drug

अर्थात्–सब प्रकार के विषैले पदार्थों मे, मनुष्य की आत्मा के लिए, धन बड़ा भयंकर विष है।

जब तक मनुष्य धन-सम्पत्ति मे आसक्त हो कर उस से सुख पाने की आशा करता है, तब तक वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। सुख का वास्तविक भण्डार तो आत्मा मे है। अतः आत्मा मे रमण करने से ही सुख का साक्षात्कार होना सभव है। और आत्मरमण तब तक असंभव है जब तक बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति और कामना

वनी हुई है। जब वाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति कम हो जायेगी तभी आत्मस्थिति का मान होगा और तभी आनन्द का अनुभव होगा।

जैसे एक म्यान मे दो तलवारें नहीं रह सकतीं और एक आदमी, एक साथ दो घोडों पर सवार नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि आप पर-पदार्थों पर भी प्रीति बनाये रक्खें और वास्तविक आत्मानन्द को भी प्राप्त कर लें। वीमारी रहते स्वस्थता का अनुभव होना कैसे संभव हो सकता है?

हे मनुष्यो! अगर तुम सच्चा सुख चाहते हो तो पर-पदार्थों के प्रति आत्मीयता का भाव त्याग दो। ऐसा करने पर सच्चे सुख का भण्डार तुम्हारे लिए खुल जायेगा, तुम्हें अपूर्व और कल्पनातीत सुख का अनुभव होने लगेगा। उस सुख के सामने यह परिग्रहजनित सुख तुच्छ, नगण्य और निस्सार प्रतीत होगा। इसी हेतु से भगवान् महावीर ने आदेश दिया है कि वह अपनी दृष्टि को वाहर की ओर से हटा कर अन्दर की ओर करे। मनुष्य की आत्मा में ही सुख का भण्डार है। सुन्दरदास कहते हैं—

आप ही के घट में प्रगट परमेश्वर है,
ताहि छांड़ भूल नर दूर दूर जाता है।
कोई दौड़े द्वारिका को कोई काशी जगन्नाथ,
कोई दौड़े मथुरा कोई हरद्वार न्हात है।
कोई दौड़े वद्री को विषम पहाड़ चढ़े,
कोई तो केदार जात मन में सुहात है।
सुन्दर कहत गुरुदेव दिये दिव्य नयन,
हृदय-आकाश मांहि प्रभु जू दिखात है।

सुन्दरदास जी की यह अनुभव-वाणी अमर सत्य को अभिव्यक्त कर रही है। संसार के सभी सद्विचारक आखिर इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप है। दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर जब आत्मा का स्वरूप निहार जाता है तो प्रतीत होता है कि वहां सुख

का परमशीतल और अविरल स्रोत वह रहा है। जिस ने अमृत के इस स्रोत मे अवगाहन किया। वह कृतार्थ हो गया। उस ने अपने जीवन को धन्य बना लिया। संसार का अखण्ड साम्राज्य उस के लिये धूल के समान है। हीरे और जवाहरात उस की दृष्टि मे कंकर-पत्थर हैं। जो भद्र प्राणी भगवान् के अपरिग्रहवाद को अंगीकार करके उस सुख को प्राप्त करेंगे वही शाश्वत शान्ति के भागी होंगे।

# आलोचना और जीवनसुधार

एक बार किसी समुद्र मे तूफान आने के कारण एक जहाज़ अपने इष्ट मार्ग से च्युत हो कर विषम मार्ग में जा पड़ा। इतना ही नहीं, वह प्रचण्ड पवन से सर्वथा निराधार स्थिति में पड़ कर इधर-उधर डोलने लगा। समुद्र की तरंगों के थपेड़े खाता हुआ वह बहुत दूर जा निकला। यात्रियों के पास पीने का जल नहीं रह गया था। जल के अभाव से उन के प्राण कण्ठ में आये हुए थे। जल के अभाव से उन के प्राण कण्ठ में आए हुए थे। समुद्र के जल को क्षार होने के कारण वे अपेय समझते थे, उसे पीना नहीं चाहते थे। अन्त मे जब तृषा अत्यन्त बढ़ गई और वे मृत्यु के द्वार तक पहुंच गये तो उन्होंने विवश हो कर अपने प्राण बचाने के लिये समुद्र का खारा पानी ही स्वीकार किया। उन मे से एक व्यक्ति ने "मरता क्या न करता" इस लोकोक्ति का अनुसरण करते हुए समुद्र में से एक डोल भर कर खींचा और चुल्लू मे लेकर एक घूंट पीया। उस के आश्चर्य की सीमा न रही जब वह पानी मधुर, शीतल, ताजा और जीवनप्रद प्रतीत हुआ। उस मनुष्य को विस्मय के साथ अपार प्रसन्नता भी हुई। तब सभी यात्रियों ने उस मधुर जल को पी कर अपनी तृषा शान्त की।

वास्तव मे जहां जहाज़ चल रहा था, वहां एक बड़ी भारी नदी समुद्र मे आकर मिलती थी। जहाज़ नदी के मुख पर ही आ पहुंचा था। किन्तु यात्रियो को इस बात का पता नहीं था और इसी कारण वे प्यास की पीड़ा सहन कर रहे थे, यद्यपि अपनी प्यास मिटाने के लिये उन्हें केवल हाथ ही लम्बा करने की आवश्यकता थी।

यह एक दृष्टान्त है जो बहुत से मनुष्यो के नैतिक जीवन पर घटित होता है।

संसार एक समुद्र है और उस मे मानव का जीवनरूपी जहाज

चल रहा है। पाप कर्मों का तीव्र पवन उन के जीवन-जहाज को डगमगा देता है। तब वे सोचने लगते हैं—हम तो नष्ट हो गए। और वे इच्छा करने लगते हैं कि पुनः एक बार अवसर मिले कि इस समय के ज्ञान और अनुभव से लाभ उठाएं और अपने नवीन जीवन को उन्नत बनाएं। इस विचार में वे अपनी युवावस्था का सुनहरी समय याद करते हैं और प्रमाद में नष्ट किये हुये अपने जीवन में अमूल्य दिनों के लिए पश्चात्ताप करते हैं और ठंडी आहें भर कर रह जाते हैं। पूर्वोक्त जहाज के यात्रियों के समान वे भी अज्ञान के कारण अपने पास की, जीवन में परिवर्तन करने वाली सामग्री को नहीं देख सकते। यह बात उन की समझ में नहीं आती कि प्रतिदिन मनुष्य के नूतन जीवन का प्रारंभ होता है। प्रतिदिन सूर्योदय के साथ ही नूतन जन्म होता है। अतएव मनुष्य को अपने प्राप्त किये हुए अनुभवों के साथ नूतन जीवन आरंभ करने का अवसर प्रतिदिन मिलता है। नूतन ज्ञान के साथ नूतन शक्ति भी प्राप्त होती है, किन्तु साथ ही नवीन जिम्मेदारियां भी उपस्थित होती है। जिन्हें अपना जीवन ऊंचा बनाना है। उन के लिये प्रत्येक सूर्योदय एक नवीन प्रसंग है।

अपने पिछले प्रमाद या विगत भूलों के लिये पश्चात्ताप करना तो उचित और आवश्यक है, किन्तु पश्चात्ताप यदि कोरा पश्चात्ताप ही रहे तो उस से कुछ भी लाभ नहीं होता। पश्चात्ताप होने पर उस प्रमाद और भूल को सुधारने का मन मे दृढ़ संकल्प भी होना चाहिये और जो भूलें पहले हो चुकी हैं, उन्हे फिर न दोहराने का व्रत भी लेना चाहिये और उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये।

आगे भूल या प्रमाद न हो, ऐसी सावधानी रखने का एक उत्तम उपाय आलोचना करना है। आलोचना का अर्थ है-अपने दोषों की मीमांसा करना। सरल और शुद्ध भाव से प्रातः सायं अपने दोषों का विचार करने वाला भविष्य के दोषों से बच सकता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने आत्मसुधार के लिए आलोचना को अति कल्याणकारी बतलाया है—

कयपावो वि मणूसो, आलोइय निन्दियं गुरुसगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिय भरो व्व भारवाहो ॥
(समाधिमरणप्रकीर्णक, १०२)

अर्थात्—जैसे भारवाही भार उतार कर अत्यन्त हल्कापन अनुभव करता है, इसी प्रकार पापी मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने दुष्कृत्यों की आलोचना-निन्दा कर के पाप से हल्का हो जाता है।

आलोचना की विधि बतलाते हुए कहा गया है—

जं पुव्वं तं पुव्वं, जहाणुपुव्विं जहक्कमं सव्वं।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविधिं अभिन्दंतो ॥
(समधिमरण प्र० १०५)

अर्थात्—श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल का उल्लंघन न करते हुए, दोषों की क्रमशः आलोचना करनी चाहिए। जो दोष पहले लगा हो उस की आलोचना पहले और बाद मे लगे दोष की बाद में करनी चाहिए। इस प्रकार क्रम से आलोचना करनी चाहिए।

जो मनुष्य नये सिरे से प्रशस्त जीवन यापन करने की इच्छा रखता हो, उसे अनेक प्रकार की निष्फलताओं से बहुत सी शिक्षा मिल सकती है। जिस की दृष्टि पैनी है और जो अपने जीवन की घटनाओं से लाभ उठाना जानता है, वह अपने जीवन की पोथी पढ़ लेने से ही बहुत लाभ उठा सकता है। इस दृष्टि से निष्फलता का भी अपने आप मे बहुत महत्त्व है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जो काम किया जा चुका है, उस के लिए पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं, यही नहीं बल्कि उन के अभिप्राय के अनुसार पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है। परन्तु ऐसा सोचने और समझने वाले लोगों की दृष्टि ही दूषित है। ऐसा वही लोग कह सकते हैं जिन के सामने कोई ऊंचा लक्ष्य नहीं है और जिन्हे आत्मशुद्धि की महत्ता का ज्ञान नहीं है।

पश्चात्ताप करने से अत्यन्त लाभ होता है। पश्चात्ताप हृदय में प्रज्वलित की हुई वह अग्नि है, जिस मे भूतकाल के पाप भस्म हो

जाते हैं और जिस के कारण चित्त की भूमि आगे भी पाप का प्रसव करने से रुक जाती है। एक पश्चिमी विद्वान् ने कहा है—

'Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light'

अर्थात्-अपने दोषों और पापों को प्रकट करो, इस से तुम्हे प्रकाश की प्राप्ति होगी।

यह ठीक है कि निरर्थक उदासीनता या पश्चात्ताप कर के अपने आगे के समय को गंवाना उचित नहीं है, किन्तु जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, उन से लाभ उठाते हुए शेष जीवन को उपयोगी और निर्दोष तो बनाना ही चाहिए। भूतकाल में निरर्थक में गंवाया हुआ समय तो अब लौटने को नहीं है, किन्तु भविष्य को बनाना तो तुम्हारे हाथ में है। चेतना जागृत हो जाने पर अपना एक-एक क्षण प्रमाद को त्याग कर बड़ी सावधानी के साथ बिताओ। प्रत्येक कार्य को आरंभ करने से पहले अपने अन्तःकरण से यह प्रश्न पूछ लो कि जो कार्य मैं कर रहा हूं, वह मेरे जीवन को कल्याणमय बनाने वाला है या नहीं? अगर तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध है तो उस से तुम्हें अच्छा परामर्श मिलेगा। उस परामर्श पर चलने से तुम्हारा शेष जीवन अवश्य सुधरेगा। एक फारसी कवि ने कहा है—

ऊमरे दुन्या चन्द रोजा बेश नेस्त।
ग़ाफल आं कस कि पेश अन्देश नेस्त॥

अर्थात्—इस संसार में मनुष्य की आयु अल्पकाल की है। वह प्राणी अत्यन्त अचेत है जो अपने शेष जीवन को सुधारने की चिन्ता नहीं करता।

इस प्रकार उन के सामने पुनः पुनः उपयोगी भावनाएं उपस्थित करने से मनुष्य सन्मार्ग पर गमन करने लगेगा और शेष समय का अधिक से अधिक लाभ उठाएगा और जो हानि हो चुकी है उस की पूर्ति करने के साधन जुटा सकेगा जो मनुष्य अपने दुष्कृत्यों के लिये पश्चात्ताप नहीं करता और अपने गुरु के समक्ष आलोचना नहीं करता,

उसे अन्ततः बुरी तरह पछताना होगा और विवश हो कर कहना होगा-

मैं अपने बद अमलों से हूँ इस कदर नादम।
कि शरम आती है खुद अपनी शरमसारी पर ।।(सहर)

अर्थात्-मैं अपने कदाचार से इतना लज्जित हूँ कि मुझे अपनी लज्जा पर भी लज्जा आती है।

अन्तकाल में ऐसा मनुष्य, यह कहने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता कि-

तुहमतें चन्द अपने ज़िम्मे धर चले।
किस लिए आए थे हम क्या कर चले ।। (दर्द)

अन्त में घोर और निरर्थक पश्चात्ताप न करना पड़े, इस दृष्टि से यही उचित है कि मनुष्य अपने कृत अपराध के लिए उसी समय पश्चात्ताप कर ले और संकल्प कर ले कि आगे को इस की पुनरावृत्ति नहीं करूंगा।

कई लोग भूतकालीन दोषों की उपेक्षा कर के और उन के लिये पश्चात्ताप का भाव न लाकर आनन्द में बीते हुए दिनो को स्मरण करते है और खुशियां मनाते है। मगर ऐसी खुशियां मनाने का कोई महत्त्व नहीं। देखा जाता है कि कई भिखारी भी कभी-कभी भिक्षा के अन्न से सुखपूर्वक बीते हुए दिनों को याद कर के कहते है कि हम ने पहले बड़े आनन्द में समय बिताया है। ऐसा कहते हुए उन्हें तनिक भी विचार नहीं आता कि भीख मांग-मांग कर पेट पालने में कौन-सी बड़ाई है? इस में प्रसन्नता की क्या बात है? अतएव विचारणीय विषय तो यही है कि हम ने गत काल में अपने जीवन को कितना उन्नत बनाया है? अतीत काल की अपेक्षा वर्त्तमान में हमारा जीवन उत्कृष्ट बना है या नहीं? और भविष्य में अधिक उत्कृष्टता प्राप्त करने की हमारे सामने क्या योजना है?

इस प्रकार जीवन के आमोद-प्रमोद के संबन्ध मे विचार करने की अपेक्षा आत्मा के कल्याण के विषय मे विचार करने से ही हमारा वास्तविक हित हो सकता है।

कई लोग अपने निज के पतित और गये बीते जीवन के सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं सोचते और अपने पूर्वजों की कीर्ति का बखान करके ही गौरव और सन्तोष का अनुभव कर लेते है। हमारे बाप दादा तथा अन्य पूर्वज बडे उत्तम पुरुष थे ऐसा कहने से हमें कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। हमारे प्राचीन पुरुषों ने युद्ध में बड़ा भारी पराक्रम दिखलाया था अथवा वे बडे शक्तिशाली या भक्तिमान् थे, ऐसा कह कर हम शक्ति और भक्ति नहीं पा सकते। अगर हम मे शौर्य नहीं है और भक्ति नहीं है, तो हम ऐसा कह कर अपने पूर्वजों का निरादर ही करते हैं और प्रकारान्तर से अपने आप को कपूत साबित करते हैं।

आशय यह है कि मनुष्य अपने अतीत पर जब विचार करने लगे तो ऐसी बातों पर विचार न करे जिस से अन्तःकरण मे कषाय की वृद्धि हो या भोग-विलास की ओर प्रवृत्ति बढ़े, बल्कि ऐसी बातों पर उसे विचार करना चाहिए जिस से उस के आत्मकल्याण की वृद्धि हो, प्रशस्त सकल्पा की जागृति हो और आत्मा के उत्थान की ओर कुछ कदम बढ़ाए जा सकें। इस दृष्टिकोण को सामने रख कर जब हम सोचते हैं तो प्रतीत होता है कि अपने अतीत की स्खलनाओं, भूलो और बुराइयो पर विचार करने की परम आवश्यकता है। इस विचार को हमारे यहां आलोचना कहा गया है।

आलोचना का बहुत बड़ा महत्व है। यह जीवन को उच्च और पवित्र बनाने की एक सुन्दर कला है। शास्त्र में इस को दैनिक कर्तव्य का रूप दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

प्रश्न—आलोयणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण-सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं, अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसकवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।

अर्थ—

प्रश्न—हे भगवन्! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—गुरु के समक्ष आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त संसार (जन्म-मरण) की वृद्धि करने वाले, माया मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीन शल्यों को जीव हृदय से बाहर निकाल देता है उस के तीनों शल्य नष्ट हो जाते है। इस कारण जीव का हृदय सरल बन जाता है। जब सरल बन जाता है तो निष्कपट भी हो जाता है और स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का बन्ध नहीं करता। अगर स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का पहले बंध चुका हो तो उस की निर्जरा हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि साधक पुरुष को प्रथम तो इस बात की पूर्ण सावधानी और जागृति रखनी चाहिए कि उस से कोई दुष्कृत्य न हो। फिर भी यह संभव नहीं कि सहज दुर्बलता के कारण कभी कोई दोष न हो। मन की चपलता के कारण साधक न चाहता हुआ भी कभी कभी मन से और कभी कभी तन से भी और वचन से भी गिर जाता है। ऐसी स्थिति में उस का कर्तव्य है कि वह सर्वथा सरल निष्कपट भाव से अपने दोष को अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर दे।

सरल भाव से अपने दोषों को प्रकट कर देने का अर्थ यह है। कि जो दोष जिस रूप में सेवन किया गया है उस को उसी रूप में प्रकट करना चाहिए। उसे न न्यून रूप में और न अधिक रूप मे प्रकट करे। कभी कभी अपनी उत्कृष्टता प्रकट करने के लिये दोष का आचरण न करके भी दोष प्रकट करना उसी प्रकार मायाचार है जैसे कि किसी गुरुतर दोष को हल्के रूप मे प्रकट करना या प्रकट ही न करना मायाचार है। जैसे छोटा सा बालक अपने माता पिता के सामने अपनी किसी भी बुराई को प्रकट कर देता है और उस मे नमक मिर्च नहीं लगाता न छिपाता है, उसी प्रकार साधक जब अपनी बुराई को अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है तो वह सरल भाव से की हुई आलोचना कहलाती है।

ऐसी आलोचना करने से अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो जाता है। गुरु के सामने सर्वज्ञ देव की साक्षी से किस प्रकार आलोचना करनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में (रत्नाकरपच्चीसी) मे कहा है-

किं बाललीलाकलितो न बालः।
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः ?
तथा यथार्थं कथयामि नाथ !,
निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे ॥

अर्थात्-हे नाथ ! आप के सामने वास्तविक बात प्रकट कर देने में हर्ज ही क्या है ? क्या बालक अपने माता-पिता के सामने सारी बातें निष्कपट भाव से प्रकट नहीं कर देता है ? मैं बालक की तरह ही अपने आशय को, पश्चात्ताप के साथ आप के समक्ष प्रकट करता हूँ।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जैसे अपने दुष्कृत की आलोचना करना आवश्यक है, उसी प्रकार अपने सुकृत की आलोचना करना क्यों आवश्यक नहीं है ? साधक अपनी बुराई को जैसे गुरु के समक्ष प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अपनी भलाई को भी क्यों न प्रकाशित करे ? फिर शास्त्र में दोषों की ही आलोचना क्यों कही है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आलोचना आत्मशुद्धि का एक साधन है और शुद्धि का अर्थ है-अशुद्धि को दूर करना। अशुद्धि दोषों से होती है, दुष्कृत से होती है, सुकृत से नहीं। साधक को सदैव निर्दोष स्थिति में ही बरतना चाहिए। अगर वह वैसा बर्ताव करता है तो उस को कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो शास्त्र और गुरु की आज्ञा है ही। जब आज्ञा का भंग हो तभी गुरु से कहने की आवश्यकता होती है। इसी अभिप्राय से दोषों की आलोचना करने का विधान किया गया है।

यों तो प्रत्येक जीव को सावधान करने के लिए प्रकृति ने उस के अन्दर आत्मध्वनि का सृजन किया है। जब कोई मनुष्य किसी वासना के वश हो अनीति और अधर्म के अशुभ मार्ग पर गमन करने का विचार करता है, तो उस समय उस के अन्तःकरण से उस कार्य का

निषेध करने की आत्मिक ध्वनि निकलती है, परन्तु वासना की तीव्रता और प्रवलता उस समय उस मनुष्य को अपने इच्छित मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती है। मनुष्य इस के अधीन हो कर आत्मिक ध्वनि को सुन कर भी अनसुनी कर देता है, अथवा अपने आप को समझाता है कि--बस अब की वार, अन्तिम रूप से ही मैं इस कार्य को करता हूं; इस के बाद फिर कभी ऐसा कार्य नहीं करूंगा। इस तरह अपनी अन्तर्ध्वनि की अवहेलना कर के वह अनीति के गर्त में गिर जाता है।

जैसे छोटी-सी आग की चिनगारी कभी-कभी वड़े-वड़े नगरों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार कभी-कभी थोड़ी-सी भी असावधानी से सारा जीवन नष्ट हो जाता है। जिस पर एक वार सवार हुआ वासना का भूत अन्दर से उठने वाले नाद को' बस, अब की वार, फिर कभी नहीं' का आश्वासन दे कर अधर्म के मार्ग पर मनुष्य को घसीट ले जाता है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की दुर्वलता होती है, वह अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर नहीं रह सकता। इस के विपरीत जो भाग्यशाली पुरुष अपने यौवनकाल में ही सावधान हो जाते हैं और अपने अन्तर्नाद को सुन कर सन्मार्ग पर चलते है, वे अवश्य ही अपने जीवन को सफल वना लेते हैं। फारसी भाषा का एक कवि कहता है—

जवां गोशा नशीं शेर मर्दे राहे खुदास्त।
कि पीर खुद नतवानद ज़ि गोशाए वरखास्त॥

अर्थात्–जिन्हों ने अपनी युवावस्था में, एकान्त में ईश्वर का भजन किया है, वही सच्चे भक्त हैं। वृद्ध पुरुष यदि एकान्तवासी होने का गर्व करे तो व्यर्थ है, क्योंकि वह तो अपनी निर्वलता के कारण जहां पड़ा है, वहां से सरक ही नहीं सकता।

मगर यौवन-काल में कुमार्ग पर चलने के लिए दृढ़ता और प्रवल सत्संकल्प की आवश्यकता होती है। यह दोनों विशेषतएं अलोचना से सहज ही प्राप्त हो सकती हैं। जो व्यक्ति अपने राई-राई दोषों को अपने गुरु के समक्ष प्रकाशित कर देता है, उस से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह भविष्य मे पुनः पुनः उन दोषों का सेवन

करेगा। अतएव दोषों से बचने की दृढ़ता प्राप्त करने के लिए भी आलोचना बड़ी उपयोगी वस्तु है।

इन्द्रियां बड़ी बलवान् हैं और मन उन से भी ज्यादा बलशाली है। आत्मा अनादिकालीन वासना के प्रवाह में बह रहा है। अतएव बहुत सावधानी बरतने पर भी कभी-कभी साधक का पैर फिसल ही जाता है। मनुष्य कभी-कभी अज्ञान के वशीभूत हो कर भी कोई अनुचित कार्य कर बैठता है। मगर ऐसे व्यक्ति को भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। अगर उस में इतना साहस है कि वह अपने अज्ञानजनित और वासनाप्रसूत दोषों को अपने गुरु के समक्ष सरल भाव से प्रगट कर सके तो उस के जीवन के सुधार की बहुत कुछ आशा है। उसे चाहिए कि वह अपनी भूलों को, जिस रूप में भी वह हुई हों, गुरु के चरणों में निवेदन कर के, उन के लिए पश्चात्ताप करे और गुरु-देव की साक्षी से भविष्य में उन भूलों को न दुहराने की प्रतिज्ञा करे। भगवान् महावीर ने फरमाया है—

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को य॥

(मरणसमाधि प्र० गा, १०१)

अर्थात्—जैसे बालक बोलता हुआ सरल भाव से कार्य-अकार्य सभी कुछ कह देता है—किसी बात को छिपाता नहीं है, उसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष को भी कपट एवं अभिमान का त्याग करके सरल भाव से अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। और—

जह सुकुसलो वि विज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
तं तह आलोयव्वं, सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं॥

अर्थात्—जैसे अत्यन्त कुशल वैद्य भी अपने रोग को दुसरे वैद्य के सामने प्रकट करता है, इसी प्रकार प्रायश्चित्तविधि में निपुण साधक को भी अपने दोषों की आलोचना दूसरे योग्य व्यक्ति के सन्मुख करनी चाहिए।

भगवान् महावीर के इस अतीव जीवनोपयोगी आदेश को जो साधक नियमित रूप से पालन करेगा, उस का जीवन उच्च बनेगा और निरन्तर उच्च बनता जाएगा। आलोचना जीवन-शुद्धि का राजमार्ग है, और वह राजमार्ग है जो मुक्ति के पथिक को अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

हे भव्य पुरुषो ! अगर आप के अन्तःकरण में अपनी आत्मा को पवित्र, विशुद्ध, निश्शल्य और निर्दोष बनाने की वास्तविक अभिलाषा जागी है तो आलोचना का आश्रय लो। अन्तर में उत्पन्न हुई अशुचि को अन्तर ही दबाने की चेष्टा न करो, अन्यथा वह सौ गुनी हो कर फैलेगी और फिर उसे दबाने की समस्त चेष्टाएं निरर्थक सिद्ध होंगी। उस अशुचि या गंदगी को तत्काल ही आलोचना के रूप में बाहर कर दो और पश्चात्ताप की अग्नि मे स्वाहा कर दो। इस पद्धति से आप की आत्मा कुन्दन बन कर चमकेगी और आप अव्याबाध सुख और महामंगल के भाजन बनोगे।
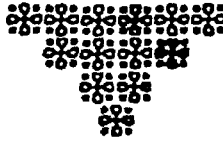
# वैराग्य

आत्मा अपने निज स्वभाव से चिदानन्दमय है। वह अनन्त और अखण्ड चेतना का पुंज है और अव्याबाध आनन्द उस का स्वरूप है। किन्तु संसारी जीव की स्थिति पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। उस की ज्ञानशक्ति असीम के बदले सीमित हो रही है। उस का वास्तविक सुख गुण विकृत हो कर सुखाभास बन गया है। वह अमृत के बदले मरणशील बना हुआ है। जन्म और जरा का पात्र बन कर नाना प्रकार के सकटों में ग्रस्त है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आत्मा स्वभाव से परमात्मा-परम ऐश्वर्य का धनी होने पर भी आज दीन, दुखी, रंक और दरिद्र बना हुआ है। उस की अपनी तेजोमय शक्तियां दब गई हैं या विकृत हो गई हैं।

सहज ही जिज्ञासा होती है कि आखिर इतने घोर परिवर्त्तन का कारण क्या है? प्रत्येक प्राणी सिद्धों के समान स्वभाव से समृद्ध होने पर भी आज इस निकृष्ट स्थिति को क्यों प्राप्त हो गया है? उस की नैसर्गिक ज्योति क्यों बुझ गई है? ज्ञानी जन कहते है कि इस हीनता और दीनता का प्रधान कारण राग और द्वेष है। भगवान् महावीर की वाणी मे—

रागो य दोसोऽवि य कम्मवीयं। (उ० अ० ३२)

राग-द्वेष ही समस्त कर्मों के बीज हैं। इन्हीं दो दोषों के कारण आत्मा अपने स्वरूप से पतित हो गया है। समस्त दुःखों और संकटो का कारण यही जोड़ी है। यह राग द्वेष आत्मा के लिए भयानक अभिशाप हैं। इन्हों ने आत्मा की जैसी दुर्गति की है, वैसी कोई नहीं कर सकता। आत्मा को संसार मे जितने भी कष्ट, संकट, दुःख और

वेदनाएं भुगतनी पड़ रही है, उन की उत्पत्ति राग और द्वेष से ही होती है । यही दो दोष आत्मा के भयानक शत्रु है ।

राग और द्वेष के कारण दुःखों के महान् पर्वत ही आत्मा पर टूट कर नहीं गिरते किन्तु आत्मा में मतिविभ्रम भी उत्पन्न होता है । मतिविभ्रम उत्पन्न होने से वह वास्तविकता का विचार नहीं कर पाता । अतएव वह अहित को हित और हित को अहित समझता है । आत्मा दूसरे पदार्थों और व्यक्तियों को तो अपने दुःख का कारण मानने लगता है, पर दुःख के असली कारण जो राग-द्वेष हैं, उन्हे दुःख का कारण नहीं समझता । राग और द्वेष की सब से बड़ी मक्कारी यही है कि वे आत्मा के सब से बड़े वैरी होने पर भी आत्मा को यह तथ्य नहीं समझने देते कि वे वैरी हैं । उन्होंने आत्मा के विवेक पर पर्दा डाल दिया है । उस की बुद्धि को भी भ्रष्ट कर दिया है । अतएव आत्मा बाह्य पदार्थों को और अन्य जीवों को अपना अहितकारी समझता है, किन्तु वास्तव में अहितकारी राग और द्वेष ही हैं ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के समस्त दुःखों की जड़ राग और द्वेष है । उन्हे परजित किये बिना आत्मा को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती और न शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि ही हो सकती है । राग-द्वेष का नाश होने पर आत्मा वीतराग-दशा प्राप्त कर लेता है और वीतरागदशा प्राप्त होते ही उसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने में देर नहीं लगती । अतएव जो भव्य पुरुष आत्मा को समस्त कष्टों से, सम्पूर्ण विकारों से और सब उपाधियों से मुक्त करना चाहते है, उन्हे सर्वप्रथम राग और द्वेष को क्षीण करने का ही प्रयत्न करना चाहिए । आत्मशुद्धि का यही एक मात्र उपाय है । इस उपाय के बिना कभी किसी आत्मा का कल्याण नहीं हुआ और न होगा ही ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राग और द्वेष को जीतने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न का साधारण समाधान यह है कि किसी भी दोष का विनाश उस के प्रतिपक्षी गुण को ग्रहण करने से ही होता है । तदनुसार राग और द्वेष को जीतने के लिए उन के विरोधी वैराग्य का ही आश्रय लेना उचित हो सकता है ।

संसार के पदार्थों को ज्ञानियों ने तीन विभागों मे बांटा है—(१) इष्ट (२) अनिष्ट (३) उपेक्षणीय । जो पदार्थ हमारी इन्द्रियो को अच्छे लगते है, वे इष्ट कहलाते हैं । जो मन को प्रिय लगते हैं वे भी इष्ट कहे जाते हैं । इष्ट पदार्थों पर संसारी जीवों को राग होता है । इन के विरुद्ध इन्द्रियां और मन जिन्हे पसंद नहीं करते, जो अप्रिय जान पड़ते हैं, वे अनिष्ट पदार्थ कहलाते हैं । प्रिय न लगने के कारण अथवा अप्रिय लगने के कारण जीव उन पर द्वेषभाव धारण करता है ।

किसी पदार्थ का प्रिय लगना अथवा किसी पदार्थ का अप्रिय लगना स्वयं पदार्थों का धर्म नहीं है । पदार्थ तो अपने-अपने स्वरूप मे स्थित है । उन्हें प्रिय या अप्रिय समझना तो जीव की अपनी कल्पना है । जीव स्वयं किसी को प्रिय समझ लेता है और किसी को अप्रिय समझ लेता है । यही कारण है कि एक पदार्थ एक जीव को प्रिय लगता है तो वही पदार्थ दूसरे को अप्रिय लगता है । प्रिय लगना अगर पदार्थ का धर्म होता तो वह सभी को एक-सा प्रिय लगता अथवा सभी को अप्रिय लगता । किन्तु हमारा अनुभव बतलाता है कि वास्तव मे ऐसा नहीं होता । जिस नीम को हम अतिशय कटुक और अप्रिय मानते है, वही नीम ऊंट को अत्यन्त प्रिय लगता है । दही बहुत लोगों को प्रिय प्रतीत होता है, किन्तु कई लोग उस की गंध को भी अनिष्ट समझते हैं, इस से स्पष्ट हो जाता है कि इष्टता और अनिष्टता अथवा प्रियता और अप्रियता वस्तु में नहीं है, जीव की कल्पना में है । जीव ही अपनी कल्पना के द्वारा पदार्थों को इष्ट और अनिष्ट बना डालता है ।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है । कभी कभी एक ही व्यक्ति, विभिन्न अवस्थाओं मे, एक ही वस्तु को प्रिय और अप्रिय मानता है । कड़ी भूख लगने पर जो मिठाई अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती है, पेट भर जाने पर वही अप्रिय प्रतीत होने लगती है । यहां तक कि अगर कोई बलात् खिलाने का प्रयत्न करे तो जी मिचलाने लगता है और वमन होने की संभावना बढ़ जाती है । यह एक ऐसी बात है जिसे सभी लोग अनुभव कर सकते है । किन्तु प्रश्न तो यह

है कि ऐसा क्यों होता है ? प्रिय लगना यदि मिठाई का ही धर्म होता तो वह दोनो अवस्थाओं में प्रिय लगती—भूख में भी और पेट भर जाने पर भी ! अप्रिय लगना मिठाई का स्वभाव होता तो भी वह दोनों अवस्थाओं मे अप्रिय लगती। किन्तु ऐसा नहीं होता। इस से भी यही प्रतीत होता है कि प्रिय लगना या अप्रिय लगना मिठाई का गुण नहीं, यह तो मनुष्य की अपनी धारणा ही है।

जीव की यह कल्पना या धारणा ही राग और द्वेष है। अर्थात् किसी पदार्थ को प्रिय समझना राग का फल है और अप्रिय समझना द्वेष का फल है। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता ज्ञानी जन न किसी पदार्थ को इष्ट मानते हैं और न किसी को अनिष्ट मानते हैं। वे तो पदार्थ को उस के असली स्वरूप में ही देखते हैं। अतएव उन के लिए सभी पदार्थ तीसरी कोटि में अर्थात् उपेक्षणीय कोटि में आ जाते है। इसी को वैराग्य कहते है।

जो मनुष्य जितने-जितने परिमाण में पदार्थों को इष्ट और अनिष्ट की कोटि में से निकाल कर उपेक्षणीय की कोटि में स्थापित करता जाता है, उस का वैराग्य उतने ही परिमाण में बढ़ता जाता है।

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ को प्रिय या अप्रिय न समझना और मध्यस्थ भाव रखना ही वैराग्य कहलाता है। यह वैराग्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, आत्मा की शान्ति भी उतनी ही उतनी बढ़ती जाती है। जब तक शरीर है तब तक उस की स्थिरता के लिए बाह्य पदार्थों का उपयोग करना ही पड़ता है। उन का उपयोग किये बिना जीवन निभ ही नहीं सकता। चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, रागी हो या वैरागी हो, उसे अन्न और वस्त्र आदि की आवश्यकता होती है। किन्तु दोनों के उपयोग करने की पद्धति में महान् अन्तर होता है। रागी भोजन करता है तो किसी चीज को प्रिय और किसी को अप्रिय मान कर राग और द्वेष करता है। किसी को लोलुपतापूर्वक खाता है और किसी को नाक-भौंह सिकोड़ कर के खाता है। वैरागी उन्हीं वस्तुओं पर समभाव धारण कर के खाता है। इस प्रकार भोज्य पदार्थ समान होने पर भी और भोजन की क्रिया समान होने पर भी

परिणामों के भेद से दोनों में महान् अन्तर पड़ जाता है। एक राग-द्वेष के निमित्त से कर्म का बन्ध करता है और दूसरा तन्निमित्तक कर्मबन्ध से बच जाता है।

अज्ञानी भी कानों से शब्द श्रवण करता है और ज्ञानी भी। किन्तु अज्ञानी शब्दों को मनोज्ञ और अमनोज्ञ मान कर, राग-द्वेष के वशीभूत होकर पाप-कर्म बांध लेता है, जबकि ज्ञानी कर्मबन्ध से बच कर कभी-कभी उन शब्दों के श्रवण को निर्जरा का भी कारण बना लेता है। इसी अभिप्राय से श्री आचारांगसूत्र में कहा है—

> जे आसवे ते परिस्सवे,
> जे परिस्सवे ते आसवे।

अर्थात्—आस्रव के कारण भी निर्जरा के कारण और निर्जरा के कारण भी आस्रव के कारण बन जाते हैं।

जब अज्ञानी और ज्ञानी का अर्थात् रागी और वैराग्यवान् का ऊपर से दिखलाई देने वाला व्यवहार समान होने पर भी अध्यवसाय की विभिन्नता के कारण इतना विसदृश फल उत्पन्न करता है तो वैराग्य की महिमा को समझना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए। हमें यह भी समझना चाहिए कि वैराग्य भाव धारण करने से संसार के सभी कार्य बन्द नहीं हो जाते। ऐसी स्थिति में हम क्यों न मध्यस्थ भाव धारण करें? क्यों राग-द्वेष के वशीभूत हो कर अपनी आत्मा को कलुषित करें? राग-द्वेष धारण करने से कोई लाभ तो होता नहीं, प्रत्युत हानि ही होती है, फिर क्यों न वैराग्यभाव को अपनाते हुए ही व्यवहार करें? सच पूछो तो ज्ञानी पुरुषों ने वैराग्य भाव के रूप में जीवन की एक महान् कला का आविष्कार किया है। यह कला हमारे लिये अत्यन्त हितकर है। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में राग और द्वेष रूप विकार विद्यमान है, जब तक वैराग्यमय परिणति का विकास नहीं हो गया है, तब तक मनुष्य सुख का आस्वादन नहीं कर सकता और दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता। राग और द्वेष की विद्यमानता में वह किसी को मित्र और किसी को शत्रु समझता रहेगा। जिसे शत्रु

समझेगा उस से उसे भय भी होगा और द्वेष भी होगा। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं—

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

अर्थात्—रागवान् मनुष्यों के लिये संसार मे सभी वस्तुएं भय उत्पन्न करने वाली हैं। वैराग्य ही अकेला निर्भयता प्रदान करने वाला है।

इस विषमय संसार में वैराग्य ही वास्तव में अमृतबिन्दु है। वैराग्य के समान सुख और शान्ति देने वाला और कोई साधन नहीं है। वैराग्य से विभूषित पुरुष प्रत्यक्षतः इसी लोक मे अपूर्व आनन्द का आस्वादन करते हैं और पाप के पथ से निवृत्त हो कर, पुण्य के पथ पर अग्रसर होने के कारण परलोक में भी सुख के भाजन बनते हैं। आशा और निराशा की वैतरणी में डूबने वाले संसारी जीवों का उद्धार करने की शक्ति एक मात्र वैराग्य मे ही है।

संसार के पदार्थों में आसक्ति का होना आत्मकल्याण के मार्ग में दीवार खड़ी कर देना है। जब तक यह आसक्ति बनी रहती है, तब तक आत्मा नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों में और कष्टों तथा वेदनाओं में फंसा ही रहता है। आसक्ति आत्मा के तेज को नष्ट करती है। इस के विपरीत वैराग्य मानव-जीवन में एक अनोखी क्रान्ति ला देता है। वैराग्य में वह शक्ति है कि वह स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान होने वाले बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों को, कोमल मखमली गद्दों पर और फूलों की सेज पर शयन करने वालों को भी, समस्त वैभव को तृणवत् त्याग देने की प्रेरणा कर के, पर्वत की ऊंची चोटी की कठोर शिलाओं पर बिठला देता है।

भगवान् महावीर स्वामी, अन्य तीर्थंकरो और अनेक जैन मुनियों के उदाहरण हमारे सन्मुख हैं। इन महान् त्यागवीरों में बहुत से ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने राजसिंहासनों को ठोकर मार कर संयम का पथ ग्रहण किया था। संयम का पथ अंगीकार करने से पहले वे एक सीमित राज्य के ही स्वामी थे, किन्तु वैराग्य स्वीकार करने के पश्चात् वे अखिल लोक के अधीश्वर बने। यह सब वैराग्य का ही

प्रभाव है। वैराग्य की बदौलत ही वे तीन लोक के नाथ कहलाए और देवेन्द्रों के भी परम पूजनीय बने।

जैन धर्म दयाधर्म कहलाता है, किन्तु उसे वैराग्यधर्म कहने में भी कोई अनौचित्य नहीं है। इस धर्म की सम्यक् आराधना वही वीर कर सकते हैं जो सांसारिक सुखों में आसक्त न हो कर, प्रत्युत उन्हें आत्मविघातक समझ कर, उन से विमुख हो जाते हैं।

वैराग्य की साधना के लिये इन्द्रियों को और मन को साधने की आवश्यकता होती है। जो संयत पुरुष अपने मन पर, अपनी वाणी पर और अपने शरीर पर पूर्णरूप से नियन्त्रण स्थापित कर लेते हैं, वही पूर्ण वैराग्य की साधना करने में सफल होते हैं। भगवान् ने कहा है—

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचिंदियाणि य।
पावगं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं॥

(सूत्रकृतांग प्र० अं०—८)

अर्थात्—साधक का कर्तव्य है कि वह कछुए की भांति अपने हाथों-पैरों को अर्थात् समस्त अंगोपांगों को गोपन कर के रक्खे, उन के द्वारा किसी भी प्रकार का असंयम न होने दे। विषय-वासनाओं की ओर दौड़ने वाले मन के वेग को रोक ले। इन्द्रियों को विषयों की ओर न झांकने दे और हृदय में बुरे विचारों को स्थान न दे। भाषा-सम्बन्धी दोषों का सेवन न करे।

इस विधि से वैराग्य की साधना करने वाले साधक शीघ्र ही परम आनन्द के पात्र बनते हैं। यहां यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि वही वैराग्य सुख और शान्ति दे सकता है जो सच्चा हो किन्तु कच्चा न हो। वैराग्य यदि कच्चा हुआ तो वही दशा होती है जो एक पाली हुई बुलबुल की हुई थी। एक बुलबुल की कटि मे उस के स्वामी ने एक पेटी लगा कर उस मे एक तागा बांध दिया था। वह बुलबुल उतनी दूर ही उड़ सकती थी जितना लम्बा तागा था। एक बार बुलबुल ने सोचा—यह तागा मेरे लिये बन्धन है। यह मुझे

स्वच्छन्द रूप से उड़ने नहीं देता। ऐसा सोच कर उस ने अपनी चोंच से उस तागे को काट दिया। वह उड़ गई। किन्तु आगे जाने पर उस की पेटी एक कांटे में उलझ गई। अब वह उतना भी नहीं उड़ सकती थी, जितना तागे के सहारे उड़ा करती थी। वह उलटी लटक गई और आखिरकार मृत्यु का ग्रास बनी।

यह एक दृष्टान्त है। इस के आधार पर हमें समझना चाहिए कि मनुष्य के लिये वासना एक पेटी है और गृहस्थाश्रम तागा है। जो लोग गृहस्थाश्रमरूपी तागे को त्याग देते है, किन्तु वासनारूपी पेटी को लिए फिरते है, वे बुलबुल की तरह अपने विनाश को आप ही आमंत्रित करते हैं।

मनुष्य के अन्तःकरण मे किसी प्रकार की कामना, या तृष्णा न रहना ही वास्तविक वैराग्य का लक्षण है। एक फारसी के विद्वान् कहते हैं—

जोहदो तकवा चीस्त ऐ मर्दे फकीर।
ला तमा बूदन जि सुलतानों अमीर॥

प्रश्न किया गया है कि—हे सज्जन! मुझे यह बता कि सच्चा त्याग और तपस्या क्या है? इस का उत्तर मिलता है—राजा-महाराजा आदि सब की ओर से कामनाहीन हो जाना। अर्थात् राजकीय वैभव तथा सम्राट् की पदवी आदि किसी प्रकार की कामना न होना ही सच्चा तप-त्याग है।

सच पूछो तो अन्तरतर मे रही हुई कामनाएं ही मनुष्य को तरह-तरह की आपत्तियां उत्पन्न करती हैं। वही मनुष्य को अपने फन्दे में फंसा कर दुःखी बनाती हैं। वैराग्ययुक्त पुरुप कामनाओं से ऊंचा उठ जाता है, अतएव वह विपत्तियों से भी ऊपर उठ जाता है। कामनाओं की विद्यमानता मनुष्य की आत्मा को दीन, हीन और क्षीण बनाती है। कामनाओं से हृदय निर्बल और क्षुद्र बन जाता है। कहा भी है—

आं कि शेरां रा कुनद रोबाह मिजाज।
एहतियाजस्त एहतियाजस्त एहतियाज॥

अर्थात्-जो वस्तु सिंह के समान मनुष्य को भी लोमड़ी के समान बना देती है, वह उस की कामना ही है, कामना ही है, कामना ही है।

इस प्रकार आत्मा को दीन और हीन बना देने वाली कामना पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य ही सच्चा वैराग्यवान् कहा जा सकता है। वही वीर, मुनि, यति या साधु कहलाने का अधिकारी होता है। सिक्ख-ग्रन्थ में गुरु अर्जुनदेव ने लिखा है—

जो इस मारे सोई शूरा,
जो इस मारे सोई पूरा।
जो इस मारे तिसहि वड़ाई,
जो इस मारे तिस का दुख जाई।
जो इस मारे सोई जती,
जो इस मारे तिस होवे गती।
इस मारे विन थायं न परैं,
कोटि कर्म जाप ताप करैं।

(गौड़ी महल्ला, ५)

वास्तव में वही पुरुष शूर, वीर, परिपूर्ण, प्रशंसनीय और सच्चा साधु है जो कामनाओं का परित्याग कर के परम वैराग्यभाव को धारण करता है। जब तक राग और द्वेष से चित्त कलुषित है, कामनाओं की दुर्गन्ध से सड़ रहा है, तब तक ऊपरी क्रियाकाण्ड कुछ भी फल नहीं देता। जप करो, तप करो, कुछ भी करो, अगर कामना नहीं गई है, वैराग्य का अंकुर नहीं फूटा है, तो सब वृथा है।

स्थितप्रज्ञ की परिभाषा करते हुए गीता में कहा गया है—

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २, ५५)

अर्थात्-हे अर्जुन! वही मनुष्य स्थिरबुद्धि वाला कहा जा

सकता है जो मन में उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं का क्षय कर के अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।

वौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में कहा है—

येसं सम्बोधिअंगेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्संगे, अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥

(आ०-६, गा०-१४)

अर्थात्-इस संसार मे वही मुक्त हैं, जिन्होंने ज्ञान के सव अङ्गो से चित्त को सुव्यवस्थित किया है। जो किसी भी वस्तु से लगे-लिपटे नहीं है, जो किसी पर मोहमय प्रेम नहीं रखते, जिन की वासना नष्ट हो गई है और इस कारण जो तेजोमय हो गये हैं।

जिस के हृदयस्थल में वैराग्यरूपी गंगा की पवित्र धारा प्रवाहित होती है, जिस का हृदय वैराग्य-गंगा की शीतल धारा से कामनाजनित संताप से रहित वन गया है, वास्तव में वही सच्चा मनुष्य है। उस के सुख के सामने संसार का बड़े से वड़ा सुख भी नगण्य है।

वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान वैराग्य का जनक होता है, मनुष्य जव संसार के अनित्य और असार स्वरूप को पहचान लेता है, भोगोपभोग के साधनों की वास्तविकता को जान लेता है और यह समझ लेता है कि आनन्द जड़ वस्तुओं में नहीं, आत्मा में ही है, तव स्वतः वैराग्य की उत्पत्ति होती है। अतएव वैराग्य को प्राप्त करने के लिये संसार के पदार्थों का, जीवन की क्षणभंगुरता का और शरीर की अपावनता का विचार करना चाहिए। भगवान महावीर ने कहा है-

इमं सरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं।
असासया वासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं॥

(उत्तरा०, अ०-१७, गा०-१२)

अर्थात्-यह शरीर नाशवान् है, स्वयं अशुचिरूप है और अशुचि पुद्गलों से ही निर्मित हुआ है। यह आत्मा का अशाश्वत वासस्थान है जैसे दूर की यात्रा पर निकला हुआ मनुष्य रात्रि में

विश्राम करने के लिये किसी सराय में ठहर जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा थोड़ी देर के लिये इस शरीररूपी सराय मे ठहर गया है। यह शरीर दुःखों और क्लेशों का भाजन है। आत्मा को जो भी दुःख सहन करने पड़ते हैं, सब शरीर के कारण ही। आत्मा जब अशरीर अवस्था प्राप्त कर लेती है तो उसे किसी भी प्रकार का कष्ट स्पर्श भी नहीं कर सकता।

शरीर अत्यन्त अस्थिर है। इस की नैसर्गिक बनावट ही ऐसी है कि इस के बदलने में पल भर भी नहीं लगता। हृदय की धड़कन बन्द हुई कि खेल खत्म हुआ। सांस चलते-चलते रुकी और प्राण-पखेरू गायब हुए। फिर न कुटुम्ब, न परिवार, न धन, न वैभव। सब अपने समझे जाने वाले पदार्थ पराये हो जाते हैं। अनादि काल से संसार मे भ्रमण करते-करते इस जीवन ने न जाने कितने परिवार बनाए हैं। एक भी जीव ऐसा नहीं जो अनेक बार इस का सगा-सम्बन्धी न हो चुका हो। किन्तु आखिर सब बिराने हो गये। जिन्हे यह आज आत्मीय जन समझ रहा है, वे भी पराये हो जायेगे। संसार के समस्त संयोग वियोगान्त हैं। अतएव यह शरीर भी जब सदा अपना नहीं है तो सम्बन्धी जन अपने कैसे हो सकते हैं?

इस प्रकार वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने से रागभाव की निवृत्ति होती है और वैराग्यभाव की वृद्धि होती है। जिन्होंने जगत् के सच्चे स्वरूप को समझ लिया है और अपने चित्त पर अंकित कर लिया है, उन्होंने ऐसे भाव व्यक्त किये हैं—

है भला संसार में धरा क्या?
स्वप्न-सा इक है तमाशा।
हैं दो दिन के सब बहलावे,
आगे चल कर हैं पछतावे।
रेत की सी दीवार है दुनिया,
ओछे का सा प्यार है दुनिया।

बिजली जैसी चमक है इस की,
पल दो पल की झलक है इस की।
पानी का सा है ये पचारा,
जुगनू का सा है चमकारा।
आज यहां जंगल में मंगल,
कल सुनसान पड़ा है जंगल।
आज है मेला हरदम दूना,
कल ही ग्राम पड़ा है सूना।
आज है रहने की तैयारी,
और कल है चलने की बारी।
आज है पाना कल है खोना,
आज है हंसना कल है रोना।
कभी है बाधा कभी है घाटा,
कभी है ज्वार कभी है भाटा।
हार कभी और जीत कभी है,
इस नगरी की रीति यही है।
खुशी में खेद भी मिला हुआ है,
अमृत में विष घुला हुआ है।
गिरते हैं यहा चढ़ने वाले,
घटते हैं यहां बढ़ने वाले।
आ नशे के अन्दर जाने वाले!
खुश ना हो तू ऐ मतवाले।
दुख की घटा है आती देखो,
घंटी मृत्यु बजाती देखो।

कवि के शब्दों में जगत का जो स्वरूप यहां दिखलाया गया है, वह कोई कल्पना नहीं है। उस में सौ फी सदी सत्य है और यह सत्य नित्य हमारे अनुभव में आता भी रहता है। फिर भी मूढ़ मनुष्य उस पर आस्था नहीं करता। इस से अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ?

मूढ मनुष्य कुछ भी समझे, किन्तु विवेकवान् पुरुष, जो इस सत्य स्वरूप से सुपरीचित हो गए हैं, वे विवेक से विभूषित हो जाते हैं और शरीर को भी क्षणभंगुर समझने लगते हैं। वे शरीर में रहते हुए भी शरीर से विलग रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे मृत्यु के भय से भी अतीत हो जाते है। मृत्यु की भीति उन के सन्निकट भी नहीं फटक सकती। और जब उन्हे अपनी ही मृत्यु का भय नहीं रह जाता, तब आत्मीय जनों की मृत्यु से भी वे क्यों हाहाकार और चीत्कार करेंगे ? अज्ञानी ऐसे प्रसंग पर रोता है, विलखता है, हाय-हाय करता है, किन्तु ज्ञानी उसी प्रसंग को अपने वैराग्य का वर्द्धक बना लेता है। संसार के सभी सम्बन्ध विनश्वर है, इस सचाई का मानों उसे एक नवीन प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। वह अपने वैराग्य में प. ले की अपेक्षा भी अधिक दृढ़ बन जाता है।

मूढ़ और रागी पुरुष रो कर, चिल्ला कर और हाय-हाय कर के भी गई हुई वस्तु को नहीं पा सकता। उस का शोक करना सर्वथा निष्फल ही है। फिर भी अपने राग भाव के कारण वह दुःखी होता है। वैराग्यवान् अनायास ही इस शोक और दु.ख से बच जाता है। इस विवेचन से सहज ही वैराग्य की महिमा समझ में आ जाती है। वैराग्य परलोक में हितकर तो है ही, इस लोक में भी महान् हितकर है। वैराग्य संसार में होने वाले अनेकविध प्रहारों से सुरक्षित रहने के लिए सुदृढ़ कवच है। वैराग्य के कवच को धारण करने वाला किसी भी प्रकार के प्रहार से आहत नहीं होता।

अतएव विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह संसार के स्वरूप को समझे, संसार के पदार्थों से मिलने वाले सुख की असारता का अनुभव करे और संयोगों की अनियता को पहचाने। ऐसा करने

से उस के चित्त में स्थित राग, मोह या आसक्ति दूर हो जाएगी और और फिर कोई भी प्रसंग उसे दुःखी नहीं बना सकेगा।

स्मरण रखना चाहिए कि जब तक मानस मोह और आसक्ति का घर बना हुआ है, तब तक चित्त की चचलता नहीं मिट सकती और जब तक चित्त की चंचलता नहीं मिटती, तब तक किसी भी स्थिति में निराकुलता और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इस का प्रधान और एक मात्र कारण यही है कि संसार के किसी भी पदार्थ में शान्ति पहुँचाने की शक्ति नहीं है। शान्ति, तृप्ति, संतोष और सुख तो हमारे ही अन्तःकरण की वृत्तियां है।

वैराग्य के उत्पन्न होने पर ही मनुष्य को सच्चा सुख और वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव वैराग्य ही सुख का साधन है, वैराग्य ही शान्ति का स्रोत है, वैराग्य ही आनन्द का जनक है, वैराग्य ही सब दुःखों से रक्षा करने वाला है और वैराग्य के अभाव में किसी भी उपाय से इन की उपलब्धि होना संभव नहीं है।

वैराग्य भावना का विकास करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हठात् बाह्य पदर्थों का परित्याग किया जाए। जैसा कि प्रारंभ में कहा गया था, वैराग्य तो मध्यस्थ भाव में है। आप जिन पदार्थों का सेवन करते हैं, उन्हें अनासक्त भाव से अगर सेवन करेंगे तो उन का सेवन करने पर भी वैराग्य की आराधना कर सकेंगे। एक मनुष्य आसक्तिपूर्वक चने चबाता है और दूसरा अनासक्त भाव से मिष्टान्न खाता है' अब आप ही विचार कीजिए कि दोनों में कौन रागी है और कौन विरागी है? इसी प्रकार एक मनुष्य किसी विषय का सेवन तो नहीं करता किन्तु रात-दिन सेवन करने की भावना किया करता है, तो वह क्या त्यागी या वैरागी कहा जा सकता? नहीं। जब तक चित्त मे विषयों का चस्का लगा रहता है, तब तक वास्तविक वैराग्य का उदय नहीं हो सकता। वास्तविक वैराग्य तो तभी उत्पन्न होता है जब विषयों की वासना अन्तःकरण से दूर हो जाती है। अतएव वैराग्य के लिए हृदय में समभाव को जगाना चाहिए।

मन जब पूरी तरह सध जाता है, अर्थात् जब कोई भी पदार्थ अन्तःकरण में विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, तब उतनी

सावधानी की आवश्यकता नहीं रहती; किन्तु जब तक यह साधना पूरी नहीं हुई है और प्रत्येक पदार्थ मन पर अपना प्रभाव अंकित करता रहता है, तब तक राग और द्वेष उत्पन्न करने वाले पदार्थों से बचते रहने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही यह भावना भी निरन्तर करनी चाहए कि विषय तो विषय ही है, उन में न रमणीयता है और न अरमणीयता है। किसी भी पदार्थ मे सौन्दर्य या वैरूप्य समझना मन की कल्पना है। मनुष्य का मन ही किसी पदार्थ में सुन्दरता का और किसी पदार्थ मे विरूपता का आरोप कर लेता है। अन्यथा विचार कर के देखें तो त्वचा, अस्थि मांस, रक्त, केश, नख आदि अवयवों में से किसी में भी सुन्दरता नहीं है। मृतक मनुष्यों का कलेवर क्यों भयानक प्रतीत होता है? यह सब कल्पना की ही क्रीड़ा है। कल्पना ने ही किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर बना रखा है। कल्पना ही सारी चंचलता का कारण है।

सच पूछो तो यही कल्पना मनुष्य का आन्तरिक शत्रु है। बाहर के शत्रु तो कल्पना ने ही उत्पन्न किये हैं, असली शत्रु तो स्वयं कल्पना ही है। अतएव बाहर के शत्रुओं की अपेक्षा यह आन्तरिक शत्रु ही अधिक भयानक है। इस पर विजय पाना सच्ची वीरता है। एक पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं:—

The earth's bravest truest heroes
fight with aninward foe.
And win a victory grander
than you or I can Know.

अर्थात्—संसार के सच्चे शूरवीर जीवन-संग्राम में शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं और उन पर ऐसी महान् विजय प्राप्त करते हैं जिसे साधारण पुरुष समझने में भी असमर्थ होता है।

बस, आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करना ही वास्तविक वैराग्य है और इस वैराग्य के द्वारा ही मनुष्य का वास्तविक कल्याण हो सकता है। संस्कृत भाषा में कहा है—

प्रचण्डवासनाव्रातैरुद्धृता नौर्मनोमयी ।
वैराग्यकर्णधारेण विना रोद्धुं न शक्यते ।।

अर्थात्-प्रचण्ड वासनाओं की आंधी से डगमगाने वाली मन-रूपी नौका को वैराग्यरूपी मल्लाह ही बचा सकता है। वैराग्य के सिवाय और किसी में उसे बचाने की शक्ति नहीं है।

इस उक्ति से वैराग्य के महत्त्व को समझने में सरलता होगी।

# विचार-पवित्रता

जीवन की दृष्टि से और तात्त्विक दृष्टि से भी विचारों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि हमारा समग्र जीवन हमारे विचारों का ही फल है। हम शरीर से जो नाना प्रकार की चेष्टाएं करते हैं, वे सब आन्तरिक विचारों का ही फल हैं। जिह्वा से प्रस्फुटित होने वाला प्रत्येक शब्द, विचारों की ही प्रतिमूर्त्ति है। हमारे विचार ही हमारी वाणी और काया को संचालित करते हैं।

विचारों में अद्भुत शक्ति विद्यमान है। वह शक्ति इतनी प्रबल है कि उस की कल्पना करना भी अत्यन्त कठिन है। संस्कृत भाषा में एक उक्ति प्रसिद्ध है—'यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः।' अर्थात्—जैसी मनुष्य की दृष्टि होती है, वैसी ही सृष्टि हो जाती है। बहुत से दुर्बलहृदय लोग भूत के विचारों से भयभीत हो जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं और कभी-कभी तो मृत्युग्रास बन जाते हैं। भूत न होने पर भी भूत का विचार वही सब क्रियाएं करता है, जो उस की विद्यमानता में होती हैं। इसका कारण यही है कि भले ही भूत सामने मौजूद नहीं है। किन्तु मनुष्य के विचारों ने भूत की सृष्टि कर ली है। वह विचारविनिर्मित भूत ही वास्तविक भूत का काम करता है।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह नहीं है कि भूत का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि जहाँ वास्तविक भूत नहीं है वहाँ भी मन के विचार भूत की सृष्टि कर लेते हैं और फिर उसी भूत से हमारा जीवन प्रभावित हो जाता है।

हमारे यहाँ भारतवर्ष में एक 'दृष्टिसृष्टिवाद' नामक सम्प्रदाय है उस का आधार यह है कि यह विशाल जगत जो हमारे सामने फैला हुआ दिखाई देता है, वास्तव में कुछ नहीं है। यह हमारे ही आन्तरिक विचारों का प्रतिबिम्ब है। जिस की जैसी दृष्टि है उस के लिए वैसी ही सृष्टि बन जाती है। इस सम्प्रदाय में चाहे

परिपूर्ण सचाई न हो, फिर भी इस से यह बात अवश्य मालूम हो जाती है कि विचारों मे कितनी सर्जक शक्ति रही हुई है ।

जीवन की दृष्टि से जब हम विचारों के महत्त्व पर विचार करते है तो प्रतीत होता कि हमारे जीवन का निर्माण हमारे पुरातन विचारों के आधार पर ही हुआ है और वर्त्तमानकालीन विचार हमारे भविष्यत् जीवन का निर्माण करेंगे ।

एक पश्चिमी विद्वान् ने कहा है–As you think so shall you be. अर्थात्–जैसे तुम्हारे विचार होंगे वैसे ही तुम बनोगे।

यह कथन शत प्रतिशत सत्य है । प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों का ही प्रतिबिम्ब है । जैसे विचार होंगे, वैसा ही जीवन-निर्माण होगा ।

जीवन पर पड़ने वाले विचारो के प्रभाव को सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते है । किसी हृष्ट पुष्ट और तन्दरुस्त आदमी को बार बार कहा जाय कि तुम्हारा स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, तुम दुर्बल हो रहे हो, तुम्हारे शरीर मे रोग बैठ गया है, तो निस्सन्देह वह आदमी अस्वस्थ, दुर्बल और रोगी हो जाएगा, यदि उस के मन मे भी यही भावना प्रविष्ट हो जाय । यही कारण कि रोगी को ऐसी सूचनाएँ देना वर्जित है ।

धर्मशास्त्र मे भी मन के विचारो को बहुत महत्त्व दिया गया है। उन्हे महत्त्व देने का प्रधान कारण यही है कि जीवन को बनाने और बिगाड़ने में उन का भाग मुख्य होता है । शरीर से पापाचरण न करने पर भी जो मन मे पाप की भावनाएँ किया करता है, वह घोर पापी ही समझा जाता है । इस सम्बन्ध मे शास्त्रो मे तंदुल मत्स्य का उदाहरण प्रसिद्ध है । तंदुल मत्स्य का शरीर छोटा-सा होता है। वह महान् अवगाहना वाले मत्स्य की भौंह पर निवास करता है । विशालकाय मत्स्य जब अपना मुँह फाड़ता है तो बहुत-सी मछलियाँ उस में चली जाती हैं और उन मे से बहुतेरी बाहर भी निकल जाती है । तंदुल मत्स्य यह सब दृश्य देख देख कर विचार किया करता है–कितना मूढ़ है यह विशालकाय मत्स्य, जो मुंह के भीतर घुसी हुई मछलियो को बाहर निकल जाने का अवसर देता है । मैं इस की जगह होता तो क्या

मजाल कि एक भी मछली निकल पाती। सब को डकार जाता।

इस प्रकार का विचार करने के कारण वह नरक का अतिथि बनता है। यद्यपि वह एक भी मछली को खा नहीं सकता, फिर भी केवल मानसिक पाप के कारण वह अपने भविष्य को घोर संकटमय बना लेता है। ऐसा है विचारों का प्रभाव। इसी लिये कहा गया है—

**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

वास्तव मे मन ही विचारों का स्रोत है। अतएव जो अपने मन को अपने नियंत्रण में रख सकता है वही विचारों को भी रख सकता है। मन ही शरीर की बागडोर है। मन शरीर का संचालक है, राजा है मन के वशीभूत हो जाने पर इन्द्रियां भी वशीभूत हो जाती हैं। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने फरमाया है—

**एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।**

**दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं॥**

(उत्तराध्ययन, अ०—२३, गा०—३६)

अर्थात्—हे मुने! एक मन को जीत लेने पर पाँचो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है, और पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने पर मन, पांचों इन्द्रियां और क्रोध, मान, माया, लोभ, यह दशों जीत लिये जाते है, और इन दश को जीत लेने पर सभी शत्रु जीत लिये जाते हैं।

आशय यह है कि सर्वप्रथम मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। मन को जीतना विश्व को जीतना है। जिस ने मन को जीत लिया उसे किसी को जीतने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु इस में भी कुछ सन्देह नहीं कि मन को वश मे करना सरल काम नहीं है। यह बड़ा दुष्कर प्रयास है। भगवान् महावीर ने स्वयं अपने मुखारविन्द से फरमाया है—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं॥
(उत्तराध्ययन, २३-५८)

अर्थात्—हे मुने! यह मन बड़ा ही साहसी और भयंकर है। यह दुष्ट घोड़े की तरह इधर-उधर दौड़ता है। मैंने उसे धर्मरूप शिक्षा से जातिवन्त घोड़े की तरह वश में रक्खा है।

वैदिक शास्त्र गीता में भी मन के विषय में यही भाव प्रकट किया गया है। अर्जुन के प्रश्न करने पर श्री कृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्॥
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता अ० ६, श्लो० ३५)

अर्थात्—हे महाबाहु अर्जुन! निस्सन्देह मन का निग्रह करना कठिन है। यह मन अति चंचल है। फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।

यह बात तो पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जीव को मनुष्य-देह की प्राप्ति बहुत कठिनता से होती है। श्री तुलसीदास जी कहते है—

बड़े भाग मानुष तन पावा, सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सुधारा॥
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहिं करमहिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय॥

अर्थात्—मानव-शरीर बड़े सौभाग्य से मिलता है। सद्ग्रन्थ इस की प्रशंसा करते है और इसे देवों को भी दुर्लभ बतलाते हैं। जीव मनुष्य-तन के द्वारा ही अपने कल्याण की साधना कर सकता है। यही मोक्ष का द्वार है। किन्तु जो जीव नर-देह को पा कर के भी अपना परलोक नहीं सुधारता, वह अन्त में बहुत दुःख पायेगा और सिर धुन-धुन कर पछताएगा। कभी काल को, कभी अपने कर्मों को और कभी ईश्वर को मिथ्या दोष देगा। किन्तु अपनी करतूत पर विचार नहीं करेगा।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य-जीवन को सफल बनाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में पहले भी कहा जा चुका है कि कल्याण की कामना करने वाला पुरुष संसार के निस्सार और नश्वर पदार्थों से विमुख हो कर आत्मशुद्धि का प्रयास करे, आत्मा के स्वरूप को पहचाने और आत्मतत्त्व को जागृत करे।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि ऐसा करने के लिए किन साधनों का प्रयोग करना उचित है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मन की बाग-डोर को फेर देना चाहिए। किन्तु मन की बाग-डोर तभी फिर सकती है जब मन पवित्र हो और विचारों मे पवित्रता हो। इस प्रकार मनुष्य जन्म की सफलता की आधारशिला पावन और निर्मल विचार ही है। एक उर्दू कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

**गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी।**
**जिस ने इन्हें संभाल लिया वो संभल गया॥**

हम अपने विचारों को पतवार की उपमा दे सकते है। जैसे पतवार को दृढ़तापूर्वक धारण करने से नौका ठीक तरह चलती है और परले पार पहुँच कर निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होती है, उसी प्रकार यदि हम अपने विचारों पर काबू रखते हैं तो हमारे जीवन की नैया के पार लगने मे कोई सन्देह नहीं हो सकता। जिस के विचार पवित्रतापूर्ण, शान्तिमय, स्नेहासिक्त और दयायुक्त होंगे, उन की जीवन-नैया ठीक और लक्ष्य की ओर अग्रसर होती जायेगी। इस के विरुद्ध विचारों मे यदि घृणा, द्वेष, स्वार्थ और अपवित्रता है और इस कारण जीवन-नौका डगमगाती रहती है तो भंवर में फस कर वह डूब जायेगी।

इस प्रकार विचारों के साथ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे विचार किस प्रकार अदृश्य रूप मे काम करते है और उन से किस प्रकार के परिणाम या नतीजे होते हैं, यह बात समझ लेना अत्यावश्यक है। लोग संसार भर की पोथियां पढ़ते है और दुनिया भर का ज्ञान अपने दिमाग मे भर लेना चाहते हैं, किन्तु अपने अन्तः-

करण को समझने की कोशिश प्रायः नहीं करते। जो वस्तु अत्यन्त सरस और महत्त्वपूर्ण है, जिस का जीवन के उत्थान और पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो अनन्त भविष्य के साथ सन्निकट का सम्बन्ध रखती है, उस के प्रति उदासीनता का भाव होना आश्चर्य और खेद की बात है।

हमारे विचार और हमारी भावनाएं जिस प्रकार की होती है, हमारे मानस-पटल पर उसी प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः हमारा जीवन अपने ही विचारों के सांचे में ढलता है। जो विचार दूषित और स्वार्थमय होते हैं, वे मन मे तुच्छ प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते है। इस के विरुद्ध श्रेष्ठ विचार मन में उच्च प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यह है क जिस प्रकार के हमारे विचार होते है, उसी प्रकार का हमारे आन्तरिक शरीर का निर्माण होता है। उसी प्रकार की हम वाणी बोलते हैं और उसी प्रकार की क्रियाएं करते हैं। इसीलिए कहा गया है --

यद् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति।
यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।
यत् कर्मणा करोति तत्फलमुत्पद्यते॥

तात्पर्य यह है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियों का आधार हमारा मन ही है। मनुष्य मन से जैसा विचार करता है, उसी प्रकार की वाणी बोलता है। जैसी वाणी बोलता है वैसी ही उस की क्रियाएं होती हैं, और जैसी क्रियाएं होती हैं, वैसा ही उस का फल उत्पन्न होता है।

संसार मे अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान है। एक विद्युत् की शक्ति है जो बड़े-बड़े दुर्गों को छिन्न-भिन्न और खण्ड-खण्ड कर देती है। दूसरी ऐटम (अणु) शक्ति है। यह विद्युत्-शक्ति से भी अधिक प्रबल है। इस का कारण यह है कि अणु, विद्युत् से भी अधिक सूक्ष्म होता है।

वैज्ञानिक सिद्ध कर चुके हैं कि जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म

होती है, वह उतनी ही अधिक शक्तिशालिनी होती है। पृथ्वी की की अपेक्षा जल सूक्ष्म है, अत. जल पृथ्वी से अधिक बलवान् है। जल की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है, अत वह जल से भी अधिक बलवान् है। वायु से विद्युत् अधिक सूक्ष्म होने के कारण अधिक शक्तिशाली है। विद्युत् की अपेक्षा भी 'ऐटम' अधिक सूक्ष्म अतएव बलवान् है।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम विचार के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि विचार 'ऐटम' से भी अधिक सूक्ष्म है, अतएव उस की शक्ति ऐटम से भी अधिक बलवान् होनी चाहिये। वास्तव मे विचार की शक्ति असीम और अपार है। विद्युत् और ऐटम कितने ही सूक्ष्म या सूक्ष्मतर क्यो न हों, आखिर वे भौतिक ही है। भौतिक पदार्थ मे स्वभावतः स्थूलता के अंश होते है। किन्तु विचार भौतिक पदार्थ नहीं है, अतएव उन मे स्वभावतः सूक्ष्मता होती है। इस दृष्टिकोण से दोनो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि विचारो मे ऐटम की अपेक्षा बहुत सूक्ष्मता है। यह सूक्ष्मता ही उन्हें अधिक सामर्थ्यशाली बनाती है।

आज का संसार इस शक्ति का अनुभव नहीं कर रहा है। इस का एक कारण तो यह है कि भौतिक पदार्थों के संबंध में चिन्तन और अन्वेषण ने उसे इस ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिल रही है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि सूक्ष्म वस्तु के जानने के लिए सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। किन्तु आधुनिक मानव की बुद्धि सांसारिक भोग-पदार्थों मे रत होने से स्थूल बन गई है। अतः स्थूल बुद्धि विचार-शक्ति को तोल ही नहीं सकती।

भौतिक चिन्तन से भी ऊपर उठ कर हमारे ऋषियो-मुनियो ने आध्यात्मिक विचारणा की। उस विचारणा का परिपाक होने पर उन्हे दिव्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। उस दिव्य ज्ञान से उन्होंने विचार-शक्ति से भी अधिक सूक्ष्म एक और शक्ति का पता लगाया, जिसे हम आत्मशक्ति कहते हैं। परन्तु आज हमारी बुद्धि जब विचारशक्ति की महत्ता को ही अनुभव करने मे असमर्थ है, तो आत्मशक्ति का मान उसे किस प्रकार हो सकता है?

अध्यात्मविद्या को समझने के लिए कोई विरल पुरुष शास्त्र का अध्ययन करते हैं, सत्संग से भी लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह विद्या इतनी गुह्य है कि प्रायः उन की समझ में कुछ भी नहीं आता। तब वे यह कहते सुने जाते है कि हमें कुछ समझ.ओ। ऐसा क्यों होता है ? अपने आत्मा को समझना अपने आप को समझना है और अपने आप को समझने में इतनी कठिनाई क्यों होनी चाहिए ? फिर भी जो कठिनाई उपस्थित होती है उस का कारण यह है कि आत्मशक्ति को समझने से पहले विचारशक्ति को समझना आवश्यक है और उसे समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता। जो पहले विचारशक्ति को समझेगा वही आत्मशक्ति को समझने का अधिकारी हो सकेगा। विचारशक्ति की सूक्ष्मता बुद्धिगम्य होने पर ही आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता समझने की क्षमता आती है। जहां विचार ही अपवित्र हैं, भावनाएं मन्द हैं और अन्तःकरण वासनाओं से कलुषित है, वहां तो आत्मतत्त्व को समझने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

धर्मोपदेश करने वाले महात्मा गण आज सर्वसधारण के सामने अध्यात्मतत्त्व की व्याख्या करते है; किन्तु अधिकांश श्रोताओं के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। जैसे कोरे मस्तिष्क से वे आते हैं, वैसे ही लौट कर चले जाते हैं। अतएव आवश्यक यह है कि अध्यात्मतत्त्व को समझाने से पूर्व श्रोताओं को विचारतत्त्व समझाया जाय।

जो मनुष्य अशुद्ध विचारों का स्वामी बन कर अन्याय और अधर्म से अर्थोपार्जन करता है। दूसरे के अधिकारों का अपहरण करता है, ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं करता, सांसारिक भोगों में सुख समझता है, झूठ बोलने, कपट करने, दूसरों को ठगने और धोखा देने में किंचित् भी संकोच नहीं करता, दूसरों का अनिष्ट करने में लेश मात्र भी भय का अनुभव नहीं करता, बात-बात में अपने आग्नेय नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ निकालता है, जो मद और अहंकार से अकड़ा रहता है, जिसे आहार और विहार के सम्बन्ध में कोई विवेक नहीं है, वह भला आत्मतत्त्व के गूढ़तर मर्म को कैसे समझ सकता है ? जैसे बौना ताड़ के फल को नहीं पा सकता, उसी प्रकार ऐसे पुरुष आत्मतत्त्व

को नहीं पा सकते। अतएव जो मनुष्य आत्मकल्याण के अभिलाषी हैं और जो कम से कम अपने जीवन को उन्नत बनाने के इच्छुक हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपने विचारों की ओर ध्यान देना चाहिए और विचारों को पवित्र, उन्नत और शुचि बनाने का प्रयास करना चाहिए। यह एक निश्चित तत्त्व है कि जैसी मन की स्थिति होती है वैसी ही जीवन की गति होती है। श्री सुन्दरदास जी कहते हैं—

जो परनारी की ओर निहारत,
तो मन होत है ताहि को रूपा।
जो मन काहु सौं क्रोध करे तब,
क्रोधमयो होए ताहि को रूपा॥
जो मन माया ही माया रटै नित,
तो मन बूड़त माया के कूपा।
'सुन्दर' जो मन ईश विचारत,
तो मन होत है ईश-स्वरूपा॥

लोग एक दूसरे की आलोचना करते समय कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य अच्छा है और अमुक बुरा। लेकिन मनुष्य की अच्छाई और बुराई क्या चीज़ है? वास्तव में मनुष्य के विचारों की अच्छाई और बुराई ही उस की अच्छाई और बुराई है, क्योंकि उस के बुरे विचार और बुरे विचारों से उत्पन्न होने वाला आचार ही उसे बुरा बनाता है। यही बात उस की अच्छाई के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार मनुष्य के भाव के अनुसार ही जीवनक्षेत्र का निर्माण होता है। एक कवि कहते हैं—

कुटिलगतिः कुटिलमतिः कुटिलात्मा कुटिलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति कुटिलं, कुटिलः कुटिलेन भावेन।
सरलगतिः सरलमतिः सरलात्मा सरलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति सरलं, सरलः सरलेन भावेन॥

अर्थात्-एक दुर्जन अपनी खोटी भावना के कारण मन्दगति, मन्दमति, दुष्टात्मा और निकृष्टशील से युक्त होकर सब प्राणियों को खोटा ही समझता है। इस के विपरीत एक सज्जन पुरुष अपने सरलतापूर्ण विचार के कारण सब को शुद्धगति, शुद्धमति, शद्धात्मा और सुशील ही समझता है।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य का जैसा विचार होता है, वैसा ही उसे वस्तुस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। अर्थात् विचार के अनुरूप दृष्टि वन जाती है।

मनुष्य की प्रसन्नता और अप्रसन्नता का आधार भी उस के विचार हैं। दो मनुष्य एक सी परिस्थिति मे होते हैं, किन्तु एक अपने विचारों की वदौलत प्रसन्नता का अनुभव करता है और दूसरा विषाद, चिन्ता और परेशानी का अनुभव कर के दुःखी होता है, जब समान परिस्थिति मे दो व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में परिस्थिति प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कारण नहीं किन्तु उन की अनुभूतियां ही प्रसन्नता या अप्रसन्नता को उत्पन्न करती हैं। एक उर्दू भाषा के कवि कहते हैं—

रहो ख्याल पै हावो खुशी है अगर मंजूर।
ख्याल पर है फक्त इनहिसारे खदो सरूर॥

अर्थात्-यदि तुम प्रसन्नता के इच्छुक हो तो, अपने विचारों पर विजय प्राप्त करो, क्योंकि समस्त लाभ और हर्ष के आधार विचार ही हैं। फारसी में एक विद्वान् ने यही बात यों कही है—

दिल चूं गरिफ्त, वाशद मातम सरास्त आलिम।
वारां कि दिल शगुफ्ता सालम जहां शगुफ्ता॥

अर्थात्-यदि किसी मनुष्य के दिल के भाव खोटे हैं तो उसे समस्त संसार दुःखमय प्रतीत होगा, किन्तु यदि भावों में पवित्रता है तो सारा जगत् प्रसन्नता से परिपूर्ण दिखाई देगा।

आशय यह है कि मनुष्य को यह संसार और इस में रहने वाले प्राणी उसी रूप में दिखाई देंगे जो रूप उस के मन ने धारण किया होगा। सिक्ख-शास्त्र भी यही बात कहता है—

आप भला सब जग भला, भला भला सब जग कर देखे।
आप बुरा सब जग बुरा, सब को बुरा बुरे को लेखे॥

मुसलमानों के धर्मशास्त्र मे लिखा है—

मन हसना जन्नाहू ताबा ऐशाहू ।

अर्थात्–जिस के विचार भले हैं, उस का जीवन भी सुखमय होता है। वैदिकशास्त्र मुण्डकोपनिषद् विचारों की प्रबल शक्ति के विषय मे बड़े सुन्दर शब्दों मे निरूपण करता है। कहा है—

यं यं लोकः मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः ।
कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जयते ॥
(३–१–१०)

अर्थात–यह जीवन शुद्ध भावना से जिस जिस लोक की कामना करेगा। या जो भी उस की इच्छा होगी' उसे वह अवश्य प्राप्त करेगा ।

जैन शास्त्रों मे धर्म के मुख्य चार रूपों में भावना को भी स्थान दिया गया है। भावना कहो या विचार कहो, एक ही बात है। यो तो दान, शील, तप और भाव, यह चार प्रकार का धर्म है, किन्तु भाव-रूप धर्म प्राण के समान है। जैसे शरीर का महत्त्व प्राणों से ही है, जब तक प्राण हैं तभी तक शरीर प्रतीत होता है और उस से इच्छानुसार लाभ उठाया जा सकता है; इसी प्रकार भाव के होने पर ही दान आदि धर्म फलप्रद होते हैं। भाव के अभाव मे सभी धर्म निष्फल हैं। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

अर्थात्–भाव के बिना, केवल शरीर से की जाने वाली क्रियाएं निष्फल साबित होती हैं ।

जैन शास्त्रों मे भावना को लेश्या का नाम दिया गया है और उस का बड़ा विस्तृत विशद और वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। लेश्या के छः भेद हैं—(१) कृष्णा (काली), (२) नीला, (३) कापोती–कपोत के रंग की, (४) पीता-पीली, (५) पद्मा-पद्म वर्ण की और (६) शुक्ला-

धवल वर्ण की। इन मे पहले की तीन लेश्याएं निकृष्ट हैं और आगे की तीन लेश्याएँ श्रेष्ठ हैं। किन्तु कृष्णा लेश्या की अपेक्षा नीला, नीला की अपेक्षा कापोती, कापोती की अपेक्षा पीता, पीता की अपेक्षा पद्मा और पद्मा की अपेक्षा शुक्ला लेश्या विशुद्ध है।

इन लेश्याओं की विशुद्धि की तरतमता समझाने के लिए जैन शास्त्रों में एक उदाहरण प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

छः पुरुष आम्र के बगीचे में गये वहां उन्हो ने आम्रफलों से युक्त एक वृक्ष देखा। प्रथम पुरुष उसे देख कर कहने लगा—इस वृक्ष को मूल से काट लें और फिर इच्छानुसार आम तोड़ लें। इस पुरुष की भावना को कृष्णलेश्या कहते हैं।

दूसरा बोला वृक्ष को मूल से मत काटो, जिस शाखा में ज्यादा आम लगे है उसी को काट कर गिरा लो अपना काम बन जाएगा। इस पुरुष की भावना अशुद्ध होने पर भी प्रथम पुरुष की अपेक्षा शुद्ध है। इसे नीललेश्या समझना जाहिए।

तीसरे पुरुष ने दूसरे की बात काटते हुए कहा इतनी मोटी शाखा काटने से क्या लाभ है? जिन टहनियों में आम हैं उन्हीं को काट लेना पर्याप्त है। इस प्रकार की विचारधारा को कपोत लेश्या कहते हैं। यह नील लेश्या की अपेक्षा भी विशुद्ध है।

चौथे पुरुष ने कहा—टहनियां काटने से भी क्या लाभ है। हमें तो फल चाहिएं। पत्थर मार-मार कर फल गिरा ले। पक्के खा लेंगे। कच्चे-कच्चे छोड़ देंगे। इस पुरुष के विचार को पीत या तेजोलेश्या कहते हैं। इस के विचार तीसरे पुरुष की अपेक्षा भी अधिक शुद्ध हैं।

चौथे का परामर्श सुनकर पॉचवें ने कहा—कच्चे फलों की आवश्यकता नहीं है तो उन्हें गिराने से भी क्या लाभ है? पके—पके फल ही क्यों न गिरा लिए जाएँ? इस पुरुष की भावना पद्मलेश्या कहलाती है।

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—'वृक्ष के नीचे बैठ कर प्रतीक्षा करो। जो-जो पका फल स्वयमेव गिरता जाय उस का सेवन कर लो। यह भावना सर्वश्रेष्ठ है। इस का आशय यह है कि शुक्ललेश्या वाला पुरुष वह है जो अपने निर्वाह के लिए दूसरों को लेशमात्र भी कष्ट नहीं

पहुँचाना चाहता। इस के विपरीत कृष्णलेश्या अर्थात् निकृष्ट भावना वाला पुरुष अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अथवा बिना ही स्वार्थ के दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि करने को उद्यत हो जाता है।

कृष्णलेश्या वाला पुरुष नरक की यातनाएँ भोगता है और शुक्ललेश्या का धनी स्वर्गीय सुखों का भाजन बनता है।

प्राय: लोग निरर्थक ही अपने विचारों को अपवित्र बनाते हैं। उन्हें यह विदित नहीं है कि प्रशस्त विचारों का परित्याग कर के अप्रशस्त विचारों मे रमण करने से हाथ तो कुछ आता नहीं, फिर क्यों अपने भविष्य को व्यर्थ ही बिगाड़ा जाय ? कल्पना करो कि तुम ने किसी का बुरा सोचा तो क्या तुम्हारे सोचने से ही उस का बुरा हो जाएगा ? नहीं, उस का बुरा या भला होना तो उसी के विचार या भाग्य पर निर्भर है, तुम्हारे विचार करने से कुछ होना जाना नहीं है। अलबत्ता तुम अपने बुरे विचारों से अपना ही अहित कर लोगे। तुम चाहते हो कि दूसरे की सम्पत्ति का विनाश हो जाय, पर न तुम्हारे चाहने से किसी को सम्पत्ति प्राप्त हुई है और न वह नष्ट ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में तुम अपध्यान कर के अपनी आत्मा को क्यों कलुषित करते हो ? याद रक्खो, यह निरर्थक बुरे विचार तुम्हारे जीवन के लिए अत्यन्त घातक हैं। इन से बचने का प्रयत्न करोगे तो सहज ही पापकर्मों से बच सकोगे।

दान देने के लिए कुछ खर्च होता है, तपस्या करने में कुछ कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु बुरे विचारों से दूर रह कर सुन्दर विचारों को अपनाने मे न कुछ खर्च करना पड़ता है और न कष्ट ही उठाना पड़ता है, फिर अच्छे विचारों को क्यों नहीं अपनाते ?

यदि तुम भाव के प्रभाव को भली भाँति समझ लो तो क्षण भर भी बुरे भावों को अपने अन्तःकरण में स्थान देना पसंद नहीं करोगे। भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्त्ती भरत की जीवनी पर विचार करो। उन्हों ने भावना के बल से श्रेष्ठ लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की थी। उन के विषय मे कहा गया है—

पट्खण्डराज्ये भरतो निमग्नस्ताम्बूलवक्त्रः सविभूषणश्च।
आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नैर्ज्ञानं स लेभे वरभावतोऽत्र॥

अर्थात्-महाराज भरत छह खण्ड राज्य के अधिपति थे, उन के मुँह में पान का बीड़ा रहता था और शरीर बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित रहता था, सुन्दर-सुन्दर रत्नों से जटित महल में निवास करते थे, फिर भी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वह किस का प्रभाव था ? सुन्दर विचारों का ही, उन के अन्तःकरण में अनासक्ति की भावना अत्यन्त प्रबल थी। वे चक्रवर्ती होकर भी समभाव में रमण किया करते थे। अपने इन सुन्दर विचारों के कारण उन्हें वह परम-ऋद्धि अनायास ही प्राप्त हो गई जिस के लिए दूसरों को घोर तपश्चरण करना पड़ता है।

सचमुच सुन्दर विचारों का जीवन पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है। अतएव जो कल्याण का अभिलाषी है, जो अपने वर्तमान जीवन के साथ ही साथ भविष्य को भी मंगलमय बनाना चाहता है, उसे बुरे विचारों को सर्प के समान भयानक समझ कर उन से बचना ही चाहिए और उत्तम समभाव की सुरम्य वाटिका में ही विहार करना चाहिए।

सुन्दर विचार किस प्रकार के होते हैं?, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। यह बात तो सभी जन अपने-अपने अनुभव से समझ सकते हैं। फिर भी उन का एक नमूना यह है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

अर्थात्-संसार के सभी प्राणी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सब का कल्याण हो और किसी भी प्राणी को दुःख की प्राप्ति न हो।

इस प्रकार परहित का चिन्तन करने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त की शुद्धि से आत्मा का हित होता है। अतएव हे भव्य पुरुषो! अच्छे और भले विचार ही स्व-परकल्याणकारी हैं। उन्हें अपनाओ। निरन्तर पवित्र विचारों का ही आश्रय लो। दुर्भावों का परित्याग करो। विषय-कषाय की भावनाओं को पास भी न फटकने दो। ऐसा करने से तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल और आनन्दमय बनेगा।

---

# धर्म और शान्ति

भारत का प्राचीन नाम आर्यावर्त है। यह आर्य जनता की निवासभूमि है। जो हेय कार्यों से दूर रह कर धर्म का यथाशक्ति आचरण करते हैं, वे शिष्ट और संस्कारी पुरुष आर्य कहलाते हैं। आर्यों की भूमि होने के कारण भारत को धर्मभूमि का गौरवमय अभिधान प्राप्त हुआ है। किसी युग मे यह अभिधान पूरी तरह सार्थक होता था। इस देश की प्रजा धर्म को अपने प्राणों से भी प्रिय समझती थी। उस के लौकिक आचार-विचार में भी धर्म का पुट होता था। भारतीय धर्मों का गंभीर भाव से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट विदित हो जाता है कि यहां की जनता को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की समस्त क्रियाओं में धर्म की दृष्टि अवश्य रहा करती थी।

भारतीय इतिहास ऐसे अनेक धर्मवीरों के वृत्तान्तों से उज्ज्वल है, जिन्होंने अपने सर्वस्व का परित्याग कर देना तो उचित समझा किन्तु धर्म का परित्याग करना उचित नहीं समझा। यही नहीं, उन्होंने प्राणों का भी त्याग कर के धर्म की रक्षा की। उन लोगों की यह निश्चल धारणा थी कि—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात् जो अपने धर्म का विनाश करता है, उस का विनाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की रक्षा होती है।

तात्पर्य यह है कि वे धर्मवीर लोग धर्मरक्षा को ही आत्मरक्षा और धर्मविनाश को ही आत्मविनाश समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने प्राण तो जाने दिये परन्तु धर्म नहीं जाने दिया।

इस प्रकार की धर्मप्रधान मनोवृत्ति होने के कारण उस समय का भारतीय जीवन बड़ा सुखमय था। लोग सन्तोष और शान्ति के साथ अपना जीवन यापन करते थे। जीवन में आज जैसी असन्तुष्टि

अशान्ति, व्याकुलता और दौड़ धूप नहीं थी। धर्म उन की तृष्णा पर अंकुश लगाता रहता था और संयमपूर्वक जीवन-निर्वाह की प्रेरणा किया करता था। अतएव उस समय का व्यक्तिगत जीवन उच्च और पवित्र रहता था।

सामाजिक जीवन भी बड़ा सुन्दर था। लोग एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, संवेदना और प्रीति रखते थे। उन के पारस्परिक व्यवहार में एक अनूठी मधुरता होती थी। एक ग्रामवासी दूसरे ग्रामवासियों को अपना कुटुम्बी समझता था और दुःख-दर्द में उन का हाथ बंटाता था। कोई किसी को ठगने, धोखा देने और किसी के अधिकार को हड़पने की ऐसी चेष्टा नहीं करता था जैसी कि आज सर्वत्र दिखाई देती है। धर्म के कारण जनता में जबर्दस्त नैतिक भावना थी और इस कारण उन का इहलौकिक जीवन अत्यन्त पवित्रतापूर्ण होता था।

किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, लोगों की विचारधारा भी बदलती गई। वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता की सुविधा से भारतीय जनता विदेशी लोगों के सम्पर्क में आई। दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियों का शासन भी स्थापित हो गया। वे विदेशी भी ऐसे थे जिन्हें धर्म की गंभीरता और महत्ता का पता न था, जिन के पास न अध्यात्मवाद था और न भारत जैसा दर्शनशास्त्र ही था। ऐसे लोगों के संपर्क के कारण भारतीय जनता में भी धर्म के प्रति उदासीनता का भाव आ गया है। आज भारतीय भी अनात्मवाद के पुजारी बनते जाते हैं और अपनी परम्परागत विरासत को भूलते चले जा रहे हैं।

देखा जा रहा है कि आजकल धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अज्ञान और अनुत्तरदायित्व से परिपूर्ण आलोचनाएं की जाती हैं। कोई कहता है—धर्म का युग बीत चुका है। जब विश्व अज्ञान के अन्धकार में निमग्न था तब धर्म की कल्पना हुई थी। आज विज्ञान के प्रकाश में धर्म ठहर नहीं सकता। विचार और विवेक की रोशनी में धर्म को कहीं स्थान नहीं है।

ऐसा कहने वाले लोग धर्म के सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञात हैं।

उन्हे धर्म की वास्तविकता का पता नहीं है। उन्हें समझना चाहिए कि धर्म कभी नष्ट नहीं हो सकता। वह नष्ट होने वाली वस्तु ही नहीं है। धर्म का कोई विशेष युग नहीं होता और इस कारण धर्म कभी असामयिक नहीं हो सकता। जैसे आकाश किसी समय-विशेष के लिए नहीं है और वह किसी भी समय में नष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म भी। धर्म शाश्वत है, स्थायी है। वह अहिंसा और सत्य के सुदृढ़ स्तम्भों पर अवलम्बित है और विश्वमैत्री तथा समता की वज्रमय दीवारों से सुरक्षित है। व्यक्ति मिट सकता है, जातियां मिट सकती हैं, साम्राज्य समाप्त हो जाते हैं, किन्तु धर्म कभी नहीं मिट सकता। धर्म वस्तु का स्वभाव है, अतएव जब तक वस्तु विद्यमान है तब तक धर्म भी विद्यमान रहेगा। वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता, इस कारण धर्म का भी कभी अभाव नहीं हो सकता।

लोगों की यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं। सत्य यह है कि वे एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। धर्म-हीन विज्ञान मानवजाति के घोर अमंगल और विनाश का कारण है और विज्ञानहीन धर्म अन्धश्रद्धा मात्र है। दोनों सम्मिलित हो कर ही विश्व का कल्याणसाधन कर सकते हैं।

कई लोगों का आक्षेप है कि धर्म की बदौलत संसार मे बहुत मार-काट मची है। धर्म ने रक्त की नदियां बहाई हैं। एक समूह को दूसरे समूह से लड़ाया है। किन्तु धर्म के सम्बन्ध में यदि कोई बड़े से बडा भ्रम हो सकता है तो वह यही भ्रम है। धर्म की तो पहली शिक्षा ही यह है कि प्राणी मात्र को आत्मा के समान समझो। तुम अपने प्रति दूसरों का जैसा व्यवहार चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरो के प्रति करो। दूसरों का अनिष्ट और अहित करने का विचार भी मन में मत लाओ। जिन का आचरण तुम्हें अप्रिय है, जो तुम से विरुद्ध व्यवहार करते है, उन के प्रति भी द्वेष न करो, वरन् मध्यस्थ भाव धारण करो। कहा भी है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव !

अर्थात्–हे प्रभो ! मेरी आत्मा प्राणी मात्र पर मैत्रीभाव धारण करे, गुणी जनों के प्रति प्रमोद भाव को धारण करे, दुःखी जीवों को देख कर दयाभाव को धारण करे और अपने से विरोधी व्यवहार करने वालों पर मध्यस्थ-भाव को धारण करे।

अब विचार कीजिए कि जो धर्म अपने विरोधियों के प्रति समभाव रखने का विधान करता है, वह कभी खून-खराबी के लिए प्रेरणा कर सकता है? जो धर्म प्राणी मात्र को अपना मित्र और भ्राता समझने का आदेश देता है, क्या उस से यह आशा की जा सकती है कि वह अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों का रक्त बहाने की अनुमति देगा? कदापि नहीं। धर्म करुणा करने की शिक्षा देता है, परोपकार और परहित के लिए प्रेरणा देता है और उदारता रखने का विधान करता है। वह किसी भी प्रकार की मतविभिन्नता के कारण ईर्षा करना, द्वेष करना, किसी को सताना, किसी के प्रति अप्रीति एवं अरुचि करना नहीं सिखलाता। ऐसी स्थिति में धर्म के विरुद्ध रक्त बहाने का आरोप करना सर्वथा निर्मूल है।

कहा जा सकता है कि इतिहास क्या असत्य है? क्या ईसाई धर्म के दो सम्प्रदायो में से एक ने दूसरे का खून नहीं बहाया? क्या इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने धर्म के लिये विधर्मियों के गले नहीं काटे? क्या शैवों ने जैनों का क़त्लेआम नहीं किया? इतिहास की यह घटनाएं यदि सत्य हैं तो धर्म को निर्दोष कैसे कहा जा सकता है? आखिर इस प्रश्न का समाधान क्या है?

उस में सन्देह नहीं कि इतिहास में इन घटनाओं का जो उल्लेख है, उस में सचाई है, किन्तु इन अन्यायों, अत्याचारों और हत्याओं का कारण धर्म नहीं, धर्मोन्माद है। धर्मोन्माद को ही धर्म समझ लेना काच को हीरा समझ लेने के समान भ्रम मात्र है। अन्धकार और प्रकाश में जितना अन्तर है, धर्म और धर्मोन्माद मे भी उतना ही अन्तर है। जैसे राष्ट्रीयता अपने आप में कोई बुरी वस्तु नहीं है, किन्तु राष्ट्रीयता

का उन्माद भयानक होता है। राष्ट्रियता के उन्माद ने संसार को तबाह किया है, समय समय पर घोर नरसंहार किया है, महायुद्धों की सर्जना की है और विश्व को अशान्ति की आग में झोंक दिया है, फिर भी राष्ट्रियता—सच्ची राष्ट्रियता पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार धर्मोन्माद के कारण होने वाले अत्याचारों के कारण धर्म को बदनाम करना भी उचित नहीं कहा जा सकता।

प्रायः देखा जाता है कि लोग अपना स्वार्थसाधन करने के लिए जनता को बहकावे में डालना चाहते हैं। साधारण जनता की आस्था धर्म पर प्रगाढ़ होती है। धर्म के नाम पर जल्दी बहक जाती है। चतुर स्वार्थी लोग जनता की इस दुर्बलता को समझ कर उसे धर्म के नाम पर बहका लेते हैं और अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। राजनीतिज्ञ लोग अक्सर इस प्रकार के हथकंडे किया करते हैं। उन के ऐसे प्रयत्नों के कारण धर्म को बदनाम होना पड़ता है।

इन सब बातों को अलग करके हम धर्म के असली स्वरूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि संसार का कोई भी धर्म मनुष्यों को गला काटने का उपदेश नहीं देता, वरन् दया और करुणा का, सहानुभूति और उदारता का ही उपदेश देता है। अतएव धर्म पर किये जाने वाले समस्त आक्षेप वास्तव में निराधार है। धर्मोन्माद के कारण या धर्म का बहाना लेकर किये जाने वाले स्वार्थियों के प्रयत्नों के कारण ही धर्म पर आक्षेप किये जाते हैं और वह समस्त आक्षेप धर्म का सच्चा स्वरूप समझ लेने पर टिक नहीं सकते।

जो लोग कहते है कि धर्म का युग समाप्त हो गया, उन्होंने धर्म की महत्ता को लेश मात्र भी नहीं समझा है। धर्म देश और काल की समस्त सीमाओं से परे है। उस का स्वरूप शाश्वत है। धर्म ने मानवजाति को जो महान सिद्धान्त दिये हैं वे किसी विशेष समय के लिये ही नहीं, वे सभी समयों में समानरूप से हितकर और उपयोगी हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य संतोष, दया, क्षमा आदि की पावन भावनाएं धर्म का महान् उपहार हैं। और कौन कह सकता है कि ये भावनाएं आज असामयिक हो गई हैं? कैसे कहा जा सकता है कि किसी भी युग में इन भावनाओं का परित्याग कर के मनुष्य-समाज जीवित रह

सकता है? आशय यह है कि जब तक इस भूतलपृष्ठ पर मनुष्य जाति का अस्तित्व है तब तक धर्म की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। हो सकता है कि कोई धर्म के सिद्धान्तों को धर्म के बदले कोई नया अभिधान दे, किन्तु इस से वस्तु तो बदलने वाली नहीं है, नामपरिवर्तन भले ही हो जाय। जिन्हें धर्म का नाम ही अप्रिय है, वे सन्तुष्ट भले हो लें, परन्तु इस से जगत् का कोई भला होने वाला नहीं।

वास्तव में धर्म व्यक्ति और समाज दोनों के लिए श्वास की तरह अनिवार्य है। जो लोग धर्म के विरोधी हैं, उन का जीवन भी धर्म के ही आधार पर टिका हुआ है। धर्म से इहलोकसम्बन्धी अभ्युदय ही नहीं सिद्ध होता, परलोकसम्बन्धी अभ्युदय का कारण भी धर्म ही है। धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो जीव के साथ परलोक में भी जाता है शेष सब पदार्थ यहीं रह जाते हैं। इसी लिये कहा है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात् मृत्यु के अवसर पर धन पृथ्वी में ही गड़ा रह जाता है, पशु पशुशाला में खड़े रह जाते हैं, स्त्री घर के द्वार तक आकर लौट जाती है; अन्य मित्रजन और आत्मीय जन श्मशान तक शव के साथ जाते है, शरीर चिता में भस्म हो जाता है इस प्रकार केवल धर्म ही जीव के साथ परलोक में जाता है।

भगवान् महावीर ने धर्म के विषय में कहा है—

धम्मो ताणं सरणं, धम्मो गई पइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं॥
(तंदुलवेयालिय, गा० ३६)

अर्थात्–धर्म त्राण करने वाला है, शरण देने वाला है, धर्म ही गति है और धर्म ही जीवों के लिए आधार है। धर्म की सम्यक् आराधना करने से जीव अजर-अमर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

सिक्खों के धर्मशास्त्र में कहा है—

धरम सरब सुखखानि जान सब को हितकारी ।
धरम धरे बुद्धिमान् निरन्तर चित्त मंझारी ॥
धरम सरब सुख हेत निखन किल झिलमिल खोवत ।
गुर संगत के माहिं धरम कर परापत होवत ॥

धर्म प्राणी मात्र को सुखकारी और हितकारी है। संसार की अन्य वस्तुएं ऐसी हैं कि उन्हे एक आदमी सचित कर लेता है तो उन के अभाव मे दूसरों को कष्ट होता है, किन्तु धर्म इस से सर्वथा विपरीत है। धर्म को धारण करने के कारण उस को भी सुख होना है जो उस को धारण करता है और दूसरों को भी सुख होता है। अतएव धर्म संसार में एक अपूर्व वस्तु है। धर्म में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। वह जातिवाद और वर्गवाद के बखेड़े से कोसों दूर है। ब्राह्मण हो या चाण्डाल हो, सब समान रूप से धर्म का आचरण कर सकते हैं। धर्म उस कल्पवृक्ष के समान है जिस की शीतल छाया मे बैठ कर प्राणी मात्र को अपना सन्ताप दूर करने का समान अधिकार प्राप्त है। धर्म वह दिव्य गंगा है जिस में अवगाहन कर के कोई भी अपनी आत्मिक मलिनता को धो सकता है। धर्म का द्वार सब के लिये और सर्वदा के लिए खुला हुआ है। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु भी धर्म का पालन और आचरण कर सकते है। इहलोक और परलोक में धर्म का आचरण करने वालों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

सब सहल हो नजा की अजीयत ।
ईमान गर रहे मेरा सलामत ॥

अर्थात्—यदि मेरा धर्म बना रहे तो अन्त काल में मुझे कोई कष्ट न होगा, कष्ट से बचाने का सामर्थ्य सिर्फ धर्म मे ही है, क्योंकि धर्म के सिवाय परलोक में कोई दूसरी वस्तु साथ नहीं जाती। अतएव जिस ने धर्म को बचाया उस ने सभी कुछ बचा लिया और जिस का धर्म चला गया उस का सभी कुछ चला गया—

हमनशीं कहता है कुछ परवा नहीं ईमां गया ।
मैं यह कहता हूँ कि भाई ! यह गया तो सब गया ॥
हम यही कहते हैं साहिब सोच लो अंजामकार ।
दूसरा फिर क्या ठिकाना है अगर ईमां गया ॥

आज लोगों ने धर्म को सब से गई बीती वस्तु समझ लिया है। एक पैसा जायगा तो चिन्ता करेंगे, शोक करेंगे किन्तु धर्म चला जायगा तो कहेंगे कोई परवा नहीं। धर्म गया तो गया, कौन से उस के पैसे उपजते हैं। किन्तु जिन्हों ने धर्म के माहात्म्य को समझ लिया है वे ऐसा नहीं सोचते। उन के लिए धर्म का मूल्य प्राणों से भी अधिक है। हिन्दी के एक कवि कहते हैं—

चारु धर्म को सदा प्राण सौं अधिक विचारो,
प्राण तजन सों अधिक डरो जब धर्म न धारो।
भारी विपदा परे हूं भूलि सुत न तनिक घबराओ,
नहीं धर्म सों तब हूँ रंच विश्वास हटाओ।

अधिकांश लोग जब सुख में समय व्यतीत करते हैं, तब तो धर्म को याद नहीं करते और जब आपत्ति आकर टूट पड़ती है, तो धर्म का स्मरण करते है। किन्हीं-किन्हीं को धर्म का आचरण करते करते भी आपत्ति आ जाती है। ऐसे अवसर पर यही समझने योग्य है कि यह आपत्ति पूर्वकालीन अधर्म के आचरण का परिणाम है। धर्म कदापि आपत्तिजनक नहीं हो सकता, यही नहीं बल्कि धर्म ही समस्त आपत्तियों से बचाने वाला है।

अब प्रश्न हो सकता है कि जिस धर्म की ऐसी महिमा है, उस का स्वरूप क्या है ? अर्थात् मनुष्य क्या आचरण करे तो समझा जाय कि वह धर्म का आचरण कर रहा है ? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर इस प्रकार है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

अर्थात्–किसी भी प्राणी को मन वचन काया से कष्ट न

पहुंचाना और कष्ट में पड़े हुए को यथाशक्ति छुड़ाने का प्रयत्न करना, अपनी इन्द्रियों पर और मन पर संयम रखना और यथाशक्ति तपश्चरण करना धर्म है। यह धर्म अत्यन्त कल्याणकारी है।

इसी तथ्य को मध्यम विस्तार के साथ कहे तो इस प्रकार कह सकते हैं—

क्षमा अहिंसा दया मृदु सत्य वचन तप दान।
शील शौच तृष्णा विना, धर्मलिंग दस जान॥

क्षमा, अहिंसा आदि धर्म के दस लक्षण हैं। इन दसों का निरन्तर आचरण करना, इन्हे अपने जीवन का आधार वना लेना और किसी भी व्यवहार मे इन का उल्लंघन न करना धर्म का आचरण करना कहलाता है।

प्रत्येक प्राणी दुःख से छुटकारा पाना चहाता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लोग नाना उपाय करते हैं। शरीर मे रोगोत्पत्ति होने पर भाँति भाँति की चिकित्सा, औषधियों के अनुसार उपचार किये जाते है। दूसरे दुःखों को दूर करने के लिये अर्थ का उपार्जन किया जाता है, कुटुम्ब परिवार वसाया जाता है और नाना प्रकार के कष्ट भी सहन किये जाते हैं। इतना सव करते हुए भी संसारी जीव दुःख से छुटकारा नहीं पाते। कोई न कोई दुःख उन्हें घेरे ही रहता है। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसारी जीवों ने दुःखरूपी बीमारी का ठीक ठीक निदान नहीं किया है और इसी कारण उस की स्थायी चिकित्सा नहीं होती।

प्राणी मात्र के असली दुःख जन्म, जरा और मरण हैं। इन से मुक्त होने का उपाय किये विना शाश्वत सुख का प्राप्त होना संभव नहीं है। अतएव इन से मुक्त होने के लिये जो उपचार किया जाता है, उसी को धर्म कहते है। धर्म के अतिरिक्त इन दुःखों से छूटने का कोई उपाय नहीं। धर्म से आत्मा का परम उत्कर्ष तो होता ही है। संसार का भी परम कल्याण होता है। इसलिये कहा है—

जो तू दया प्रेरित हो न आता,
संसार में जो न सुधा वहाता।

स्वर्गीय आलोक नहीं दिखाता,
तो दीखता गौरव का नजारा ॥
माता पिता बन्धु सखा अनोखा,
तू है हमारा वर देवता भी।
साथी सगा है परलोक का तू,
सर्वस्व मेरा इस लोक का है॥

धर्म का फल बतलाते हुए कहा गया है—

विना धर्मं न सौख्यं स्या-द्दुर्गतेर्न निरोधनम्।
नारोग्यं न बलं कीर्तिर्न च कर्मविमोचनम् ॥

अर्थात्-धर्म के बिना सुख नहीं होता, धर्म के बिना दुर्गति का निरोध नहीं होता, धर्म के बिना शारीरिक आरोग्य नहीं होता, धर्म के बिना बल और कीर्त्ति नहीं मिलती और धर्म के बिना कर्मों से छुटकारा अर्थात् मोक्ष भी नहीं मिलता।

इसी आशय को विधिरूप में आचार्य हरिभद्र सूरि ने यों प्रकट किया है—

धम्मेण कुलपसूई, धम्मेण य दिव्वरूपसंपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थडा कित्ती ॥

अर्थात्-धर्म से उत्तम कुल में जन्म होता है, धर्म से दिव्य सौन्दर्य की प्राप्ति होती है, धर्म से धन और ऐश्वर्य मिलता है तथा धर्म से विस्तृत कीर्त्ति का लाभ होता है।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि धर्म व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए मंगलमय है और इस लोक तथा परलोक में भी मंगलमय है। धर्म के विषय में भगवान् महावीर ने जो शिक्षाएं जगत् को दी है, वे अत्यन्त महान् हैं। धर्म की एक प्रधान शिक्षा यह है कि मानवजाति एक है। आज जो अनेक जातियां विद्यमान है और एक-एक जाति में भी अनेक जातियां हो गई है, वे सब मनुष्यकृत हैं, काल्पनिक

हैं उन का आधार वास्तविक नहीं है। धर्म की दृष्टि से इन की कोई महत्ता और सत्ता नहीं है।

भगवान महावीर ने तत्काल में प्रचलित जातिवाद का बड़े प्रबल स्वर में विरोध किया था। उन्होंने धर्म को जाति के प्रबल बन्धनों से छुटकारा दिलाया था और घोषणा की थी कि किसी भी जाति में उत्पन्न हुआ पुरुष या नारी धर्म की साधना करने का अधिकारी है, इस विषय में उच्च से उच्च जाति वालों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वही सब अधिकार हीन से हीन समझी जाने वाली जाति में जन्म लेने वालों को भी प्राप्त हैं। धर्म उस वायु के समान है जो प्राणी मात्र को जीवन देती है। धर्म उस सूर्य के समान है जो प्राणी मात्र को प्रकाश देने में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं करता। धर्म पृथ्वी के तुल्य है जो अभेदभाव से सब को सहारा देती है। किसी भी प्राकृतिक वस्तु में जाति का भेदभाव नहीं देखा जाता तो धर्म में यह भेद कैसे हो सकता है? धर्म भी तो प्रकृति का ही स्वभाव है। कहा भी है—

पयडिसहावो धम्मो।

अर्थात्—धर्म प्रकृति का स्वभाव है।

शेख सादी ने भी इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—

बनी आदम आजाए यक दीगरन्द,<br>
कि दर आफरीनश ज़ि यक जौहरन्द।<br>
चो उज़्वे बदर्द आवरद रोजगार,<br>
दिगर उज़्वहारा नमानद करार॥

अर्थात् सभी मनुष्य परस्पर ऐसे सम्बन्धित हैं जैसे एक शरीर के अंग, क्योंकि उन की उत्पत्ति एक ही जैसे तत्त्वों से हुई है। इस लिए जैसे शरीर के एक अंग के पीड़ित होने पर दूसरे अंग भी सुखी नहीं रहते, उसी प्रकार एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के दुःख का अनुभव होना चाहिए।

भगवान् महावीर की दृष्टि में राव रंक का भी कोई भेद नहीं था उन का सब पर पूर्ण समभाव था। इन्हों ने धनवानों को उपदेश का जो

अमृत पिलाया वही दरिन्द्रों को भी। आचारांगसूत्र में बतलाया गया है-

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर धनवानों और वैभवशालियों को जिस भाव से उपदेश दिया करते थे, दीनो और दरिद्रों को भी उसी भाव से धर्मोपदेश सुनाते थे। और जिस भाव से दीनों और दरिद्रों को धर्मोपदेश सुनाते थे उसी भाव से धनवानों को। उन्हों ने अपने शिष्यों को ऐसा ही करने का उपदेश दिया था।

तात्पर्य यह है कि धर्म के उदार क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाता। वहां न जाति पाँति के आधार पर और न धन वैभव के आधार पर किसी को महत्त्व दिया जाता है। जैसे छोटी और बड़ी नदियाँ समुद्र मे मिल कर एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य मात्र धर्म के पावन प्रांगण मे पदन्यास करने पर समान धर्म का अधिकारी बन जाता है। भेद हो सकता है तो सिर्फ योग्यता के आधार पर। जिस की जैसी योग्यता है वह उतना ही धर्म का आचरण कर सकता है। किन्तु वह योग्यता भी किसी जातिविशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। वह आत्मा के गुणों के विकास पर निर्भर है।

इस प्रकार धर्म ने मुष्य-मनुष्य के बीच समताभाव की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

धर्म सिखलाता है कि मनुष्य अपने भाग्य का और अपने भविष्य का स्वयं ही निर्माता है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार के दुःखों और बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को अपने कल्याण के लिए किसी से भीख मांगने की आवश्यकता नहीं मनुष्य के भाग्य का निर्माण करने वाला और उसे स्वर्ग या नरक में भेजने वाला कोई दूसरा नहीं है। इस सिद्धान्त को विशेष तौर पर जैनधर्म ने उपस्थित कर के मनुष्य के सामने आत्मनिर्भरता और स्वाधीनता का एक सुनहरी आदर्श रक्खा है। मनुष्य के लिए यह बड़े से बड़ा आश्वासन है। आचारांग सूत्र में कहा है—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,

किं वहिया मित्तमिच्छसि ?

अरे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है; वाहर के मित्र की क्यों अभिलाषा करता है ?

यह परम प्रेरणाप्रद प्रवचन उन लोगों को चुनौती देता है और उन के भ्रम का उन्मूलन कर देता है, जो लोग कहते हैं कि धर्म गुलामी करना सिखलाता है। धर्म का स्वर गुलामी का नहीं स्वाधीनता का स्वर है और स्वतंत्रता का वडे से वड़ा उपासक भी इस से वढ़ कर और क्या कह सकता है ?

भगवान् महावीर ने महान हितकारी धर्म का उपदेश दिया है। उन के समय में, धर्म के सम्वन्ध मे, नाना प्रकार की भ्रमणाएं फैली हुई थीं। लोग वाह्य क्रियाकाण्ड को ही धर्म की कसौटी समझते थे। यज्ञ-याग करना, नदियों में स्नान करना, तिलक-छापे लगा लेना आदि वाह्याचार ही धर्म समझा जाता था। किन्तु भगवान् ने अनेकविध प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी धर्मसंवन्धी इस भ्रम का निराकरण किया और आन्तरिक शुद्धि को धर्म का स्वरूप प्रतिपादित किया। उन्हों ने वतलाया कि वाह्य क्रियाएं अपने में धर्म नहीं है, किन्तु वे यदि आत्मशुद्धि में सहायक होती हैं तो धर्म या वाह्य रूप हो सकती हैं। और जिन वाह्यक्रियाओं का आन्तरिक शुद्धि के साथ कुछ भी संवन्ध नहीं है, वे धर्म का अंग नहीं हैं। इस प्रकार भगवान् महावीर ने ससार को अन्तर्मुखी दृष्टि प्रदान कर के मनुष्य जाति का महान् उपकार किया है।

आज जो लोग धर्म की अलोचना करते हैं, उन्होंने निस्सार क्रियाकाण्ड को ही धर्म समझा है। भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्मतत्त्व जव उन की समझ में आएगा तो उन के नेत्र खुल जाएंगे और वे धर्म का विरोध नहीं कर सकेंगे। क्याकि इस धर्म के विना जगत् की स्थिति ही संभव नहीं है। कहा है—

माता दया है जननी मनोज्ञा ।
सम्यक्त्व तेरा सुपिता कहाता ॥
भाई क्षमा मार्दव आर्जवादि ।
हैं साम्यभावादि सपूत तेरे ॥
दानादि हैं रूप अनेक तेरे ।
जो विश्व को स्वर्ग बना रहे हैं ॥
निष्पाप निस्ताप विशुद्ध तेरा ।
है चित्त ही आलय एक रम्य ॥
संसार सारा जिस के विना है ।
अत्यन्त निस्सार मसान जैसा ॥
साकार है शान्ति वसुन्धरा की ।
हे धर्म ! तू ही जग का सहारा ॥

इस घोर अशान्ति और यातनाओं के घर संसार में भी यदि कुछ सुख आर शान्ति क्वचित् दृष्टिगोचर होती है तो वह धर्म का ही प्रताप है। धर्म-व्यवस्था ने मनुष्य के अन्तःकरण में इतनी गहरी जड़ जमा रक्खी है कि ज्ञात और अज्ञात रूप में मनुष्य को वह सन्मार्ग की प्रेरणा करता ही रहता है। क्रूर से क्रूर प्राणी मे भी दया और सहानुभूति आदि की जो दिव्य भावनाएं उपलब्ध होती है, वह धर्म का ही प्रताप है। धर्म के इसी प्रताप से जगत् की व्यवस्था चल रही है। जिस दिन धर्मव्यवस्था बिल्कुल बिगड़ जाएगी, उसी दिन जगत् की व्यवस्था भी लुप्त हुए बिना नहीं रहेगी। उस समय यह भूमि श्मशान का रूप धारण कर लेगी।

अतएव मानवीय सुख-शान्ति को बढ़ाने के लिए भी और आत्मा के चरम मंगल-साधन के लिए भी धर्म की अनिवार्य आवश्कता है। हे भद्र पुरुषो ! वीतराग सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म का स्वरूप समझो। इसी में इस बहुमूल्य और पुण्योपार्जित जीवन की सार्थकता है।

———o———

# मांसाहारनिषेध

आहार का वास्तवकि प्रयोजन शरीरयात्रा का निर्वाह करना है। प्राणियों का शरीर नैसर्गिक रूप से इस प्रकार का बना है कि आहार के बिना वह लम्बे समय तक स्थिर नहीं रह सकता। यही कारण है कि शरीर के प्रति ममता का त्याग कर देने वाले मुनियों और तपस्वियों को भी आहार करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से आहार करना अनिवार्य है और इसी कारण संसार के किसी भी धर्म शास्त्र ने आहार करना वर्जित नहीं किया है।

किन्तु खेद है कि मनुष्य जाति ने आहार के मुख्य प्रयोजन को भुला सा दिया है। कुछ अपवादों को छोड़ कर मनुष्य शरीरनिर्वाह की दृष्टि का गौण और जिह्वातृप्ति को मुख्य प्रयोजन मान रहे है। यही कारण है कि नाना प्रकार के व्यसनों का, चटपटी चीजों का और सत्वहीन खुराक का सर्वत्र आदर किया जा रहा है।

भोजन को जिह्वातृप्ति का साधन आजकल ही समझ लिया गया हो सो बात नहीं है। प्राचीन काल में भी ऐसा समझने वाले लोग मौजूद थे। ऐसे ही लोगों की कृपा से मांसाहार मनुष्य के भोजन में शामिल हो गया है। किन्तु ऐसे लोग जिह्वालोलुपता के ऐसे वशीभूत हो गए हैं कि वे मांसाहार के तथ्य पर विचार ही नहीं करते। मांस मनुष्य का आहार है या नहीं ? इस प्रश्न पर विचार करने का अवकाश ही उन्हें नहीं है।

बिना हिंसा के मांसाहार का निष्पादन नहीं होता और जैन धर्म हिंसा का प्रबल प्रतिषेधक है। जैनदृष्टि किसी प्राणी को मार डालना तो दूर कष्ट पहुँचाना और कष्ट पहुँचाने का विचार करना भी महापाप मानता है। किन्तु हमें यहाँ विचार करना है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार है या नहीं ? 'अर्थात् प्रकृति से वह आमिषभोजी है या निरामिषभोजी ?

मानवशरीर की रचना और उस के अंगों की बनावट के आधार पर जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि मनुष्य प्रकृति से मांसाहारी नहीं है। यहां मांसभोजी प्राणियों की कुछ विशेषताओं पर ध्यान दीजिए और देखिए कि वह मनुष्य में पाई जाती हैं या नहीं ? वे इस प्रकार है—

१—मांसाहारी पशु रात्रिकाल मे छोटे जन्तुओं का शिकार करते हैं और दिन को सोते हैं, किन्तु मनुष्य इस श्रेणी में नहीं आता। वह रात्रि को सोता है।

२—मांसाहारी पशुओं और पक्षियों का चमड़ा कठोर होता है। उस पर घने बाल होते हैं, किन्तु मनुष्य का शरीर ऐसा नहीं होता।

३- कुत्ता, सिंह आदि मांसाहारी पशु जिह्वा से चांट चांट कर पानी पीते हैं, गाय भैंस आदि की तरह घूंट भर कर नहीं। मनुष्य कुत्ता या सिंह की तरह नहीं किन्तु गाय भैंस की तरह पानी पीता है। अतएव वह मांसाहारी प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता।

४—मांसाहारी पशुओं के शरीर से पसीना नहीं निकलता, परन्तु म ष्य के शरीर से पसीना निकलता है, अतः मनुष्य मांसाहारी नहीं है

५—मांसाहारी पशुओं के मुख में थूक नहीं रहता, परन्तु अन्नाहारी या फलाहारी प्राणियो के मुख से थूक निकलता।

६—मांसाहारी पशु आदि गर्मी से हांपने पर जीभ बाहर निकाल लेते हैं, किन्तु मनुष्य ऐसा नहीं करता।

७—मांसाहारी प्राणियों के नाखून नुकीले होते हैं, मनुष्य के नहीं। मांसाहारी पशुओं की आंतें और पेट की नालियां भिन्न प्रकार की होती है, मनुष्य आदि वनस्पतिभोजी प्राणियों की भिन्न प्रकार की। मनुष्य के उदर में मांस को पचाने वाली गिल्टियां होती ही नहीं हैं।

८—मांसाहारी पशुओं की आंखें गोल होती हैं, मनुष्य की वैसी नहीं होतीं।

९—मांसाहारी जीवों को गर्मी बहुत लगती है। थोड़ी-सी गर्मी लगते ही वे हांफने लगते है, किन्तु अन्नाहारी या फलाहारी जीवों

को न इतनी गर्मी लगती है और न वे उतना ज्यादा हांफते ही हैं। मनुष्य की गणना ऐसे ही प्राणियों मे है। अतः वह मांसाहारियों में नहीं गिना जा सकता।

१०—मांसाहारी पशु कच्चा मांस खाकर उसे पचा लेने में समर्थ होते हैं, किन्तु मनुष्य में ऐसी शक्ति नहीं है।

११—मांसाहारी पशुओं के दांत लम्बे गाजर के आकार के से पैने होते हैं और अलग-अलग होते हैं, किन्तु फलाहारियो के दांत छोटे-छोटे चौड़े और परस्पर मिले होते हैं, जैसे कि मनुष्य के भी हैं।

१२—मनुष्य को मनोरंजन के लिये जाना हो तो वह बगीचे, फुलवाड़ी और खेत आदि में जाना पसन्द करता है, किन्तु अपनी प्रकृति के कारण मांसाहारी जीव वहां जाते है जहां मृतक जीवों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल दूषित हो रहा हो।

१३—मनुष्य को मृतक जीवों की दुर्गन्ध से व्याप्त वायुमण्डल में बहुत समय तक रक्खा जाय तो वह शीघ्र ही रोगी होकर समाप्त हो जाएगा, किन्तु मांसाहारियां के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वे ऐसे दुर्गन्धपूर्ण स्थान मे चाहे जितने काल तक ठहर सकते हैं। उन के स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि न होगी।

१४—मनुष्य के छोटे बालक के सन्मुख यदि फल और मांस दोनों रक्खे जाएं तो वह फलों की ओर आकर्षित होगा और उन्हें मुंह में डाल कर उन के रसास्वाद से आनन्दित होगा, किन्तु कदाचित् मांस को उठा ले तो मुख में डाल कर फैंक देगा। किन्तु मांसाहारी पशुओं के बच्चों की परिस्थिति इस से विपरीत होती है। वे मांस के लोथड़ों पर ही झपटेंगे, चाहे सैंकड़ों प्रकार के उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ उन के सामने मौजूद हों।

आमिषभोजी और निरामिषभोजी प्राणियों की यह जो प्राकृतिक विशेषताएं यहां दिखलाई गई हैं, उन पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता कि मनुष्य प्रकृति से मांसभोजी नहीं, किन्तु अन्नाहारी है।

प्राकृतिक दृष्टिकोण से विचार करने के बाद अब आयुर्वेद और स्वास्थ्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें

१—जिन देशों के मनुष्यों को अधिकतया मांस खा कर ही जीवननिर्वह करना पड़ता है, वे प्रायः कुरूप और कुबुद्धि होते हैं। उन के स्भाव में निर्दयता, क्रूरता तथा कठोरता होती है। उन में रक्तदोप और विशूचिका की बीमारी शीघ्रता से फैलती है।

२—प्रोफैसर सर चार्ल्स बेल ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है कि मनुष्यों में दांतों के रोग मांसाहार के कारण बढ़ गए हैं।

३—आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता के पांचवें अध्याय में लिखा है कि मांस मनुष्य के पेट में शीघ्र नहीं पचता, अतएव वह मनुष्य का आहार नहीं है।

४—सुश्रुतसंहिता (सूत्र ४६) में कहा है कि मांस से कफ और पित्त के विकार उत्पन्न होते हैं और वह देर से पचता है। अतएव उस का भक्षण करना उचित नहीं है।

५—डाक्टर एल्फ्रेड साहब ने लंदन के डाक्टरों की संसद् में अपना निबंध पढ़ते हुए कहा था कि मांस ८० से ६० प्रतिशत रोग के कीड़ों से भरा रहता है।

६—डाक्टर फोर्ड एम. डी. कहते हैं कि मटर, चना आदि अन्नों में २३ से ३० प्रतिशत तक नाइट्रोजन होता है और ५५ से ५८ प्रतिशत तक नशास्ता और तीन प्रतिशत के लगभग नमक वाले पदार्थ होते हैं, किन्तु मांस में नाइट्रोजन केवल ८ से ६ प्रतिशत तक होता है और नशास्ता तो न होने के समान ही है। इस आधार पर उन का कहना है कि मांस का आहार मनुष्य के लिए लाभकारी नहीं हो सकता।

७—मांस में चीनी और नशास्ता के अंश भी नहीं होते। इस लिए वह मस्तिष्क की नसों को शक्ति नहीं पहुँचा सकता। वनस्पति और फलों में ये तत्त्व बहुलता से होते हैं अतएव स्पष्ट है कि जिन्हें मस्तिष्क और बुद्धि का काम करना है, उन के लिए मांसहार हानिप्रद है।

८—पश्चिम के कई डाक्टरों ने, जिन के प्रधान डा० जोनहैरन साहब थे, अपने अनुसन्धान के फलस्वरूप यह सिद्ध किया है कि मांसहारियों की आयु सब्जी खाने वालों की अपेक्षा कम होती है; क्योंकि मांसाभक्षण करने वाले मनुष्य की हृदयगति तीव्र हो जाती है। उसे सांस भी शीघ्रता से आता है। यही कारण है कि योगाभ्यासी व्यक्ति,

जो प्राणायाम के द्वारा दीर्घायु बनते है, वे मांस का आहार कदापि नहीं करते।

९—पशुओं के प्राण निकलने के पश्चात् शीघ्र ही इन के मांस में विषैले पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। जब पशु काटा जाता है तब पसीना आदि मलयुक्त पदार्थ, जो उस के रक्त और शरीर से निकलने वाले होते हैं, वे शरीर अर्थात् मांस के अन्दर ही रुक जाते हैं और इस प्रकार मांसाहारी मनुष्य उस मांस के साथ-साथ उन दूषित पदार्थों को भी खा जाता है, जिस से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है।

१०—जिन देशों में मांसभक्षण करने का प्रचार अधिक है, वहां स्वभातः रोग भी अधिक होते हैं। और जहा रोगों का आधिक्य होता है वहां वैद्यों और डाक्टरों की संख्या भी अधिक पाई जाती है, यहां तुलना की दृष्टि से कुछ देशों के नाम और वहां पाये जाने वाले डाक्टरों की संख्या दी जाती है, जिससे यह विषय स्पष्ट प्रमाणित हो सके—

| देश का नाम | प्रतिमनुष्य मांस का खर्च | दस लाख मनुष्य सख्या के पीछे डाक्टरों की संख्या |
|---|---|---|
| जर्मनी | ६४ पौण्ड | ३५५ |
| फ्रांस | ७७ ,, | ३८० |
| ब्रिटेनिया | ११८ ,, | ५७८ |
| आस्ट्रेलिया | २७६ ,, | ७८० |

ऊपर दिये नक्शे से स्पष्ट प्रकट होता है कि आस्ट्रेलिया मांसभक्षण में सब से आगे है वहां के निवासियों में मांसभक्षण का सब से अधिक प्रचार है। यही कारण है कि वहां पर अन्य देशों की अपेक्षा डाक्टरों की संख्या भी अत्यधिक है।

भारतवर्ष में हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों मांसाहार का प्रचार बढ़

रहा है त्यों-त्यो रोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और इसी कारण डाक्टरों की संख्या भी बढ़ रही हैं। आज से सौ-पचास वर्ष कहीं-कहीं कोई वैद्य या हकीम दिखाई देता था, किन्तु आजकल तो नगर का कोई मुहल्ला या गली ऐसी नहीं यहां डाक्टर साहब का शफाखाना मौजूद न हो। बल्कि कई बड़े नगरों में तो डाक्टरों के ही विशेष बाजार या मुहल्ले बन गए हैं। इस रोगवृद्धि का सब से बड़ा कारण मांसाहार का प्रचार ही है।

११—यदि कारागार मे जाकर दण्ड भोगने वाले अपराधियों के भाजन का पता लगाया जाय तो प्रकट होगा कि उन में अधिक संख्या मांसाहारियों की है। इस का एक कारण तो यह है कि मांसाहारी को मदिरापान, व्यभिचार तथा अन्य कुकर्मों की आदत पड़ जाती है और इस आदत के कारण वह चोरी, हत्या आदि घोर से घोर कृत्य करता हुआ भी शंकित नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि मांसाहारी की बुद्धि कुंठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील नहीं रहता और दिल कठोर बन जाता है। जहां यह त्रिदोष मिल कर आक्रमण करते हैं वहां मनुष्य किसी भी अधम से अधम कृत्य को निस्संकोच हो कर कर बैठता है। जहां बुद्धि, विवेक और दिल का दिवाला निकल गया वहां मनुष्य की खैर नहीं।

१२—मांस, वनस्पति और अन्न की अपेक्षा महंगा भी पड़ता है। यही कारण है कि यूरोप के देशों में आवश्यकता होने पर मांस का राशन हो जाता है किन्तु वनस्पति का राशन कभी नहीं होता।

१३—मृतक को छू कर लोग अपने आप को अपवित्र समझते हैं और पवित्र होने के लिए स्नान आदि क्रियाएं करते हैं। किन्तु इस से अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि वह जीभ की लालुपता का शिकार हो कर मृतक के कलेवर को अपने पेट में डाल लेते है। छिः कितनी अधमता है। जरा सी देर की जिह्वातृप्ति के लिए मनुष्य एक चलते फिरते अपने ही जैसे, प्राणी का अन्त कर देता है और अपने जीवन को भी निकृष्ट और पापमय बना लेता है। जिसे अपने पैर में कांटा चुभता भी सहन नहीं होता, वही दूसरे प्राणियों का

गला काटने में संकोच नहीं करता। मांसभक्षण मनुष्य जाति का बड़े से बड़ा कलंक है।

कुछ लोग अपने बचाव के लिए एक तर्क उपस्थित करते हैं। कहते है कि हम स्वयं पशु की हत्या नहीं करते। हत्या करने वाला कोई और होता है और हम सीधा मांस खरीद लेते हैं। ऐसी स्थिति में हमे जीवहिंसा का पाप नहीं लग सकता।

ऐसा कहने वाले लोग दूसरों को तो धोखा देते ही है, अपने आप को भी ठगते हैं। वे अपने चित्त को झूठा आश्वासन देते है। क्या वे यह नहीं जानते कि मांस खाने वाले न हो तो कत्लखाने स्वतः बद हो जाएं। आज लाखों पशु मौत के घाट उतारे जाते है, वह मांस-भक्षियों की जीभ को तृप्त करने के लिए ही। अतएव वे उस हिंसा के उत्तरदायित्व से नही बच सकते। मनुस्मृति में कहा है --

> अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
> संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थात् पशु को मारने की अनुमति देने वाला, शस्त्र से मरे हुए जीवों के अंगों को पृथक् - पृथक् करने वाला, मोल लेने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, लाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला, यह सब उस पशु के घातक ही कहलाते है।

इस कथन से और अपने अपने अन्तःकरण की साक्षी से तथा तर्क से भी यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि मांस खरीद कर खाने वाले पशुहत्या के पाप से बरी नहीं हो सकते।

# कुछ शंकाएं और उन के उत्तर

१—कहा जाता है कि वनस्पति में भी जीव होता है, अतः वनस्पति-भोजन भी हिंसामय है। फिर मांसभोजन में पाप और वनस्पतिभोजन में अपाप मानना कैसे उचित हो सकता है?

इस शंका का समाधान यह है कि सजीव वनस्पति का भोजन भी एकदम निष्पाप नहीं है। किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि वह मांसाहार के समान घोर पाप है। किसी के मकान की दीवाल में सेंध लगा कर और ताले तोड़ कर धन का अपहरण कर लेना भी अदत्तादान (चोरी) है और किसी के घर में पड़े हुए घास के तिनके को दांत खुरचने के लिए उठा लेना भी अदत्तादान है। दोनों जगह बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण किया गया है, फिर भी इन दोनों अदत्तादानों में कुछ अन्तर है या नहीं? शास्त्रीय दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि इन में महान् अन्तर देखती है। धन का अपहरण करने वाला राजदण्ड का पात्र होता है, तिनका उठाने वाला नहीं। इसी प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से धन चुराने वाले गृहस्थ का व्रत भंग हो जाता है, तिनका उठाने वाले का नहीं। धन चुराने वाले को संसार चोर कहता है। तिनका उठाने वाले को नहीं। इस का कारण यह है कि धन चुराते समय आत्मा में भयानक संक्लेश भाव उत्पन्न होते हैं, और चोरी की उत्कट भावना होती है, किन्तु तिनका उठाते समय ऐसा नहीं होता।

यही बात गाय, हिरन, बकरा, भैंसा आदि पंचेन्द्रिय जीवों की और वनस्पति की हिंसा के सम्बन्ध में कही जा सकती है। हिंसा दोनों जगह है। किन्तु दोनो में महान् अन्तर है। मनुष्य के समान विविध क्रियाएं करने वाले पशुओं की हत्या करने में घोरतर संक्लेशभाव, अतिशय क्रूरता और निर्दयता अपेक्षित है, वनस्पति की हिंसा में नहीं। यही कारण है कि पशुहत्या करने वाला लोक में भी हत्यारा कहलाता है, वनस्पति का सेवन करने वाला नहीं।

कोई जीव एकेन्द्रिय, कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय होते हैं। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की हिंसा में अधिक पाप माना गया है और यही क्रम पचेन्द्रिय की हिंसा तक समझना चाहिए। इस पर अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक विवेकशील पुरुष का अन्तःकरण स्वयमेव इस सचाई का साक्षी है।

२—कई लोक प्रश्न करते हैं कि यदि मांसाहार इतना अधिक हानिकारक है तो मनुष्यों की अधिक संख्या उस का सेवन क्यों करती है?

इस शंका का समाधान यह है कि कुसंस्कारों के कारण मनुष्य की प्रकृति हीन हो गई है। इसी कारण मनुष्य अपने हिताहित का विचार न कर के मदिरा, गांजा, चरस, अफीम तथा तमाखू जैसे विषैले पदार्थों का भी सेवन करने लग गया है, जिस से उस की बुद्धि और स्वास्थ्य का सर्वनाश हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य ने मांस का सेवन भी आरम्भ कर दिया है।

३—कई लोग कहते हैं कि सिंह, सर्प, बिच्छू और भेड़िया आदि हिंसक पशु, जो मनुष्य जाति के शत्रु हैं, उन का वध क्यो न किया जाए? किन्तु ऐसा कहने वालों से प्रश्न किया जा सकता है कि क्या मृग, बकरी, मेढ़ा, कुक्कुट, तीतर बटेर और मछली भी हिंसक जन्तु है? यदि नहीं, तो फिर उन की हत्या क्यों की जाती है?

इस के अतिरिक्त हिंसक जीव यदि मनुष्य पर आक्रमण करे तब अपनी प्राणरक्षा के लिए उस पर आक्रमण करना तो समझ में आ सकता है, किन्तु शान्तरूप मे बैठे अपने बच्चों के साथ मौज में विचरने वाले, निर्दोष और निरपराध जन्तुओं पर अस्त्र-शस्त्र चलाना किस प्रकार संगत, न्याययुक्त और निष्पाप कार्य कहा जा सकता है?

४—कई लोगों की धारणा है कि मांस न खाने से मनुष्य दुर्बल और कायर बन जाता है। उस में युद्ध की भावना नहीं रहती। उस की इस भावना से देश गुलाम बन जाता है और अत्याचार का प्रतीकार करने का उस में सामर्थ्य नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि अत्याचार करने वलों की संख्या बढ़ जाती है।

इस कथन के उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य मोटा और भद्धा वनना चाहता है तव तो और वात है; अन्यथा वीर और धीर वनने के लिए मांसाहार की कोई आवश्यकता नहीं है। मांस खाने से मांस भले ही वढ़ जाता हो, किन्तु वल और शौर्य नहीं वढ़ता। अनेक फलाहारी पुरुषों के उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं जो वड़े शरवीर और योद्धा हुए हैं और आज भी मौजूद हैं। जैसे कि—

(क) प्रोफैसर राममूर्त्ति के नाम से कौन अपरिचित है ? वह चलती हुई मोटरों को अपने हाथों से रोक लेता था। हाथी को अपनी छाती पर खड़ा कर लेता था। लोहे की मोटी जंजीर को तड़ाक से तोड़ देता था। इतना वलशाली होने पर भी राममूर्त्ति ने कभी मांस नहीं खाया।

(ख) वीर तथा वली मरहठे मांसाहारी नहीं थे

(ग) राजा विक्रमादित्य और सम्राट् अशोक की वीरता, वुद्धिमत्ता और साहसिकता आज तक प्रसिद्ध है। वे मांसाहारी नहीं थे।

(घ) श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, वावा नानक, अरस्तू, सुकरात, मिस्टर एडीसन, सरवर्नार्ड शा, जनरल वोथा, ब्रिगेडियर उस्मान, महात्मा गांधी आदि वड़े-वड़े योद्धा और महात्मा फलाहारी ही थे—मांसाहारी नहीं।

(ङ) संसार में अनेक पशु ऐसे है जो वहुत वलवान है, किन्तु मांसाहरी नहीं हैं, जैसे वैल, हाथी, गैंड़ा आदि।

(५) कोई-कोई यह युक्ति देते है कि सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि वलवान् जन्तु निर्वल को खा जाता है। जैसे मच्छर को मक्खी खा जाती है, मक्खी को मेंढक खा जाता है, मेंडक का सर्प खा जाता है, और सर्प को न्योला खा जाता है। छोटी मछली को वड़ी मछली खा जाती है। ऐसी स्थिति में, मनुष्य सव प्राणियों मे वलवान् होने के कारण दूसरे सभी प्राणियों को खाने का अधिकारी है। कहा भी है—

जीवो जीवस्य जीवनम्।

अर्थात्—एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर अवलंवित है। इस

युक्ति से मांसाहार का समर्थन करना अज्ञानपूर्ण है। मनुष्य बुद्धि और विवेक से विभूषित प्राणी है। पशु-पक्षी और कीट-पतंग बुद्धिहीन है। अतएव मनुष्य को पशु-पक्षी आदि का अनुकरण न कर के अपने निर्मल विवेक का ही अनुसरण करना चाहिए। पशुओं में प्रचलित ढंग यदि मनुष्य-समाज मे भी प्रचिलत हो पड़ा तो प्रत्येक सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य की हत्या करने पर उतारू हो जाएगा। ऐसी भयंकर दशा मे सृष्टि का क्रम भी गड़बड़ मे पड़ जाएगा। अतएव मनुष्य को मनुष्य बन कर ही रहना चाहिए, पशु बन कर नहीं।

जीवो जीवस्य जीवनम्, का तो अर्थ ही उलटा समझा जा रहा है। उस का सही आशय यह है कि प्रत्येक जीव, दूसरे जीव के जीवन का सहायक होना चाहिए, विघातक नहीं। इसी अभिप्राय से जीव को जीव का जीवन, कहा है; यह नहीं कहा कि जीव जीव की मृत्यु है।

६—कई सज्जनों का कहना है कि मांसाहारी मनुष्य बड़े साहसी और बलवान् होते है, जैसे यूरोपियन लोग और पठान लोग। वीरता और शौर्य अन्य वस्तु है तथा अत्याचारी और निर्दय होना अन्य बात है।

गत दोनों महायुद्धो मे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मांसाहारी सैनिकों ने भीरुता दिखलाई। वे अल्प श्रम करते ही थक जाते थे और उन का श्वास फूलने लगता था। निरामिषभोजियो की दशा उन से विपरीत थी। अतएव यह निरा भ्रम है कि मांसाहारी अधिक वीर और साहसी होते हैं।

७—यह शका भी उठाई जाती है कि जब झाड़ू लगाने और गंदी मोरियों की शुद्धि करने में सहस्रों जीव मारे जाते है तो मांस-प्राप्ति के लिए जीवहत्या करने में क्या दोष है? किन्तु यह तर्क अबोध बालकों का सा है। विचारवान् पुरुष तो जानता है कि किसी भी कार्य का शुभ या अशुभ फल भावना के अनुसार मिलता है। एक जीव को हम इरादा कर के मारे, अपनी जीभ की लोलुपता के वशीभूत हो कर मारे, अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए मारे और दूसरे की हिंसा विवशता से या अनजान में हो जाय, तो दोनों मे पूर्व-पश्चिम का सा

अन्तर है। इस के अतिरिक्त यह कोई संगत युक्ति भी नहीं कि हम जीवन में किसी बुराई से पूरी तरह नहीं बच सकते, अतः उस बुराई को जान बूझ कर करें !

८—लोग यह तर्क उपस्थित करते है कि हम गाय भैंस का दूध निकालते समय उन्हें अमुक स्थान पर खड़ा कर देते हैं और थनों को दबा-दबा कर उन्हे पीड़ा पहुँचाते हैं। इसी प्रकार घोड़ा और ऊंट आदि पर सवारी कर के उन्हें कष्ट देते हैं। प्राणी की हत्या करना भी एक प्रकार का कष्ट देना ही है। अतएव उस में कोई पाप नहीं कहा जा सकता।

यह तर्क मूर्खतापूर्ण है। सेवा लेना और प्राण लेना एक ही बात कैसे हो सकती है ? माता-पिता अपनी सन्तान से, स्वामी अपने सेवक से, गुरु अपने शिष्यों से सेवा लेते है, क्या इस का अर्थ यह है कि वे उन पर अत्याचार करते हैं, संसार के प्राणियों का एक दूसरे की सहायता से ही काम चलता है। पशुओं की सेवा और पालन-पोषण करने के बदले उन से जो सेवा ली जाती है, उस की तुलना हत्या के साथ करना नितान्त अनुचित है।

६—कुछ लोग कहते है-कस्तूरी, मधु और रेशम की प्राप्ति के लिए अनेक जीवों का वध किया जाता है, तब मांस के लिए ही जीवहत्या करना क्यों पाप है ? इस प्रश्न का समाधान यह नहीं कि एक हिंसाजनित वस्तु का उपयोग किया जाता है, अतः दूसरी हिंसाजनित वस्तु का उपयोग करना भी अवश्य धम मान लिया जाय।

इस के सिवाय हमे बताया जाता है कि बहुमूल्य कस्तूरी वही होती है जिसे मृग अपनी नाभि को पत्थर पर रगड़ कर स्वयं बाहर फैंकते हैं। जो कस्तूरी वध कर के प्राप्त की जाती है, उस में रक्त आदि सम्मिलित हो जाने से वह उत्तम नहीं रहती है, इस से प्रतीत होता है कि कस्तूरी किसी पशु को कष्ट दिये या मारे बिना भी प्राप्त हो सकती है, किन्तु निर्दय पापी लोभ प्रकृति की सीमा को पार कर के वृथा ही पशुओ के प्राण लेते है।

मधुप्राप्ति के लिए भी जीवहत्या अनिवार्य नहीं है। जो विचारवान् लोग मधु-मक्षिकाएं स्वयं पालते हैं, वे उन के छत्ते मे एक

नली लगा कर बड़ी सावधानी से मधु ले लेते है और किसी भी मक्षिका का हनन नहीं होने देते, क्योंकि उन्हीं मक्षिकाओं से ही मधु प्राप्त करना होता है। वे उन का हनन करेंगे तो फिर मधु कैसे प्राप्त कर सकेंगे? मधुमक्षिकाओं की हत्या कर के मधु लेना दुष्ट और अज्ञानियों का काम है।

यही बात रेशम के सम्बन्ध में है। जो रेशम जीववध के द्वारा तैयार होता है उस का उपयोग करना सर्वथा अयोग्य है, किन्तु रेशम जीववध के बिना भी तैयार होता है। जो प्राणियों की हत्या कर के रेशम बनाते हैं वे घोर पाप के भागी होते हैं और ऐसे रेशम का उपभोग करने वाले भी पाप से नहीं बच सकते। अतएव इस घोर पाप से बचने की इच्छा रखने वालों को रेशम का उपयोग नहीं करना चाहिए।

१०—कई भाई कहते है—पशुवध से कई लाभ हैं। उन का मांस खाने के काम आ जाता है, चमड़ा जूता आदि बनाने के काम आ जाता है और चर्बी आदि दूसरे काम आ जाती है। किन्तु यह तो वही बात हुई कि किसी ने आम का वृक्ष लगाया हो और उस से प्रतिवर्ष पचास-साठ मन आम लेता हो, किन्तु इस से सन्तुष्ट न हो कर वह सींचे-फले हुए आम के इस वृक्ष को मूल ही से काट लूं जिस से फल तो प्राप्त हो ही जाएंगे, साथ ही उस का काष्ठ भी काम आ जाएगा। ऐसे मूर्ख को यह विचार नहीं कि भविष्य में फलों से ही वंचित होना पड़ेगा। यही बात चमड़े आदि के लिये पशुवध का विचार करने वालों पर भी लागू होती है।

## शास्त्रीय दृष्टिकोण से मांसाहार

कई लोगों का कथन है कि अनेक धर्मशास्त्रों में मांसाहार का विधान है। उन का कथन भ्रमपूर्ण है। जिस में मांसाहार का विधान हो, वह शास्त्र ही नहीं कहला सकता। शास्त्र तो वह है जो मनुष्य को कुमार्ग पर जाने से रोकता है। वह शास्त्र ही कैसा जो मनुष्य को मांसभक्षण जैसी गंभीर बुराई की ओर आकर्षित करे।

जैनशास्त्रों के सम्बन्ध में तो इस प्रकार शंका हो ही नहीं सकती, क्योंकि जैनधर्म की नींव ही अहिंसा पर है। किसी जीव की हत्या करना तो दूर रहा, वह तो किसी का अनिष्ट-चिन्तन करना भी पाप समझता है। जैनशास्त्रों में नरकगति के चार कारण बतलाये है-(१) महा आरम्भ-हिंसा (२) महापरिग्रह-लोभ-लालच (३) पंचेन्द्रिय प्राणी का वध और (४) मांसाहार। जैनशास्त्र का कथन है—

सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पिय-वहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीवियं पियं।

(आचारांगसूत्र, अ०-२, उ०-३. सू०-८१)

अर्थात्-सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं। सभी दुःख से द्वेष करते है। सब को वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय लगता है। सब दीर्घायु चाहते हैं, सब को अपना-अपना जीवन प्यारा है।

सव्वे अक्कान्तदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।

(सूत्रकृतांग अ-१, उ०-४, गा०-६)

अर्थात्-सब प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है, अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

जैनशास्त्र तो इस प्रकार की शिक्षाओं से भरपूर हैं ही, किन्तु अन्य मतों के धर्मशास्त्र भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। कुछ प्रमाण लीजिए—

नकिर्देवा मिनीमसी न किरा योपयामसि।

(ऋग्वेद, १-१३४-७)

अर्थात-हम न किसी को मारे और न धोखा दें।

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।

(ऋग्वेद, ७-३२-२१)

अर्थात्-हिंसक को धन नहीं मिलता।

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञाश्च भारत !
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

अर्थात् प्राणियों की दया जो फल देती है, वह चारों वेद भी नहीं दे सकते, समस्त यज्ञ भी नहीं दे सकते और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते। और भी कहा है—

अहिंसालक्षणो धर्मो, ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः, कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥

अर्थात्—अहिंसा धर्म और प्राणियों का वध अधर्म है। अतएव धार्मिक पुरुषों को सदा दया ही करनी चाहिए।

मनुस्मृति के पाचवें अध्याय में लिखा है—

यो हिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव, न क्वचित् सुखमेधते ॥

अर्थात्—जो अहिंसक जीवों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह मनुष्य जीता हुआ भी मरे के समान है, क्योंकि उस को कहीं सुख नहीं मिल पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान् , प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः, सुखमत्यन्तमश्नुते ॥

(मनु०अ०५,श्लो० ५२)

अर्थात्—जो मनुष्य प्राणियों के वध, बन्धन और क्लेश उत्पन्न करने की इच्छा नहीं करता, वह सब का शुभेच्छु अत्यन्त सुख पाता है।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन, यो यजेत् शम समाः ।
मांसानि च न खादेत्, यस्तयोः पुण्यफल समम् ॥

(मनु०अ० ५, श्लो०५३)

अर्थात्—एक मनुष्य प्रतिवर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करे और दूसरा मनुष्य बिलकुल मांसभक्षण न करे, तो उन दोनों का फल

समान है। पुराणों में भी हिंसा का स्थान स्थान पर निषेध किया गया है। जैसे—

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढ़मानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

अर्थात्—प्राणियो का घात कर के जो मूर्ख धर्म उपार्जन करने की इच्छा करता है, वह काले साँप के मुख से अमृत की वर्षा की इच्छा करता है।

एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥

अर्थात्—एक तरफ सुवर्णमय सुमेरु और बहुत से रत्नों से परिपूर्ण पृथ्वी का दान तथा दूसरी तरफ भयग्रस्त प्राणी के प्राणों की रक्षा करना दोनों का फल समान है।

महाभारत में और भी कहा है—

अधृष्या सर्वभूतानामायुष्मान्नोरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान्प्राणिनामिह ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो, विशिष्ट इति नः श्रुतिः ॥

अर्थात् जो लोग मांसभक्षण न कर के प्राणियों के विषय में दयावान् होते हैं वे सब के माननीय, आयुष्मान् और रोग से रहित होते हैं। हमारी यह श्रुति है कि सोने का दान, गायों के दान की अपेक्षा मांसभक्षण का त्याग करने से विशिष्ट धर्म होता है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥

अर्थात्—अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम दम है। अहिंसा परम दान है, अहिंस परम तप है, अहिंसा ही परम यज्ञ है और अहिंसा ही यज्ञ का फल है।

अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है । इस के अतिरिक्त और भी देखिए—

> सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
> सर्वदानफलं वाऽपि, नैततुल्यमहिंसया ॥
> अहिंस्रस्य तपोऽक्षयमहिंस्रो यजते सदा ।
> अहिंस्रः सर्वभूतानां, यथा माता तथा पिता ॥
> एतत्फलमहिंसाया, भूयश्च कुरुपुङ्गव !
> न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥

अर्थात्—समस्त यज्ञों मे दान देना, सब तीर्थों की यात्रा करना और समस्त दान देना भी अहिंसा के आचरण की बराबरी नहीं कर सकता ।

अहिंसक का तप अक्षय है, अहिंसक सदैव यज्ञ करता रहता है, अहिंसक समस्त भूतों का माता-पिता है । हे कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा का फल इतना महान् है कि लगातार सौ वर्षों तक कहने पर भी पूरा नहीं कहा जा सकता ।

वैदिक धर्म के ग्रंथों के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक धर्म के ग्रंथकार अहिंसा और मांसभक्षण न करने पर कितना अधिक बल देते है । अब भारत के तीसरे प्रधान धर्म बौद्धधर्म की ओर दृष्टि दौड़ाइए । वहाँ कहा है—

> इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
> तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

अर्थात् इस भव से एकानवे भव पहले मैंने बलपूर्वक एक पुरुष की हत्या की थी । उस से उत्पन्न हुए पाप कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में यह कांटा चुभा है ।

इस कथन से प्रकट है कि जीवहत्या का पाप जन्म जन्मान्तरों तक अपना अशुभ फल देता है ।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में लिखा है—'जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते है, उन के शरीर

और वीर्य आदि धातु भी दुर्गन्ध आदि से दूषित हो जाते हैं। भेड़, बकरी, घोड़े, गाय आदि उपकारी पशुओं को मारने वाले को सब मनुष्यों की हत्या करने वाला जानिएगा।

कबीर जी ने जीवहत्या और मांसभक्षण का अत्यन्त निषेध किया है। उन्होंने लिखा है—

तिल भर मछली खाय के, करोड़ गऊ करे दान।
काशी करवत ले मरें, तो भी नरक निदान॥
मुसलमान मारे करद से, हिन्दू मारे तलवार।
कहे कबीर दोनों मिली, जायें यम के द्वार॥

सिक्ख शास्त्रों में भी मांसभक्षण के विरुद्ध कई प्रमाण मिलते हैं। जैसे—

जे रत्त लागे कापड़े, जामा होय पलीत।
जो रत्त पीवें मानुषा, तिन क्यों निर्मल चीत॥

अर्थात्—हमारे वस्त्र को यदि रक्त का स्पर्श हो जाय तो उसे अपवित्र मानते हैं, किन्तु जो मनुष्य रक्त का सेवन करते हैं, उन का चित्त निर्मल कैसे रह सकता है?

ग्रन्थसाहब में और भी प्रमाण मिलते हैं। जैसे कि—

भंग मछली सुरापान, जो जो प्राणी खाये।
धर्म नियम जितने किये, सभी रसातल जाये॥
इन झटका उन बिसमिल कीन्हीं, दया दुहूँ ते भागी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो! आग दोहां घर लागी॥
सुच्चम कर के चौका पाया, जीव मार के चढ़ाया मांस।
जिस रसोई चढ़ाया मांस, दया धर्म का होया नास॥

हो सकता है कि मुसलमान और ईसाई लोगों की धर्मपुस्तकों में मांसभक्षण का अधिक विरोध न किया गया हो, किन्तु उन के धर्म-ग्रन्थों में भी जीवदया की सराहना की गई है। शेख सादी कहते हैं—

(१) एक बार शेख शिवली एक बनिये की दुकान से आटा मोल लेकर घर गये। उन्होने देखा कि आटे के अन्दर एक कीड़ी बडी व्याकुलता से चारों ओर दौड़ रही है। उन्हांने रात को सोना हराम समझा। उसी समय उस बनिये की दुकान पर जाकर उन्हों ने उस कीड़ी को छोड़ दिया और कहा मेरे कारण इस बेचारी चिउंटी का घर नहीं छूटना चाहिए।

(२) हजरत मुहम्मद का कथन है कि थोडा सा भी रहम अर्थात दया बहुत सी भक्ति से उत्तमतर है।

(३) कुरान के सूरत मायदा, मांजिल २ आयत ३ मे लिखा है— ऐ ईमान वालो! जब तुम भक्ति करते हो तो शिकार मत करो।

४—कुरान के पारा १७, सुरत हज्ज, रुक ५, आयत ३८ मे लिखा है कि खुदा को पशुओं का मांस और खून कदापि न पहुंचेगा, बल्कि तुम्हारी परहेजगरी पहुंचेगी।

५—हजरत मुहम्मद का कथन है कि जहां पशु मरते हो वहा नमाज पढ़ने का निषेध है।

६ - मुसलमानों को आज्ञा है कि जिस दिन से हज्ज करने का विचार बने उस दिन से ले कर मक्का मे पहुंचने तक किसी जीव की हत्या न करो। यहां तक कि जूं को भी दूर हटा दो, मारो मत।

ईसाई धर्म की मान्य पुस्तक इंजील में निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं—

१—Thou shalt not kill. (मति अ० १७, आ० १८)

अर्थात्—तू किसी जीव का घात मत कर।

२—धन्य हैं वे पुरुप जो दयायुक्त हैं, क्योंकि उन पर दया की जायगी।

(मति अ० ५, आयत ७)

३—यदि तुम इस का अर्थ समझते हो कि मैं कुर्बानी नहीं, वरन् दया को अच्छा समझता हूँ, तो निरपराध जीवों पर अत्याचार न करो।

(मति अ० १२, आयत ७)

व्याख्यान में उद्धरणों का अंश काफी बड़ा हो गया है, किन्तु इन से एक बात स्पष्ट हो जायगी कि संसार में कोई ऐसा धर्म या मत नहीं है, जिस के पवित्र ग्रन्थों में दयाधर्म की शिक्षा न दी गई हो और जीवघात का निषेध न किया गया हो। एक फारसी के कवि कहते हैं—

हज़ार गंजे कनाअत, हज़ार गंजे करम।
हजार इताअत शबहा, हज़ार बेदारी॥
हजार सिजदा व हर सिजदा रा हजार नमाज।
कबूल नेस्त, गर खातरे बयाजारी॥

अर्थात्—चाहे मनुष्य धैर्य में उच्च श्रेणी का हो, हज़ार खजाने प्रतिदिन दान करता हो, हजारा रातें केवल भक्ति मे व्यतीत करता हो, हज़ारों सिजदे (नमस्कार) करे और एक-एक सिजदे के साथ हजार-हज़ार नमाज पढ़े, तो यह सब पुण्य-क्रियाएं व्यर्थ ही होंगी; यदि वह पुरुष किसी को कष्ट देने वाला होगा।

# अंडा सजीव है

कई लोगों की यह मान्यता है कि अंडे में जीव नहीं होता, अतएव उस का सेवन करने में कोई पाप नहीं है। यह उन लोगों का भ्रम है। यदि उन का यह कथन इस आधार पर है कि जब अंडे को तोड़ा जाता है, तब उस में से गति करने वाला जीव नहीं निकलना; तो यह बात तो मनुष्य के आदि काल की गर्भावस्था पर भी लागू होती है। तीन-चार मास का गर्भपात हो जाय तो एक लोथड़ा-सा ही निकलता है। उस में भी गति नहीं होती। फिर भी ऐसे गतिहीन गर्भ का पात करना भी कानून की दृष्टि से दण्डनीय है। इस दण्ड का कारण यही है कि कुछ काल के पश्चात् उस गर्भ मे गति आ जाने वाली थी। इसी प्रकार अण्डे के अन्दर भी गतिशील जीव का बन जाना अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि अण्डे में जीव नहीं होता, एक बड़ी भूल है।

कई लोग यह कह कर अपना मन बहला लेते हैं कि बहुत से अण्डे गंदे निकल जाते हैं; अतएव निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा

सकता कि अण्डे से अवश्य ही जीव की उत्पत्ति होगी मगर विचारशील व्यक्ति जानते हैं कि यह कथन सारहीन है। प्रथम तो अण्डा खाने वाले गंदा अण्डा खाते ही नहीं हैं। वे ऐसा ही अण्डा खाते हैं जो स्वस्थ हो। दूसरे, अण्डे को तोड़े विना उस की स्वस्थता या अस्वस्थता का पता लगना भी कठिन है। तीसरे मानवजाति के गर्भ की अवस्था में भी कई गर्भ स्वयमेव गिर जाते हैं, किन्तु उन्हें स्वतः गिरने से पूर्व ही यदि गिरा दिया जाये तो वह मनुष्यहत्या समझी जाती है और उस के लिए भी दण्ड का विधान है, अतएव इस प्रकार के मन-बहलावे में कोई तथ्य नहीं है।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि सूक्ष्म पदार्थों का निरीक्षण करने वाले यंत्र से अंडे के अन्दर के पदार्थ का निरीक्षण किया जाय तो उस में जीव की सत्ता का अनुभव होता है।

कई पश्चिमी डाक्टरों की सम्मति है कि अण्डा सेवन करने योग्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह रक्त में उष्णता और पेट में तेजाबी माद्दा उत्पन्न करता है। इस रूप में अण्डा हानिकारक है।

वस्तुतः अण्डा सजीव है और उस की सजीवता में किसी प्रकार की शंका को कोई स्थान नहीं है। किन्तु चटोरे लोग यद्वा तद्वा युक्तियां दे कर दूसरों को धोखे में डालना चाहते हैं। वे दूसरों को धोखा दे सकें या नहीं, किन्तु अपनी आत्मा को अवश्य धोखा देते हैं।

ऐसे ही कई लोग मछली को भी वनस्पति कह कर खा जाते हैं और उस के खाने में धर्मविरोध नहीं समझते। यह भी जिह्वालोलुपता का ही प्रताप है। एक से एक उत्तम वनस्पतियों की विद्यमानता में भी मनुष्य दुर्गन्धित मछली आदि का कुत्सित आहार करता है और घोर पाप का उपार्जन करता है, यह मनुष्य की विवेकबुद्धि का दीवाला नहीं तो क्या है? आह, अपने ही समान चेतना से सम्पन्न किसी प्राणी को खा जाना कितनी क्रूरता है? मानवीय सभ्यता का यह बड़े से बड़ा कलंक है। मनुष्य के विवेक की शोभा मांसभक्षण का त्याग करने में ही है।

— - o —

# क्या ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है?

यह विशाल सृष्टि, जो हमारे सामने फैली हुई है और हम स्वयं जिस के एक छोटे से अंग हैं, कहां से आई है? यह किसी कुशल कारीगर की कृति है अथवा अनादि काल से ऐसी की ऐसी ही चली आ रही है? यदि किसी कुशल कारीगर की कृति है तो वह कारीगर, जिसे लोग ईश्वर कहते है, स्वयं ही इस सृष्टि-समष्टि का एक अंग है। फिर वह कहाँ से आया?

इस प्रकार के अनेक प्रश्न मनुष्य के मस्तिष्क में आया करते हैं। आज भी उत्पन्न होते हैं और हजारों वर्ष पहले भी उत्पन्न हुआ करते थे। विचारक विद्वानों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है किन्तु दुर्भाग्य से वे किसी एक परिणाम पर नहीं पहुँच सके। अतएव हजारों वर्ष पहले की भाँति आज भी यह प्रश्न ज्यों के त्यों खड़े हैं। पहले तो वैज्ञानिकों ने स्वतन्त्र रूप से विचार किया। किन्तु बाद में उन के विचारों के सम्प्रदाय बन गये और लोगों मे कुछ ऐसा कदाग्रह उत्पन्न हो गया कि वे स्वतंत्ररूप से एक निष्पक्ष भाव से विचार करने की अपने पूर्वजों की प्रणाली का परित्याग करके उन के ही विचारों से चिपट गये। फल यह हुआ कि सृष्टिरचना का लोगों ने धार्मिक स्वरूप प्रदान कर दिया और आज तक उस का वही स्वरूप चला आ रहा है।

सृष्टि के मूल स्वरूप पर विचार किया जाय तो दो असली तत्त्व दिखाई देंगे। जीव और अजीव। इन में से जीव अजर, अमर और अविनाशी तत्त्व है। न उस का कभी विनाश होता है और न कभी उत्पाद ही। अतएव उस की रचना का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। रह गया अजीव तत्त्व, सो उस का भी मौलिक रूप में नाश या उत्पाद नहीं देखा जाता। लाख प्रयत्न कर के भी कोई किसी चेतन पदार्थ को जड़-शून्य नहीं बना सकता और शून्य से किसी सत् पदार्थ

की रचना नहीं कर सकता। हम जिसे उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वस्तु का रूपान्तर मात्र ही है। एक वस्तु अपने योग्य निमित्त पाकर एक अवस्था से ही दूसरी अवस्था ग्रहण करती रहती है। कुम्हार का निमित्त पाकर मिट्टी घट का रूप धारण करती है। कपास, रूई, सूत वस्त्र आदि के रूप में पलटता है। भोजन रस, रक्त आदि तथा मल, मूत्र आदि के रूप मे परिणत होता है। इन सभी वस्तुओं की विभिन्न अवस्थाओं मे मूल द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है।

यह प्रणाली प्रत्यक्षसिद्ध प्रणाली है। इस में शंका को लेश मात्र भी अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति में सृष्टिरचना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि सृष्टि अनादिकालीन है। उस का किसी कालविशेष मे उत्पाद होना सभव ही नहीं है। क्योंकि जब भी उस की रचना मानी जायगी तब उस से पहले उपादान कारण को भी स्वीकार करना होगा, बिना उपादान कारण कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सृष्टि का प्रारंभ मानना ही भ्रमपूर्ण है।

इस तरह विचार करने पर जगत का अनादित्व सिद्ध होता है, और जब जगत् अनादि है तो उस का कोई कर्त्ता नहीं हो सकता। फिर भी कई लोगों ने सृष्टि का रचा जाना माना है। सृष्टि का कर्त्ता मानने वाले कई पंथ हैं, जो परस्पर विरोधी मान्यताए प्रकट करते है। उन मान्यताओं का श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र मे उल्लेख किया गया है। संक्षेप मे वे मत इस प्रकार हैं —

(१) किसी किसी का कहना है कि यह लोक देव द्वारा निर्मित हुआ है।
(२) कोई कहते है यह संसार ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हुआ है।
(३) किसी की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने इस की रचना की है।
(४) कोई प्रकृति के द्वारा इस की रचना मानते है।
(५) मनु ऋषि स्वयंभू को लोक का कर्त्ता मानते हैं।
(६) कहीं कहीं अंडे से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है।

(७) किसी की मान्यता है कि ब्रह्मा ने तत्त्वों की रचना की है।

(८) कहीं उल्लेख है कि सृष्टिरचना से पूर्व स्वयंभू अकेला था, उस ने दूसरे की अभिलाषा की। यह अभिलाषा होते ही शक्ति की उत्पत्ति हो गई। तत्पश्चात यह जगत् बन गया। फिर यमराज भी पैदा हो गया।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में नाना लोग नाना प्रकार की कल्पनाएं करते है। प्रथम तो ये मान्यताएं परस्पर में विरोधी हैं और निराधार भी हैं, फिर विवेकपूर्वक तर्क करने से भी इन सब मान्यताओं की अवास्तविकता प्रकट हो जाती है। यहां संक्षेप में इसी सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

जो लोग देव द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह नहीं बता सकते कि वह देव पहले स्वयं उत्पन्न होता है और बाद में सृष्टिरचना करता है या अपनी उत्पत्ति के बिना ही जगत की रचना कर देता है। उपनिषद् कहते है —

असदेव इदमग्र आसीत्।

वह पहले असत् ही था। यदि यह मान्यता सत्य है तो वह सृष्टि की रचना किस प्रकार कर सकता है? जो व्यक्ति असत् है अर्थात् है ही नहीं, वह किसी की रचना कैसे कर सकता है? यदि कहा जाय कि पहले देव स्वयं उत्पन्न हुआ तो प्रश्न होता है कि उस की उत्पत्ति का कारण कौन था? किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना संभव नहीं है। अगर देव आप ही आप प्रकट हो गया तो उसी प्रकार सृष्टि भी आप ही आप क्यों नहीं प्रकट हो सकती? अगर उस देव की सृष्टि उत्पत्ति करने वाला कोई दूसरा कर्त्ता था तो उस कर्त्ता का भी कोई और कर्त्ता होना चाहिए। इस प्रकार सृष्टि की रचना की तो बात ही दूर रही, कर्त्ता की उत्पत्ति का ही क्रम समाप्त न होगा। और जब कर्त्ता की उत्पत्ति का ही क्रम समाप्त न होगा तो सृष्टि की उत्पत्ति का अवसर ही कैसे आएगा?

कर्त्तावादी कहते हैं कि देव अनादी है, अतएव उस की उत्पत्ति का प्रश्न ही निर्मूल है, किन्तु देव यदि अनादि है तो सृष्टि को भी

अनादि क्यों न माना जाय? जब देव अनादि माना जा सकता है तो सृष्टि को अनादि मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है?

इस के अतिरिक्त एक और शंका उपस्थित होती है कि देव यदि नित्य है तो उस से सृष्टि-रचना करने की शक्ति भी नित्य है या नहीं? यदि रचना करने की शक्ति नित्य नहीं है तब तो देव भी नित्य नहीं रहेगा, क्यों कि जिस की शक्ति अनित्य है वह पदार्थ भी अनित्य ही होना चाहिए। इस प्रकार देव की अनित्यता से बचने के लिए उस की शक्ति को अगर नित्य मान लिया जाय तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वह समस्त कार्यों को एक ही साथ कर डालता है या एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा-इस तरह क्रम से करता है? क्रम से कार्य करता है तो शंका होती है कि एक क्रिया करते समय दूसरी क्रिया करने मे वह समर्थ है या नहीं? यदि समर्थ है तो सब क्रियाएं एक ही समय क्यों नहीं कर डालता? और यदि एक क्रिया के समय दूसरी क्रिया करने मे देव को असमर्थ माना जाय तो न वह नित्य ही ठहरेगा और न सर्वशक्तिमान् ही। कभी असमर्थ होना और कभी समर्थ हो जाना अनित्यता का लक्षण है। नित्य पदार्थ तो सदैव एक-सा रहता है। वह जिस कार्य में समर्थ है उस मे समर्थ ही रहेगा और जिस मे असमर्थ है उस मे सदैव असमर्थ ही रहेगा।

यदि यह मान लिया जाय कि वह देव समस्त क्रियाएं एक साथ कर डालता है तो सभी क्रियाएं एक ही क्षण में समाप्त हो जाएंगी। तत्पश्चात् वह देव क्या करेगा? क्या वह निकम्मा रहेगा? उस की क्रियाशक्ति स्थगित रहेगी?

कर्त्तावादी कहते है—देव सदैव सब कार्य करने मे समर्थ होता है, किन्तु जब जिस कार्य के सहकारी कारण मिलते हैं, तब उसे करता है और जब सहकारी कारण नहीं मिलते, तब नही करता है। इस कारण देव की कर्तृत्व शक्ति नित्य होने पर भी कार्य क्रमशः होते है। किन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि सहकारी कारणों के होने पर कार्य होता है और उन के विना नहीं होता तो फिर उस मे देव का कर्तृत्व ही क्या रहा? फिर तो उन कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति

माननी चाहिए। बीच में देव को डालने की आवश्यकता ही क्या है?

इस के अनन्तर प्रश्न होता है कि वह देव शरीरधरी है या शरीररहित है? यदि उसे अशरीरी माना जाय तो वह आकाश के समान अमूर्त्त होगा और अमूर्त्त होने के कारण कर्त्ता नहीं ठहर सके ।।। कर्त्ता तो शरीरधारी ही देखा जाता है। देव को अगर शरीरधारी मान लिया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस का शरीर दृश्य है या अदृश्य है? यदि दृश्य है तो दिखाई क्यों नहीं देता? इस के अतिरिक्त शरीरसहित सर्वव्यापी मानने से सारा संसार उस के शरीर से ही व्याप्त हो जाएगा। तो उस के द्वारा बनाये जाने वाले पदार्थ कहां ठहरेंगे? अगर वह सर्वव्यापी न हो कर किसी नियत स्थान पर ही रहता है तो इस विशाल विश्व का निर्माण कैसे कर सकेगा?

देव के शरीर को अदृश्य मान लिया जाए तो उसे अदृश्य रखने में क्या रहस्य है? इस के अतिरिक्त उस अदृश्य शरीर की सत्ता में प्रमाण क्या है? कहा जाय कि हमारे अन्दर देव-शरीर को देखने की क्षमता नहीं है तो इस बात का निर्णय कौन कर सकता है कि हम उस के शरीर को देखने में असमर्थ है या उस शरीर की स्थिति ही नहीं है?

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने पर देव सृष्टि का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध मे और भी बाते कही जा सकती है। देव यदि सृष्टि का कारण है तो उपादान कारण है या निमित्त कारण है? यदि उपादान कारण है तब तो यह सृष्टि देवमय ही हो जायगी। दूसरे शब्दों मे कहना चाहिए कि देव सृष्टि है और सृष्टि ही देव है; क्योंकि उपादान कारण कार्य से भिन्न नहीं होता, जैसे मृत्तिका से भिन्न घट नहीं होता। ऐसा मान लेने पर अद्वैतवाद आ जायगा, जो कर्त्तावादियों को इष्ट नहीं है।

देव को यदि निमित्तकारण मान लिया जाय तो वह केवल श्रमी अथवा मजदूर ही ठहरेगा। श्रम किसी उद्देश्य या प्रयोजन से किया जाता है। देव का सृष्टिरचना में क्या प्रयोजन है? और यदि वह सृष्टिरचना न करे तो उस की हानि क्या है? कहा जाय कि सृष्टिरचना

करना ईश्वर का स्वभाव है तो ईश्वर निष्प्रयोजन क्रिया के स्वभाव वाला सिद्ध होगा और ऐसा स्वभाव बुद्धिमानों का नहीं होता।

कदाचित् यह कहा जाय कि करुणाभाव से प्रेरित हो कर देव सृष्टि की रचना करता है तो करुणा तो दुःखी जीवों पर की जाती है। किन्तु सृष्टि रचने से पहले जीवों के न शरीर थे, न इन्द्रियां थीं और न इन्द्रियों के विषय ही थे। फिर उन जीवों को दुःख ही क्या था? ऐसी स्थिति में किस दुःख का प्रतीकार करने के लिए उस ने सृष्टि रची?

यह भी कहा जाता है कि ईश्वर राजा के सदृश है। जैसे एक राजा अपनी प्रजा के शुभ-अशुभ कर्मों का फल देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों को उन के कर्मों का फल देता है। इस सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य यह है कि जब ईश्वर दयालु, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है तो वह जीवों को अशुभ कर्म करने ही क्यों देता है? उस के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी लोग मन्द कर्म करते हैं। सर्वज्ञ होने के कारण वह सभी कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने के कारण उस में रोक देने की क्षमता भी है। किन्तु पहले तो दुष्कृत्य करने से रोकता नहीं, और फिर जीवों को दण्ड देता है। तब उसे दयालु कैसे माना जाय? ईश्वर के लिए उचित है कि वह जीवों को खोटे कर्म करने से रोक दे; अन्यथा उस की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और दयालुता मनःकल्पित ही ठहरती है। कोई भी विवेकवान् पिता जान बूझ कर अपनी सन्तान को कूएं में नहीं गिरने देता। फिर परमपिता कहलाने वाला ईश्वर ऐसा क्यों करता है?

कदाचित् यह कहा जाय कि जीव ईश्वर के आदेश का उल्लंघन कर के मनमानी क्रियाएं करता है, तो ईश्वर की अपेक्षा जीव अधिक शक्तिशाली ठहरता है।

कर्त्तावादी कहते हैं कि देव सदैव जीवों का भला चाहता है और किसी को दुःखी नहीं देखना चाहता। यदि यह कथन सत्य है तो वह जीवों को कुमार्ग पर चलने से दूर क्यों नहीं रखता? जब वह जानता हुआ भी और रोक देने की क्षमता रखता हुआ भी प्राणिओं को नीच कर्म करने देता है तो या तो वह जीवों की भलाई का इच्छुक

नहीं, या वह इतना निर्बल है कि जीव उस के शासन की परवाह नहीं करते, या वह इतना अल्पज्ञ है कि उसे जीवों के भले-बुरे कर्म करने की सूझ ही नहीं पड़ती!

इस सम्बन्ध में एक बात और है। ईश्वर सब को सुखी और नीरोगी देखने का अभिलाषी है, दयालु है और इच्छानुसार कार्य करने में समर्थ भी है, तो फिर संसार के प्राणी नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त, संतापों से संतप्त और दुःखो से युक्त क्यों है? यदि कहा जाय कि रोग, शोक और दुःख जीवों के अपने-अपने कर्मों के फल हैं; तो स्वर्ग-नरक, दुःख-सुख आदि फल देने वाले जीव के कर्म ही ठहरते है। फिर ईश्वर की सत्ता व्यर्थ है।

ईश्वर को कर्त्ता समझने वाले कहते हैं कि वह सब का पिता है और सब पर दया करता है। किन्तु संसार मे हम देखते हैं कि एक अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला मनुष्य भी पिता के रूप में अपने एक पुत्र को दूसरे पुत्र पर अत्याचार करते नहीं देख सकता। वह अपने निर्बल पुत्र की सब प्रकार से सहायता करता है। मगर परमपिता कहलाने वाला ईश्वर इतना भी नहीं करता। संसार में एक जीव दूसरे को लूट रहा है, एक प्राणी दूसरे प्राणी का भक्षण कर रहा है, किन्तु ईश्वर उन अत्याचारियों को न रोकता है और न निर्बलों की रक्षा ही करता है, ऐसी स्थिति मे वह ईश्वर या तो सब का दयालु पिता नहीं कहा जा सकता; या फिर इतना शक्तिशाली नहीं कि निर्बलों की सहायता कर सके।

जब ईश्वर अपराधी जीवों को दण्ड देने का सामर्थ्य रखता है तो उन्हें दण्डनीय कर्मों से पहले ही क्यो नहीं रोक देता? हम देखते है कि लाखों की संख्या में पशु-पक्षी प्रतिदिन वध किये जाते है, मगर वह परम दयालु कहलाने वाला ईश्वर इस घोरतम अत्याचार को नहीं रोकता।

कोई कहते हैं—ईश्वर कर तो सभी कुछ सकता है, किन्तु उस ने जीवों को कर्म करने में स्वतन्त्र बनाया है। ऐसा मानने मे एक बड़ी आपत्ति यह है कि ईश्वर ने प्रथम तो कार्य करने की जीवों को स्वतन्त्रता दे दी है, और फिर उसी स्वतंत्रता के आधार पर किये हुए कर्मों का

दण्ड देता है। यह कितनी अनुचित बात है! संसार में कोई भी राजा अपनी प्रजा को स्वतंत्र रूप से मनमानी क्रियाएं करने की स्वाधीनता नहीं देता, और इसी कारण उसे दण्डनीय कार्यों के लिए दंड देने का अधिकार होता है, लेकिन ईश्वर, जो सब प्रकार की बुद्धिमत्ता का स्रोत कहलाता है, इस प्रकार की गड़बड़ पैदा करने वाली और अत्याचार का प्रसार करने वाली और साथ ही जीवों को दुःखों के पाश में फंसाने वाली स्वतन्त्रता दे कर क्यों अव्यवस्था फैलाता है?

हम देखते हैं कि अग्नि का स्वभाव जलना और दूसरे पदार्थों को भस्म करना है। उस स्वभाव को न किसी ने बदला और न कोई बदल सकता है। यही बात अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसी भी तत्त्व का स्वभाव बदला नहीं जा सकता। और यही तत्त्व अपने अपने स्वभाव के अनुसार सृष्टि की क्रिया चला रहे हैं। इस से ईश्वर की स्थिति निरर्थक बन जाती है। जब ईश्वर विभिन्न पदार्थों के स्वभाव को और सृष्टि के विभिन्न नियमों को नहीं पलट सकता और सभी क्रियाएं एक विशेष क्रम से चल रही हैं तो उन पर शासन करने वाले ईश्वर की आवश्यकता ही कहां रह जाती है?

कहा जाता है कि दुष्ट कर्म करने वाला जीव अपनी इच्छा से, अपने दुष्कर्म का फल भोगने को तैयार नहीं होता। अतएव किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता है। वह सत्ता दुष्कर्मों का दण्ड देती है। इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का कथन है कि प्रत्येक जीव अपनी भली और बुरी क्रियाओं का सुफल या कुफल निमित्तों से भोगता है। अर्थात् कर्मों में स्वयं ही फलीभूत होने की शक्ति है। जैसे—एक मनुष्य अगर हथेली पर दहकता हुआ अंगार रख लेता है तो अग्नि स्वयमेव ही अपने स्वभाव के अनुसार, निमित्त पा कर, हथेली को जला देती है। हथेली जलाने के लिए ईश्वर को भाग कर आने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार विभिन्न कर्मों का फल भुगतने के लिए किसी दूसरी शक्ति की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। मदिरापान करने वाला आप ही मदोन्मत्त हो जाता है। विष-भक्षण करने वाला विष के प्रभाव से स्वयं प्राण-त्याग कर देता है। उसे मदोन्मत्त बनाने या मार डालने के

लिए ईश्वर की अवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार निमित्त पा कर दुष्कर्म स्वयं अपना-अपना फल दे देते हैं।'

कोई कोई यह तर्क उपस्थित करते हैं कि निर्जीव पदार्थों में स्वयमेव एकत्रित हो कर एक नवीन वस्तु का निर्माण करने की शक्ति नहीं है। अतएव उन को मिलाने वाली, जोड़ने वाली और परस्पर सम्बन्धित करने वाली परशक्ति की आवश्यकता है। यदि यह नियम सर्वदा और सर्वथा लागू समझा जाय तो प्रश्न हो सकता है कि नीले २ बादलों को कौन बनाता है ? वायु और तूफान किस की रचना है ? प्रातःकाल और सायंकाल आकाश में चित्र विचित्र वर्णों की घटाएं किस के द्वारा निर्मित होती हैं ? यह सब तो प्रकृति की क्रीड़ाएं है। इनके लिए ईश्वर की कल्पना करना बोधहीन भावुकता ही है ।

कइयों का कहना है कि सृष्टि की रचना शब्द से हुई है। ईश्वर ने कहा-**एकोऽहम् बहु स्याम्**।' अर्थात् मैं अकेला हूं, बहुत हो जाएं। इस मान्यता के सम्बन्ध में भी अनेक शंकाएं उपस्थित होती हैं, जिनका कोई सही सन्तोषजनक समाधान नहीं मिल सकता। पहली बात तो यह है कि आखिर शब्द भी एक तत्त्व है। जब ईश्वर अकेला ही था और सृष्टि बनी ही नहीं थी तो शब्द तत्त्व कहाँ से आ गया ? और ईश्वर ने किसे शब्द सुनाया ? अपने आपको शब्द सुनाने की आवश्यकता नहीं होती। अपने लिए तो संकल्प ही पर्याप्त है।

आर्यसमाज के धर्मग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय सहस्रों मनुष्य युवावस्था में अपने आप उत्पन्न हो गए ! किन्तु माता पिता के बिना गर्भज मनुष्यों की उत्पत्ति होना सृष्टि नियम के विरुद्ध है। और फिर बाल्यावस्था के बिना सीधी युवावस्था आजाना भी असंभव है। मनुष्य की तो बात दूर वृक्षों और वनस्पतियों आदि का भी बीज से ही जन्म होता है। इस प्रकार सृष्टिनियम के विरुद्ध मनुष्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। होती तो आज भी ईश्वर कहाँ चला गया है ? आज इसी प्रकार मानवोत्पत्ति क्यों नहीं होती ? कहा जाय कि यह सृष्टि ईश्वर की माया से हुई है

तो मायामय वस्तुएं तो झूठी होती है। उन वस्तुओ मायावी से यह सृष्टिप्रवाह कैसे चल सकता है ?

सृष्टिरचना मे सजीव और निर्जीव दोनो प्रकार के पदार्थों का का सृजन होता है। ईश्वर को चेतन माना गया है। अतएव ईश्वर द्वारा चेतन सत्ताओं का बनना तो समझ मे आ सकता है, किन्तु चेतन से जड पदार्थों की रचना किस प्रकार सभव हो सकती है ? यदि चेतन उपादान से अचेतन की ही उत्पत्ति हो सकती है तो चेतन और अचेतन मे कोई मौलिक अन्तर नहीं रह जाएगा ।

कहा जाता है कि परमात्मा ने परमाणुओ को एकत्रित करके सृष्टिरचना की, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि परमात्मा निराकार है। यहाँ विचारने की बात है कि निराकार सत्ता, परमाणुओ को किस प्रकार एकत्रित कर सकती है ? किस प्रकार उन का सम्मिश्रण कर सकती है ? कहा जाय कि ईश्वर ने अपनी इच्छा से काम लिया तो निराकार मे इच्छा भी कैसे हो सकती है ? इच्छा का होना मान भी लिया जाय तो नित्य परमात्मा की इच्छा भी नित्य ही हो सकती है। और जब इच्छा नित्य है तो सदैव एक सी रहनी चाहिए और तब कभी सृष्टि रचना, कभी न रचना और कभी संहार करना आदि परस्पर विरोधी बाते उस मे किस प्रकार घटित हो सकेगी ?

ईश्वर का अर्थ है—स्वामी या मालिक। स्वामित्व किसी प्रदेश, सम्पत्ति या प्रजा का ही हो सकता है। कर्त्तावादियों का सिद्धान्त है कि ईश्वर सृष्टिरचना से पूर्व भी विद्यमान था। इस पर प्रश्न होता है कि जब सृष्टि नहीं रची गई थी और ईश्वर के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं थी, तब वह किस का स्वामी था ? ईश्वर का अनादिकालीन ईश्वरत्त्व तो तभी कहा जा सकता है जब सृष्टि अनादि काल से मानी जाय और उस का कोई कर्त्ता न स्वीकार किया जाय ! जैनदर्शन की मान्यता यही है कि सृष्टि अनादि है।

जो मत ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं वे ईश्वर का स्वभाव और और लक्षण भिन्न भिन्न बतलाते है। एक मूर्त्तिपूजक हिन्दू कहता है कि ईश्वर मूर्त्तिपूजा से प्रसन्न होता है तो मुसलमान कहता है

कि ऐसा करने से वह अप्रसन्न होता है। इस प्रकार की और भी अनेक विरोधी मान्यताएं है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि ईश्वर एक है या अनेक ? अर्थात् क्या हिन्दुओं का ईश्वर और मुसलमानो का खुदा अलग अलग है ? हिन्दू मानते है कि वेद ईश्वरकृत है और मुसलमान कहते है कि कुरान खुदा का इलहाम है फिर भी दोनों की शिक्षाओं मे आकाश पाताल सा अन्तर है। ऐसी अवस्था मे या तो ईश्वर अनेक मानने पड़ेगे अथवा यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर कभी कुछ और कभी कुछ शिक्षा देता है। वह हिन्दुओं को कुछ आज्ञा देता है और मुसलमानो को कुछ और ही सिखलाता है।

सत्यार्थप्रकाश के सातवे समुल्लास में लिखा है ईश्वर सब को आदेश देता है कि हे मनुष्यो ! मै सब का स्वामी, सब को सुख देने वाला हूँ, इत्यादि। इस से प्रतीत होता है कि ईश्वर जिह्वा से उपदेश देता है और साकार है। किन्तु दूसरी ओर उसे निराकार बतलाया जाता है। इस के अतिरिक्त यह भी आश्चर्य की बात है कि ईश्वर जैसी अद्वितीय सत्ता अपने मुख से अपनी बड़ाई करती है और यहां तक कहती हैं कि तुम लोग मुझ को ही मानो।

वेद ईश्वरकृत माने जाते है किन्तु वेदो के अनुयायी उन मे प्रतिपादित ईश्वरीय आदेशो का अर्थ भिन्न-भिन्न लगाते हैं। कोई वेदो मे मूर्त्तिपूजा का निषेध बतलाते है तो दूसरे उन्हीं वेदों से मूर्त्तिपूजा का समर्थन करते हैं। कोई ईश्वर का रूप निराकार और कोई साकार बतलाता है। कोई मांसाहार और पशुबलि का समर्थन करता है ! और कोई निषेध करता है। यह सब परस्पर विरोधी मन्तव्य वेदों के आधार पर ही प्रकट किये जाते है। ईश्वर को इन सब बातों का पता तो अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह सर्वज्ञ माना जाता है ! ऐसी स्थिति में वह अपने आदेशो को स्पष्ट क्यो नहीं कर देता ? वह जनता को भ्रम मे क्यो पड़ा रहने देता है ?

पहले बतलाया जा चुका है कि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने वाले विभिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार इस जगत की रचना होना बतलाते है। कई लोगो का कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति अण्डे से हुई है। सृष्टि की

उत्पत्ति के लिए ईश्वर ने पहले, जल के ऊपर अण्डा उत्पन्न किया। इस से साफ मालूम होता है कि जल अण्डे से भी पहले विद्यमान था। तो क्या जल सृष्टि का भाग नहीं है? यदि है तो उसे किस ने बनाया? कैसे बनाया? किस उपादान से बनाया? जिस उपादान से बनाया वह उपादान जल से भी पूर्व विद्यमान मानना पड़ेगा। फिर उस उपादान की रचना के विषय में भी यही प्रश्न उपस्थित होते है। इस प्रकार सृष्टि का अनादित्व स्वीकार किये विना कोई गति नही है।

उपादान कारण के विना किसी कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं है, फिर भी थाड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जल से सृष्टि की रचना हुई तो प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ईश्वर ने जल की रचना की, उसी समय समग्र सृष्टि की रचना क्यों नहीं कर दी? और यह भी पूछना है कि वह जल किस आधार पर ठहरा था? यदि जल का आधार पृथ्वी मान ले तो पृथ्वी जल से भी पहले विद्यमान थी, ऐसा मानना होगा? आधुनिक विज्ञान के अनुसार पृथ्वी, सूर्य के आकर्षण से स्थिति पाती है। यदि अण्डे द्वारा सृष्टिरचना से पूर्व पृथ्वी का अस्तित्व माना जाय तो सूर्य की विद्यमानता भी स्वीकार करनी पड़ेगी और इस प्रकार सृष्टिरचना मदारी का थैला बन जाएगी।

ईश्वर को कर्त्ता मानने वालो से प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है या नहीं? यदि स्वतन्त्र है और अपनी इच्छा के अनुसार जगत् का निर्माण करता है तो संसार मे दुःख की रचना क्यों की गई? उस ने एकान्त सुखमय संसार का निर्माण क्यों नहीं किया? दुःख की रचना कर के ईश्वर ने प्राणियों को, जो उसी की सन्तान है, क्यों पीड़ित किया?

कहा जाता है कि दुःख पापों का फल है। संसार मे दुःख न होता तो पापी जन निर्भय हो कर पाप-कर्म करते और ऐसी स्थिति मे संसार नरक से भी अधिक भयावना बन जाता। किन्तु इस कथन के उत्तर मे पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वशक्तिमान माने जाने वाले ईश्वर के लिए संसार के प्राणियों को पाप-कर्म से रोकना क्या कठिन था? वह चाहता तो प्राणियों में पाप-कर्म करने की बुद्धि ही उत्पन्न

न होने देता। पहले पापकर्म की बुद्धि उत्पन्न करने वाले, फिर पापकर्म से निवारण न करने वाले और प्राणियों को पापकर्म करते टुकुर-टुकुर देखने वाले और फिर उस पापकर्म के फलस्वरूप दु.ख देने वाले और दु.ख भुगतने के लिए नरक का निर्माण करने वाले ईश्वर को कैसे दयालु माना जा सकता है ? किस प्रकार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् समझा जा सकता है ?

इस सम्बन्ध में एक बात और है। सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर भूत और भविष्य को जानता है। यदि यह मान्यता समीचीन है तब तो यही कहना पड़ेगा कि उस ने जान-बूझ कर ही पापी जीवो का निर्माण किया है। इस प्रकार समझ-बूझ कर पापी जीवो का निर्माण करने वाले उस ईश्वर को क्या अधिकार है कि वह उन्हें दण्ड दे। संसार में उपद्रव मचाने वाले, अशान्ति फैलाने वाले और युद्ध की ज्वालाओ मे लाखो-करोड़ो की आहूति देने वाले लोगो का निर्माण करने मे ईश्वर ने क्या लाभ सोचा है ? कहा जा सकता है कि अनाप-सनाप बढ़ती हुई जनसंख्या को कम करने के लिए युद्ध का निर्माण करना आवश्यक है, तो ईश्वर भूल करने वाला साबित होता है। पहले उस ने भूल से जनसंख्या की वृद्धि की और फिर युद्ध का निर्माण कर के उस संख्या को कम करना चाहता है। यह तो अत्यन्त रौद्र कर्म है। बड़ी ही भयानक और क्रूर चेष्टा है। ऐसा दुष्कर्म तो कोई साधारण व्यक्ति भी नही करता। फिर ईश्वर जैसा महत्तम माना जाने वाला व्यक्ति कैसे कर सकता है ?

जो लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता स्वीकार करते है, उन्हे बतलाना चाहिए कि जगत् का निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव है या नहीं ? अगर निर्माण करना उस का स्वभाव है तो ईश्वर के नित्य होने से उस का स्वभाव भी नित्य ही होना चाहिए। और जब सृष्टि रचना करने का स्वभाव नित्य है तो वह सदैव सृष्टि करता रहेगा। यदि किसी काल में वह सृष्टिनिर्माण की क्रिया समाप्त कर देगा तो उस का स्वभाव नित्य नहीं रहेगा। और जिस का स्वभाव नित्य नहीं वह स्वयं भी नित्य कैसे हो सकता है ? परिणाम**:** ईश्वर मे भी अनित्यता की

आपत्ति होगी।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि ईश्वर का सृष्टिरचना करने का स्वभाव है, तो फिर सृष्टि का संहार कौन करता है? यदि संहारक्रिया भी ईश्वर द्वारा ही होनी मान ली जाये तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर यह दोनो कार्य एक ही स्वभाव से करता है या भिन्न-भिन्न स्वभावों से? यदि दोनों कार्य एक ही स्वभाव से करता है तो, सृष्टिक्रिया करते समय संहार भी होना चाहिए, अर्थात् सृष्टि और संहार साथ-साथ होने चाहिएं। ऐसी स्थिति मे सृष्टि स्थिर कैसे रहेगी? एक ही स्वभाव से होने वाले दो कार्य भिन्न-भिन्न समयों मे नहीं हो सकते और भिन्न-भिन्न समयो में होने वाले कार्यों को एक स्वभाव जनित नहीं कहा जा सकता।

कदाचित् यह माना जाय कि सृष्टि करते समय ईश्वर का स्वभाव भिन्न होता है और संहार करते समय भिन्न होता है तो ऐसा मानने से ईश्वर मे अनित्यता का प्रसंग आ जाएगा।

कर्त्तावादी मानते है कि ईश्वर रजोगुण से युक्त हो कर सृष्टि रचता है, सतोगुण से विशिष्ट हो कर पालन करता है और तमोगुण से युक्त हो संहार करता है। इस प्रकार जब ईश्वर के गुण-धर्म बदलते रहते हैं तो ईश्वर की नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है? आखिर धर्म का बदलना ही किसी पदार्थ की अनित्यता का लक्षण है।

सृष्टि और संहार परस्पर विरोधी कार्य है, अतएव उन की उत्पत्ति परस्पर विरोधी दो स्वभावों से ही मानी जा सकती है। ऐसी स्थिति मे एक ही ईश्वर मे विरोधी दो स्वभाव किस प्रकार रह सकते है? सृष्टि का स्वभाव ईश्वर मे माना जाय तो संहार करने का स्वभाव घटित नहीं हो सकता और संहार-स्वभाव स्वीकार करने पर सृष्टिस्वभाव नहीं बन सकता। अगर ईश्वर दोनों कार्य करता है तो उस मे एक स्वभाव और एक विभाव (औपाधिक भाव) मानना पड़ेगा और विभाव की सत्ता स्वीकार कर लेने पर ईश्वर शुद्धस्वरूप न रह कर अशुद्धस्वरूप बन जाएगा। फिर संसारी जीवो मे और ईश्वर में क्या

अन्तर रह जाएगा ? अशुद्ध आत्मा मे ईश्वरत्व की कल्पना करने पर संसार के सभी आत्मा ईश्वर क्यों नहीं कहलाएंगे ?

कदाचित यह कहा जाय कि रजोगुण और तमोगुण ईश्वर की अवस्थाएं हैं। अवस्थाएं पलटती रहती हैं, किन्तु अवस्थावान् अर्थात् ईश्वर ज्यों का त्यो बना रहता है। लेकिन यह समाधान भी तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता। प्रश्न होता है कि ईश्वर की अवस्थाएं ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? अवस्थाओं को यदि सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो उन का ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। फिर किस आधार पर कहा जाएगा कि यह अवस्थाएं ईश्वर की है ? वह अवस्थाएं ईश्वर से उसी प्रकार भिन्न हैं, जिस प्रकार दूसरे आत्माओं से भिन्न हैं। तो फिर वह दूसरों की न हो कर ईश्वर की ही कैसे समझी जाएंगी ? कदाचित् ईश्वर की अवस्थाओं को ईश्वर से अभिन्न मान ले तो इसका परिणाम यह होगा कि अवस्थाओं के पलटने से ईश्वर भी पलटता रहेगा। जब ईश्वर की अवस्थाएं कभी नष्ट और कभी उत्पन्न होती रहती है, तो उन से अभिन्न ईश्वर अविनश्वर कैसे हो सकता है ?

अभ्युपगम सिद्धान्त से ईश्वर को नित्य मान लिया जाय तो प्रश्न फिर वही उपस्थित होता है कि वह सदैव सृष्टिनिर्माण में क्यो नहीं लगा रहता ? इस प्रश्न का उत्तर यदि यह दिया जाय कि जब उस की इच्छा होती है तब सृष्टिनिर्माण करता है और जब इच्छा नहीं होती तब नहीं करता। तो यह पूछा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? और जो आशंकाएं अवस्था के विषय मे की गई थीं, वही इच्छा के विषय मे भी की जा सकती है। इस के अतिरिक्त यह भी पूछा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा यदि स्वयमेव, बिना किसी बाह्य कारण के उत्पन्न होती है तो वह सदैव क्यों नहीं बनी रहती ? उस के कभी कभी उत्पन्न होने का क्या कारण है ? जिस की उत्पत्ति किसी अन्य कारण पर निर्भर नहीं है, वह सदैव उत्पन्न होना चाहिए या कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से विचार करने पर ईश्वर की नित्यता

खण्डित हो जाती है, अतएव नित्य ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना न तो बुद्धिसंगत ही है, न तर्कसंगत है और न सत्य से ही संगत है।

कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर तो कृतकृत्य है। उसे कुछ भी करना नहीं है, प्राप्त करना भी नहीं है, किन्तु जीवों के दुःखों को दूर करने के लिए वह जगत् का निर्माण करता है। जब इस कथन पर विचार करते है तो यह भी निस्सार प्रतीत होता है। आखिर सृष्टि-रचना से पूर्व जब जीवो को दुःख था ही नहीं तो दुःख को दूर करने का प्रश्न ही कहा उपस्थित होता है? दुःख तो तभी होता है जब इन्द्रियों सहित शरीर हो और विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क किया जाय। इन सब के अभाव मे कोई जीव दुःखी नहीं हो सकता। सृष्टिरचना से पूर्व अगर यह सब वस्तुएं नहीं थी तो दुःख का कोई कारण भी नहीं था और दुःख के कारण के अभाव में दुःख भी कैसे हो सकता है? ऐसी स्थिति मे दुःख के दूर होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का विचार करने पर स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है कि वास्तव में इस सृष्टि का निर्माता न ईश्वर है, न कोई और है। सृष्टि अनादि और अनन्त है। निरन्तर पलटती रहती है किन्तु किसी भी काल में सर्वथा विनष्ट नहीं होती। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने से ईश्वर का स्वरूप विकृत और दूषित हो जाता है, उसे अनेक दोषो का पात्र बनना पड़ता है। इसी कारण जैन-दर्शन मुक्तात्मा के रूप मे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता हुआ भी इसे कर्त्ता नहीं स्वीकार करता।

सृष्टिकर्ता न मानने के कारण कई लोग अज्ञानवश जैनधर्म को अनीश्वरवादी कह देते है और कई नास्तिक कहने मे भी संकोच नहीं करते। किन्तु इस सम्बन्ध में एक पृथक् प्रवचन मे विचार किया जा चुका है। जैनधर्म ईश्वर (मुक्तात्मा) के विषय मे कहता है --

अच्चेइ जरामरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सराणियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे......न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे सण्णे

उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स अरूवी णत्थि। से न सद्दे न रूवे, न रसे, न गंधे, न फासे।

(आचारांग प्र० अ० ५ उ० ६)

अर्थात् मुक्तात्मा जन्म मरण के मार्ग को उल्लंघन कर जाता है, मुक्ति में रमण करता है। उस का स्वरूप प्रतिपादन करने में समस्त शब्द हार मान जाते है, वहां तर्क का प्रवेश नहीं होता, बुद्धि अवगाहन नहीं करती, वह मुक्तात्मा प्रकाशमान है।.........वह न स्त्रीरूप है, न पुरुषरूप है, न अन्यथारूप है। वह समस्त पदार्थों का विशेष और सामान्य रूप से ज्ञाता है। उस की कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। उस अनिर्वचनीय को किसी भी वचन के द्वारा नहीं कहा जा सकता। वह न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गंध है और न स्पर्श है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि काल से है और अनादि काल से कर्म कर रहा है और स्वयं ही अपने कर्मों का फल भोग रहा है। इस का अर्थ यह न समझा जाय कि कोई ऐसे कर्म परमाणु भी हैं जो अनादि काल से जीव के साथ लगे हैं। प्रत्येक कर्मपरमाणु किसी विशिष्ट काल में ही जीव को लगता है और अपनी कालमर्यादा पूर्ण होने पर अलग हो जाता है, फिर भी कर्मों की प्रवाह—सन्तति अनादिकालीन है। जब आत्मा में ज्ञानचेतना बलवती होती है तो वह नवीन कर्मों के आगमन को रोक देती है और तपस्या आदि के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है। तब उसे परिपूर्ण निष्कर्मदशा अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

कर्म ही इस जीव को बन्धन में डालते है और कर्म ही संसार मे परिभ्रमण कराते हैं। कर्मो के फंदे में से जीव निकल जाता है तो भवसागर से पार हो जाता है। भवसागर से पार होने का अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेना है। आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, उस को प्राप्त कर लेना मुक्ति है। ऐसा मुक्त जीव ही ईश्वर, अथवा परमात्मा कहलाता है।

परमात्मा कृतकृत्य होने से संसारसम्बन्धी किसी झंझट में नहीं पड़ता। वह मोक्ष से लौट कर पुनः संसार मे अवतरित भी नहीं होता। अनन्त काल तक सदा अव्याबाध सुख और अनन्त अप्रतिहत ज्ञान दर्शन से सम्पन्न हो कर लोकाग्र भाग मे विराजमान रहता है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा सृष्टि मानना और प्रलय की कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होती है।

मिलने का पता—

# ला. गुजरमल प्यारेलाल जैन

चौड़ा बाज़ार, लुधियाना, (पंजाब)

# जैनशास्त्रमाला कार्यालय

जैनस्थानक लुधियाना, (पंजाब)

निकट—जैनधर्मशाला।

—:०:—

# चन्द्र-ज्योति

## श्रद्धाञ्जलि खण्ड

प्रकाशक

**श्री जैन शास्त्रमाला कार्यालय**

जैनस्थानक, लुधियाना, (पंजाब)

# कहां क्या है ?

# ज्योतिपुञ्ज

(लेखक—प्रान्तमन्त्री भूतपूर्व युवाचार्य पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज)

संसार जब प्रभाकर की प्रखर किरणों से उत्तप्त हो जाता है, और यह पृथ्वी दावानल के समान उष्ण हो जाती है। पृथ्वी के प्राणी आत्मरक्षा के लिये इधर उधर मुखावलोकन करते हैं। नाना प्रकार के जीव जन्तु अपनी उत्पीड़न की शान्ति के लिये करुण क्रन्दन करते हैं, तब उन की शान्ति के लिए दयामय देव अपनी पर्जन्यवृष्टि से जग का ताप हरते हैं। इसी प्रकार जब जीवजगत् में प्राणी स्वार्थान्ध हो जाता है और अपने निजत्व को खो बैठता है। धर्ममर्यादा का उल्लंघन करता है और अपने को ही सब कुछ समझ कर साधारण जनता को गुमराह कर धर्म को विपाक्त करता है। तब उसकी ओर जनकल्याण की भावना से अलौकिक शक्तियां उद्भूत होती हैं। वे अपने प्रारम्भ जीवन से ही जगत्त्राण करती हैं। इस प्रकार जब हमारे जीवन में कुछ धर्म के प्रति विरक्तता पैदा हुई, ठीक उसी समय श्री श्री १००८ श्री वैराग्यमूर्ति, विदुषी, महासती श्री चन्दा जी महाराज संसार में धर्म के रूप में उद्भूत हुईं। अपने शैशव काल से ही सांसारिक सुखों में अनास्था प्रकट की। सांसारिक वस्तुएं उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न कर सकीं। वे जग की मोह-माया से दूर रह कर अनन्त ईश्वर में विलीन होना चाहती थीं। अतः संसार के अज्ञान को दूर करने वाले प्रकाशस्तम्भ की शरण ली। हृदय ज्ञान की प्रबल इच्छा से उन्हें श्री प्रवर्तनी, विदुषी, श्री श्री १००८ श्री पार्वती जी महाराज और महासती राजीमती जी महाराज की अनन्य अनुकम्पा से धर्मज्ञान उपलब्ध हुआ, और आचार्यसम्राट् श्री श्री १००८ परमपूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज की दयामय कृपा से द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चारित्रानुयोग, कथानुयोग तथा वीतराग-प्रणीत सद्शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया, और सद्ग्रन्थों का अनुशीलन

कर प्रौढ़ पाण्डित्य प्राप्त किया। उन का शास्त्र ज्ञान अति विस्तृत था। उन के भाषण में अद्भुत आकर्षण था। जब वह प्रवचन करती थीं, तो जनसमुदाय आनन्दविभोर हो उठता था। नास्तिक वर्ग भी उन की ज्ञानगरिमा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर के अपने आप को धन्य समझता था। उन जैसी तपोमयी और ज्ञानमयी आत्मा अलौकिक धर्मज्ञान दे कर स्वर्ग को प्राप्त हुई। ऐसी सद् आत्माएं अपने ज्ञान से धर्मक्षेत्र को आप्लावित करती हैं। उन के स्वर्गवास से भारत वर्ष की तथा जैन समाज की जो क्षति हुई, उस की पूर्ति निकट भविष्य में अति असम्भव है। ऐसी सद्आत्मा के प्रति हम हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

# आदर्श साध्वी

(लेखक—पण्डितरत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज)

महासती श्री चन्दा जी एक आदर्श जैन साध्वी थीं। उन का व्यक्तित्व महान् एवं उच्चकोटि का था। उन्हों ने कठोर साधना के द्वारा महत्ता तथा उच्चता को प्राप्त किया था। उन्हों ने नाना प्रकार के संकटों, विघ्न-बाधाओं और प्रतिकूलताओं का अपूर्व साहस से मुकाबला किया था। परीषहरूपी शत्रुओं से वे कभी पराजित न हुई थीं। वे अबला नारी नहीं किन्तु सबला वीरांगणा थीं। वे तेजस्विनी ओजस्विनी और वचस्विनी थीं। उन में आश्चर्यजनक वक्तृत्व शक्ति थी। स्थान स्थान पर उन के प्रभावशाली व्याख्यानों से बहुसंख्यक जैन-जैनेतर जनता लाभ उठाया करती थी। वे प्रतिभासम्पन्न थीं। उन्हों ने कई एक सुन्दर पद्य कथानकों की रचना की थी, जो उन की योग्य शिष्याओं के पास लिखित रूप में विद्यमान है और जिन्हें वे प्राय: व्याख्यानों में सुनाया करती हैं। महासती जी की वाणी में मृदुता और चातुरी थी। वे व्यवहारकुशल थीं। उन में आवश्यक

शिष्टता और सभ्यता थी। अन्त मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन का जीवन अनेकानेक सद्गुणो से अलंकृत था। पाठक उन के आदर्श जीवन से अधिकाधिक लाभ उठाएं, और उन की समुज्ज्वल कीर्ति चिरस्थायिनी हो, यही हार्दिक कामना है।

# चारु--चन्द्रिका

(लेखक—भूतपूर्व उपाध्याय, मुनि श्री प्रेमचन्द जी महाराज, पंजाबी)

यह बात सुप्रसिद्ध है कि रात्रि के समय में आकाशमण्डल में अनेक कोटि तारागण उदित होते हैं। अपनी दिव्य प्रभा और अद्भुत छटा से आकाशमण्डल को सुशोभित कर देते है। किन्तु सूर्योदय होने पर वे सब के सब आकाश-मण्डल मे ही तिरोहित हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार इस जगतीतल पर संख्य, असंख्य, अनन्त जीव जन्म धारण कर आते है और अपना २ स्वल्प या दीर्घ जीवन काल यापन कर चल बसते हैं, यह एक अनादि-काल से लम्बी परम्परा चली आती है। इस कालकराल के आगे किसी का भी जोर नहीं चलता, क्या देव, क्या दानव, क्या राव, क्या रङ्क और योगी, भोगी, धनी-निर्धन, बलदेव-वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीर्थंकरादि को भी इस काल ने अछूता नहीं छोडा। अन्ततः सभी शरीरधारी इस सर्वभक्षी काल के भोज्य बनते है।

यह भौतिक जीवन किसी का भी स्थिर नहीं रहता, किन्तु जो भव्य आत्माएं इस जगतीतल पर आकर अपना और दूसरो का कुछ भला कर जाती है, वे इस विश्व मे अपने जीवन की अमर कथाएं शेष छोड़ जाती है। उन की पुनीत कथाओं से अनेक जीव प्रकाश लेकर अपने अन्धकारमय जीवन को आलोकित करते हैं। ठीक आज स्वर्गीय बालब्रह्मचारिणी महाविदुषी महासती श्री चन्दा जी भौतिक रूप में आज हमारे सामने नहीं है किन्तु महासती जी की जीवन-गुणा-वलियां तो अमररूप से आज भी इस विश्व मे विचरण कर रही हैं।

वास्तव में महासती जी का जीवन एक आदर्श जीवन था। स्वर्गीया आत्मा ने छोटी उम्र में ही वैराग्य से प्रभावित हो कर जैन-साध्वी-दीक्षा धारण की। वह शुक्ल-पक्ष का चन्द्र छोटे से रूप में उदय हुआ था किन्तु उस ने त्याग, वैराग्य, ज्ञान, ध्यान, मार्दव, आर्जव, विनय-शीलता, वचनमृदुता आदि गुणकलाओं से उत्तरोत्तर प्रभासित होते हुए पूर्णमासी के पूर्ण कलासंयुक्त चन्द्ररूप को धारण किया।

चन्द्र में दो मुख्य विशेषताएं होती हैं—शीतलता और प्रकाश। ठीक महासती जी के जीवन में भी प्रकृति की शान्तिरूपी शीतलता और ज्ञानरूप प्रकाश खूब ओत-प्रोत हो रहे थे। आज जो बाल-ब्रह्मचारिणी, जैनधर्मोद्धारिका, विदुषी महासती लज्जावती जी और समयज्ञा, वाक्पटु, विचारशीला, विदुषी महासती सौभाग्यवती जी आदि शिष्या सतियां विराजमान हैं, वे महासती चन्दा जी की देन है। महासती जी ने स्थानीय और सार्वजनिक अपने ओजस्वी प्रवचनों द्वारा अनेक भूले भटके जीवों को सत्पथ पर लगाया और उन्हें दारु, मांस, जूआ आदि दुर्व्यसनों का त्याग कराया। महासती जी ने जैन संसार को ही नहीं, बल्कि समुच्चय मानव संसार को पवित्र जीवन से लाभान्वित किया। मानव-संसार को महासती जी का पवित्र जीवन चिर-स्मरणीय रहेगा। इत्यलं। सुज्ञेषु किं बहुना।

# अमर साध्वी श्री चंदा जी

(लेखक—जैनदिवाकर श्री चौथमल जी म० के सुशिष्य भूतपूर्व युवाचार्य श्री रामलाल जी म०)

जा की यहां चाहना है, वा की वहां चाहना है।
जा की यहां चाह, ना है, वा की वहां चाह, ना है॥

मुझे यह जान कर महान् दुःख हुआ कि धर्म-धुरन्धरा, शास्त्र-वेत्ता, भारतप्रसिद्धा एवं महान् पण्डिता महासती श्री चन्दा अपने

भौतिक शरीर को त्याग कर निर्वाणलोक को सिधार गईं। मुझे कई वर्ष पहले दिल्ली में, उन से मिलने व उन के साथ विचार-विनिमय करने का सुअवसर सम्प्राप्त हुआ था तथा दो ढ़ाई वर्ष तक वहां एक साथ रहने के कारण, महासती जी के आदर्श गुणों की महकती महक से मैं बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ, और महासती जी के धार्मिक स्नेह की पवित्र छाप मुझ पर भी विशेपरूप से पड़ी। और उन का मातृवत् स्नेह मेरे जीवन का भी एक अंग बन गया। कारण कि, महासती जी के अनुशासन में मृदु स्नेह का ऐसा पुट रहता था कि वह अनुशासन कठोर एवं बन्धन न हो कर जीवन का शृंगार बन जाता था, अधिक क्या, उस के लिए आप की शिष्याएं प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अस्तु।

आज उन के निधन से जैन जगत्, साधु-समाज व देश सभी को अपूरक क्षति पहुँची है और व्यक्ति-गत क्षति मुझे उस से कम अनुभव नहीं हुई। पंजाब प्रान्त की तो महासती जी प्रत्यक्षत: शुभ्र एवं जीवित ज्योत्स्ना ही थीं। आप के अनथक परिश्रम, वाणी-माधुर्य, बुद्धिमत्ता एव विद्वत्ता की अमिट छाप, जैन और अजैन सभी पर एक रूप से पड़ी थी। जैन धर्म का जो अनन्त उपकार आप ने किया वह हमारे युग के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। आप ने अपने जीवनकाल के ७८ वर्षों में ६६ वर्ष साधना में बिताए और उत्कृष्ट संयम पाला। अजैन विद्वानों से शास्त्रार्थ कर के जैन धर्म की विजय-पताका फहराई। आप की इस शूरता, वीरता, धीरता को जैन जगत भूल भी तो कैसे सकता है ?

आज आप के सद्गुणों की स्मृति मेरे मानस-पटल पर ऐसे अंकित हो रही है जैसे कोई कल ही की बात हो। आज आप की वियोग-व्यथा से जैनसमाज महान् व्यथित एवं चिन्तित है। और अवर्णनीय मनस्ताप के कारण, संज्ञाहीन कर देने वाले उष्ण अश्रुताप बहा रहा है, दु:ख-सन्ताप के काले बादलों से घिरा हुआ अनुभव कर रहा है। किन्तु किया ही क्या जाये ? प्रकृति का नियम अटल है। यह संसार ही चला चली का मार्ग है। यहां जो भी आया, स्थिरत्व उसे

है ही कहां ? किन्तु इस विनश्वर जगत् में आकर भी, चिरकाल के लिए, अमरत्व उसी ने प्राप्त किया, जिस की कान्त कान्ति एवं धवल यशोकीर्त्ति दिशा विदिशाओ मे व्याप्त हो रही है। वह मर कर के भी अमर है। जिस ने मानव-जीवन पाकर शास्त्रकथन के अनुसार अपने जीवन को सार्थक बनाया। परहित में जिस ने भी अपने आप को लगा दिया, उसी की कीर्ति, उसी की सच्ची कमाई सदैव जीवित रहेगी और वह अमिट है। युगयुगान्तरो तक मानव-हृदय उसे सदा याद करते रहते है। आज महाकवि कालीदास, रामचरित-मानस के रचयिता तुलसीदास, एव प्रसिद्ध-वक्ता, पण्डित-रत्न जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज आदि अपने भौतिक शरीरो में यहां नहीं हैं। किन्तु अपनी अमिट कीर्ति की व्यापकता से वे अमर हैं। ठीक, इसी भान्ति श्री महासती जी की अभिनन्दनीय लेखनी की सुकृतियां सदैव उन की कीर्ति को अमर रखेगी और उन के सद्गुणों की सुगन्ध से जैन जगत् को चिरसुरभित करती रहेंगी।

अन्ततः दिवंगत आत्मा के प्रति, स्व-करबद्ध श्री वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि उस महान् पवित्रात्मा को असाधारण सद्गति एवं परम शान्ति प्राप्त हो और इन्हीं शब्दों के साथ मैं महासती जी को अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

——— ० ———

## चंदा सी निर्मल सती

(लेखक -भूतपूर्व युवाचार्य श्री राम लाल जी महाराज)

तर्ज—राधेश्याम

चन्दा सी निर्मल सती, सुन्दर सुखद ललाम।
हाय! छोड़ हम को गई, सीधी शिवपुर धाम॥

मैं पूछ रहा हूँ! ज्योतिमयी, वो चन्दा है कहां पर कह दो।
झोली पसार कर मांग रहा, मेरा चन्दा मुझ को दे दो॥

तेरे दर्शन को उठा शीश, हम नभमंडल मे देखते हैं।
तब तारे आंख उठा हम को, वे प्रति-उत्तर यों देते है॥
असली चन्दा को छुपा लिया, अब नकली चन्दा को देखो।
अब उस पर भी ननु नच की तो, कर-रेख के चन्दा को देखो॥
वह ज्ञान, ध्यान, व्याख्यान तेरा, अब याद बहुत ही आता है।
हा सती ! जुदाई मे तेरी, सब का जी भर-भर आता है॥
सम्भावो से यह देह-त्याग, जो अमरपुरी मे जाते है।
वे लौट कभी नहीं आते है, यो वीर प्रभु फरमाते है।
सती जी की सद् शिक्षाओं को, सर पर धारण कर, काम करो।
उस दिव्य आत्मा के गम मे, लेखनी जरा विश्राम करो॥

—⊱✿⊰—

## साध्वी-शिरोमणि

(लेखक—कविवर्य्य श्री चन्दन मुनि जी महाराज, पंजाबी)

यूं तो जगतीतल पे आई, सैकड़ो सुकुमारियां।
पर 'श्री चन्दा सती' सी विरली जन्मी नारियां॥
बन के जो अबला से सबला, जगत को दिखला गई।
धर्म, जाति, देशको और चार चाद लगा गई॥
इतिहास उन का कुछ सुनाऊ प्रेम से सुन लीजिए।
हीरे मोती जो मिले इस मे से वो चुन लीजिए॥
उन्नीस सौ तेतीस की वैशाख शुक्ला तृतीया।
जन्म लेकर 'आगरा' में सब को हर्षित कर दिया॥
मातेश्वरी श्री 'हर्ष' का, हृदय कली सा खिल गया।
और 'खुमानी सिंह, को भी चांद अद्भुत मिल गया॥
चाद से चेहरे ने लज्जित, चांद को भी कर दिया।
नाम शुभ मा बाप ने अतएव 'चन्दा' धर दिया॥
बालपन की केलिया फिर, जब दिखाई आपने।
क्या कहूँ खुशियां मनाई, किस तरह मां बाप ने॥

उच्च शिक्षण आपने फिर, प्राप्त कर सौभाग्य से।
मन को अपने रंग लिया था, सर्वथा वैराग्य से॥

पितु मात ने चर्चा चलाई, मंगनी की चाव से।
अणुमात्र भी सहमत हुई न, आप इस प्रस्ताव से॥

करबद्ध विनति आपने की, शील पालूंगी सदा।
झूठे जग सुख भोग पर, न मैं लुभाऊंगी कदा॥

आप जागूंगी जागाऊंगी मैं इस संसार को।
सत्य का संदेश सुखकर, दूंगी हर नर नार को॥

मंत्र फूंकूंगी मैं नारी, वृन्द में जागृति का।
पाठ सब को है पढ़ाना, हिन्द की संस्कृति का॥

रोको मत सत्कर्म से, जीवन बनाने दीजिए।
शुभ अहिंसा धर्म का, झंडा उठाने दीजिए॥

वीर बाला के वचन सुन, हो गए खामोश सब।
दृढ़ प्रण की धारिका को, रोक सकता कौन कब॥

ले लिया फिर जैन संयम, जा नगर 'करनाल' में।
मास फागुन और उन्नीसौ चौमाली साल में॥

ज्ञान गहरा आगमों का, पा लिया फिर आप ने।
आत्मा उज्ज्वल बनाई, सत्य के शुभ जाप ने॥

नारी जाति को जगाया, मुख्यतः उपदेश से।
जनसमूह को भी सुधारा, वीर के सन्देश से॥

हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख सेवक, सहस्रशः ही बन गए।
आप की वाणी-पवन से, पाप के उड़ घन गए॥

एक जादू सा असर रखती थी वाणी आप की।
दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी, पुण्यवानी आप की॥

अशआर उर्दू फारसी के, बोलती थीं आप जब॥
मुन्शी आलिम, मुन्शीफाजिल झूम जाते सुन के सब॥

शुद्धोच्चारण आप की जिह्वा की, खूबी खास थी।
एक दुनिया इस लिए भी, भाषणों की दास थी॥

प्राकृत और संस्कृत का भी तो गहरा ज्ञान था।
सारगर्भित शान्त रस का, आप का व्याख्यान था॥
साम्प्रदायिकता से बिल्कुल, आप का दिल दूर था।
पाप और पाखण्ड का करना खतम दस्तूर था॥
भयभीत होना आपने, सीखा नहीं था भूल कर।
शेर जंगल मे मिला इकबार न घबराई पर॥
देखते ही आप को वो झट किनारा कर गया।
तेज के सन्मुख चली हृदय भी उस का डर गया॥
आप के अद्भुत गुणों का, पार आ सकता नहीं।
मैं तो क्या कोई भी मुख से, उन को गा सकता नहीं॥
दो सहस और नव का संवत्, अन्त मे जब आगया।
धार अनशन स्वर्ग पहुंचीं, शोक सारे छा गया॥
'लुधियाना, मे हजारों, रो रहे नर—नार थे।
पालकी की धूम से, चलते रुके बाजार थे॥
सब प्रशंसा कर रहे थे, आप के तप त्याग की।
आप थीं तस्वीर उज्ज्वल, ज्ञान की, वैराग्य की॥
दोष बहुविध टाल कर और चुस्त सयम पाल कर।
संघ के सन्मुख गई आदर्श अद्भुत आप धर॥
याद आती ही रहेगी आप की संसार को।
भूल कर के भी न भूलेगा कोई उपकार को॥
'लज्जावती, 'सौभाग्य' 'सीता, हैं निशानी आप की।
कहती रहती है 'अभय' 'निर्मल' कहानी आप की॥
'श्री शान्ति' 'कौशल्या जी' और 'महेन्द्र' 'विकास, जी।
याद रखतीं आप को सब आर्याएं खास जी॥
आप की फुलवारी निशादिन, ये रहे फूली फली।
आप को 'चन्दन मुनि' की है यही—श्रद्धाञ्जली॥

# सती श्री चन्दा जी

(लेखक—मधुर व्याख्याता मुनि श्री लाभ चन्द जी म०)

मेरे जीवनोन्नति की ज्योतित सहायिका, मेरी वैराग्य वृत्ति की पावन प्रेरिका, आत्मप्रगति पर प्रतिपल प्रवरता, प्रधी प्रदान करने वाली, संयमसाधिके ! आप का यशोगान गाऊं किहिं भांति ?

भाषा भावों का समन्वय, शब्दों का निखिल कोष, यह सब मुझे आप की उपमा में उपयुक्त नहीं जंच रहे हैं। उपमातीत पावनप्रवरा अनगारिनी आप के उपकारों का आभारी आजन्म रहूँगा।

'तिन्नाणं तारयाणं' का पाठ बड़ी सफलता से हृदयंगम कर भवपीड़ित भवि-वृन्द को सत्पथ निर्देश देने वाली पुङ्गव साध्वी ! आपके गुणानुवद गाने की आन्तरिक अभिलाषा मन की मतवाली मनो-कामना कब पूर्ण हो ! मैं उस समय की सदा प्रतीक्षा में हूँ।

आप का निधन सुना। संसार का यही स्वरूप है। मुझे निधन के प्रति विस्मयजनक विषाद नहीं है। मेरा मानस शोकाकुल नहीं है। 'तो आप की इस सिद्धि पर, जीवन की सार्थकता पर, सफलता पर हर्षित हूँ। साधुवाद देता हूं कि आपने अपने आत्मलक्ष्य को चूडान्त चारुता से चमका दिया। आप का वियोग सदा के लिये हो गया। आप का अभाव अब आजीवन खटकेगा। जब जब जीवन में पथप्रदर्शक की आवश्यकता होगी, जब सत्परामर्श के प्रति उत्सुकता होगी, नाना प्रकार की प्रवृत्तियों से जब प्राण पीड़ित होंगे, तब तब आप का संयमभरा सान्निध्य, तप त्याग भरा प्रेरक उपदेश और आप की पौद्गलिक शरीरस्थिति याद आये बिना न रह सकेगी।

काश ! मैं भी आप की तरह पंडित मरण के मोद भरे महोत्सव को मनाता हुआ अपने को आप की तरह सफल बना सकूं।

आप के द्वारा शासन की सर्वोच्च सेवाएं हुई हैं जिन का उल्लेख जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों से होगा। आप की साधना, आप का व्यक्तित्व, आप का सौजन्य सराहनीय है। शत शत अभिनन्दन

के योग्य है। आने वाली पीढ़ियां आप के चरणचिन्हों पर चल कर अपना और अपने देश, जाति, धर्म का मुख गौरव से उज्ज्वल कर सकेंगी। यही है आप के चरित्र की चारु चारु विशेष विशेषता। आप का साधक जीवन मुझे ज्योतिर्मय हो।

# अमर--विभूति

(लेखक—कविरत्न पं० मुनि श्री केवल चन्द जी म०, साहित्यरत्न)

गुणवान थी, पुण्ययान थी, चन्दा जी महासती ;
और जैन की एक शान थी चन्दा जी महासती ॥

तेजस्विनी मनस्विनी थी शांत धीर थी।
विदुषी थी पंडिता थी विचक्षणा थी, वीर थी ॥
भक्तों में एक प्रेम की ज्योति थी जगाई।
ज्योति में अनेकों ने अपनी निधियां थी पाईं ॥
गुणवान ...

सहस्रों जनों ने उन से पाया है उजेला।
सहस्रों घरों मे सत्य का प्रकाश है फैला ॥
सहस्रों गिरे हुओं की आत्मा उठा गई।
सहस्रों के बिगड़े भाग्य को फिर से बना गई ॥
गुणवान......

देहली मे एक बार मिली थीं सौभाग्य से।
संयम चमक रहा था उन्हों का वैराग्य से ॥
महीनों ही रहे प्रेम मे पड़ी न खटाई।
निंदा बुराई की कभी भी गंध न आई ॥
गुणवान.....

जीवन है धन्य उस का जिस ने लाभ कमाया।
समाज का भी अपने साथ शीश उठाया ॥

ऐसे ही 'केवल' होते हैं जगत में सूर्य चान्द।
सदियों ही उन की दुनिया सदा करती रहती याद ॥
गुणवान् थी पुण्यवान् थी चन्दा जी महासती।
और जैन की एक शान थी चन्दा जी महासती ॥
गुणवान् ... ॥

## समुज्वल ज्योति

(लेखक— जैनधर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, श्रमणसंघ के प्रधानाचार्य श्री आत्माराम जी म० के सुशिष्य श्री ज्ञानमुनि जी म०)

एक बार गोस्वामी तुलसीदास जी कहीं जा रहे थे। नगर के मध्य में से हो कर निकले। एक ओर से गाने बजाने तथा आमोद-प्रमोद की ध्वनि कानो में पड़ी। स्वामी जी के कान खड़े हो गए। कारण पूछने पर पता चला—नगर-सेठ के घर एक बालक उत्पन्न हुआ है। पुत्र-जन्म की खुशी मे यह सब कुछ हो रहा है। सुनते ही आप आगे चल दिए। ठीक उस सेठ के घर के पिछले भाग के निकट से जब जाने लगे तो कानों में किसी नवजात शिशु के रोने की ध्वनि सुनाई दी। सुनते ही ठिठक गए। सोचने लगे—अभी तो गायन सुन कर आ रहा हूँ, आमोद-प्रमोद देख कर आया हूं, अभी रोना भी हो रहा है। बड़ी विचित्र बात है। कुछ गंभीरता मे उतरे। मन समाहित होने लगा—नवजात शिशु अपने दुःख से रो रहा है और घर वाले बाहर, उस से पूर्ण होने वाले भावी स्वार्थ से पुलकित तथा हर्षित हो रहे है। स्वामी जी सटपटा उठे। संसार बड़ा स्वार्थी है। इस की प्रत्येक चेष्टा स्वार्थसाधना का ही ताण्डव नृत्य कर रही है। अन्तर्जगत की पगडण्डियों पर बड़ी स्फूर्ति से अग्रसर होने लगे। झटिति अन्तर्वीणा झंकृत हो उठी—

तुलसी जब जग मे भए, जग हंसा तुम रोए।
ऐसी करनी कर चलो, तुम हंसो जग रोए ॥

संसार हंसता है, अपने स्वार्थ की पूर्ति के स्वप्न को देख कर, किन्तु ऐ मनुष्य ! तू अपने को इतना उन्नत बना, इतना ऊंचा उठा, ज्ञान की समुज्वल ज्योति से संसार को इतना ज्योतिर्मय बना कि तेरे रोने पर हंसने वाला यही संसार तेरी पुण्यस्मृति में रो उठे और तू फिर भी अपने पूर्णबोध अथच स्वरूप-प्रतिष्ठा अर्थात् परमकैवल्य के अमर सुखसाम्राज्य में हंसता ही रहे।

गोस्वामी जी की अन्तर्वीणा का यह अपूर्व तथा मधुर स्वर बालब्रह्मचारिणी महामहिम महासती श्री चन्दा जी म० के जीवन में गूञ्ज रहा है, साकार रूप ले रहा है। महासती जी ने ज्ञान, दर्शन, और चारित्र के सम्यक् आराधन तथा परिपालन से अपने को उच्च और आदर्श बना डाला था। ये जैनसमाज के विशाल उपवन में एक ऐसे प्रफुल्लित, विकसित एवं सजीव पुष्प के रूप में अवतरित हुए कि जिस ने अपने जीवन के मंगलमय सौरभ से जैन संसार को ही नहीं मानवसंसार को सुरभित कर डाला।

२० वर्षों की पुरानी बात है, जैनधर्मदिवाकर साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर प्रधानाचार्य गुरुदेव **श्री आत्माराम जी महाराज** के चरणों में मैं वैराग्य अवस्था में था, उस समय महासती जी अपनी शिष्यानुशिष्याओं को आचार्य म० से श्री भगवतीसूत्र का अध्ययन करवा रहे थे। तब पहले पहल मैंने महासती जी के पुनीत दर्शन किए थे, तभी से मेरा मानसपटल महासती जी के गुणसौरभ से सुगन्धित है। साधु बन जाने के अनन्तर भी अनेकों बार महासती जी के दर्शनों का सौभाग्य मिला है। मैंने देखा है—आप वयोवृद्ध होते हुए भी छोटे से छोटे साधु का भी पर्याप्त सम्मान किया करते थे, बड़े प्रेम से उसे सयम में दृढ़ता लाने की प्रेरणा तथा शिक्षा दिया करते थे। आज भी मेरे कानों में आप के वे शब्द गूंज रहे हैं, जब आप एक मुनि से कह रहे थे—महाराज ! मेरा तो यही विनम्र निवेदन है कि स्त्रियों के सम्पर्क से बचते रहना, इन की भोली भाली बातों पर मुग्ध मत हो जाना, आत्मप्रतिष्ठा के तुच्छ लोभ में न पड़ कर आत्मसाधना के पावन लक्ष्य को न भूला देना गुरुदेव ! यही भविष्य

के सुन्दर निर्माण का सर्वोत्तम साधन है।

महासती जी का जीवन सरलता और मधुरता का अमर भण्डार था। छोटे से छोटे व्यक्ति से भी आप किस सरसता तथा मधुरता से बात किया करते थे और कैसे जिनेन्द्रवाणी के अनमोल हीरों से उस की झोली को भरा करते थे। यह तो वही जान सकता है जिस ने कभी आप के मंगलमय दर्शन करने तथा मधुर व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया है। इस के अतिरिक्त आप का स्वावलम्बन भी बड़ा अद्भुत था। छोटी साध्वियां आप की सेवा में सदा उपस्थित रहा करती थीं। किन्तु फिर भी आप छोटे-छोटे दैनिक कार्य अपने हाथों से करने में ही आनन्द मानते थे। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो आप को मानों आता ही नहीं था।

साधुता की भूमिका पर पग रखे हुए आप को अभी अधिक समय नहीं हुआ था, पूज्य गुरुणी का वियोग हो गया, शिष्याएं मृत्यु का ग्रास बन गईं। उन का साथ छूट गया। विषम परिस्थितियों ने चारों ओर से आ घेरा। तथापि आप ने इस विकट समय में धीरता तथा गंभीरता के नेतृत्व में वीरता का पल्ला नहीं छोड़ा। संयम-पथ पर बड़ी दृढ़ता से चलते रहे। स्वप्न में भी व्याकुल नहीं होने पाए। एक सैनिक की भान्ति दुविधाओं के प्रहारों को साहस के कन्धों पर सहन करते हुए बढ़ते ही गए। आप की धीरता का कहां तक वर्णन करूं? मेरी आंखों ने वे दिन भी देखे हैं। जब आप की जंघा की हड्डी टूट गई थी, वेदना आप को बुरी तरह सता रही थी, चारों ओर से अस्वास्थ्य का दूषित वायुमण्डल बड़ा विक्षुब्ध कर रहा था, किन्तु आप कहते थे—मत घबराओ, यह सब कर्मों का भोग है। मैं तो सहसा बोल उठता था—धन्य हैं आप, धन्य है आप की धीरता।

अनुशासन जीवन को समुन्नत तथा समुज्वल बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है, उपाय है। इसी के आधार पर ही जीवन की सभी मर्यादाएं अक्षुण्ण बनी रह सकती हैं। मैं यह विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि महासती जी ने इस तथ्य को अपने जीवन में पूर्णरूप से अपना रखा था। आप की कोई भी छोटी साध्वी, आप के आदेश

और संकेत के बिना कोई भी काम नहीं कर सकती थी। साध्वियों पर आप का पूर्ण नियन्त्रण था, अनुशासन था। सभी का जीवन आप की देख-रेख में ही सम्पोषित और संवर्धित होता था। मैंने स्वयं देखा है-आप के संकेत के बिना आप की कोई भी साध्वी स्वयं बोलने का साहस भी नहीं करती थी। अनुशासन का यह साकार रूप आप के अपने अनुशासित जीवन का ही एक पावन ज्वलन्त प्रतीक था, उदाहरण था।

तपों में ब्रह्मचर्य को उत्तम माना गया है। अहिंसा तथा सत्य के देवता भगवान महावीर स्वामी इसी अभिप्राय को–'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं' इन शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे हैं। वेद भी इस का समर्थन– 'तपो वै ब्रह्मचर्यं' इन शब्दों में करते हैं। गीताकार ने ब्रह्मचर्य को–'ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते' यह कह कर शारीरिक तप के रूप में स्वीकार किया है। भोजन पानी का त्याग, किसी सीमा तक संभव है। धन, धान्य, पृथ्वी, परिजन आदि को छोड़ देना भी असंभव नहीं है किन्तु विषयवासनाओं का त्याग करना लोहे के चने चबाना है। बड़े २ भीषण युद्धों के विजेता, संसार में अपनी शक्ति की धाक जमाने वाले, समय आने पर काल से भी भिड़ने वाले विषयवासना के सामने घुटने रगड़ते देखे गए हैं, इस के सामने उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ा है। ब्रह्मचर्य की इस आदर्शता, महत्ता तथा अलौकिकता एवं कठोरता को देखते हुए ही महावीर प्रभु का अन्तर्नाद गूंज उठा था—

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करन्ति तं॥
(उत्तराध्ययन अ० १६, गा० १६)

भाव यह है कि देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर इत्यादि सभी उस ब्रह्मचारी के चरणों में झुक जाते हैं जो इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है।

भगवान महावीर के इस प्रवचन में किंचित् भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती। महासती जी का जीवन इस तथ्य का सजीव उदाहरण है। महा-

सती जी ने ब्रह्मचर्य के महिमा की महत्ता को खूब समझा था और अपनाया था। आप ने अपने जीवन के ७८ साल इस ब्रह्मचर्य की आराधना तथा उपासना मे ही लगाए थे। सुनता हूं—महासती जी वयोवृद्ध, दीक्षावृद्ध तथा सूत्रवृद्ध होने पर भी अकेले श्रावक को अपने पास नहीं बैठने दिया करते थे। आप की यह साधना आज के युग में अनुपम थी। आप की ऐसी भीषण साधना के सामने यदि *जंगल का शेर आप से दूर भाग गया या आप के जीवन में आज असंभव प्रतीत होने वाली अन्य अनेकों घटनाएं संघटित हो गईं तो कौन सी आश्चर्य की बात है? ब्रह्मचर्य की उपासना के आगे असंभव भी संभव है। क्या इस साधना ने आग को पानी नहीं बनाया? शूली सिंहासन नहीं बनी? क्या विष अमृत नहीं हुआ? क्या सर्प पुष्पमाला नहीं बन गया? क्या सूत के कच्चे धागे द्वारा छालनी से पानी नहीं निकाला गया? ब्रह्मचर्य मे अलौकिक शक्ति है। इस तथ्य से कौन इन्कार कर सकता है। इसी ब्रह्मचर्यशक्ति की महासती जी भण्डार थे।

यह सत्य है कि महासती जी का वियोग हम सब के लिए शोक और दुःख का कारण बन रहा है, परन्तु हमें इस बात का सन्तोष भी है कि महासती जी अपने उत्तराधिकारी बड़े सुयोग्य और सुशील हमें दे गए हैं। विदुषी महासती श्री लज्जावती जी बड़ी सरल और भावुक साध्वी हैं। तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी भी महासती जी के पदचिन्हों पर चल कर बड़ी तत्परता से अपना कर्तव्य निभा रही है। इन महासतियों का भविष्य बड़ा उज्ज्वल दिखाई देता है। समाज को इस साध्वीयुगल से तथा इन की शिष्याओं एवं शिष्यानुशिष्याओं से बड़ी २ मंगलमय आशाएं हैं।

चन्द्र की किरणों की भला गणना हो सकती है? वे तो संख्या की परिधि से बाहिर ही होती हैं। महासती जी भी हमारी समाज के चान्द थे। ज्ञान की समुज्वल ज्योति थीं। इन की गुणसम्पदा इतनी विराट है कि शब्दो की सीमित रेखाओं मे इसे सीमित नहीं किया

---

*महासती जी को विहार में एक बार एक शेर मिला था, वह इन्हें देख कर अपने आप ही दूसरी ओर चला गया था, आदि बातों का वर्णन आप को महासती जी के जीवनपरिचय में मिलेगा।

जा सकता। संक्षेप में अपनी बात को समाप्त कर दूं—महासती जी का जीवन साधुता की कसौटी पर परखा हुआ एक आदर्श जीवन था। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की प्रतिछाया इन के मंगलमय जीवन में स्पष्ट रूप से झलकती थी।

# श्रद्धोपहार

(समर्पक—प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री विमल चन्द जी महाराज, पंजाबी)

बालब्रह्मचारिणी महासाध्वी जी! आप बड़ी शान्त-दान्त भावुक भद्राकृति तथा गम्भीर स्वभाव वाली आदर्श साध्वी थीं।

जैनधर्मोपदेशिके! जो वक्तृत्व कला आप में पाई जाती थी, वह सब आपका अपना अनथक परिश्रम तथा साहित्य-सुधा-आस्वादन था। प्राकृत संस्कृत-फारसी साहित्य विशेषरूप से आप के उन्नतिस्तर का सहायक रहा है। अतः स्वाभाविक ही है-वक्तृत्व में आकर्षण तथा विश्लेषण। एक विषय पर ही आप महीनों भर बोलती रहती थीं। उर्दू-फारसी का शुद्ध प्रयोग सुन कर बड़े बड़े आलिम फाजिल भी प्रभावित होते थे, विशेषेण नारीमुखात्। संस्कृतसाहित्य की पराकाष्ठा का यह प्रत्यक्ष प्रमाण था कि जब आप अपनी मधुर परिमार्जित तथा संगीत भरी वाणी से श्लोकोच्चारण करती थीं तो दिग्गज विद्वान् भी चकित रह जाते थे।

हे परम तपस्विनि!

नारीजीवन में आप की तपश्चर्या अवर्णनीय है। आप की अपनी सत्ता का उदाहरण याद आ आ हमें सदा प्रोत्साहित करता है, क्योंकि आप किसी भी दैविक या भौतिक शक्ति से कभी विचलित नहीं होती थीं। आप की आचारनिष्ठा का जैन अजैन सभी समाजों पर अधिक प्रभाव है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि आप ने अपने मार्ग में कभी

किसी समाज को अन्धविश्वासी तथा भ्रान्त नहीं बनने दिया। बल्कि समय आने पर विकट परिस्थितियों में भी अकथनीय धैर्य तथा दीर्घ-दर्शिता का समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है।

मैंने (वृद्धजनों से) वे दिन सुने हैं और अच्छी तरह सुने है जब कि आप अपनी साधना तथा आयु की प्रारम्भिक भूमिका मे चल रहीं थीं। दुर्दैवात्-स्नेह-संचारिणी कल्याणकारिणी मातृहृदया गुरुणी स्वर्ग सिधार गई। निस्सहाय वाला सी दशा में आप अपनी समाज का मुंह ताकने लगीं। अधिक देर न लगी जब कि आप की आत्मा पुकार उठी प्रभो ! तू धन्य है, और धन्य है तेरी सत्यस्वरूपा वाणी—

**कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति।**

मुझे अपनी किस्मत का फैसला खुद आप करना होगा और करना होगा अपने भविष्य का निर्माण भी। आप के इस साहस तथा दृढ़ता को सूक्ष्मदर्शी करुणार्णव परमोजस्वी चारि- निष्ठ श्रद्धेय गणाव-च्छेक स्वर्गीय श्री स्वामी लाल चन्द जी महाराज ने तुरन्त पहचाना, सम्भव है कवि का हृदय ऐसे अवसर पर ही उन्मत्त हो पुकार उठा हो कि—

**गौहर को जौहरी सराफ़ ज़र को देखते हैं।**
**बशर को देखने वाले बशर को देखते हैं॥**

कोटि कोटि अभिवन्दनीय श्रमण भगवान महावीर के चरण-चिन्ही आप उनके अपने आदर्श को अभिमुख करके कार्यक्षेत्र में आ उतरे। चन्दनबाला की तरह चन्दा की विपत्ति का हरण हुआ, समाज का कटु अपवाद सह कर भी।

महाराज श्री जी का सहयोग पा कर आप श्री ने सीप का ज्वलन्त उदाहरण चरितार्थ किया। जो कि स्वाति-बिन्दु से न केवल अपनी तृषा बुझाती है प्रत्युत समय आने पर मोती भी उगलती है। सचमुच आप श्री ने अपने चारित्र तथा सारगर्भित उपदेशों से अनेक अमूल्य मोती दिये जिनसे समाज चिरकाल तक समृद्ध रहे। आपने नग्न पादयात्रा द्वारा अबोध सुप्त समाज का जगह २ पर जो सन्मार्ग दिखाया है उस से समाज उऋण नहीं हो सकती। आप की अपने

तपस्या के प्रभाव ने आप को ७८ वर्ष की आयु दी, जिस में से ६६ वर्ष साधुजीवन की सफल साधना में लगाए।

परन्तु ३-८-५२, का ११ बजे का अदर्शनीय दृश्य 'वज्रादपि कठोरम्' का चित्र पेश करता है। यह सब असह्य है फिर भी मेरी भावना है–

स्वर्गीया अमर चन्द्रा जी ! चन्द्रवत् शीत ज्ञान-रश्मियों से आपने जो अबोध भटके असित प्राणियों को सन्मार्ग-सान्त्वना दी है इस का मुझे विशेष गौरव है।

हे दिव्यात्मा साध्वी जी ! आप का आदर्श जीवन जैन अजैन समाज के सुधार में इतना सफल हुआ है कि वह युग युगान्तों तक ऐतिहासिक साहित्य में अमर रहेगा। मेरी सदा यही हार्दिक भावना है कि आप इस विनश्वर शरीर को छोड़ कर स्वर्ग में भी पाकचन्द्र रश्मियों से सर्व वातावरण को प्रकाशित करें। तथा दिव्य शक्ति द्वारा लौकिक जनों को चन्द्रकिरण देकर शान्ति प्रदान करें। एवं स्वयं सर्वत: सुखसाम्राज्य की शरण में निवास करें।
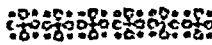
## मेरे उद्गार

(लेखक—मुनि श्री रामलाल जी म० के सुशिष्य श्री अजीतकुमार जी)

संसार परिवर्तनशील है। सूर्य भी उदय हो कर अस्ताचल की ओर अपनी शुभ्र किरणों से अन्यान्य परिजनों को हर्षित कर स्वयं दुःखित मन लेकर जाता है। संसार में ऐसा कोई मानव नहीं, जो अपने भौतिक शरीर को लेकर अभी तक जीवित रहा हो। संसार में ऐसा कोई प्राणी भी नहीं जो आवागमन के वज्र-मय चक्र से अछूता रहा हो। चक्रवर्ती सम्राट से लेकर हरिजन तक इन में ऐसी अलौकिक शक्ति का निर्माण भी नहीं हुआ, जो इहलौकिक-देह सहित अपना जीवन रख सकता। न तो ऐसी शक्ति का अभीतक वैज्ञानिक अनुसंधान हुआ है और न कभी भविष्य के, अन्तराल में ऐसी अनहोनी-घटना हुई है।

पुष्प भी प्रातःकालीन अपनी एक मुसकान से, सुन्दरता से व अपने सुगन्ध-मय वातावरण से प्रत्येक मानव को आकर्षित कर लेता है। इसी प्रकार इस नश्वरमय संसार के सहस्रों मनुष्यों में एक ऐसा भी प्राणी जन्म लेता है, जिस के शुभनाम को जन-मन-गण युगों तक अपनी स्मृति में संजोये रखते हैं।

सतीशिरोमणि चन्दा जी इस प्रकार की एक आत्मा थीं। सती जी ने शैशव-काल मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। शनैःशनैः तभी से अपने ज्ञान-वृद्धि का भरसक प्रयत्न किया और उस प्रयत्न का मीठा-फल आपको उपलब्ध भी हुआ। जैनशास्त्रों का तो अपने विशेष ही शिक्षण प्राप्त किया। परन्तु अन्य शास्त्रों का आपने अध्ययन कर अपनी विद्वत्ता में चार-चांद लगा दिए थे। जैन सिद्धांत की आप प्रकांड विदुषी थी। और आप धर्मोपदेशिका भी परले सिरे की थीं। जब आप व्यख्यान सुनाते तो श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते तथा आपको वह आपने जीवन-पर्यन्त तक भुलाए भी नहीं भूलते।

यह बात प्रकृतिसिद्ध है कि मानवमात्र में एकाध गुणावगुण हुआ करते हैं। परन्तु सती जी मे कोई भी अवगुण नहीं था, वे सर्व-गुणसम्पन्ना थीं। शास्त्रार्थ करने में आप अत्यन्त चतुर थीं। विपक्षी को आपके सामने कुछ ही क्षणो में पराजित होना पड़ता था। कारण कि यह गुण आपको पैतृक संपत्ति के रूप मे आप की गुरुणी स्वर्गीय पंडिता सती श्री पन्ना देवी जी म० से मिला था। आप सती जी की योग्य शिष्याओं में से एक थीं। संयम में आपने अपना जीवन ६६ वर्ष तक व्यतीत कर इहलौकिक लीला पूर्ण की थी। आपका विचरण विशेष-तया पंजाब में ही होता था। आप बड़ी ही शान्तमूर्ति थीं। जो शांति आपके मुखमंडल से स्पष्टतः झलकती थी। आपकी वाणी में मिठास था जो मानव आपके मुख से एक शब्द भी श्रवण कर लेता वही मानव फिर दोबारा आपका उपदेश हरदम सुनने को उत्सुक रहता था।

आज का समाज उन का सती-समाज से विलग रहना बड़ा ही अपूर्णता का कटु अनुभव कर रहा है, जो हमारे हृदय को विदग्ध कर रहा है। अन्त में शासन देव से यही प्रार्थना है कि मृत्युप्राप्त

आत्मा को चिरशांति प्राप्त हो। तथा स्वर्गीय सती जी के संतप्त शिष्या परिवार को धैर्य प्राप्त हो। मैं स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति ये तुच्छ श्रद्धा के अधखिले सुमन समर्पित करता हूँ।

# शान्ति की सरिते !

(लेखक—पण्डित श्री मनोहर मुनि जी म० 'कुमुद')

चन्दे ! कोई कहता है कि तू थी एक 'विदुषी'
किसी के मुख से सुनता हूँ कि तू थी एक 'पण्डिता'
समाज मानता है तुझे 'सयम की प्रतिमा'
ठीक है, तू सब कुछ थी किन्तु मेरे नयनों ने जब निहारा तुझे
तो मेरा मन बोल उठा झट ही, कि यह तो है 'शान्ति की सरिता'
तू ने अपनी एकान्त साधना से पाई 'शान्ति की अनुपम लक्ष्मी'
तेरे मुख से झरते थे 'शान्ति के प्रसून'
तू ने वसुधा पर प्रवाहित की 'शान्ति की मन्दाकिनी'
तेरा हृदय था, शान्ति का पुनीत-मन्दिर
तेरे नयन थे, शान्ति के दो पुण्डरीक
तेरा मस्तिष्क था 'शान्ति के समुज्वल विचारों का एक पुञ्ज'
तेरी अंगुलियों ने किए, शान्ति के अमर सकेत
तेरे दर्शन मे बरसती थी, शान्ति की सुधा धारा
तेरा समस्त जीवन था, 'शान्ति का एक निर्झर'
तू बरसी धरातल पर बन कर, 'शान्ति का वारिवाह'
हा ! जब तू चली त्याग कर निर्जीव देह
तो वह भी थी शान्ति का मूक पुतला
हा ! धधकती चिता से उठी भस्मकारी ज्वाला,
किन्तु तू पड़ी रही 'शान्त' उस की गोद मे
तेरे शरीर का कण कण विश्व के कण कण से
अब एकाकार है 'चन्दे' !

तेरी भस्म की राशि है 'शान्ति की राशि'
तेरी चिता अब है, 'शान्ति का क्रीड़ास्थान'
तेरी समाधि है, 'शान्ति का प्रतीक'
तू चली गई शान्ति के 'अमर लोक' में
और हम खड़े हैं अभी तक 'अशान्त'
पर शान्ति की आशा में।

# दिव्यात्मा के प्रति

(लेखिका—बालब्रह्मचारिणी आर्या श्री लज्जावती जी महाराज)

परम श्रद्धेय गुरुणी जी! आप श्री के पवित्र चरणों में अपनी श्रद्धा के पुष्प किस पद्धति से अर्पित करूं? यह मेरे लिए एक गभीर समस्या है। आप के सम्बन्ध में कुछ कहना निर्बल भुजाओं से समुद्र को पार करना है। पर हृदय कहता है असमर्थता के भय से मौन हो बैठ जाना ठीक नहीं। क्या बालक लड़खड़ाती टांगों से अपनी माता के पास जाने का प्रयास नहीं करता? बच्चे का लड़खड़ा कर पास में आने का प्रयत्न क्या माता के आनन्द का कारण नहीं होता? फिर उत्साह-हीन क्यों होऊं। बस इसी अन्तःप्रेरणा से श्रद्धेय गुरुणी जी! कुछ कहने का साहस करने लगी हूं।

स्वनामधन्या गुरुणी! साध्वी धर्म का, परिपालन करने में आप जहां सतर्क थीं वहां आप साध्वियों के नेतृत्व करने में भी सिद्धहस्त थीं। आप श्री की छत्रछाया तले सयम की सर्वतोमुखी वृद्धि पा कर अनेकानेक द्विपद जन्तु मानवता के पथ के पथिक बने हैं। आप जन-मानस को चन्द्र की भांति सौम्यता का मधुर एवं सरस सन्देश देने आई थीं।

बहुश्रुत गुरुणी जी! मैं आप के शास्त्रीय ज्ञान का किस मुंह से वर्णन करूं? शास्त्रों के मर्म को आप ने खूब पहचाना था। अनेकों विकट समस्याएं आप श्री के ज्ञानशासन में समाधान पाया करती थीं।

आप श्री के अपूर्व शास्त्रीय ज्ञान को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सरस्वती आप के रूप में ही भूतल पर अवतरित हो रही है।

करुणाशील गुरुणी जी! कामधेनु के सम्बन्ध में सुना जाता है कि इस के आश्रय में आने वाला व्यक्ति आनन्द मंगल को प्राप्त करता है। वहां उस की समस्त मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं तथापि वह अपने से दूर रहने वाले व्यक्ति को कोई लाभ नहीं पहुँचाती। इस दृष्टि से आप कामधेनु से भी बढ़ कर हैं। आप का हृदय शरण में आने वाले और दूर रहने वाले, अधिक क्या आप का अनिष्ट चाहने वाले, व्यक्तियों का भी हितचिन्तक एवं मंगलकामुक रहा है। आप का हृदय सभी की मंगल कामना का केन्द्र बना रहता था। ऐसी दशा में कामधेनु से आप की समानता कहां?

व्याख्यात्री गुरुणी जी! महापुरुषों की वाणी अन्तर्जगत की उच्चता एवं पवित्रता का समुज्ज्वल प्रतीक हुआ करती है। इसी बात को ध्यान में रख कर नीतिज्ञों ने कहा है "सहस्रेषु पंडित', वक्ता शतसहस्रेषु" अर्थात् हजारों में एक पंडित होता है और लाखों में कहीं एक वक्ता मिलता है। योग्य वक्ता होना वस्तुत' एक असाधारण बात है। आप श्री अपने युग की एक महान विशिष्ट वक्त्री थीं। आप की वाणी में सुधा रस छलकता था। एक बार जिस ने आप श्री का प्रवचन सुना वह सदा के लिए आप श्री के चरणकमलों का भ्रमर बन गया। आप की अमोघ वाणी ने किस किस जीवन का उत्थान, निर्माण और कल्याण किया, यह तो विस्तारपूर्वक आप श्री के जीवनवृत्तों में वर्णित किया गया है। परन्तु मैं तो इतना ही निवेदन किये देती हूं कि असंख्य नर नारियों ने आप की वाणी के नेतृत्व में अपना भविष्य उज्ज्वल, अत्युज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाया। इस के अतिरिक्त आप श्री की वाणी में वह जादू था कि क्या बालक, क्या तरुण, क्या विज्ञ, क्या अनभिज्ञ सभी पर उस ने अपना अद्भुत प्रभाव डाला। आप की वाणी में सब से बडी विशेषता यह थी जहां आप आत्मसुधार के लिए जोर दिया करती थीं वहां आप श्री ने समाजसुधार तथा राष्ट्रसुधार पर भी पूरा पूरा बल दिया। आप के भाषणों में सभी दृष्टिकोण उचित

स्थान एवं समाधान पाते थे ।

राष्ट्र की पुण्य विभूति गुरुणी जी ! आप एक सम्प्रदाय की अग्रगण्य महासती होते हुए भी विचारसंकीर्णता से कोसों दूर थीं, जैन अजैन सभी का कल्याण आप का ध्येय था । आप श्री ने जनकल्याण के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए । बम्बई से ले कर रावलपिण्डी तक के प्रान्तों को आप श्री ने अपने आचार विचार तथा भाषणों से सत्पथ दिखाया । लक्ष्यपूर्ति के लिए यथासंभव प्रयास किया । बाधाओं का हृदय से स्वागत किया । प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी इष्टसिद्धि के लिए सैनिक की भांति अग्रसर होना आप श्री का ही काम था । यदि आप को राष्ट्र की पुण्य विभूति कहूं तो उचित ही प्रतीत होता है ।

अमर गुरुणी जी ! यह ठीक है कि आज हमें अपने दुर्भाग्य से आप श्री के पार्थिव शरीर के दर्शन नहीं हो रहे । परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आप के गुणों का प्रकाश संसार में अमर रहेगा । और युग युगान्तर मे भी पथभ्रष्ट पथिकों को सत्पथ दिखाता रहेगा ।

महामहिम गुरुणी जी ! आप श्री के गुणों का वर्णन कहां तक किया जाए ? मेरी लेखनी में इतना सामर्थ्य कहां ? जो आप श्री के गुणों का पार पा सके । भला कहीं समुद्र के जलकणों की गणना की जा सकती है ? हृदयस्थ श्रद्धाकणों को मेरी चर्मजिह्वा जब प्रकट करने में ही असमर्थ है तब उन की गणना कैसे हो । आप आप ही थीं ! अन्त मे आप श्री के पावन चरणों में अपने श्रद्धा के पुष्पों को अर्पण करती हुई मै यह मंगल कामना करती हूं कि आप का मंगलमय वरद हस्त सदा मेरे ऊपर बना रहे, जिस से मै आपश्री के पदचिन्हों पर चल कर अपने जीवन को सफल बनती हुई समाज तथा राष्ट्र के उत्थान में अधिकाधिक पुण्यमय प्रयास करे सकूं ।

# श्रद्धा के तुच्छ पुष्प

(लेखिका—घोरतपस्विनी महासती श्री सौभाग्यवती जी महाराज)

परमपूज्या गुरुणी जी !

आपके अवर्णनीय असंख्य गुणों का वर्णन करने की सामर्थ्य किस में है ? यदि स्वयं बृहस्पतिदेव भी आपके गुणों का क्रमशः वर्णन करना चाहे तो वह भी आपके गुण वर्णन मे असमर्थ है। फिर मैं तो हूँ किस गिनती मे, आपके गुण-कीर्तन मे मेरा प्रयास भी इसी भांति विफल है, जैसे वर्षा की एक बूंद का उदधि के स्वरूप मे हो समस्त पृथ्वी का आप्लावित करना अथवा मिट्टी के एक रजकण का आलीशान विशालभव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहे। जैसे यह सब कुछ असंभव है ऐसे ही मुझ तुच्छ के द्वारा आपके असंख्यातीत गुणों का वर्णन सर्वथा असंभव है, क्योंकि आपके गुण तो असंख्य है और मेरी वर्णन करने वाली एक नन्हीं सी जिह्वा ? कहां सूर्य का प्रकाश और कहां क्षुद्र दीपक की टिमटिमाती लौ ! कहां बहुमूल्य हीरे की दिव्यकिरणें और कहां कांच की टुकड़ी ! जैसे इन वस्तुओं का मेल असंभव है ऐसे ही मुझ दुर्मुख के मुख से आपका यशोगान होना सर्वथा असंभव है, फिर भी हृदयसागर मे उठती हुई भक्ति की उत्ताल तरगों को वशीभूत करने के लिए कुछ लिखे बिना न रहूँगी। क्योंकि जैसे सूर्य के सदृश कोई तेजस्वी नहीं, बड़े २ महाकाय विशाल वृक्षों को गिरा देने वाले प्रभंजन के सदृश किसी का वेगवान प्रवाह नहीं, वर्षाकालीन विद्युतआभा के समान कोई चंचल नहीं और मोक्ष के अतुल सुखों के समक्ष दूसरा कोई सुख नहीं। इसी प्रकार इस विशाल विश्व मे मेरे मन-मन्दिर मे निवास करने वाला आपके सदृश अन्य कोई नहीं है। निस्सन्देह ! आज आप अपने भौतिक शरीर द्वारा इस असार संसार मे विद्यमान नहीं हैं किन्तु आपकी निर्मल यश रूपी चन्द्रिका दिग् दिगन्तों तक फैली हुई है।

आपका जीवन एक ऐसा खिला हुआ पुष्प था जिसने कभी संकटों से मुरझाना न सीखा परन्तु दिन प्रतिदिन संघर्षों का सामना करता हुआ अधिकाधिक विकसित होता रहा और विश्व को अपने ज्ञान-सौरभ से अन्त तक विमुग्ध करता रहा ।

हे विश्ववन्द्या देवी !

जिस प्रकार मेघ ऊंच नीच का भेद भाव त्याग कर प्रत्येक स्थान पर अपना विशुद्ध जल बरसाता है उसी प्रकार आपने अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, पात्र-अपात्र, दुःखी-सुखी, धनी-निर्धन, तथा राजा, भिखारी सब ही को ज्ञानामृत पिलाकर कृतार्थ किया। आपके क्रान्तिकारी भ्रमणो से प्रत्येक आबाल वृद्ध के हृदय पर वो अमिट छाप पड़ी है कि आज भी आपकी यशोकीर्ति गुजरात, मारवाड़, मालवा, यू पी, सी पी तथा पंचनद प्रदेश के कोने कोने मे व्याप्त है। आपके दर्शन करने के पश्चात् प्राणी का हृदय आनन्दातिरेक से इस प्रकार गद्‌गद् हो जाता था जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्र को देख कर सागर में ज्वार आजाता है।

आपकी वाणी जिज्ञासुओ की पिपासा शांत करने लिए शीतल जल का काम देती थी। श्रोताओ से यदि प्रश्न किया जाता कि आप को प्रचण्ड ग्रीष्म की दुपहरी में शीतल पेय की इच्छा होती है, या साध्वी जी के ज्ञानामृत परिपूर्ण भाषण श्रवण की उत्कंठा ? प्रत्युत्तर मिलता कि जो आनन्द महासती जी के सारगर्भित प्रवचनो से प्राप्त है, वह अकथनीय आनन्द शीतल पेय पदार्थो मे कहां ?

आपने अल्पायु मे ही दीक्षित होकर संसार को बतलादिया कि यह संसार एक महा भयावह विकट अटवी है, जिसमें चतुर्गति रूप चार मार्ग है, प्राणी एक पथिक की भांति इस मे विचरण कर रहा है किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार रूप दस्यु उसे पथभ्रष्ट कर रहे हैं, पग२ पर कांटो के जाल बिछे हुए है, सम्हल २ कर चलोगे तो इस दुस्तर मार्ग को शीघ्र ही पार कर कर जाओगे।' इस प्रकार आपने देश के कोने कोने में अहिंसा, तप, संयम रूप धर्म का प्रचार करके विश्व की समस्त शक्तियों को अपने आगे नतमस्तक कर लिया।

हे विश्वज्योति !

निस्सन्देह ही, आप जगज्जननी माता हर्ष की अजिर में एक महान् ज्योति रूप ही अवतरित हुई थीं, और मातृहृदय आपके उस अलौकिक आलोक को देख कर अपार प्रसन्नता का अनुभव करने लगा। समय पाकर वही पुञ्जीभूत दिव्यप्रकाश माता की गोदी मे ही

सीमित न रहकर सीमातीत होगया और आपने अपनी विलक्षण आत्म-ज्योति से विश्व का कण कण प्रकाशित कर दिया ।

आपने अपने जीवन को दीर्घकालीन तप, त्याग, तपस्या व संयम की कसौटी पर कस कर शुद्ध स्वर्ण की भांति बना लिया था, आपकी आत्मिक निष्ठा के सन्मुख बड़े २ सत्ताधारी नतमस्तक थे, आपका आत्मिकबल अनंत था, आपके पांडित्य के उपेक्षक, बड़े २ वादी-प्रतिवादी, जो कि अहंकार के वशीभूत हो कर आप को तिरस्कृत करने आते थे वह भी आप के मुखमडल पर अक्षय ज्योतिपुञ्ज को देख शिशु की भांति अपने को अबोध मानने लगते थे। मानव तो क्या, बड़े बड़े क्रूर, हिंस्र प्राणी भी आप के समक्ष आने पर कुछ क्षणों के लिए अपनी हिंसक प्रवृत्ति को भूल जाते थे। यह थी आप के आत्म-बल की महत्ता। हृदय में अथाह ज्ञान-समुद्र होते हुए भी मुख पर शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था, यह शान्ति ही आप के दिव्य जीवन की मानो एक परम निधि थी। आप का अंत. करण दया, प्रेम, भक्ति, लोकसेवा, सत्यनिष्ठा, विनीतता, सरलता, क्षमा, धृति तथा उच्चादर्शों का निर्मल स्रोत था, आप अहिंसा एवं सत्य की तो साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थी, आप नारी-जाति का गौरव एवं देश का प्राण थी। निस्सन्देह, आप का उद्भासित आदर्श जीवन प्राणिमात्र के लिए युग युग तक प्रकाश-स्तम्भ बना रहेगा।

हे अद्वितीय चान्द !

आप का नाम यथार्थ ही था, आपने 'यथा नाम तथा गुणः' वाली उक्ति को अक्षरशः चरितार्थ कर दिखाया और अज्ञानांधकार में पथभ्रष्ट मानव को आपनी शुभ्रज्योत्स्ना द्वारा सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप सत्य मार्ग प्रदशित कर उस पर चलने का उपदेश दिया। आकाशस्थित चन्द्र की कलाएं कभी वृद्धि गत होती हैं तो कभी क्षीणता को प्राप्त हो जाती हैं किन्तु आप की कलाएं तो दिन प्रतिदिन बढ़ती ही रहीं और विश्व को प्रकाशित करती रहीं, जैन समाज आप को पा कर गौरवान्वित था कि आप जैसे षोड़श कला युक्त पूर्ण चन्द्र उस के तारक-समूह से परिपूर्ण गगन की शोभा को अपनी अपूर्व ज्योत्स्ना से द्विगुणित कर रहे थे। किन्तु समाज के सौभाग्य की वृद्धि क्रूर काल से

न देखी गई, और अकस्मात् ही जैन समाज के गगन पर गहन तमिस्रा छा गई और चमकता हुआ चांद क्षितिज के उस पार अपना प्रकाश फैलाने चला गया। सच है-जिस की यहां आवश्यकता होती है, उस की आवश्यकता वहां भी होती है, मृत्यु भी उस का सहर्ष स्वागत करती है, और जिस व्यक्ति की यहां कोई चाह नहीं, जो पृथ्वी पर भारभूत ही है, जिस के द्वारा किसी का कोई हित साधन नहीं होता, उस से तो मृत्यु भी दूर जाती है और उस की दूसरे लोक मे कोई पूछ भी नहीं होती। समाज को अभी आप की बहुत आवश्यकता थी किन्तु काल की कुटिल गति किसी से छुपी नहीं है।

हां तो, उस चन्द्र के अदृश्य हो जाने पर समाज रूपी गगन का जो स्थान रिक्त हुआ है, उस स्थान की पूर्ति तो युग युगान्तरों मे भी असंभव है, निस्सन्देह, आज आप अपनी पार्थिव देह द्वारा हमारे बीच नहीं है और हमे अपनी पुनीत सेवा से सदा के लिए वंचित कर हमारी आंखों से अदृश्य हो गए है किन्तु आपकी यशो-सुरभि चहुं ओर प्रसारित है और जब तक नभ के विशाल वक्षस्थल पर चन्द्र सूर्य स्थित रहेगे, तब तक आपकी यशोगाथा अमर रहेगी

इस प्रकार हे मेरी अंतर्ज्योति, मेरे हृदय-मन्दिर की अधीश्वरी! शत शत जिह्वाएं भी आप के गुणवर्णन मे असमर्थ है। अन्त मे मैं आप के पावन पादाम्बुजो मे अपने श्रद्धासुमनों को भेट करती हुई यह प्रार्थना करती हूॅ कि हे दिव्य ज्योति! आप मुझे ऐसा बल प्रदान करे, जिस के द्वारा मैं भी आप के पथ का अनुसरण करती हुई अपनी आत्मा का उत्थान कर सकूं।

## श्रद्धा के पुष्प

(लेखिका—बालब्रह्मचारिणी कवयित्री महासती श्री सीता जी महाराज)

तर्ज—राधेश्याम

श्री महासती के जीवन को, लिखना बुद्धि से बाहिर है ।
केवल इन पद्यों से मेरी श्रद्धा भक्ति ही जाहिर है ॥१॥
घनघोर घटा घिर कर आई, अम्बर में बादल छाये थे ।
उस समय प्रकाश फैलाने को, चन्दा जी भू पर आये थे ॥२॥
चमकीं और चमकाया जग को, बस ज्ञानमयी निज किरणों से ।
भारत भूमि पावन कर दी, फिर तुम ने अपने चरणों से ॥३॥
गंगा की निर्मल धारा सम, तेरा व्याख्यान प्रवाह बहा ।
तेरे भाषण को सुनते ही, अभिमानी में नहीं मान रहा ॥४॥
जीवन मे लाखों बाधायें, आ करके तुम्हें डराती थीं ।
शान्ति के श्रोत में नहा कर के, वह शान्तमयी हो जाती थीं ॥५॥
'सिंह' जैसे हिंसक जन्तु से भी, तूने भय नहीं खाया था ।
बस प्रभु का नाम सिमरते ही, झट आगे कदम बढ़ाया था ॥६॥
महासती ने ज़र्रे २ को शान्ति की झलक दिखाई थी ।
तप करके तप की अग्नि से, एक निर्मल जोत जगाई थी ॥७॥
तेरी समाधि के सुमन आज, खिल २ कर सबक सिखाते हैं ।
महको, महकाओ तुम जग को, बस यही हमें समझाते हैं ॥८॥
'विरही को विरही की वाणी, योगी को योग प्यारा है ।
ऐसे मेरे मनमन्दिर में, बस केवल वास तुम्हारा है ॥९॥
आंखों से बेशक दूर हुए, पर दिल से दूर ना कर देना ।
भगवान् की भांति भक्ति के वश हो, सुधि आ जल्दी लेना ॥१०॥
हृदयवीणा की तन्त्री से निकली हुई इक झंकार है यह ।
बस दर्दी दिल से उठी हुई, एक दर्द भरी पुकार है यह ॥११॥
जब याद तेरी आती मुझ को तब ऐसी दशा है बन जाती ।
उस मीन बेचारी से पूछो जो जल बिन क्षण में मर जाती ॥१२॥

हृदय से उठ कर सघन घटा नयनों में बस छा जाती है।
फिर गम की हवाएं लगते ही फौरन जलकण बरसाती है ॥१३॥
तेरे पदपंकज में 'सीता' श्रद्धा के पुष्प ये लाई है।
अंजलि मे ले के आज उन्हें तेरे चरणों में आई है ॥१४॥

# विश्वविभूति

(लेखिका—बालब्रह्मचारिणी आर्या श्री सावित्री देवी जी म०)

यद्यपि सूर्य की प्रखर किरणों के सन्मुख दीपक जलाना अपनी मूर्खता दिखाना है। तथापि मकान के जिस भाग में सूर्य की किरणे नहीं पहुँच पाती वहां दीपक से ही काम चलाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार आप स्वयं अपने सद्गुणों के प्रकाश से हिन्दोस्तान भर में प्रकाशित है परन्तु फिर भी आने वाली पीढ़ियों को आप के जीवन परिचय के लिए प्रस्तुत पुस्तक दीपक का काम करेगी।

निःसन्देह विद्वज्जनों ने आप के विषय में अपने सुन्दर विचार प्रकट किए है, मेरे हृदय मे भी उमग पदा हुई कि आप के विषय में मैं भी अपने टूटे फूटे दो शब्द लिख डालू, जो कि निम्नलिखित हैं—

सतीशिरोमणि! सचमुच ही आप सतियो में शिरोमणि थीं आप का जीवनसमाज का जीवन था, आप समाज की अपूर्व निधि थीं। जैन समाज आप के उपकारों का ऋणी। है धर्म के नाते आप समाज की सर्वस्व थीं। विद्यावृद्धा! मैं आप की विद्या की किस मुंह से प्रशंसा करू? आप विद्वत्ता की साक्षात् प्रतिमा थीं, मानों सरस्वती आप पर मुग्ध थी। परिणामतः आप को विद्याक्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

दुःखविदारिका तथा सुखप्रसारिका! आप को यदि कल्पवृक्ष की उपमा दी जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी, व्यथित प्राणियों की व्यथा से आप का हृदय द्रवीभूत हो उठता था। दुःखी व्यक्तियों को देख कर

आप भी दुःख का अनुभव करने लगती थीं और उन के सुख की मंगल कामना करती थीं।

अज्ञानतिमिरनाशिका! अज्ञान की आप सदा विरोधी रहीं, और ज्ञान मे आप की अटूट मैत्री थी, आप के दिव्य ज्ञान ने ही आप को चमकाया था, अज्ञान को आप ने पछाड़ डाला था। अज्ञानरूपी रोग से पीड़ित कोई व्यक्ति यदि आप के सन्मुख आता तो आप अपनी ज्ञान की औषधि से तुरन्त उस को स्वस्थ कर देती थीं। जिन वाणी प्रसारिका! आप की वाणी मे अलौकिक शक्ति थी आप ने जैन धर्म का प्रचार भारत के कोने कोने मे प्रसारित किया, आप के मुखारविन्द से निकला हुआ एक एक शब्द मुहृदयों के हृदय स्थल पर अंकित हो जाता था। अर्थात् आप की एक एक शिक्षा जीवनोपयोगी होती थी।

देश तथा समाज की उद्धारिका! आपने समाजसुधार के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया, धर्मच्युत व्यक्ति को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान कर खड़े किया, और सत्पथ दर्शाया।

स्नेहसरिता! आप का विश्व प्रेम अवर्णनीय है। संसार भर के प्रत्येक जीव से आपकी मैत्री भावना थी, मनुष्य तो क्या हिंसक पशुओं को भी आप आत्मवत् समझती थीं, जो आप की चरण-शरण मे एक बार भी आ जाता वह स्नेह-सम्पत्ति से सम्पन्न हो कर ही जाता था।

विश्वविभूति! आप एक व्यक्ति तथा संप्रदायविशेष की नहीं विश्व की विभूति थीं। आप के गुणों का वर्णन कहा तक किया जाए, मेरी लेखनी मे इतनी सामर्थ्य ही कहा है? आप के गुणों का जो अनुभव मेरे चित्त को है उसे क्या यह चर्म-जिह्वा कह सकती है। अर्थात् आप के प्रति मेरे हृदय मे जो श्रद्धा है उसे हृदय ही अनुभव कर सकता है।

विश्व की दिव्यज्योति! सचमुच आप ज्योति रूप थीं, संसार मे प्रकाश फैलाने आई थीं और उसे प्रकाशित करके स्वयं प्रकाश रूप मे लीन हो गई, आप जैन समाज की सतीशिरोमणि थीं जिसे खोकर जैन समाज जो क्षति पहुँची वह कालान्तर में पूरी होनी अत्यन्त कठिन है। इस जन्म

में आप की शारीरिक आकृति के दर्शन असंभव हैं परन्तु आप के गुणों का प्रकाश संसार मे सदैव अमिट रहेगा। अतः आप स्वर्गीया होने पर भी अमर है। अन्त में यही हार्दिक कामना है कि आप के चरण-कमलों में मेरी अटूट श्रद्धा बनी रहे और मैं भी आप के चरणचिन्हों पर चल कर अपने जीवन को कृतार्थ कर सकूं।

## श्रद्धांजलि

(लेखक—श्री रला राम जैन, बी. ए., पी. सी. एस. रिटायर्ड भूतपूर्व सेशन जज, रियासत चम्बा)

मैं पसरूर में जून सन् १६१० से फरवरी सन् १६१३ तक मुंसिफ था। आज कल मुंसिफ को सबजज कहते हैं। पसरूर ज़िला स्यालकोट में एक प्रसिद्ध नगर है। १६१० में स्थानकवासी जैनियों के वहां लगभग ८० घर थे। मेरी मौजूदगी मे सती श्री चन्दा जी म०का चातुर्मास बड़ी धूमधाम से हुआ था। उस समय पहली बार मुझे उन के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लाला बसन्त लाल अग्रवाल पसरूर में तहसीलदार थे। वे भी मेरे साथ समय समय पर सती जी के दर्शनों के लिये जाते थे और धर्म के विषय में बातचीत कर के सदुपदेश का लाभ प्राप्त किया करते थे। पसरूर के चातुर्मास के पश्चात् मै अवसर मिलने पर सन् १६५२ तक उन के दर्शन करता रहा। स्वर्गीय सती जी को जैन सूत्रों के अतिरिक्त भगवद्गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान था। उन्होने संयम को अति उत्तम रीति से निभाया। वे एक बाल-ब्रह्मचारिणी आदर्श सती थीं। और स्थानकवासी जैन समाज उन के उपकार को कभी नहीं भूल सकती। मुझ को पूर्ण आशा है कि उनकी शिष्या सती महाराजगण उन के उपदेश का आचरण करती हुई जैन समाज के नाम को उज्ज्वल करेंगी। इन शब्दों के साथ मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि स्वर्गीय सती जी को अर्पित करता हूं।

# पवित्र स्मृति

(लेखक—श्री किशोरीलाल जैन बी. ए. आनर्ज, एलएल बी. एडवोकेट, प्रधान ऐस. ऐस. जैन सभा फरीदकोट, पैप्सू)

पूजनीय श्री चन्दा ! तू जैन धर्म के आकाश का एक चमकता चान्द थी और तेरी सफेद, शीतल तथा भीनी-भीनी चान्दनी से संसारी प्राणियों के हृदयों में रोशनी, ठण्डक और शान्ति पहुंचती थी। हमारी दुनिया से तेरे ओझल हो जाने से हमारी चमकती दुनिया अन्धयारी हो रही है। हमारा पथप्रदर्शन करने वाली दिव्य ज्योति हम से छिन जाने के कारण हम अपने मार्ग से भटक रहे है। तेरी चान्दनी की रोशनी, ठण्डक तथा शान्ति हम को रह-रह कर याद आ रही है। तुझे हजार बार नमस्कार।

ऐ सरस्वती देवी ! तू विद्या तथा अन्य गुणों का भण्डार थी। त्याग और संयम की एक बेनजीर मूरत थी। प्राकृत, पाली, मागधी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, नेपाली तथा अंग्रेजी भाषाओं में पारंगत थी। जैनागम, वेद, गीता, उपनिषद्, षटशास्त्र, महाभारत, रामायण, कुरान, गुरुग्रन्थसाहित्र तथा दूसरे धर्मों की पुस्तकें और उन के नियमों से पूर्णरूप से परिचित थी। तेरी रहस्यमयी, मनोहर तथा मीठी रसभरी वाणी आज भी कानो में गूंज रही है। तुझे हजार बार नमस्कार।

स्त्रीसमाजशिरोमणि ! तू स्त्रीजाति का गौरव थी। स्त्रीसमाज का शृंगार थी। तू ने स्त्रीसमाज से जहालत, मिथ्यात्त्व और वहम का अन्धकार दूर किया और अपने मनोहर तथा प्रभावशाली उपदेशों द्वारा प्राणियों की संकीर्णता को विशालता में परिवर्तित कर दिया। साथ ही युगों से पिछड़ी स्त्री जाति को आगे बढ़ने की प्रेरणा देकर, इस के भीतर साहस तथा जीवन पैदा किया। जैन समाज में स्त्री-शिक्षा का प्रचार आप के उपदेशों तथा प्रेरणाओं का परिणाम है। कई एक स्थानों पर कन्या पाठशालायें खोल कर स्त्री समाज को धर्म

का बोध दिया और उन के भीतर सादगी तथा शुद्ध चरित्र के अमूल्य गुण उत्पन्न किये। स्त्रियों को शिक्षित कर के उन के दिलों से मिथ्यात्व तथा बुरी रस्मों को दूर कर, समाज को धार्मिक तथा सामाजिक रीति से उन्नत किया। तुझे हज़ार बार नमस्कार।

ऐ शान्ति और धीरज की मूर्ति! बता! अब संसारी वासनाओं से लिप्त हृदय कहां से अपनी जलन दूर करें। संसारी झंझटों और उलझनों मे फंसी हुई आत्मायें अपने निर्वाण तथा मुक्ति के लिये किसकी ओर देखें? तू शान्ति की भण्डार थी। तेरी दिव्य मूर्ति के दर्शन पा कर मन में शान्ति और धैर्य पैदा होता था। तेरी ज्ञान भरी मधुर वाणी सुन कर कान और हृदय आनन्द अनुभव करते थे। तेरे शब्दों में एक अद्भुत बल था, जो श्रोताओं को उन पर आचरण कर देने पर विवश कर देता था। शोक! महा-शोक!! आज वह शान्ति और आनन्द का स्रोत हम से छिन गया। हमें कितने अभागे हैं। ऐ शान्ति की देवी! तुझे हजार वार नमस्कार!

जैन जनता, तेरी प्रेरणा भरी वाणी को, तेरी पथ-प्रदर्शक टार्च को, सोते हुओं को जगाने वाले तेरे झटकों को और गिरते हुओं को उठाने वाले तेरे उभारों को ढूण्ड रही है और उन्हे न पा कर मायूस हो रही है। तेरी शिक्षा की देन को स्त्रीसमाज, जब तक सूर्य और चान्द विद्यमान रहेगे, न भूलेगी। जैन समाज तेरे अहसानों के नीचे दब रही है और तेरे उपकार और सुधार को स्मरण कर कह रही है—तुझे हजार वार नमस्कार!

ऐ प्रकाशमान आत्मा! तू अपने ज्ञान की प्रकाशमान किरणे विश्व से फैला कर, हमारे हृदयों को प्रकाशित करती रह। ऐ मधुर तथा सुभाषिनी ध्वनि! तू फिर वायुमण्डल में वही विश्व प्रेम और शान्ति का गीत गाती रह, जिस से संसार आनन्द और मस्ती से झूमता रहे।

ऐ पवित्र और शान्त आत्मा! तू अपनी शान्तमयी प्रेरणाओं से तप्त हृदयो को तपश बुझाती रह। यही मेरी अभिलाषा है! तुझे हज़ार वार नमस्कार!

दिवंगत आत्मा, महासती श्री चन्दा जी महाराज के चरणकमलों में-

# विनीत श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—श्री पद्म चन्द जैन 'अनन्त' देहली)

संसार महान है। जो ज्ञान ध्यान, तप साधना में लीन रह कर प्रभुप्रेम और धर्म-राग में लीन रह कर, अनुपम भक्ति और प्राणी सेवा में अपना तन, मन और जीवन अर्पण कर संसार मे विचरण करते हैं; वस्तुतः संसार उन के लिये महान् है। समस्त विश्व उन के ज्ञान चक्षुओं की ज्योति से आलोकित रहता है। जन जन में उन के प्रति अटूट विश्वास हिलोरें मारता है। वह उन के दर्शनों की प्यास सदैव अपने में विद्यमान पाता है। चाहता है क्यों न अपलक नेत्रों से सदा उस महान् छवि के दर्शन करता ही रहे। अपना शरीर, अपने नेत्र पवित्र करता ही रहे।

यह भारत वसुन्धरा, ऋषभ और महावीर की वसुन्धरा है, जिस ने ज्ञानालोक से व्यक्ति को नहीं, जाति और देश को नहीं, विश्व को नहीं बल्कि तीनों लोक प्रकाशित किये, जिन की ज्ञान-रश्मि आज भी हमारा पथ-प्रदर्शित कर रही है और करती रहेगी। संसार ने इस ज्योति से अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत किया। अपने में एक नवीन रस, नई चेतना, नया प्रस्फुटन और नया ज्ञान अंकुरित पाया। उस के सहारे उस ने अपनी आत्मा को मानव शरीर का सहारा दे कर ऊंचा उठाया और त्याग वैराग्य की भावना में रमण कर के अपना व्यक्तित्व विकसित किया एवं जन जन को दीपक बनने का संदेश दिया।

उसी दीपक की लौ ने एक साध्वी में ज्ञान-लौ प्रज्ज्वलित की। सती ने उस लौ को सदा जाग्रत रखा। नियम, व्रत, साधना, तप, वैराग्य और जनहित का साधनारूपी तेल निरन्तर डाला और निकट आने वाली मुमुक्षु आत्मा में भी ज्ञान की प्रेममयी एक चिनगारी फूंक दी। और उस ने अपनी आत्मा का विकास किया।

सती श्री की महिमा मेरे वश से बाहर है। वह आत्मा महान् थी उस की महानता ही जन जन के लिये एक आदर्श है।

एक चन्दा था जो ज्ञानालोक से अवनी-आलोकित कर चला गया।
एक दीपक था जो ज्ञान-रश्मि से मानस चमका कर चला गया॥
एक पंडित था, जिस के प्रभाव में रहता था साधुसमाज।
एक जीवन था, संयम था जिस में, था विवेक अरु धर्म राग॥
सच्चरित्र, विद्वान्, साध्वी, शान्त, धैर्य अरु शीलवान।
तिमिरान्तक था, वर्धमान का अनुयायी था, सत्यप्रचारक चला गया॥

एक चन्दा था ... ...

युग युग तक जन जन याद करेगा गाथा तेरी।
सुन्दर वाणी, सरस, सुरीली, ममता मेरी॥
जीवन है क्षणभंगुर समझा, सत्यशील अरु—
प्यार बढ़ा कर चला गया

एक चन्दा था जो ज्ञानालोक से अवनि अलोकित कर चला गया।

अन्त में उस महान् आत्मा की चिरशान्ति की कामना करते हुये मूक श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता हूँ।

# श्रद्धेया गुरुणी जी

(लेखक—श्री कुशलाल ओसवाल सदरबाजार देहली)

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमात्यस्य
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति॥

प्रातः स्मरणीया, सौम्यमूर्ति, धर्मधुरीणा महासती चन्दा देवी जी म० के आदर्श व्यक्तित्व से कौन अपरिचित है? राजपूत कुलावतंस उस वीराङ्गना ने जीवन के प्रभात में जैनदीक्षा ग्रहण कर जीवन के अस्त तक उसे राजपूती आन से ही निभाया। संयमरूप कठोर असिधारा पर अडिग और अविचल भाव से स्थिर रह कर भारत में घर २ वीर प्रभु के सन्देश का आलख जगाया। जगत के जरा, जन्म, मरण, आधिव्याधि से सन्तप्त प्राणियों को जिनवाणी का अमृत पान करा के

धन्य कर दिया। राजा-रङ्क जो भी उन के सम्पर्क मे आया उन के आदर्श विचार और अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित हुए विना न रह सका।

महासती चन्दा देवी जी अपने भगीरथ प्रयत्न, अनथक उत्साह से धार्मिक प्रचार और प्रभावना का जो ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित कर गई हैं। आगे आने वाली पीढ़ियां उसे जीवनपथ और प्रकाशस्तम्भ के रूप मे सदा स्मरण करती रहेंगी। ऐसी ही महान विभूतियां किसी देश, जाति या समाज का स्थायी सम्बल, निधि और इतिहास होती हैं।

इस परिवर्तनशील संसार से "जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च" के नाते जाना सभी को है। परन्तु जो अपने दिव्य कर्मों से विश्व का कल्याण करते है, वे भौतिक शरीर से न रहने पर भी अमर हो जाते हैं। महासती चन्दा देवी जी भी उन्हीं मे से थीं—

"कर्तव्य करके वीर जो बलिहार हुए है,
अपनी जाति के लिये वेही श्रृंगार हुए हैं।
मेट अधर्म, धर्म की रक्षा जिन्होंने की,
सच पूछिये तो बस वे ही अवतार हुए हैं॥"
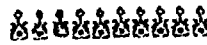
# श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—श्री कांशीराम जी चावला, पैन्शनर, सुपरइन्टैन्डैण्ट डी. सी. आफिस लुधियाना)

मेरा यह सौभाग्य है कि मुझे स्वर्गीय महासती श्री चन्दा जी महाराज की पावन जीवन कथा के उपदेशभाग की रचना में सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। महासती जी जैन समाज में इस युग की एक अपूर्व प्रतिभाशालिनी, अनुपम तेजस्विनी, अद्वितीय विचारका, अद्भुत विवेकिका तथा असाधारण वाग्मी साध्वी थीं। उन की आत्मा

ने वह आन्तरिक प्रकाश प्राप्त कर लिया था जिस के प्राप्त कर लेने पर एक सन्त की समस्त शक्तियां अमृत प्रवाह करने लगती है।

पूज्य महासती जी का व्यक्तित्व, संयम और उपदेश किस प्रकार उन के परिचय मे आने वालो को प्रभावित करता था, यह वात तो ठीक रूप से वही समझ सकता है जो उनके परिचय मे आया हो। दैनिक जीवन मे आचरण करने योग्य अहिंसा के उच्चतम सिद्धान्त पर आपकी भावमयी वाग्धारा तथा मानव जीवन को सफल वनाने वाले आपके प्रेरक शब्द तत्काल असर करते थे। चारों ओर एक आध्यात्मिक वातावरण वन जाता था जिस से श्रोताओ का आत्मा माननीय प्रलोभनों की तुच्छता समझ कर ऊंचा उठ जाता था।

सती श्री जी के प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय इस वात से मिलता है कि आप जैनागमो तथा संस्कृतसाहित्य मे पाराङ्ग होने के अतिरिक्त फारसी, अरवी, अंग्रेजी इत्यादि भापाओं के उपयोगी प्रमाणो का प्रयोग अपने वहुमूल्य भाषणो मे करके अपने प्रवचनों की सुन्दरता तथा लाभमयता को अधिकतम वना देती थीं। आप नैतिक तथा धार्मिक उपदेशो में सभी धर्मों का सारांश तथा निचोड़ निकाल कर रख देती थी। आप के भाषण की शैली तथा शक्ति आश्चर्यजनक थी।

पूज्य श्री चन्दा जी अहिंसा और सत्य की महान् प्रचारिका, श्रमण संस्कृति का जाज्वल्यमान रत्न, धर्म और कर्म मार्ग की अप्रतिम प्रकाशिका तथा मोक्षमार्ग की अद्वितीय प्रसाधिका और जैन धर्म की प्रवल व्याख्यात्री थीं। आप केवल जैन समाज के लिये ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यमात्र के लिये आदर्श स्वरूप एव पथप्रदर्शिका थीं। इसलिये उनके स्वर्गारोहण से न केवल जैन समाज की अपितु समस्त मनुष्य समाज की महान् हानि हुई है।

यह वात देख कर कतिपय सन्तोप होता है कि पूज्य महासती श्री लज्जावती जी म० व श्री सौभाग्यवती जी म० भी उन के चरणचिन्हों पर चल कर जैनधर्म का नाम प्रदीपित करने मे यत्नशील हो रही हैं। मै स्वर्गीय महासती के प्रति अपनी यह भक्ति भावना युक्त श्रद्धाञ्जलि भेट करता हुआ अपने आप को भाग्यशाली मानता हूं।

---

# भव्य ज्योति

(लेखक–प्रैजीडैण्ट-श्री स्थानकवासी जैन वर्धमान श्रावकसंघ लुधियाना)

इस असार संसार में प्रतिदिन लाखों मनुष्य जन्म लेते और मरते हैं परन्तु उन्हीं व्यक्तियों का जीवन सफल है जिन्होंने अपना जीवन प्राणी मात्र के उद्धार के लिये अर्पण किया। महासती श्री श्री श्री १००८ प्रातःस्मरणीया श्री सती चन्दा जी महाराज का जीवन एक उच्च कोटि का आदर्श जीवन था। आप ने छोटी सी अवस्था में ही तप और सच्चे त्याग का भली-भांति परिचय दिया और आप श्री ने भगवान् महावीर के बतलाये हुए संयम मार्ग पर चल कर यह सिद्ध कर दिया कि एक अबला भी ऊंचे से ऊंचा त्याग कर सकती है। आपके ज्ञान और विद्वत्ता का डङ्का चारों ओर बजता था। जो कोई भी विद्वान् तथा शंका समाधान करने वाला व्यक्ति आपके सन्मुख आता और अपना समाधान करना चाहता, आप बड़े प्रेम से उस को अपनी अमृत रूपी वाणी से ऐसा मोहित कर देती थीं कि आने वाला व्यक्ति गद्‌गद् हो जाता था। आपका स्वभाव बड़ा ही शीतल था आपका नाम भी श्री चन्दा जी था और आपका स्वभाव भी चन्द्रमा के समान शीतल था, आपके दर्शन करने से आंखें पवित्र होतीं थीं और मन को शान्ति मिलती थी। आपका जीवन एक उच्च और आदर्श जीवन था आपने जीवन भर कठिन से कठिन तपस्या की और प्राणी मात्र का कल्याण करने के लिये ऊंचे से ऊंचा ज्ञान प्राप्त किया और अपने तप और ज्ञान के प्रभाव से संसार के प्राणियों के जीवन का उद्धार किया। आप जैसी महान् विभूति पर सदा ही समाज को गौरव और अभिमान रहेगा। आप जैसी ही पवित्र आत्माओं ने जैन समाज का सिर संसार में ऊंचा किया है। आप ने अपनी आत्मा का तो कल्याण किया ही, परन्तु इस जगत के दुःखी जीवों के मन को भी शान्त किया और भूले भटके मानव को मुक्ति पाने का सीधा और सहज मार्ग दिखला दिया।

यदि हम आपके जीवन से कुछ ग्रहण कर सकें और आप की शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण कर सकें और आपके जीवन को आदर्श रूप में सामने रख सकें तो हमारी आत्मा का भी कल्याण और जीवन का उद्धार हो सकता है। आपने अपने युग में ऐसे ऐसे महान् कार्य किये हैं जो कि सूर्य की तरह प्रकाशमान है। जैसा कि सरसा के वकीलों को जैनधर्म से प्रभावित करना आपका ही कार्य था। जमना पार का हर प्राणी आज भी आपके उपदेशों की सराहना कर रहा है। आपके जीवन की घटनाओं पर कुछ न कहते हुए जैन बिरादरी लुधियाना की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ। हे महासती! आपका जीवन हमारे लिये सदा ही पथ-प्रदर्शक बना रहे, आप धन्य हो।

# पवित्र आत्मा

(लेखक—लाला पन्नालाल जैन कसूरी, मंत्री—ऐस. ऐस. जैन धर्मशाला, लुधियाना)

जीवनचरित भी साहित्य का एक रूप ही है, इस से चरित-नायक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है और उसके विचारों तथा भावो का दिग्दर्शन ही उसके व्यक्तित्व का परिचय है, इसी लिये जीवनचरित को साहित्य में एक ऊंचा स्थान दिया गया है, मनुष्य के गुण यथार्थरूप में जीवनचरित से ही जाने जाते है। चरित नायक के जीवन की घटनायें तथा उन के अनुभवों से हम बहुत कुछ लाभ उठा पाते है और अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने और अपने कर्तव्य को पालन करने और विकट से विकट संकटों को हल करने के उपाय सहज ही मे हमे महापुरुषो के जीवन से मिल जाते है। महापुरुषों का जीवनचरित पढ़ने से भली-भांति हम बहुत से कुकर्मो को त्याग कर सतमार्ग के पथ पर चलकर अपने जीवन का कल्याण कर सकते है।

महासती श्री श्री श्री १००८ श्री सती चन्दा जी महाराज का जीवन भी एक पवित्र तप, त्यागमयी और आदर्श जीवन था। महासती जी के दर्शन मात्र से चित्त आनन्दित और हृदय प्रफुल्लित हो जाता था और उनकी पवित्र अमृत वाणी सुन कर मन को शान्ति तथा धैर्य की प्राप्ति हो जाती थी। महासती जी ने अपने जीवन में अपना तो उद्धार किया ही था अपितु लाखों पाप आत्माओं को प्रेमपूर्वक सदुपदेश देकर पवित्र और निर्मल आत्मा बना दिया था और लाखो भूले भटके हुए प्राणियों को सीधा रास्ता दिखला कर उनके मन के अंधकार को दूर किया था। आपने देश-देशान्तर में भ्रमण करके अपने त्याग मयी जीवन की एक ऐसी छाप लगा दी थी कि जो आप जैसी उच्चात्मा का ही काम था, आपने इस बात का परिचय देकर यह सिद्ध कर दिया कि स्त्रीजाति भी कठिन से कठिन तपस्या, बड़े से बड़ा त्याग करने में और ज्ञानरूपी प्रकाश से जगत के अज्ञान अंधकार को मिटाने में किसी तरह भी पुरुषों से कम नहीं। जैसा आपका नाम था उस से भी बढ़कर आपका काम था। चान्द में तो कुछ काले धब्बे होते है परन्तु आपका जीवन तो सर्वथा उज्ज्वल और निर्मल था। आप के जीवन में अनेकों ऐसी घटनाये है कि जिन से आपके जीवन की उच्चता तथा महानता का परिचय भली भान्ति मिलता है। आप मे शान्ति तथा सहनशीलता कितनी थी? इसका परिचय आपके अन्तिम समय से अच्छी तरह मिलता है। आपके अन्तिम समय मे मुझे आपके चरणों मे उपस्थित होने का अवसर मिला। उस समय आपके शरीर को बहुत वेदना थी, जिसको देखकर हम पास बैठने वालो का हृदय कांपता था। परन्तु आपके मुख पर ऐसी शान्ति और गम्भीरता थी और ऐसा प्रतीत होता था कि मानों आपको कोई भी पीड़ा या दु:ख नहीं, जिसे अवलोकन करके बेअख्तियार मुंह से यह शब्द निकले थे—हे महासती आप धन्य हो और आपका जीवन धन्य है।

हे परमश्रद्धेय! आपके जीवन पर कुछ लिखना तथा परिचय कराना मेरे जैसे तुच्छ बुद्धि के व्यक्ति का काम नहीं। मेरी इतनी शक्ति कहां कि आपके तप, त्याग और संयममयी जीवन के गुण रूपी अथाह

सागर को एक गागर में बन्द कर सकूं ।

हे प्रातःस्मरणीय महाविभूति ! यह कुछ शब्द आप श्री जी के चरणकमलों में श्रद्धांजलिरूप में अर्पण करने का साहस किया है, आपका नाम सदा अमर रहे। यदि आपके वचनामृत और आपकी शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण करके अपनी आत्मा का कल्याण करने का प्रयत्न कर सकूं और अपने मन को शुद्ध बना कर अपना जीवन सफल बना सकूं तो अपने आप को बड़ा ही भाग्यशाली समझूंगा ।

महासती के चरणकमलों में श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं। प्रेमभक्ति के शब्द रूप यह पुष्प भेंट में धरता हूँ—

यही भावना लेकर चित्त में लिखे शब्द मैंने ये चन्द !
गुणरूपी सागर के जल को कैसे करूं मैं गागर बन्द ॥

# श्रद्धा दे फुल्ल

(लेखक—डाक्टर खुशदिल कमालवी, मीना बाज़ार, लुधियाना)

ऐसा कोई विरला है संसार अन्दर,
जिस दी दिलां अन्दर यादगार रह जाये,
सूरत जिहदी तसव्वर दे विच चमके,
सीरत जिहदी बन इक प्यार रह जाये,

हो जाये खतम डरामे दा सीन भावें,
अक्खां विच बैठा अदाकार रह जाये,
खुशनसीब है एहो कमाल हस्ती,
बेमसाल जिसदा हर करदार रह जाये,

जीवन जिस, मैं सती दा लगा लिक्खन,
सौ सौ वार 'खुशदिल' चुम्मां चरण ओहदे,
श्रद्धा प्रेम थीं पढ़ेगा जो जीवन,
हो जानगे दुक्खड़े हरन ओहदे,

चन्दा सती चमकी बनके चन्न वांगू,
थां थां चमकिया जग्ग ते नूर ओहदा,
उन्नी सौ तेती वैसाख अन्दर,
शुक्ला तृतिया च होया ज़हूर ओहदा,

प्रगट आगरा शहर च जदो होई,
फैल गया चर्चा दूर दूर ओहदा,
बाल उमरां च कीता ज्ञान हासिल,
होया थां थां नां मशहूर ओहदा,

हर्ष माता दे हिरदे च ठण्ड पाई,
खुमानी सिंह दे भाग जगा दित्ते,
ईश्वरभक्ति दी भक्ति च लीन होके,
चार चन्द उस नां नूं ला दित्ते,

छोटी उमरां च होया विराग पैदा,
दिल विच ख्याल फकीरी दे आन लग पये,
मोह माया थीं चित्त हटा के ते,
सेवाधर्म दे ख्याल समान लग पये,

माता पिता दे दिल विच फिकर पै गई,
शादी वास्ते जोर लगान लग पये,
उडदे पंछी दे खोह के खम्ब सोहने,
गृहस्त पिंजरे विच फसान लग पये,

जिसने जग नूं राह विखावना सी,
ओहनूं राह कवल्लड़े पान लग पये,
पवन पानी ते चानन नूं वांग वच्चियां,
मुट्ठी विच ओ बन्द करान लग पये,

हथ जोड़ के चन्दा ने अर्ज कीनी,
मैनूं गृहस्त दे फा च फाओ ना जी,
मैनूं ऐवे हो रहन आजाद देवो,
मेरे पैरां च बेड़ियां पाओ ना जी,

सेवा देश दी मैनूं कमान देवो,
मेरे राह च रोड़ा अटकाओ ना जी,
जगी जोत जो ज्ञान दी मन अन्दर,
पल्ला गृहस्त दा मार बुझाओ ना जी,

फागुण शुक्ला पचमी दिन सोहने,
सुत्ते देश दे भाग जगा दित्ते,
१६४४ करनाल ' अन्दर,
साधु जीवन च कदम टिका दित्ते,

धर्म कर्म ते नियम दे विच रहके,
पैदा दिल अन्दर चमत्कार कीता,
लोकी राह च नैन विछाओंदे रहे,
हर थां सेवकां आदर सत्कार कीता,

सच्ची भक्ति त्याग तपस्या थीं,
हर इक बशर अन्दर पैदा प्यार कीता,
जीवन बख्श के धर्म दा जैनियां नूं,
जैन धर्म दा खूब परचार कीता,

ओहदे बोल अन्दर सौ सौ बोल गूंजे,
इक इक बोल सी दिल हिलान वाला,
ओहदी चमक लै के लक्खां चमक उट्ठे,
सत सती दा सी शोभा पान वाला,

सारी जिन्दगी त्याग दे विच गुजरी,
करदे कदर है सन कदरदान ओहदी,
बुग्गामल वरगे वड्डे मांसाहारी,
स्यालकोट च कीती पहचान ओहदी,

रावलपिंडी तो लै बम्बई तीकन,
चमकी जग अन्दर वखरी शान ओहदी,
कल तक जमीन सी जिस दे चरण चुमदी,
अज आरती करे असमान ओहदी,

ओ सी आतमा खास परमात्मा दी,
उन्नों जापदी शकल इन्सान हैसी,
ओहदी रसना चों अमृत रसदा सी,
मिट्ठी बोलड़ी मिट्ठी जबान है सी,

वैदराज वांगू आके रोगियां नू,
वरडदी नाम दी रही अकसीर है सी,
अक्खां विच खुमारी सी सदा रहन्दी,
दिल वी वांग हिमालय गम्भीर है सी,

विसमल वांग सी तड़पदा सदा रहिन्दा,
जिनू मारदी ज्ञान दा तीर है सी,
है सी किसे लई सन्त महात्मा ओ पेपर,
किसे दे लई ओ पीर है सी,

वेद शास्त्र गीता दी सी माहर,
ज्ञानवान विद्वान् महान् है सी,
ओहदी नजरां च इको जापदा सी,
गीता ग्रन्थ ते वेद कुरान है सी,

उर्दू फारसी दे ओहदे शेर सुन के,
मुन्शी आलम वी सीस झुकाओंदे सन,
मुल्लां मौलवी ओहदी तकरीर सुन के,
उंगली दन्दां दे तले दबाओंदे सन,

ऋषि मुनि ते सन्त महात्मा वी,
ओहदी चरणधूरी मस्तक लाओंदे सन
ओहदे चेहरे दे तेज नूं तक के ते,
सूरज चन्न वा वेख शरमाओंदे सन,

मस्ती विच आके जदों बोलदी सी,
वगदे वहन सी जमना दे रुक जांदे,
पत्थर पिगल जांदे नाग झूम पैन्दे,
सिर जंगली शेरां दे झुक जांदे,

भुले भटकियां राह विच अटकियां लई,
दुनिया विच इक रोशन मुनारा सी ओ,
ओ मल्ला सी डुबदियां बेड़ियां दा,
रुड़े जांदियां लई किनारा सी ओ,

दुक्खां दरदां ते गमां दे मारियां लई,
टुट्टे दिलां दे लई सहारा सी ओ,
देश कौम ते जैन दी रखिया लई,
वैरी वास्ते खण्डा दोधारा सी ओ,

ममता, मोह, माया, दुःख सुख सारे,
इको समझ के उमर गुज़ार दी रही,
महासती चन्दा अपने सत सेती,
दुःखी जीवां दे दुःख निवारदी रही,

६६ वर्ष गुज़ार के विच भक्ति,
जीवन साधना विच गुज़ार दित्ता,
उज्जल नां करके अपना जग्ग अन्दर,
तरी आप नाल जग नूं तार दित्ता,

७८ साल दी आयु व्यतीत करके,
मोह माया नूं मनो वसार दित्ता,
आखिर शहर लुधियाना दे विच आके,
जीवन क़ौम खातिर अपना वार दित्ता,

१९५२ अगस्त दी तिन्न सती,
हस हस त्याग प्राण दित्ते,
नाशवान शरीर नूं त्याग के ते,
क़ायम जग च कर निशान दित्ते,

सुनदे सार बाज़ार सब बन्द हो गए,
लोकी दरशनां लई सब आन लग पए,
सोहना पुष्प विवान त्यार कीता'
देवी देवता फुल्ल वरसान लग पए,

नर नारी सारे इक पासे,
सत्संगी सब सीस झुकान लग पए,
शान नाल जलूस रवान होया,
लोकी राह च नैन विछान लग पए,

महासती ने जदों प्राण त्यागे,
शोक छा गिया जैन समाज अन्दर,
सेवादार करदे रहे खूब सेवा,
रक्खी कमी नहीं कोई इलाज अन्दर,

जदों तिक कायम सूरज चन्न तारे,
जग ते चमकदा चन्दा दा ना रहसी,
जीवन सती दा किसे नू भुलना नहीं,
महासती दा जीवन महान् रहसी,

लक्खां सतियां होइया ने जग अन्दर,
चर्चा ऐस दा सदा जवान रहसी,
लिखदे रहनगे सती दे कवि जीवन,
कलम कवियां दी सदा रवान रहसी,

लिख के सती दा जीवन प्रेम सेती,
'खुशदिल' कवि ने फर्ज निभा दित्ता ए,
सत सतियां दा सदा कायम रहसी,
जीवन धर्म लेखे जिन्हां ला दित्ता ए,
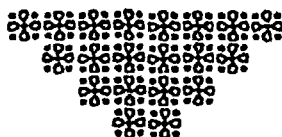
# महा प्रस्थान

(लेखक—श्री देवेन्द्र कुमार जैन "प्रभाकर" बी. ए. प्रधान–
ऐस ऐस. जैन यूनियन, लुध्याना)

गहननिद्रा में निमग्न.. ... बेसुध... ...मत्त... ...
तिमिर की गहराईयों में खोये हुए को,
जगा दिया किस किरण-स्पर्श ने
... ... ...
ओह... ..इन्दुवाले .. ...तुम !
है... . .यह क्या... ...किस ओर ?
अरे अभी अभी तो... ...
नीले रंग से अपनी स्वर्णिम आभा का पुट्ट दे कर... ...
अवनी तल पर निज इंगित द्वारा
प्रेम और आनन्द का स्रोत बहा कर—
अन्धकार को प्रकाश में परिवर्तित कर—
अन्धड़ को मलयसमीरण में बदल –
किरण-स्पर्श से नयन उन्मीलित कर ...
अभी अभी प्रस्थान को उद्यत हो
चाले !
जरा ठहरो......टुक रुको !
इस भीने भीने अवगुण्ठन में
मधुमय प्रकाश से इन आंखो को भर तो लेने दो !
नहीं......क्यों ?
... ... ...
इतनी त्वरिता ! किस लिए... ...
किस के आह्वान पर इतनी शीघ्रता—
ओह... ...समझ गया

प्रस्थान को उद्यत हो .. ...
आह्वान का उद्घोष दूर ..बहुत दूर से
सुनाई पड़ रहा है
महा मिलन का प्रस्थान है न..
इसी लिए... . इतनी उद्वेलित ।
फिर भी... ...रुको... ...
कुछ क्षण तो रुको,
इस दूर हटती हुई . और सिमटती हुई तुम्हारी रश्मियों से
हृत्तल को परिप्लावित तो कर लेने दो
क्या......समय नहीं !
न सही... ...
कर चुका... ..तुम्हारी अन्तिम छवि हृदय मे अंकित कर चुका
जाओ .. ...जाओ... ...जाओ !
पर इस आभा से प्रकाशित मन के रक्षण की
क्षमता तो देती जाओ... ...
रोकूंगा नहीं.. इस प्रस्थान से तुम्हे...
क्यों... ...
महा प्रस्थान है यह !
महा मिलन के लिए !

ooooOoooo

# महान विभूति

(लेखिका—श्रीमती कमला जैन 'प्रभाकर' देहली)

संतजन विश्व की महान् विभूति होते हैं। ऐसी विभूति जा कभी नष्ट नहीं होती। जिन की छाया में विश्व सदा सर्वदा आनन्द की हिलोरें लेता है। जो जन जन का कल्याण करने वाली होती है। ऐसी विभूति जहां भी होती है वहां का वातावरण शान्त तथा सुखकारक होता है।

प्रातःस्मरणीय श्री सती चन्दा जी महाराज ऐसी ही जन-कल्याणकारक महान् विभूति थीं। जिन का महिमामयी जीवन एक ज्योति-स्तम्भ की भांति हमारे पथ का प्रदर्शन कर रहा है।

उनके दर्शन-मात्र से ही हृदय में आनन्द का स्रोत बहने लगता था। जब २ भी हम उनके चरणों में जाते कुछ न कुछ ज्ञानोपदेश वह हमें प्रदान करते थे जो कि वास्तव मे मानवकल्याण करने वाला होता था। वह कहा करते थे—सदा विनयी बनो। मानव जीवन का लाभ उठाओ तथा सत्य अहिंसा को अपनाओ। अहिंसा का वास्तविक अर्थ यह है कि कोई भी कार्य छुप कर न करो। भय ही हिंसा का मूल है।

जब २ भी उन की पुण्यमयी स्मृति आती है, हृदय गद्‌गद् हो जाता है। उन का देदीप्यमान मुख उज्ज्वल संयम का प्रतीक था। उनकी मधुर स्नेह से ओत-प्रोत वाणी तथा शान्त-स्वभाव बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे, वह विदुषी साध्वी स्त्री-समाज की रत्न थीं। अपनी विद्वत्ता के कारण उन्हों ने सहस्रों नर-नारियों को अपनी ओर आकर्षित किया था। वह जहां भी जाती थीं जनता बड़ी श्रद्धा से उन के सम्मान मे आंखे बिछाती थीं। हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है।

आज उन का शरीर नहीं रहा। शरीर नश्वर है, नष्ट होगा ही, यह प्रकृति का अटल नियम है। परन्तु आत्मा अमर है। उन के उपदेश तथा शिक्षा जो उन्हों ने हमे दी वह अमर है। उस को अपनाने से ही हम सच्चे अर्थों में उन की स्मृति बनाए रख सकते हैं। वह अपने जीवन मे बहुत कुछ कार्य कर गए और जो रहा वह भार हमे उठाना है।

हमारी यही प्रार्थना है कि ऐसी महान् देवियां हमारे समाज में उत्पन्न हों और उन स्वर्गीय आत्मा के सदृश जीवन को ऊंचा उठा कर अपना नारी-जाति का, तथा राष्ट्र का जीवन ऊचा उठावे। उन महान् स्वर्गीय आत्मा को कोटिशः वन्दन।

## श्री चंदा जी महाराज

(लेखक—श्री जागेश्वर प्रसाद अग्निभोज हरसुद)

बन अमर साध्वी चन्दा देवी, इस भूपर से तुम स्वर्ग गई।
जय हो, जय हो, जय हो तेरी, जन जन के जीवन तार गई॥
तुम विद्याधन की खानि थी, हिन्दी गुजराती तेरी वाणी थी।
था ओज तेरे उपदेशों में, दे दया धर्म का पाठ गई॥
हे दयामयी चन्दा देवी! श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।
तुम शीतल चन्द्रकिरण बन कर चन्दा सम स्वच्छ हे स्वर्गमयी!
तेरी ही शीतल ज्योति में, हम दया धर्म नित ध्यान धरे।
हम हिलमिल अर्पित करते हैं, स्वीकृत हो श्रद्धाञ्जलि हे दयामयी!
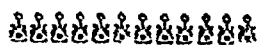
## ज्योति स्तम्भ

(लेखक—श्री अमर जैन)

संसार के विशाल प्रांगण मे न मालूम कितनी आत्माए जन्म धारण करती है। और ना समाप्त होने वाले इस सांसारिक अधकार मे कुछ समय कीडे मकोड़ो की तरह जीवन गुजार कर सदा के लिए सो जाती हैं, संसार उन का मरना जानता है ना जीना। परन्तु कुछ आत्माएं इस मानव-गुलजार मे जन्म ले कर इस गुलजार को सुगन्धित कर देती हैं और नये जीवन का संदेश देती है।

इसी प्रकार १००८ श्री चन्दा जी महाराज का जीवन भी ऐसा ही सुगंधित जीवन है। उन्हो ने भी मानव-समाज को मानवता का उपदेश दे कर ठीक रास्ता दिखाया।

परम पूजनीया! आप श्री ने जैनधर्म मे दीक्षित हो कर इस धर्म के तत्त्व को भली भांति हृदयंगम करके जो यश प्राप्त किया है, उस

का वर्णन हम जैसे साधारण व्यक्तियों से नहीं किया जा सकता। आप ने अपने पावन उपदेशों द्वारा मानव समाज का परम कल्याण किया। वास्तव में आपका इस नश्वर संसार में जन्म लेना चन्द्रमा की भांति था जैसे अंधकार से युक्त रात्रि को चन्द्रमा अपनी शुभ्र चांदनी द्वारा अत्युज्ज्वल बना देता है उसी प्रकार आपने भक्तजनों के हृदयांधकार को अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्रकाशित कर दिया। इसी कारण आप का शुभ नाम श्री चन्दा जी महाराज सार्थक हुआ।

आप के कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत ने आपकी महिमा को चार चांद लगा दिए है। आपकी आत्मा का निर्भीकता सहज गुण था। आप अतीव शान्त, पवित्र साधु स्वभाव की थीं, निस्सन्देह आप श्री का नश्वर शरीर इस समय हमारे मध्य में नहीं है पर आप श्री के पावन उपदेश प्रभाकर की भांति हमारे मनरूपी मानसरोवरों के कमलों को विकसित कर रहे हैं।

आपके प्रमुख गुण शांति सरलता थे जो भी आपके सम्मुख आता, आपका अपना ही हो जाता। जिसने एक बार भी आपके दर्शन कर लिए वह जीवन भर आपको नहीं भूलता था। समाज का कल्याण करना आपका परम उद्देश्य था, और जीवनपर्यन्त आप इस कार्य में अधिकतया सलग्न रहीं और पूर्णरूपेण सफलता भी प्राप्त की। अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने से आपकी ज्ञान-शक्ति असीम थी। सर्व-साधारण व्यक्ति आप के ज्ञान की थाह न पा सकते थे आपका आत्मिक बल भी अनन्त था, मैं भी आपके गुणों से विमुग्ध हो कर अपनी श्रद्धाञ्जलि आपके पादांबुजों में समर्पित करता हूँ।
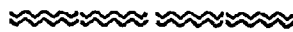
~~~~~~

## महासती श्री चन्दा जी

(लेखिका—श्री कान्ता गुप्ता)

दो दिन अपनी शान दिखा कर,
रोम राज्य था नष्ट हुआ
~~~~~~

दो दिन चमक कर मिश्र भी था,
अन्धकार में ग्रस्त हुआ।
दो दिन अपना रोब जमाकर,
अलक्षेन्द्र ने कूच किया।
किन्तु काल आघात सहन कर,
भारत है अद्य पर्यन्त खड़ा।

क्या कारण है कि रोम, मिश्र, यूनान आदि देशों की सभ्यतायें थोड़ा सा समय गुरुता प्राप्त करके उसी प्रकार भूगर्भ में विलीन हो गईं जिस प्रकार बालुकामयी पृथ्वी में छोटी २ नदियों का पता ही नहीं चलता। आज संसार में उन का नाम मात्र ही शेष है। किन्तु भारत भूमि की सभ्यता का प्रादुर्भाव यद्यपि उन से सहस्रों वर्ष पूर्व हुआ तदपि वह आज तक जीवित है, वह उस उज्ज्वल मणि मृतिका से लिप्त है, जिसे उठाते ही वह पूर्ववत उज्ज्वल हो उठेगी। इतने महान अन्तर का कारण यही है कि जिस प्रकार एक जीवित व्यक्ति अपने शरीर में से मल निकालता है और उसमें अच्छी वस्तुओं का समावेश करता है, उसी प्रकार जब २ दुष्ट समूह रूपी मेघों से भारत का आकाश प्रच्छन्न हुआ, तब २ भारत ने महान् आत्माओं को जन्म देकर उन्हें तितर बितर कर डाला।

आज से २५०० वर्ष पूर्व जब कि यज्ञों में बलिदान कर दिये जाने वाले बकरे छुरी के नीचे तड़प रहे थे। धर्म-मन्दिरों को ध्वस्त किया जा रहा था, उसके नाम पर निर्धनों को शोषित किया जा रहा था, निर्बलों का गला दबाया जा रहा था, पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणों द्वारा पादाक्रान्त मानव 'त्राहि, त्राहि' पुकार रहा था, उस समय क्षितिज के पार एक महान् सूर्य ने उदित हो कर घोर तम का विनाश किया। वही सूर्य वर्धमान महावीर जी के नाम से प्रसिद्ध है, जिनके अविरल प्रयत्नों द्वारा जैन-धर्म अस्तित्व में आया।

यह जीवन तो एक रथ है। दो पहियों के बिना नहीं चल सकता, चाहे एक पहिया अत्यधिक दृढ़ भी क्यों न हो। भारत के प्रत्येक पुण्य-कार्य में सदा स्त्रियों का हाथ रहा है। वीरांगना पद्मिनी

जौहर की ज्वाला रानी कर्णावती और असिधारा रानी लक्ष्मीबाई के अनुपम शौर्य और अदम्य उत्साह—क्या कभी विस्मृत किये जा सकते हैं ? नहीं, जब तक इस विराट् आर्यावर्त में एक भी भारतीय रहेगा, वह अपने रक्त के अन्तिम बिन्दु तक उनका नाम लेता रहेगा। जब तक गंगा-यमुना की कल-कल ध्वनि तथा उस का जल भारतियों को उन्नति-पथ का अनुसरण करने के लिये प्रेरित करता रहेगा, तब तक उनका नाम अमर रहेगा। स्त्रियों के केवल शारीरिक शौर्य एवम् तेज की भव्य गाथा से ही इतिहास के पृष्ठ रंगे होंगे, ऐसी बात नहीं, बल्कि आत्मिक-क्षेत्र में उनका कार्य अद्वितीय है, इस बात को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाली धर्मवीरा श्री चन्दा जी का नाम, जिन्होंने अपने ज्ञान-सूर्य से अखिल विश्व को उद्दीप्त कर दिया, संसार की विभूतियों मे अग्रगण्य हैं।

विश्व के इस अद्भुत रंगमंच पर एक से एक महत्तम पात्र आया ही करते है। कई आते हैं कई जाते हैं। कौन पूछता है। किन्तु सम्वत् १९३२ वैशाख शुक्ला तृतीया की धन्य तिथि को श्री श्री खुमानी सिंह जी की अक्षुण्ण कीर्ति की उज्ज्वल पताका, महिला-संघ की योग्यता की पुण्यप्रतीका, जैन धर्म की मान-बिन्दु, श्री हर्षकंवर जी की कोख की प्रकाशमयी मणि श्री श्री श्री चन्दा जी ने वीर-प्रसू भारत-वसुन्धरा के अन्तर्गत आगरा की पुण्य भूमि पर जन्म लिया, जिन्होंने बाद में अपने बृहद्-ज्ञान-सूर्य की मरीचियों से पाखण्डियों को चकाचौंध कर दिया।

शैशवावस्था से ही वैराग्य की न बुझने वाली अग्नि आपके हृदय में प्रज्वलित हो उठी। जब आप की आयु १२ वर्ष की हुई तो उस महानल ने मोह को शुष्क तृण की भान्ति दग्ध कर दिया। परिणाम-स्वरूप आपने साधु-जीवन अंगीकार किया और निकल पड़ीं विशाल विश्व में वास्तविक आलोक की खोज के लिये।

जिस प्रकार शरद्-पूर्णिमा के दिन निर्मल आकाश पर नक्षत्र-समूह से परिवृत भगवान् विधुदेव शोभास्पद होते है, उसी प्रकार श्री चन्दा जी शीघ्र ही साधु-साध्वी मण्डल में विराजमान हो कर महती सुषमा को प्राप्त हुई।

आपने रावलपिण्डी से लेकर बम्बई तक का भ्रमण किया। व्याख्यात्री के रूप में आपको पर्याप्त सफलता मिली। जो आपके श्री चरणों के दर्शन एक बार कर लेता, वह आपका अनन्य भक्त बन जाता। आपके द्वार से कोई भी नर-नारी ज्ञान-भिक्षा प्राप्त किये बिना न लौटता था। उर्दू तथा फारसी के बड़े २ विद्वान् आपके स्पष्टतम उच्चारण के सम्मुख नत-मस्तक हो जाते थे। सब के सब श्रोतागण आप की भाषा-शैली की प्रशंसा करते न थकते थे। जिस प्रकार चारुचन्द्र उदित होकर अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से अंधकार की कालिमा को विनष्ट कर संसार को प्रकाशपुञ्ज में परिवर्तित कर देता है तथा सूर्य से तप्त पृथ्वी पर शीतलता का संचार करता है, उसी प्रकार आपके प्राकट्य से अज्ञानता तथा कलुषित आन्तरिक वृत्तियों का नाश हुआ तथा नर-हिंसा से उन्मत्त मानव को अपनी वास्तविक स्थिति का भान हुआ।

शान्ति तथा धैर्य की तो आप साक्षात् मूर्ति थीं। बड़े से बड़ा शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट भी आपके मस्तिष्क के सन्तुलन को विचलित करने में सफल न होता था। आपने आत्मिक शक्ति द्वारा भौतिक शक्ति पर किस प्रकार विजय पाई, यह एक घटना से स्पष्ट है। एक बार निर्जन वन में जाती हुई श्री महासती जी को भयंकर पंचानन के दर्शन हुए। किन्तु वे ज़रा भी नहीं घबराईं और चलती गईं। आपकी मुख-कान्ति तथा तेजोमय व्यक्तित्व का उस हिंसक जीव पर भी इतना प्रभाव पड़ा कि वह आप के पास से इस प्रकार निकल गया मानो एक पालतू कुत्ता हो।

जिस प्रकार हिमालय अपने आप को गला कर गंगा-यमुना के रूप में अपने रक्त की नदियां बहा कर उर्वरा भारत-भू को शस्य-श्यामला तथा धन-धान्य सम्पूर्ण रखता है, उसी प्रकार आपने अपने प्रत्येक क्षण की हंस २ कर, तिल २ कर परोपकार की इस बलि-वेदी पर आहूति चढ़ाई।

जिस प्रकार तुषार-बिन्दु दिवाकर के उदित होते ही वनस्पति को छोड़ कर वायु को अपना आश्रय-स्थान बना लेते है, उसी प्रकार

मोह के महातिमिर ने उस विवस्वान् के क्रान्तिमान होते ही आपके पवित्र हृदय को छोड़ कर सांसारिक हृदयों को अपना आश्रय-स्थान बना लिया। मोह का महान् सागर आपके हृदय-पर्वत से व्यर्थ ही टकराता था, किन्तु आपका पावन हृदय उसके सम्मुख नहीं झुका। नहीं झुका।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि—"Man is imperfect by nature." "कि मनुष्य प्रकृति से अपूर्ण है। किन्तु आप ने अपनी अलौकक प्रतिभा, ओजस्विनी वाणी, असीम उत्साह, हिमगिरि के छत्र के समान धवल निष्कलंक चारित्र, मध्यान्ह के सूर्य के समान परमोज्ज्वल व्यक्तित्त्व, सागर जैसी गम्भीरता, अत्यन्त अहिंसात्मक वृत्ति, इन्दु के समान शान्ति और शीतलता इत्यादि गुण-राशि द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मानव भी सर्व-गुण सम्पन्न हो। "रजस् तमस् गुणों से अलिप्त" ऐसा हो सकता है! त्याग, तटस्थता, परोपकार तथा उद्योग का जितना सुन्दर सामञ्जस्य आप के जीवन मे हुआ, उतना किसी के भी न था। ज्ञान-योग-रत श्री महासती जी संस्कृति तथा धर्म की सच्ची अनुरागिनी थीं। अन्य धर्मो वाले भी गुण-ग्राहक, निष्पक्ष तथा उदार-हृदयी विद्वान्, मुक्त कंठ से आपकी प्रशंसा करते थे। वाह्यत्व मे इस जगतीतल पर आप देवलोक से अप्सरा अवतरित हुई थी। आप के गुणो का वर्णन करना, केवल सूर्य को दीपक दिखाने तथा एक बौने के एक गगन-चुम्बक वृक्ष से फल तोड़ने के असफल प्रयास के समान है। मैने तो आपका गुण-गान कर के केवल अपनी लेखनी को ही पवित्र करने का प्रयत्न किया है।

कांटों के बीच पलने वाला ही तो पुष्प सुरभित हो कर खिलता है, अग्नि-परीक्षा मे पड़ने वाला ही सोना तो कुन्दन बन कर चमका है। विपत्तियों के अपार अर्णव का, सुमेरु पर्वत के समान सामना करते हुए, संसार के कण्टकाकीर्ण पथ का अविचलित भाव से अनुसरण करते हुए, आप का जीवन दीप्तिमान् हो उठा था। आप के जीवन ने यह सिद्ध कर दिया था कि गहरे पानी पैठ कर ही मोती मिलता है। मानव दुःख सहन कर ही महान् बनता है।

एक दिन माली के निर्मम हाथों द्वारा तोड़ लिया जाने के लिये ही तो सुमन विकसित होता है। सायंकाल को अस्ताचल पर्वत में मुंह छिपा लेने के लिये ही तो रवि प्रातः-काल के समय संसार को ज्योतिर्मय बनाता है। हा समय ! तू कितना निर्दयी है। पीछे मुड़ कर देखना तो तू ने कभी सीखा ही नहीं। सम्भवतः प्रतिदिन लोगों को रोते चिल्लाते देख कर तू पाषाण-हृदयी बन गया है। अपनी जीवन-संध्या के निकट जब महासती जी का व्यक्तित्व और भी प्रोज्ज्वल हो उठा जब हमारी नौका भव-सागर की उत्तुंग तरंगो के मध्य दोलायमान थी, उसी समय दूर प्रसारित करों वाले तथा इतनी धर्म निष्ठा होने पर पर भी जिस के हृदय में दया को स्थान नहीं, ऐसे महाकाल ने, उस प्रकाशस्तम्भ को उखाड़ लिया जिस ने जीवन के सर्वाधिक अंधकार-मय दिनों मे हमारा मार्ग-प्रदर्शन किया था और हमें मझधार में छोड़ दिया। ३-८-५२, के अशुभ दिन को लक्षावधि भारतीयों के हृदय मन्दिरों की अधिष्ठात्री देवी ने इस नश्वर तथा पंचभौतिक शरीर को त्याग दिया। और वह ज्योति महाज्योति पुञ्ज के चरण-कमलों मे उसी प्रकार विलीन हो गई जिस प्रकार जलधि से वारि-राशि को प्राप्त करने वाली नदी बाद मे उसी में समा जाती है। किन्तु जैसे चन्दन का वृक्ष अपने आस पास के वृक्षों को भी सुरभि-पूर्ण बना देता है, प्रकाशमान वस्तुएं दीप्ति-हीन वस्तुओं को भी आभा-पूर्ण बना देती हैं ; स्थायी चुम्बक सामान्य लोह-खण्ड को भी चुम्बक में परिवर्तित कर देता है। उसी प्रकार वह महान् आत्मा हमारे पथ-प्रदर्शन के निमित्त कई अन्य आत्माओ को महान् बना गई आज भी उस दिव्य आत्मा से उस महान् विभूति से रश्मिया आती हैं पथ-भ्रष्टों को सन्मार्ग पर लाने के लिये। आज स्थूल देह के प्रति आसक्त, हिंसा को उन्नति का केवल मात्र साधन समझने वाला, अस्थि पर लड़ने वाला कुत्तों से भी गया गुज़रा मानव क्या महासती जी की दिवंगत आत्मा की वाणी को सुनेगा ? क्या उस के मन मे भी वह दिव्य झंकार उठेगी ? मानवता के त्राण का इस के अतिरिक्त तो कोई मार्ग है नहीं।

हे महान् विभूते ! हे परम आत्मा! हम सब बद्धाञ्जलि हो कर तुझे प्रणाम करते हैं।

# तपस्या की मूर्ति

(लेखक—श्री रमेशचन्द्र जैन प्रधानमन्त्री—श्री जैन संगीतमण्डल लुध्याना)

सती चन्दा जी महाराज का जीवनचरित्र छप रहा है, यह देख कर मेरे मन में भी एक अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं भी महाराज सा० के चरणकमलों में कुछ श्रद्धाञ्जलि के पुष्प भेंट करूं। यद्यपि मैं यह भली भांति जानता हूँ कि म० स० के महान् व्यक्तित्व, विद्वत्ता, त्याग तथा तपस्या को अपने शब्दों में व्यक्त करना, मेरे जैसे प्राणी के लिये अत्यन्त कठिन है, फिर भी मैं अपने मनोद्गारों को व्यक्त करने का साहस कर रहा हूं।

महापुरुष विश्व के लिये एक देन है। वह समय २ पर अवतीर्ण हो कर विश्व के लिये अपना जीवन देकर या दूसरे शब्दो मे अपना जीवन-दीप जला कर मानवसमाज मे जागृति, उत्थान तथा नव जीवन का संचार करते है।

इन्ही महापुरुषों में सती चन्दा जी म०का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि महापुरुष किसी एक सम्प्रदाय के न हो कर सब के सांझे होते है, इसलिये सती चन्दा जी म० को भी हम विश्व-विभूति कह सकते है।

आपने बालपन से ही, संसार नाशवान है, क्षणभंगुर है, यह अस्थायी है, खाने पीने भोग विलास के अतिरिक्त भी कुछ और वस्तु है, इस मर्म को जान कर सारे ऐश्वर्यों को त्याग कर,जैन दीक्षा धारण करली आपकी विद्वत्ता के बारे मे कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है। भारत में प्रचलित ऐसी कोई भी भाषा नहीं थी जिस का आप को ज्ञान न हो। इस के अतिरिक्त दूसरे धर्मों का भी आपने गहन अध्ययन किया हुआ था।

सदियो से पिछड़ा हुआ स्त्रीसमाज, जिसमें अशिक्षा के कारण नाना प्रकार की कुरीतियां तथा कुसंस्कार घर कर गये थे, आपने स्त्री-शिक्षा तथा दूसरे धर्मउपदेशों द्वारा उन सब को दूर कर दिया।

आज यद्यपि आप का भौतिक शरीर हम में विद्यमान नहीं है तो भी आप के धर्म-उपदेश, आज भी हमारे कानों में गूंज रहे हैं और वह विश्व में सत्य, अहिंसा तथा शान्ति स्थापित करने में योग देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

## समाज के निधि

(लेखिका—श्रीमती देवकी देवी जी जैन, प्रिन्सीपल जैन गर्ल्ज हाई स्कूल लुधियाना)

परम श्रद्धेया श्री चन्दा जी महाराज का जीवन एक अलौकिक जीवन था, उन का मधुर वार्तालाप कर्ण को स्पर्श करते ही मनरूपी कली को विकसित कर देता था। वह इतनी सौम्य मूर्ति थे कि जैन अजैन सबको अपनी व्याख्यान शैली से मोहित कर लेते थे, सब को यही आभास होता था कि यह हमारे है। शिशु से लेकर वृद्ध तक वह सर्वप्रिय रहे। वह शान्ति के सागर थे। कष्ट मे कभी नहीं घबराते थे। एक बार मार्ग में चलते शेर का साक्षात्कार हुआ, शिष्यमण्डली घबरा गई परन्तु वह निर्भीक वहीं डटे रहे, हृदय में वीतराग का जाप करने लगे शेर पीछे लौट गया। सत्य है महानात्मा विभूतियों मे अलौकिक शक्तियां कार्य करती हैं। ठीक आज स्वर्गीया बालब्रह्मचारिणी महाविदुषी महासती चन्दा जी महाराज आज हमारे मध्य में नहीं परन्तु उनका पावन उपदेश जो उन्होने स्वयं अपनाया, कथनी को छोड़ कर करनी से काम लिया, अतएव उनके पवित्र उपदेश पर आचरण करते हुए हम भी अपने जीवन को पवित्र करें। जितना हम उन की आज्ञा का पालन कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनायेंगे, उतना ही अपने को उन के समीप पायेंगे।

अब मै उन के पवित्र चरणों मे अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि भेंट करती हूं कि उनकी दिव्यात्मा हमारी आत्मा को भी मुक्ति का पथ प्रदर्शित करे।

---

# अमर आह्वान

(लेखिका—कुमारी प्रकाश "प्रभाकर")

चन्द्र ज्योत्स्ने !
तनिक ठहरो, दम भर विराम तो कर लो न इस गगनाङ्गण में।
एक बात पूछूं—
बताओगी क्या ?
यह शान्त, अभिराम एवं सुधामयी मुद्रा में मुस्कराहट।
यह झीना झीना श्यामल आञ्चल।
भाल पर चन्द्राकार बिन्दिया।
झिलमिल झिलमिल मंजुल मोतियों जड़ित थालिका !
मूक, मौन, निस्तब्ध।
अधरों ही अधरों में विहंसती हुई
एकाकी ... ...
किसका मग निहार रही हो ?
बोलो न ?
अच्छा ... ... ...
अब मैं जान गई
'पिया' मिलन की प्रत्याशा में—
दिखाओगी न मुझे अपने 'प्रियतम'
'पगली' कहीं की।
हट ... ... ...
क्या कहती हो ?
एक लम्बी अवधि और निरन्तर मौन !!
कैसे रहेगी यह विरहिन बाला।
उफ ! तड़पन, सिसकन उत्पीड़न—
निराशा के अन्धकार में विलखती आहें—
ओह ! इस नन्हें उर में अश्रु कसक।

वेदना का युग—
उन्हीने !! क्षितिज के परले पार नीरव रजनी की अविरल
अश्रुधारा तो देखो !
कुछ तो तरस करो न इस मौन रुदन पर !
सच ...
प्रियतम की अलबेली नगरी में कौन, कब किसका बना है !!
हैं ... ... ...
यह ... . क्या ... ...
कौन .. ... ..?
उषे !, तुम यहां !
अरुण अलङ्कारों से अलकृत देह !
रुन झुन रुन झुन पायल की झनझनाहट !
सितारों की आंख मचौनी !
मन्द-मन्द समीर की लोरियां !
अलि-गुञ्जार
पुष्प-वर्षण !
स्वर लहरी !
देव दुन्दुभि !
लो ! 'भानुकुमार' भी आ गये !
क्यों ?
ज्योत्स्ने !
बस जाने लगी हो क्या ?
इतनी शीघ्रता !
अच्छा .. ... ...
सुनो तो !
मेरा यह तुच्छ उपहार तो लो न !
भला मुझ अकिंचन के पास है ही क्या अर्चना के लिये
दीन-हीन विवश कर ही क्या सकती थी ।
हृदय रो दिया और साथ ही रो दीं दो आंखे भी ।

दो मुक्ताकण संचित हुए और ढुल पड़े
मैं खोई सी रह गई।
वह चल दी... ... ... ...
अनन्त 'प्रकाश' की ओर... ......

# श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—श्री जसवन्तराय जी जैन शिमला)

श्री श्री १००८ श्री सती चन्दा जी महाराज जैनधर्म की श्रेष्ठ कर्णधार थीं। वह महान् विदुषी थीं। उन्होंने अपनी अल्पायु में ही जैन दीक्षा अंगीकार करके अरिहंतप्ररूपित पवित्र पांच महाव्रतों पर आचरण किया और देश देशान्तरों में परिभ्रमण कर देश के कोने २ में जैनधर्म की प्राणभूत अहिंसा का सर्वतोमुखी प्रचार किया, जन-जन के हृदय में प्रेम की पावन गंगा बहाई। आपके ओजस्वी प्रवचनों की महिमा हमारी शक्ति से बाहिर है। आपकी मनोमुग्धा, रससंचारिणी, स्नेहसिक्ता, कोमला वाणी को सुनने के लिये, क्या हिन्दू, क्या मुस्लिम, क्या सिक्ख, क्या ईसाई, सभी धर्मानुरागी सज्जन सदैव आतुरता प्रदर्शित करते थे। और आपकी वाणी का रसास्वादन कर उस के अद्वितीय प्रभाव से एक बड़ी जन-संख्या ने आजीवन मद्य, मांस, जूआ, चोरी आदि कुव्यसनों का परित्याग कर दिया। स्यालकोट में आपके भाषणों का प्रभाव एवं आपकी प्रतिभा की अमिट छाप आज भी स्यालकोट-निवासियों के हृदयों पर अंकित है।

जैनसाहित्य के अमर इतिहास में आपका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में चमचमाता रहेगा, तथा आपकी अनन्त ज्ञान-रश्मिएं समय समय पर जनता को शिक्षा तथा शान्ति का पावन सन्देश देती रहेगी।

अन्त में हम सर्व शिमलानिवासी श्रावक तथा श्राविकाएं श्री महासती जी म० के पावन चरण-कमलों में सादर श्रद्धा एवं विनीत श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।
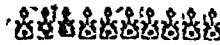
## श्री चन्दा जी म० के चरणों में सादर भेंट

(लेखक—श्री नौहरियामल जी जैन लुधियाना)

बालब्रह्मचारिणी श्री १००८ श्री महासती श्री चन्दा जी महाराज का जन्म सम्वत १९३६ वैशाख शुक्ला तृतीया के शुभ दिन आगरा में माता हर्ष कंवर की पावन कुक्षि से हुआ। आपके पूज्य पिता का नाम श्री खुमानींसिंह था। सम्वत् १९५४ में आपके हृदयस्थित वैराग्य तरंगों ने जोर मारा और आप ने संसार के अनित्य वैभव को ठुकरा कर फाल्गुण शुक्ला पंचमी के पावन दिन शहर करनाल में साध्वी-जीवन अंगीकार किया, बम्बई से रावलपिंडी तक भ्रमण कर देश विदेशों में सब प्राणियों को अपने धर्मोपदेश द्वारा सत्य पथ दिखलाती हुई सम्वत् २००८ में सेवक की जैनशाला में (जो कि कूचा कर्त्ताराम में स्थित है) पधारीं और इस संसार के जीवों को सद्बोध देती हुई ३-८-५२ को स्वर्ग सिधारीं।

मेरी सीमित बुद्धि आपके विशाल जीवन का परिचय देने में सर्वथा असमर्थ है, इसलिए अन्त में, इन शब्दों के द्वारा आपके चरण-कमलों में श्रद्धा के फूल समर्पित करता हूँ।

# महासती श्री चन्दा जी की सूक्ष्म जीवनझांकी एवं उन के चरणों में सादर श्रद्धाञ्जलि

(लेखक—सेठ अचल सिंह जी एम,पी, आगरा)

बालब्रह्मचारिणी स्वर्गीय महासती श्री चन्दा जी महाराज महासती श्री पन्ना जी महाराज की एक सुयोग्य शिष्या थीं। महासती जी का का जन्म आगरा शहर में मोती कटला की पूण्य भूमि पर हुआ था। आप एक कुलीन परिवार की सुपुत्री थीं, यकायक आपके जीवन पर महासती श्री पन्ना जी म० के साधुत्व का गहरा प्रभाव पड़ा और आपने इस संसार को असार समझ कर कर जैन साध्वी की पुनीत दीक्षा अंगीकार की, आप की पूजनीया गुरनी जी के चक्षुविहीन होने के कारण आप काफी समय तक आगरा में रहे और जनता को अपने सद्बोध से बोधित करते रहे, किन्तु कराल काल की गति किसी से छुपी हुई नहीं है, आप की पूजनीया गुरानी जी भी काल की दृष्टि से बचे नहीं रह सके और आपको इस जगतीतल पर निराश्रय छोड़ गए, जिस समय गुरनी जी का देहावसान हुआ उस समय आप दो साध्विएं रह गई। जैन शासन में दो साध्विएं जिनाज्ञानुसार नहीं रह सकती। और दूसरे आप की विद्वत्ता की धाक संसार के कोने २ में फैल चुकी थी। इसलिए महासती प्रवर्तिनी श्री पार्वती जी अपने शिष्यासमुदाय सहित आगरा पधारीं और आप के अद्वितीय गुण-समूह से प्रभावित होकर आपको पंजाब की ओर अपने साथ ही ले आईं। और अपनी शिष्या श्री महासती राजमती जी की निश्राय मे आपको कर दिया।

पंजाब जाने के पश्चात् भी आपने दो चातुर्मास आगरा मे किये और काफी धर्म प्रचार किया। आप एक उच्च कोटि की संयमपालिका और सर्वमान्या साध्वी थीं। आप अनेक शास्त्रो की पारंगता थीं व बहुत ही प्रभाव शाली भाषण देने वाली प्रखर वक्त्रीं थीं। आपका जीवन निर्मल एवं एक आदर्श जीवन था आपने अनेक प्राणियों को

प्रतिबोध देकर उन्हे चारित्रिक मार्ग बताया ।

मुझे यह जान कर अपार हर्ष हुआ कि लुधियाना में महासती जी का जीवन चरित्र छपवाया जा रहा है । जिसके द्वारा अनेक प्राणियों को ज्ञान, दर्शन चारित्र का सम्यक बोध प्राप्त होगा । मैं स्वर्गीया महासती श्री चन्दा जी के सादर चरणों मे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ ।

# श्रद्धा के पुष्प

(लेखक—श्री हीरालाल जी जैन बी.ए. एलएल. बी. एडवोकेट लुधियाना)

संसार मे महान् आत्माओं का आविर्भाव कभी राजनैतिक क्षेत्र में होता है, तो कभी सामाजिक और कभी धार्मिक। जगत् मे जब पाप, अनाचार और अत्याचार की वृद्धि होती जाती है, तथा समय की पुकार होती है--इतना ही नहीं, संसार का भला भी उस बढ़ते हुए पाप को रोकने में ही होता है, उसी समय मानव-मात्र के उद्धार के लिये धरती-तल पर ऐसी महान् आत्माएं प्रकट हुआ करती है ।

कालिमा की ओर बढ़ते हुए इस कलयुग मे भी जगत् को प्रकाशित करने के लिये तथा इस पापरूपी घने अन्धकार को दूर करने के लिये अपनी उज्ज्वल चांदनी से भूमितल को प्रकाशित करती हुई श्री चन्दा जी म० ने इसी पवित्र भारत-भूमि पर जन्म धारण किया । बालब्रह्मचारिणी श्री चन्दा जी की वाणी का ओज, उनके चेहरे की कांति तथा आंखों की ज्योति से उनके सम्पर्क में आने वाला कोई व्यक्ति प्रभावित न हो सका हो, ऐसी बात नहीं । जैन-मतावलम्बियो में ही नहीं बल्कि मानव-मात्र मे अच्छे विचारो एव सद्गुणो का प्रचार एवं प्रसार करने वाली महासती श्री की महानता इस बात मे है कि उन्होने अपने जीवन में इन सब सद्गुणों को ढाल रक्खा था, इसीलिये उनके उपदेश इतने अधिक प्राभाविक बन सके। उन्होंने जो कुछ कहा उसे

अपने जीवन में क्रियात्मक रूप से अपनाया हुआ था, सामान्य उपदेशकों की तरह अच्छी बातें कहना ही उनका काम नहीं था, बल्कि अपने जीवन के अनुभूत सत्यों को ही उन्होने संसार के सामने रक्खा और मनुष्य-मात्र को भलाई की ओर जाने की शिक्षा देने के साथ २ वैसा बनने की प्रेरणा भी दी।

अपनी छोटी-सी उमर में ही जैन साध्वी बनकर अपना सम्पूर्ण जीवन ही जैनमत ही नहीं बल्कि उसके माध्यम से सम्पूर्ण मानव-जाति की भलाई मे ही व्यतीत कर दिया। इतना ही नहीं उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि अपने आप संसार की पथ-प्रदर्शिका का कार्य करने के साथ साथ अपने बाद भी इस कार्य को उसी रूप में चलता रखने के लिये महा-विदुषी अन्य साध्वियों के जीवन का निर्माण किया यही कारण है कि उनकी ज्योति यहां से दूर जाने के बाद भी उसके कुछ अंशों के रूप में ही इन साध्वियों के द्वारा उस प्रकाश से संसार को आलोकित किया जा रहा है।

आज यद्यपि उनका नश्वर शरीर नश्वर-संसार मे नहीं, पर उनकी ज्योति का प्रकाश आज भी उसी प्रकार और उससे भी अधिक उज्ज्वल बन कर जगत् को प्रकाशमान कर रहा है। उनके जीवन के सम्पूर्ण सद्गुणों पर प्रकाश डालना तो इस तुच्छ लेखनी की शक्ति से बाहर है, वह तो केवल अनुभव ही किये जा सकते हैं। ऐसी अवस्था में विज्ञ-वर स्वतः ही उनकी महानता का अनुभव कर सकते हैं। यह तो उनकी ज्योति की एक झलक-मात्र है जिसे मानव-समाज कभी नहीं भुला सकेगा और नश्वर शरीर के नाश के बाद भी यही उनके अमर बने रहने का प्रमाण है। धन्या है, ऐसी महासती श्री और उनकी प्रसूता जननी भारत।